संस्थापक

शिव वर्मा

संपादकीय परामर्श

असग़र वजाहत

अतिथि संपादक

अर्जुमंद आरा, रविकांत

डिज़ाइनर

मृत्युंजय चैटर्जी

संपादक

मुरली मनोहर प्रसाद सिंह / चंचल चौहान

संपादन सहयोग

कांतिमोहन 'सोज़'

रेखा अवस्थी

जवरीमल्ल पारख

संजीव कुमार

हरियश राय

बली सिंह

कार्यालय सहयोग

मुशर्रफ़ अली

इस अंक की सहयोग राशि

एक सौ रुपये

(डाक ख़र्च अलग)

संपादकीय कार्यालय

335 विदिशा एपार्टमेंट्स

79 आइ पी एक्सटेंशन, दिल्ली-92

Email : jlsind@gmail.com

Website : www.jlsindia.org

Mobile : 9818859545, 9818577833

प्रकाशन, संपादन, प्रबंधन पूर्णतया

ग़ैरव्यावसायिक और अवैतनिक

पत्रिका में प्रकाशित विचार लेखकों के अपने हैं

जलेस की सहमति आवश्यक नहीं

जनवादी लेखक संघ केंद्र की पत्रिका

नया पथ

साहिर लुधियानवी जन्मशती विशेषांक

वर्ष 35 : अंक-2 : अप्रैल-जून 2021

अनुक्रम

संपादकीय : …और ज़मीं पे हम 3

हर इक पल मेरी कहानी है...

(साहिर की शायरी और लेख)

परछाइयां 5

जंग और नज़्म / *साहिर लुधियानवी* 12

नज़्में और ग़ज़लें 26

गाता जाये बंजारा की भूमिका / *साहिर लुधियानवी* 72

फ़िल्मी नग़मे और गीत 73

सवेरा (1948) का संपादकीय / *साहिर लुधियानवी* 108

'जान पहचान' / *साहिर लुधियानवी* 109

तरक़्क़ीपसंद अदीब और देशप्रेम / *साहिर लुधियानवी* 111

तरक़्क़ीपसंद सत्यार्थी / *साहिर लुधियानवी* 114

अजनबी बन जायें हम दोनों

(साक्षात्कार)

हम कि ठहरे अजनबी / *बलवंत सिंह* 127

साहिर के साथ एक शाम / *नरेश कुमार शाद* 131

पहले भी कहीं देखा है

(साहिर तस्वीरों में) 136

बीते दिन याद दिलाते हो...

सुनो बच्चो / *सरवर शफ़ी* 170

अम्मी कहती थीं / *सरवर शफ़ी* 173

साहिर, मेरा बचपन का दोस्त / *हमीद अख़्तर* 182

कोरे-काग़ज़ की दास्तान / *अमृता प्रीतम* 198

यादों के लम्स / *अमृता प्रीतम* 199

साहिर और अमृता प्रीतम / *हमीद अख़्तर* 203

साहिर लुधियानवी / *ए. हमीद* 207

सफ़र-नसीब रफ़ीक़ों की नज़र में

मेरा हमअस्र मेरा साथी / *कैफ़ी आज़मी* 221
साहिर का शायराना मिज़ाज / *अली सरदार जाफ़री* 233
तन्हाई और यख़-बस्ता उदासी का शायर / *राही मासूम रज़ा* 235
वह उधार बाक़ी रह गया / *ख़्वाजा अहमद अब्बास* 240
गीतों का रसिया / *जांनिसार अख़्तर* 243
साहिर और *प्यासा* के गीत / *नरगिस* 247
ड्रामाई लम्हों का तन्हा शायर / *मुहम्मद हसन* 249
साहिर से एक मुलाक़ात / *निदा फ़ाज़ली* 253
दोस्त और शायर / *महेंद्रनाथ* 258

तेरे हाथों में मिरे हाथ हैं, ज़ंजीर नहीं

एक विविध-रंग फ़नकार / *अनवर ज़हीर अंसारी* 265
ग़लत समझा गया शायर / *अली अहमद फ़ातमी* 272
जीवन और रचना-क्षितिज / *ख़ालिद अशरफ़* 277
एक मुकम्मल शायर-गीतकार / *शरद दत्त* 290
एक इंक़लाबी शायर / *गौहर रज़ा* 299
साहिर के सरोकार / *अर्जुमंद आरा* 304
जहां-जहां तेरी नज़रों की ओस टपकी थी / *प्रियदर्शन* 313
साहिर की साहित्यिक पत्रकारिता / *लईक़ रिज़वी* 317
साहिर और लखनऊ / *प्रदीप कपूर* 322

ज़िंदगी भर नहीं भूलेगी

जब साहिर ट्रोल हुए / *रविकान्त* 324
जब साहिर संसद की आवाज़ बने / *सुनील भट्ट* 336
साहिर की अवामी मक़बूलियत / *अतहर फ़ारुक़ी* 340
साहिर पर संगीतकार रवि से साक्षात्कार / *कमल शर्मा, अहमद वसी और रज़िया रागिनी* 343
मेरी यादों में साहिर लुधियानवी / *हसन कमाल* 347
मस्तराम बनके ज़िंदगी के दिन गुज़ार दे / *यूनुस ख़ान* 349

बचन बिदा के : शायराना ख़िराजे-अक़ीदत

ताजमहल की मौत / *हबीब जालिब* 354
ये उस बीमारे-ग़म के जागने की आख़िरी शब थी / *क़तील शिफ़ाई* 355
साहिर लुधियानवी के नाम / *रा'ना सहरी* 356
नज़्रे-साहिर / *नसीम अफ़ज़ल* 357

जीवन के संगे-मील 358

संपादकीय ...और ज़मीं पे हम

साहिर की जन्मशती (2021) ने यह मौक़ा दिया है कि उनको याद करने के बहाने हम उन हालात का जायज़ा लें जो साहिर के सरोकार का विषय बने और जिनसे उनकी शायरी प्रभावित रही. साहिर ने उस ऐतिहासिक दौर में शायरी शुरू की जब मुल्क की फ़ज़ा आज़ादी की ललक से ओतप्रोत थी, लेकिन साथ ही धर्म के आधार पर संप्रदायों का मानसिक बंटवारा अब धरातल पर ख़ूनी लकीर खींचने वाला था. सांप्रदायिक विद्वेष हिंसात्मक दौर से गुज़र रहा था और सामाजिक विषमता, जातीय अनाचार और अत्याचार, भीषण ग़रीबी, भयावह शोषण से जूझता हिंदुस्तान आज़ादी और जनतंत्र की ओर बढ़ते हुए अपने पैरों पर खड़े होने की कोशिश कर रहा था. ऐसे में साहित्यकर्मी और ख़ासकर प्रगतिशील विचारधारा के शायर, अदीब, रंगकर्मी, कलाकर्मी, पत्रकार, फ़िल्मकार, युवा और छात्र बड़ी संख्या में एक स्पष्ट सोच के साथ संगठित हो-होकर अपना साहित्य-धर्म और समाज-धर्म एक साथ मुस्तैदी से निभा रहे थे. जन-मानस को प्रभावित करने या हिंदुस्तान की राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों पर असर-अंदाज़ होने में उनके योगदान पर बात करने का यह मौक़ा नहीं, लेकिन इतना ज़रूर कहना चाहिए कि सज्जाद ज़हीर की पहल पर और प्रेमचंद की रहनुमाई में अदीबों का जो कारवां चल पड़ा था, उसमें कई पीढ़ियों के लोग शामिल होते रहे. कारवां की शुरुआत मुख्यत: उर्दू के शायरों और अदीबों ने की थी, लेकिन जब आंदोलन का विस्तार हुआ तो वह लगभग सभी भारतीय भाषाओं की संगम स्थली बन गया.

प्रगतिशील विचारों से रोशन होने वाले चिराग़ों में साहिर से पहले फ़ैज़, मजाज़, मख़दूम जैसे बहुत से फ़ानूस बनकर झिलमिला रहे थे और उनके सामने अपना चिराग़ रोशन करना साहिर के लिए कोई आसान काम न था. लेकिन यह विचारधारा की तरबियत थी कि नाकाम आशिक़ और भावुक युवक होने के बावजूद छात्र-जीवन से ही साहिर के सामने उनके सरोकार स्पष्ट हो गये. साहिर यद्यपि अपने व्यक्तिगत जीवन में एक कमज़ोर और असुरक्षा की भावना से ग्रस्त व्यक्ति थे, लेकिन वैचारिक स्तर पर वे हमेशा अमन की हिमायत में जंग के विरुद्ध, इंसाफ़ की हिमायत में अत्याचार के विरुद्ध, मानवता की गरिमा की ख़ातिर ऊंच-नीच के विरुद्ध, स्वतंत्रता और साम्यवाद की हिमायत में ग़ुलामी और शोषण के विरुद्ध, औरतों और कमज़ोरों की हिमायत में मर्दवादी सोच के विरुद्ध शायरी करते रहे. आइडियोलॉजी ने साहिर को वह मज़बूती दी जिसके कारण उनकी शायरी आज भी प्रेरणाप्रद और समाजोपयोगी है.

साहिर ने जंग के विरुद्ध अपनी तवील नज़्म 'परछाइयां' के अंत में जंग की भयानकता को इंगित करने के लिए अगली जंग में लोगों के जिस्म ही नहीं, उनके तसव्वुरात की परछाइयां तक जल जाने की बात कही थी. वर्तमान युग में कम से कम तीसरी दुनिया की अधिकांश क़ौमों का जीवन जंग तो क्या अमन के दिनों में भी जिस हिंसा और संघर्ष से गुज़र रहा है, उसकी विकटता ने जंग की परिस्थितियों को भी मात दे रखी है. 1980 में साहिर के गुज़रने के बाद विश्वस्तर पर देखें तो सोवियत रूस के विघटन के बाद एकध्रुवीय दुनिया में अमरीका बेरोकटोक विभिन्न देशों के आंतरिक मामलों में दख़लअंदाज़ी करके युद्ध और गृहयुद्ध जैसी परिस्थितियां पैदा कर रहा है, वे चाहे यूरोप के पूर्वी देश हों या लातिन अमरीकी देश या एशिया के, जैसे इराक़ व अफ़ग़ानिस्तान या सीरिया जहां अमन नहीं, बर्बादी और आतंकवाद को अमरीका पनपा रहा है। आज तमाम नवस्वाधीन देशों में विश्वव्यापी कॉरपोरेट पूंजीवाद की पिट्ठू सरकारों और कॉरपोरेट की मिलीभगत से अवामी संसाधनों की खुली लूट चल रही है वहां पूंजीवादी शक्तियों को युद्ध और गृह-युद्ध कराने की ज़रूरत नहीं पड़ी, लेकिन वहां के अवाम का जीवन निरंतर उतना ही कठिन और अभावपूर्ण होता जा रहा है जितना युद्धकाल में होता है. ऐसे में 'पैकर' ही नहीं, उनकी 'परछाइयां' भी भस्म हो रही हैं; अमन और ख़ुशहाली का तसव्वुर हवा हो रहा है. दुनिया के अन्य नवस्वाधीन देशों की तरह भारत भी अपवाद नहीं है. इस निर्मम पूंजीवादी व्यवस्था में लोक-कल्याणकारी राष्ट्र के आदर्श को पाना तो अकल्पनीय हो ही चुका, इसके बरक्स पूंजीवाद की सेवा में नतमस्तक सरकारें अब लोक-कल्याण का मुखौटा भी पहनने की ज़रूरत नहीं समझतीं और खुलेआम जनविरोधी नीतियां अपनाये हुए हैं. उनकी नीतियों पर सवाल उठाने वाले झूठे आरोपों में जेलों में ठूंसे जा रहे हैं, उग्र हिंदू राष्ट्रवाद और धुर प्रतिगामी विचारों को चुनौती देने वाले बुद्धिजीवी क़त्ल किये जा रहे हैं, शोषणरहित सहिष्णु समाज और मानवतावादी मूल्यों के लिए काम करने वाले नागरिकों की ज़िंदगी तबाह की जा रही है. ये परिस्थितियां साहिर के दौर से अधिक विकट हैं, और यही सूरतेहाल हमें दुनिया भर के मानवतावादी साहित्यकारों को बार बार पढ़ने के लिए प्रेरित करती है, जिनमें से साहिर भी एक हैं जो बे-अंत अंधकार में आशा की किरण बनते हैं.

इंसान-दोस्ती और आशा की इसी परंपरा की एक कड़ी के रूप में *नया पथ* का यह अंक साहिर लुधियानवी को फ़ख़्र के साथ ख़िराजे-अक़ीदत पेश कर रहा है. इस अंक में पाठक साहिर की चुनिंदा शायरी तो पढ़ेंगे ही, साथ ही साहिर के अनेक संगी-साथियों, कॉमरेडों और उनके समकालीन प्रख्यात उर्दू अदीबों और शायरों के ऐसे दिलचस्प लेख भी पढ़ेंगे जिनमें साहिर के व्यक्तित्व के विभिन्न पहलू नुमायां हुए हैं. इनमें से अधिकांश लेख पहली बार हिंदी में शाय हो रहे हैं, आशा है कि इनसे साहिर को व्यापक स्तर पर समझने में मदद मिलेगी. साहिर और उनकी शायरी पर अपने दौर में ही लेजेंड बन चुके राही मासूम रज़ा, ख़्वाजा अहमद अब्बास, अमृता प्रीतम, नरगिस दत्त, जांनिसार अख़्तर, कैफ़ी आज़मी, अली सरदार जाफ़री, निदा फ़ाज़ली इत्यादि के ये स्मृति-लेख या साहिर के लिए हबीब जालिब की नज़्म किसी तोहफ़े से कम नहीं हैं. फिर साहिर के अंतरंग मित्र और कॉमरेड ए. हमीद, हमीद अख़्तर और महेंद्रनाथ के मज़मून साहिर के जीवन के अनेक पहलुओं से पर्दा उठाते हैं, ख़ासतौर से ए. हमीद ने बंटवारे के समय होने वाले क़त्लो-ग़ारत के आंखों देखे हृदय-विदारक मंज़र बयान किये हैं, जिनके वे और साहिर साथ-साथ गवाह बने थे. साहिर की मामूंज़ाद बहन, सरवर शफ़ी ने जिस अपनाइयत से अपने भाईजान को याद किया है, हम कई जगह मुस्कुराते और उदास होते हैं और ख़ुद को उनकी भावनाओं में शरीक पाते हैं. निदा फ़ाज़ली का लेखनुमा इंटरव्यू इसलिए चौंकाता है कि यह एकमात्र लेख है जिसमें साहिर के मिज़ाज के कड़वेपन और अहंकार को कुछ ज़्यादा ही तीखेपन से निशाना बनाया गया है. निदा ने साहिर की व्यक्तिगत स्तर पर कटु आलोचना की है; और सिक्के के इसी विपरीत पहलू को दिखाने के लिए इस लेख को शामिल करना ज़रूरी हो गया. इस अंक का एक हिस्सा साहिर के गद्य लेखन को समर्पित है, जिससे पाठक साहिर की एक और सलाहियत से वाक़िफ़ तो होंगे ही, उनकी सामाजिक और राजनीतिक चेतना का एक अन्य स्तर पर आकलन भी कर सकेंगे.

साहिर साहब सिर्फ़ किताबी अदब के नहीं थे, सिनेमा, ग्रामोफ़ोन, कैसेट और रेडियो के भी उतने ही थे, जितने मुशायरों और महफ़िलों के, जितने हिंदी के उतने ही उर्दू के, जितने हिंदुस्तान के उतने ही पाकिस्तान के, और जितने कल के उतने ही आज के. दिलचस्प है याद करना कि ऐसी फ़िल्में जिनमें नायक शायर की भूमिका में उतरे हों - *प्यासा, बरसात की रात, ग़ज़ल, एक महल हो सपनों का* से लेकर *कभी-कभी* तक - ऐसी फ़िल्मों से बतौर गीतकार साहिर की वाबस्तगी सबसे ज़्यादा रही. उन्हें फ़िल्मफ़ेयर अवार्ड के लिए आठ बार नामित किया गया और दो बार हासिल भी हुआ. उसी तरह पुराने लोगों को याद होगा कि सिनेमा-रेडियो की जुगलबंदी के सुनहरे दौर में लोकप्रियता की स्पर्धा का एक ऐतिहासिक पैमाना हुआ करता था रेडियो सिलोन से प्रसारित कार्यक्रम 'बिनाका गीतमाला', रिकॉर्ड समय तक चलने वाले इस अनोखे कार्यक्रम में साहिर के गीत अक्सर 'सरताज गीत' का रुतबा हासिल करते रहे, और कम-से-कम तीन सालाना शुमारे में चोटी के पायदान पर बजे। साहिर की शायरी ने मोहब्बत को देवदासाना शहादत से निजात दिलाकर सूफ़ी-भक्ति भावना से लबरेज़ रुमानियत बख़्शी तो व्यावहारिकता की तमीज़ भी सिखायी; भक्ति रस में सराबोर भजन और हाल में पहुंचाने वाली क़व्वालियां दीं, तो अंधविश्वास और धर्म आधारित जेंडर और जाति की ग़ैरबराबरी को ललकारा और सबसे ख़ास बात, अपनी फ़िल्मी पाठशाला में बच्चों के मुंह से वयस्कों को कटघरे में रखकर बड़े तीखे और वाजिब सवाल पुछवाये. ख़ुशी की बात है कि *यूट्यूब* पर 'साहिर' खोजने पर उनसे अलग-अलग तरह से कनेक्ट करने वाले वीडियो की बाढ़ सी आ जाती है, उनके लिखे हर गाने पर दर्ज दर्शक संख्या का हिसाब लगायें तो साफ़ पता चलता है कि उनकी लोकप्रियता अब भी बढ़ रही है।

अफ़सोस कि जिन लेखकों से हम ने इस अंक के लिए लिखने को कहा उनमें से आधे लोगों के भी लेख न मिल सके और कोरोना-काल की असाधारण परिस्तिथियों की भेंट चढ़ गये. कुछ लोग बीमार पड़ गये तो कुछ ज़िंदगी की जंग हार गये. ऐसे ही प्रिय लेखकों में जिनके लेख का हमें इंतज़ार था, राजकुमार केसवानी की स्मृति को नमन है. काश वे स्वस्थ हो पाते और इस कहकशां में शामिल हो पाते. उर्दू-हिंदी के जो आलोचक और अदीब इन विकट हालात में भी हमें लेख भेज सके हम उनके आभारी हैं. अली अहमद फ़ातमी को छोड़कर उर्दू आलोचकों के अधिकांश लेख हमें उर्दू ही में मिले और हमें उनका अनुवाद करना पड़ा. इस तरह इस अंक का काफ़ी हिस्सा उर्दू से अनुवाद और लिप्यंतर पर आधारित है. साहिर की चयनित शायरी के मुश्किल शब्दों के अर्थ लिखने का काम भी नये सिरे के किया गया है. इस क़वायद में हमने कोशिश की है कि साहिर पर कुछ दुर्लभ सामग्री पाठकों तक पहुंचा सकें. उम्मीद है इस कोशिश से वे मायूस नहीं होंगे. अंक के शाय होने में देरी के लिए क्षमायाचना.

डॉ. केवल धीर ने *फ़न और शख़्सियत* के साहिर नंबर सहित कई किताबें मुहय्या कीं. हम उनके आभारी हैं. *रेख़्ता* की वेबसाइट पर हमें साहिर पर अनेक दुर्लभ किताबें और रिसाले मिले. आभार. त्रैमासिक *उर्दू अदब*, दिल्ली का भी शुक्रिया जहां से हमने कई लेख लिये हैं. उर्दू से अनुवाद में मदद के लिए मोहम्मद नौशाद का बहुत शुक्रिया.

मृत्युंजय चैटर्जी के हम तहेदिल से शुक्रगुज़ार हैं जिन्होंने बड़े मनोयोग से अंक को ख़ूबसूरती से डिज़ाइन किया.

अंत में, *नया पथ* के संपादक मंडल का विशेष तौर पर शुक्रिया वाजिब है, क्योंकि इस अंक को अंतिम रूप देने और प्रकाशन योग्य बनाने में उन्होंने धैर्य, उत्साह और मेहनत से अपने अतिथि संपादकों की मदद की.

अर्जुमंद आरा
रविकान्त

हर इक पल मेरी कहानी है...

(साहिर की शायरी और लेख)

परछाइयां

साहिर लुधियानवी

('परछाइयां' मेरी पहली तवील नज़्म है. इस वक़्त सारी दुनिया में अम्नो-तहज़ीब को बचाने के लिए जो तहरीक चल रही है, यह नज़्म उसका एक हिस्सा है. मैं समझता हूं कि हर नौजवान नस्ल को यह कोशिश करनी चाहिए कि उसे जो दुनिया अपने बुज़ुर्गों से विरसे में मिली है वह आने वाली नस्लों को उससे बेहतर और ख़ूबसूरत दुनिया देकर जाये. मेरी यह नज़्म इसी कोशिश का अदबी रूप है. —साहिर लुधियानवी)

जवान रात के सीने पे दूधिया आंचल
मचल रहा है किसी ख़ाबे-मरमरीं[1] की तरह
हसीन फूल, हसीं पत्तियां, हसीं शाख़ें
लचक रही हैं किसी जिस्मे-नाज़नीं की तरह
फ़ज़ा में घुल से गये हैं उफ़ुक़[2] के नर्म ख़ुतूत[3]
ज़मीं हसीन है, ख़ाबों की सरज़मीं की तरह
तसव्वुरात[4] की परछाइयां उभरतीं हैं
कभी गुमान की सूरत, कभी यक़ीं की तरह
वो पेड़ जिन के तले हम पनाह लेते थे
खड़े हैं आज भी साकित[5] किसी अमीं[6] की तरह
इन्हीं के साये में फिर आज दो धड़कते दिल
ख़मोश होंटों से कुछ कहने-सुनने आये हैं
न जाने कितनी कशाकश[7] से, कितनी काविश[8] से
ये सोते-जागते लम्हे चुराके लाये हैं

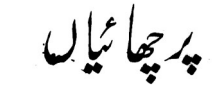

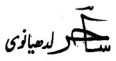

यही फ़ज़ा थी, यही रुत, यही ज़माना था
यहीं से हमने मुहब्बत की इब्तिदा की थी
धड़कते दिल से लरज़ती हुई निगाहों से
हुज़ूरे-ग़ैब[9] में नन्ही सी इल्तिजा की थी
कि आरज़ू के कंवल खिल के फूल हो जायें
दिलो-नज़र की दुआएं क़बूल हो जायें
तसव्वुरात की परछाइयां उभरती हैं

तुम आ रही हो ज़माने की आंख से बचकर
नज़र झुकाये हुए और बदन चुराये हुए

ख़ुद अपने क़दमों की आहट से झेंपती डरती
ख़ुद अपने साये की जुंबिश से ख़ौफ़ खाये हुए
तसव्वुरात की परछाइयां उभरती हैं

रवां है छोटी-सी कश्ती हवाओं के रुख़ पर
नदी के साज़ पे मल्लाह गीत गाता है
तुम्हारा जिस्म हर इक लहर के झकोले से
मिरी खुली हुई बाहों में झूल जाता है
तसव्वुरात की परछाइयां उभरती हैं

मैं फूल टांक रहा हूं तुम्हारे जूड़े में
तुम्हारी आंख मुसर्रत[10] से झुकती जाती है
न जाने आज मैं क्या बात कहने वाला हूं
ज़बान ख़ुश्क है, आवाज़ रुकती जाती है
तसव्वुरात की परछाइयां उभरती हैं

मेरे गले में तुम्हारी गुदाज़[11] बाहें हैं
तुम्हारे होंटों पे मेरे लबों के साये हैं
मुझे यक़ीन कि हम अब कभी न बिछड़ेंगे
तुम्हें गुमान कि हम मिलके भी पराये हैं
तसव्वुरात की परछाइयां उभरती हैं

मेरे पलंग पे बिखरी हुई किताबों को
अदाए-अज्ज़ो-करम[12] से उठ रही हो तुम
सुहाग-रात जो ढोलक पे गाये जाते हैं
दबे सुरों में वही गीत गा रही हो तुम
तसव्वुरात की परछाइयां उभरती हैं

वो लमहे कितने दिलकश थे, वो घड़ियां कितनी प्यारी थीं
वो सहरे कितने नाज़ुक थे, वो लड़ियां कितनी प्यारी थीं
बस्ती की हर इक शादाब गली, ख़ाबों का जज़ीरा[13] थी गोया[14]
हर मौजे-नफ़स[15], हर मौजे-सबा[16], नग़मों का ज़ख़ीरा[17] थी गोया

नागाह[18] लहकते खेतों से टापों की सदाएं आने लगीं
बारूद की बोझल बू लेकर पच्छिम से हवाएं आने लगीं
तामीर[19] के रौशन चेहरे पर तख़रीब[20] का बादल फैल गया
हर गांव में वहशत[21] नाच उठी, हर शहर में जंगल फैल गया

मग़रिब के मुहज़्ज़ब[22] मुल्कों से कुछ ख़ाकी वर्दी-पोश आये
इठलाते हुए मग़रूर आये, लहराते हुए मदहोश आये

ख़ामोश ज़मीं के सीने में ख़ेमों की तनाबें[23] गड़ने लगीं
मक्खन-सी मुलायम राहों पर बूटों की ख़राशें पड़ने लगीं
फ़ौजों के भयानक बैंड तले चरख़ों की सदाएं डूब गयीं
जीपों की सुलगती धूल तले फूलों की क़बाएं[24] डूब गयीं

इंसान की क़ीमत गिरने लगी, अजनास[25] के भाऊ चढ़ने लगे
चौपाल की रौनक़ घटने लगी, भर्ती के दफ़ातिर बढ़ने लगे
बस्ती के सजीले शोख़ जवां, बन-बन के सिपाही जाने लगे
जिस राह से कम ही लौट सके, उस राह पे राही जाने लगे
उन जाने वाले दस्तों में ग़ैरत भी गयी, बरनाई[26] भी
माओं के जवां बेटे भी गये, बहनों के चहेते भाई भी
बस्ती पे उदासी छाने लगी, मेलों की बहारें ख़त्म हुईं
आमों की लचकती शाख़ों से झूलों की क़तारें ख़त्म हुईं
धूल उड़ने लगी बाज़ारों में, भूख उगने लगी खलियानों में
हर चीज़ दुकानों से उठकर, रूपोश हुई तहख़ानों में
बदहाल घरों की बदहाली बढ़ते-बढ़ते जंजाल बनी
महंगाई बढ़कर काल बनी, सारी बस्ती कंगाल बनी
चरवाहियां रस्ता भूल गयीं, पनहारियां पनघट छोड़ गयीं
कितनी ही कुंवारी अबलाये मां-बाप की चौखट छोड़ गयीं
इफ़लास-ज़दा[27] दहक़ानों[28] के हल-बैल बिके, खलियान बिके
जीने की तमन्ना के हाथों, जीने ही के सब सामान बिके
कुछ भी न रहा जब बिकने को, जिस्मों की तिजारत होने लगी
ख़लवत[29] में भी जो ममनूअ[30] थी वो जलवत[31] में जसारत[32] होने लगी
तसव्वुरात की परछाइयां उभरती हैं

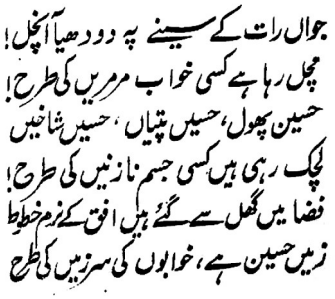

तुम आ रही हो सरे-आम बाल बिखराये
हज़ार-गूना मलामत[33] का बार[34] उठाये हुए
हवस-परस्त[35] निगाहों की चीरा-दस्ती[36] से
बदन की झेंपती उरियानियां[37] छिपाये हुए
तसव्वुरात की परछाइयां उभरती हैं

मैं शहर जाके हर इक दर पे झांक आया हूं
किसी जगह मेरी मेहनत का मोल मिल न सका
सितमगरों के सियासी क़मारख़ानों[38] में
अलम-नसीब[39] फ़िरासत[40] का मोल मिल न सका
तसव्वुरात की परछाइयां उभरती हैं

तुम्हारे घर में क़यामत का शोर बरपा है
महाज़े-जंग[41] से हरकारा तार लाया है
कि जिसका ज़िक्र तुम्हें ज़िंदगी से प्यारा था
वह भाई 'नग़ार्ा-ए-दुश्मन'[42] में काम आया है
तसव्वुरात की परछाइयां उभरती हैं

हर एक गाम पे बदनामियों का जमघट है
हर एक मोड़ पे रुसवाइयों के मेले हैं
न दोस्ती, न तकल्लुफ़, न दिलबरी, न ख़ुलूस[43]
किसी का कोई नहीं, आज सब अकेले हैं
तसव्वुरात की परछाइयां उभरती हैं

वो रहगुज़र[44] जो मिरे दिल की तरह सूनी है
न जाने तुमको कहां ले के जाने वाली है
तुम्हें ख़रीद रहे हैं ज़मीर[45] के क़ातिल
उफ़ुक़[46] पे ख़ूने-तमन्ना-ए-दिल[47] की लाली है
तसव्वुरात की परछाइयां उभरती हैं

सूरज के लहू में लिथड़ी हुई वो शाम है अब तक याद मुझे
चाहत के सुनहरे ख़ाबों का अंजाम है अब तक याद मुझे
उस शाम मुझे मालूम हुआ खेतों की तरह इस दुनिया में
सहमी हुई दोशीज़ाओं[48] की मुस्कान भी बेची जाती है
उस शाम मुझे मालूम हुआ, इस कारगहे-ज़रदारी[49] में
दो भोली-भाली रूहों की पहचान भी बेची जाती है

उस शाम मुझे मालूम हुआ जब बाप की खेती छिन जाये
ममता के सुनहरे ख़ाबों की अनमोल निशानी बिकती है
उस शाम मुझे मालूम हुआ, जब भाई जंग में काम आये
सरमाये[50] के क़हबाख़ाने[51] में बहनों की जवानी बिकती है
सूरज के लहू में लिथड़ी हुई वो शाम है अब तक याद मुझे
चाहत के सुनहरे ख़ाबों का अंजाम है अब तक याद मुझे

तुम आज हज़ारों मील यहां से दूर कहीं तनहाई में
या बज़्मे-तरब-आराई[52] में
मेरे सपने बुनती होगी, बैठी आग़ोश पराई में

گذشتہ جنگ میں گھر ہی جلے مگر اس بار
عجب نہیں کہ یہ تنہائیاں بھی جل جائیں
گذشتہ جنگ میں پیکر جلے، مگر اس بار
عجب نہیں کہ یہ پرچھائیاں بھی جل جائیں
تصورات کی پرچھائیاں اُبھرتی ہیں

और मैं सीने में ग़म लेकर दिन-रात मशक्क़त करता हूं
जीने की ख़ातिर मरता हूं
अपने फ़न को रुस्वा करके अग़यार[53] का दामन भरता हूं

मजबूर हूं मैं, मजबूर हो तुम, मजबूर यह दुनिया सारी है
तन का दुख मन पर भारी है
इस दौरे में जीने की क़ीमत या दारो-रसन[54] या ख़्वारी[55] है

मैं दारो-रसन तक जा न सका, तुम जहद[56] की हद तक आ न सकीं
चाहा तो मगर अपना न सकीं
हम तुम दो ऐसी रूहें हैं, जो मंज़िले-तस्कीं[57] पा न सकीं

जीने को जिये जाते हैं मगर, सांसों में चिताएं जलती हैं
ख़ामोश वफ़ाएं जलती हैं
संगीन हक़ायक़-ज़ारों[58] में, ख़ाबों की रिदाएं[59] जलती हैं

और आज जब इन पेड़ों के तले फिर दो साये लहराये हैं
फिर दो दिल मिलने आये हैं
फिर मौत की आंधी उट्ठी है, फिर जंग के बादल छाये हैं

मैं सोच रहा हूं इनका भी अपनी ही तरह अंजाम न हो
इनका भी जुनूं बदनाम न हो
इनके भी मुक़द्दर में लिक्खी इक ख़ून में लिथड़ी शाम न हो

सूरज के लहू में लिथड़ी हुई वो शाम है अब तक याद मुझे
चाहत के सुनहरे ख़ाबों का अंजाम है अब तक याद मुझे

हमारा प्यार हवादिस[60] की ताब ला न सका
मगर इन्हें तो मुरादों की रात मिल जाये
हमें तो कशमकशे-मर्गे-बे-अमां[61] ही मिली
इन्हें तो झूमती गाती हयात[62] मिल जाये

बहुत दिनों से है ये मश्ग़ला[63] सियासत का
कि जब जवान हों बच्चे तो क़त्ल हो जायें
बहुत दिनों से है ये ख़ब्त[64] हुक्मरानों का
कि दूर-दूर के मुल्कों में क़हत[65] बो जायें

बहुत दिनों से जवानी के ख़्वाब वीरां हैं
गुज़श्ता जंग में घर ही जले मगर इस बार

बहुत दिनों से सितम-दीदा शाहराहों[66] में
निगारे-ज़ीस्त[67] की इस्मत[68] पनाह ढूंढ़ती है

चलो कि आज सभी पायमाल[69] रूहों से
कहें कि अपने हर इक ज़ख़्म को जवां कर लें
हमारा राज़, हमारा नहीं सभी का है
चलो कि सारे ज़माने को राज़दां कर लें

चलो कि चल के सियासी मुक़ामिरों[70] से कहें
कि हम को जंगो-जदल के चलन से नफ़रत है
जिसे लहू के सिवा कोई रंग रास न आये
हमें हयात के उस पैरहन[71] से नफ़रत है

कहो कि अब कोई क़ातिल अगर इधर आया
तो हर क़दम पे ज़मीं तंग होती जायेगी!
हर एक मौजे-हवा रुख़ बदल के झपटेगी
हर एक शाख़ रगे-संग[72] होती जायेगी!

उठो कि आज हर इक जंगजू से ये कह दें
कि हमको काम की ख़ातिर कलों की हाजत[73] है
हमें किसी की ज़मीं छीनने का शौक़ नहीं
हमें तो अपनी ज़मीं पर हलों की हाजत है

कहो कि अब कोई ताजिर[74] इधर का रुख़ न करे
अब इस जगह कोई कुवांरी न बेची जायेगी
ये खेत जाग पड़े, उठ खड़ी हुई फ़सलें
अब इस जगह कोई क्यारी न बेची जायेगी
ये सरज़मीन है गौतम की और नानक की
इस अर्ज़े-पाक[75] पे वहशी न चल सकेंगे कभी
हमारा ख़ून अमानत[76] है नस्ले-नौ[77] के लिए
हमारे ख़ून पे लश्कर न पल सकेंगे कभी

कहो कि आज भी हम सब अगर ख़मोश रहे
तो इस दमकते हुए ख़ाकदां[78] की ख़ैर[79] नहीं
जुनूं की ढाली हुई एटमी बलाओं से
ज़मीं की ख़ैर नहीं, आसमां की ख़ैर नहीं!

गुज़श्ता जंग में घर ही जले मगर इस बार

अजब नहीं कि ये तनहाइयां भी जल जायें
गुज़श्ता जंग में पैकर जले मगर इस बार
अजब नहीं कि ये परछाइयां भी जल जायें
तसव्वुरात की परछाइयां उभरती हैं

(*परछाइयां* में शामिल तस्वीरें 1955 के एडिशन से ली गयी हैं जिसे 'मकतबा जदीद' लाहौर ने 'सवेरा आर्ट प्रेस', लाहौर से प्रकाशित किया था. 39 पृष्ठ की इस पुस्तिका की क़ीमत एक रुपया चार आने थी. किताब का दीबाचा (प्राक्कथन) अली सरदार जाफ़री ने लिखा था और चित्र हरकिशन ने बनाये थे जो बक़ौल साहिर 'हमारे मुल्क के एक प्रतिष्ठित और साहिबे-तर्ज़ आर्टिस्ट होने के अलावा मेरे बचपन के दोस्त और कॉलेज के साथी भी हैं.' किताब का इंतिसाब (समर्पण) 'नजमा, समी और हामिद अंसारी की नन्ही बच्ची साहिरा के नाम' है.

प्रस्तुत चित्रों में नज़्म की प्रारंभिक और अंतिम पंक्तियों वाले पृष्ठ और हरकिशन की बनायी हुई तस्वीरें शामिल हैं.)

1.संगे-मरमर जैसा सफ़ेद; 2. क्षितिज; 3. रेखाएं; 4. तसव्वुर (कल्पना) का बहुवचन; 5. स्थिर; 6. अमानतदार, संरक्षक; 7. खींचतान; 8. कोशिश, मेहनत; 9. अनदेखे ख़ुदा के सामने; 10. ख़ुशी; 11. पिघलाने वाली; 12. नर्मी और मेहरबानी का भाव; 13. द्वीप, टापू; 14. मानो; 15. सांस की लहर; 16. हवा की लहर; 17. भंडार; 18. अचानक; 19. निर्माण; 20. विनाश; 21. भय, त्रास; 22. सभ्य; 23. रस्सियां; 24. लिबास; 25. जिंस (चीज़) का बहुवचन ; 26. जवानी, शबाब; 27. ग़रीबी के मारे हुए; 28. किसान; 29. तन्हाई, एकांत; 30. वर्जित, निषिद्ध; 31. खुले आम; 32. दुस्साहस; 33. बुराई मिलना/पाना; 34. भार; 35. कामुक; 36. चीरहरण करना, ज़्यादती; 37. नंगापन; 38. जुआख़ानों; 39. जिसके भाग्य में दुख लिखे हों; 40. समझदारी, विवेक; 41. युद्ध का मोर्चा; 42. दुश्मनों का घेरा; 43. सहृदयता, निस्वार्थ प्रेम; 44. सड़क; 45. अंतरात्मा; 46. क्षितिज; 47. दिल की अभिलाषाओं का क़त्ल/ख़ून; 48. सुंदरियों; 49. पूंजी रखने/रखाने, यानी पूंजीवाद का कारख़ाना; 50. पूंजी; 51. वैश्यालय, चकले; 52. आनंद-उल्लास के लिए सजायी गयी महफ़िल; 53. ग़ैर का बहुवचन; 54. सूली, फांसी का तख़्ता व फंदा; 55. ज़िल्लत, तिरस्कार; 56. संघर्ष; 57. सुकून, शांति रूपी ध्येय; 58. यथार्थ की कठोर भूमि; 59. चादरें, ओढ़नियां; 60. हादसों; 61. मौत की ऐसी छटपटाहट जिससे कभी छुटकारा न मिले; 62. ज़िंदगी; 63. काम, व्यसन; 64. उन्माद; 65. अकाल; 66. ऐसे रास्ते जिन्होंने बहुत से अत्याचार देखे हैं; 67. जीवनरूपी सुंदरी; 68. इज़्ज़त; 69. पददलित; 70. जुआरियों; 71. लिबास, परिधान; 72. पत्थर की रगों की तरह जड़वत; 73. ज़रूरत; 74. व्यापारी; 75. पवित्र धरती; 76. धरोहर, संरक्षित वस्तु; 77. नयी पीढ़ी; 78. मिट्टी का घर, धरती; 79. सलामती, सुरक्षा.

जंग और नज़्म[1]

साहिर लुधियानवी

जनाबे-सद्र और साथियो,
अंजुमन तरक़्क़ी-पसंद मुसन्निफ़ीन (प्रगतिशील लेखक संघ) की बुनियाद 1936 में उस घोषणापत्र के साथ रखी गयी जिसमें कहा गया था:

> हम हर ऐसे जज़्बे का प्रतिनिधित्व करेंगे जो हमारे वतन को एक नयी और बेहतर ज़िंदगी की राह दिखाये, इस काम में हम अपने और ग़ैर मुल्कों की सभ्यता और संस्कृति से फ़ायदा उठायेंगे. हम चाहते हैं कि हिंदुस्तान का नया साहित्य हमारी ज़िंदगी की आधारभूत समस्याओं को अपनी विषयवस्तु बनाये. ये भूख, ग़रीबी, समाजी पतन और गुलामी की समस्याएं हैं, हम उन तमाम निशानियों का विरोध करेंगे जो हमें लाचारी, सुस्ती और अंधविश्वासों की तरफ़ ले जा रही हैं. हम उन तमाम बातों को, जो हमारी समीक्षा-शक्ति को उभारती और परंपराओं और संस्थाओं को अक़्ल की कसौटी पर परखती हैं, परिवर्तन और तरक़्क़ी का माध्यम समझ कर क़बूल करते हैं.

मैं इसी घोषणापत्र की रोशनी में युद्धकाल की काव्य रचनाओं का जायज़ा लूंगा. इस तरह एक तो उन निर्मल-हृदय आलोचकों के इल्ज़ामों का खंडन हो सकेगा जिन्हें आधुनिक साहित्य में अश्लीलता के सिवा कुछ नज़र ही नहीं आता, दूसरे हम यह भी जांच सकेंगे कि जंग रूपी आपातकाल में जब कि सारी दुनिया के लोग मौत और ज़िंदगी की कशमकश में मुब्तिला थे, हमारे शायर किस हद तक अपने इस फ़र्ज़ को निभाने में कामयाब हुए जो मुल्क, क़ौम, साहित्य और मानवता की ओर से उन पर आइद होता है और जिसका ज़िक्र उपरोक्त घोषणापत्र में किया गया है.

जिस वक़्त यह ऐलान-नामा या घोषणा-पत्र प्रकाशित हुआ, यह जंग एक तरह से शुरू हो चुकी थी क्योंकि इस जंग का आरंभ वस्तुत: 1939 में नहीं बल्कि उस वक़्त हुआ था जब 1931 में जापान ने मंचूरिया पर हमला किया था. एबीसीनिया (इथोपिया) पर इटली की यलग़ार ने इस आग को और अधिक हवा दी और स्पेन में जनतंत्रवादियों की हार के बाद तो यह बात बिल्कुल यक़ीनी हो गयी थी कि दुनिया को एक और विश्वव्यापी युद्ध के नरक में झुलसना पड़ेगा. लेकिन हमारे आम शायरों ने इस परिस्थिति से कोई ख़ास असर क़बूल नहीं किया. सिर्फ़ इक़बाल की शायरी में हमें इन घटनाओं और हालात का अक्स दिखायी देता है जो क्रमश: यूरोप के नक़्शे को बदल रहे थे. अल्लामा इक़बाल उन सब आंदोलनों से बख़ूबी वाक़िफ़ थे जो पहले विश्वयुद्ध के बाद यूरोप के अनेक देशों में जन्म ले रहे थे. चुनांचे अपनी नज़्म *इबलीस की मजलिसे-शूरा* में वे फ़ासिज़्म का वर्णन करते हुए कहते हैं कि फ़ासिज़्म वस्तुत: कम्युनिज़्म का तोड़ है जिसे सरमायापरस्त इबलीसों (पूंजीवादी शैतानों) ने मज़दूर तहरीकों को कुचलने के लिए ईजाद किया है. कुल मिलाकर वे फ़ासिज़्म के ख़िलाफ़ थे, लेकिन उन्होंने फ़ासिज़्म को एक ज़्यादा बड़े ख़तरे के रूप में कभी पेश नहीं किया. उनकी कुछ नज़्मों को पढ़ने से ऐसा महसूस होता है जैसे वे फ़ासीवाद का औचित्य पेश करना चाहते हैं. 'बाले-जिब्रील' की एक नज़्म *मुसोलिनी* में उन्होंने न केवल मुसोलिनी के उद्भव पर ख़ुशी ज़ाहिर की बल्कि उसे इटली का उद्धारक भी माना है. उनके कलाम के विश्लेषण से पता चलता है कि उनके इस रुझान का कारण एक तो उनकी चरम पर पहुंची हुई अंग्रेज़ दुश्मनी थी और दूसरे यह हक़ीक़त कि फ़ासिज़्म उन देशों में जन्म ले रहा था जिन्हें पिछले विश्वयुद्ध के बाद बर्तानिया, फ़्रांस और अमरीका के विजयी साम्राज्यवादी गिरोह ने पूर्णत: मजबूर और अपंग बना डालना चाहा था.

जहां तक हमारे दूसरे शायरों का ताल्लुक़ है, वे आने वाले विश्वयुद्ध के क़दमों की आहट तो सुन रहे थे लेकिन उनकी राजनीतिक दृष्टि उतनी दूर तक देखने वाली नहीं थी कि वे रूसी अदीबों की तरह फ़ासिज़्म के रूप

का ठीकठीक अंदाज़ा लगा सकते और अवाम को उन दुष्ट उद्देश्यों से आगाह कर सकते जो इटली, जापान और फ्रांको की आक्रामक पहल के पीछे काम कर रहे थे, और जिनसे सारी दुनिया के अमन, आज़ादी और तहज़ीब के लिए ख़तरा पैदा हो चला था.

इस दौरान में मीम हसन लतीफ़ी की नज़्म *जेहोल का मंज़रे-जंग* ही एक ऐसी नज़्म है जो चीन और जापान की आपसी दुश्मनी की सच्ची प्रकृति पर प्रकाश डालती है. चीन पर जापान की यलग़ार अंतर्राष्ट्रीय राजनीति से अलग या कटी हुई घटना नहीं थी बल्कि दूसरे विश्वयुद्ध की प्रस्तावना थी, जिसे चीनी शहीदों के ख़ून की सुर्ख़ी से तहरीर किया जा रहा था.

फिर ख़ू-ए-जफ़ा[2] बरसरे-पैकार[3] हुई है
जेहोल पे जापान की यलग़ार हुई है
शातिर कभी यूं क़ुव्वते-इक़दाम[4] न होती
साज़िश ही की शिरकत से वो अय्यार[5] हुई है

और वास्तविकता भी यही थी. पश्चिमी पूंजीवादी देश ख़ुद चाहते थे कि जापान का जेहोल पर अधिग्रहण रूस से विवाद का रूप ले ले, चुनांचे कफ़न चोरों की जमात इस विकट दुर्घटना पर चुप्पी साधे रही :

जोलां-गहे-चीनी[6] है शराबोर लहू में
तहदीदे-कफ़न-दुज़्द[7] भी बेकार हुई है

अंतत: लतीफ़ी ने भविष्यवाणी करते हुए कहा :

ये रज़्मे-हमागीर[8] का है मंज़रे-अव्वल[9]
हथियारों की फ़िलहाल तो झनकार हुई है
बन जायेगी तूफ़ान ये हल्की सी शफ़क़[10] भी
अक़सा-ए-उफ़ुक़[11] पर जो नमूदार हुई है

हमारे काव्य-साहित्य पर इस जंग का स्पष्ट और नुमायां असर उस वक़्त पड़ा जब 1939 में हिटलर की सशस्त्र फ़ौजों ने यूरोप के छोटे-छोटे मुल्कों की आज़ादी और जम्हूरियत को रौंदते हुए अपनी पेशक़दमी शुरू की, उस वक़्त हमारे शायरों ने इस जंग के लिए जो रवैया अपनाया उसे समझने और जंग के विभिन्न आयामों की हक़ीक़त का अंदाज़ा लगाने के लिए हमें कुछ पीछे जाना पड़ेगा.

पिछले विश्वयुद्ध के बाद दुनिया तीन हिस्सों में बंट गयी थी. एक तरफ़ वे साम्राज्यवादी देश थे जो भयावह आर्थिक संकट का शिकार हो रहे थे, दूसरी तरफ़ सोवियत रूस था, जहां अक्तूबर 1917 के सुर्ख़ इंकलाब के बाद एक नया निज़ाम, एक नयी तहज़ीब और एक नया इंसान जन्म ले रहा था. उर्दू दुनिया के अवाम को आज़ादी, अमन और बराबरी की राह दिखा रहा था. तीसरी तरफ़ हिंदुस्तान, चीन और दूसरे उपनिवेशी देश थे जिनमें साम्राज्यवादी शासन से छुटकारा पाने का जज़्बा रोज़-बरोज़ मज़बूत हो रहा था और क़ौमी आज़ादी की तहरीक ज़ोर पकड़ रही थी. विजयी साम्राज्यवादी गिरोह यानी अमरीका, बर्तानिया और फ्रांस ने इस संकट से छुटकारा पाने के लिए अपने उपनिवेश और देशीय क्षेत्रफल के विस्तार से मदद ली और इसमें उन्हें एक हद तक कामयाबी भी हासिल हुई. हारने वाला साम्राज्यवादी गिरोह जिसमें इटली और जर्मनी शामिल थे, चूंकि पिछले विश्वयुद्ध के बाद अपने अपने उपनिवेशों से वंचित कर दिया गया था, इसलिए वहां के पूंजीवादी दलों ने अपनी समस्याओं के हल के लिए फ़ासिज़्म का हथियार ईजाद किया, जिसका मक़सद देश की जनतांत्रिक संस्थाओं को ध्वस्त करके फ़ौजी डिक्टेटरशिप स्थापित करना और उन विचारों की रोकथाम था जो फ्रांस और रूस की क्रांतियों ने पैदा किये थे. अमरीकी और बर्तानवी साम्राज्यवादी इस ख़तरे से ग़ाफ़िल नहीं थे लेकिन उन्होंने जानबूझकर फ़ासिस्ट आंदोलनों को फलने फूलने का मौक़ा दिया क्योंकि उन्हें उम्मीद थी कि वे इस बढ़ती हुई ताक़त को पूरब में चीन और रूस, और यूरोप में जन-आंदोलनों के ख़िलाफ़ इस्तेमाल कर सकेंगे. साम्राज्यवादी गिरोह की इस नीति को नाकाम बनाने के लिए दुनिया के तरक़्क़ी-पसंद अवाम और उनकी रहनुमाई करने वाली साम्यवादी जमातों ने सोवियत रूस के

साथ मिल कर फ़ासिज़्म के ख़िलाफ़ एक अंतर्राष्ट्रीय अमन-मोर्चा बनाने की कोशिश की जो उन लोगों की ग़द्दारी के कारण कामयाब न हो सका जिनका नारा था कि स्पेन, चेकोस्लोवाकिया और चीन के मामलों में चेम्बरलेन और दलादियर की तटस्थ रहने की पालिसी अमन के लिए है. नतीजा यह हुआ कि बर्तानवी, अमरीकी और फ़्रांसीसी साम्राज्यवादी अपने फ़ासिस्ट दुश्मनों को मज़बूत बनाने का खेल खेलते रहे, इस उम्मीद पर कि फ़ासिस्ट शक्तियां अपने आइंदा हमले का निशाना सोवियत यूनियन को बनायेंगी, लेकिन उनकी ये सारी उम्मीदें धरी की धरी रह गयीं, जब हिटलर ने अपने में रूस पर हमला करने की ताक़त न पाते हुए रूस से एक दूसरे पर हमला न करने का समझौता कर लिया. इस पर बर्तानवी रुढ़िवादी इतने झल्लाये कि उन्होंने हिटलर के ख़िलाफ़ एलाने-जंग कर दिया.

बर्तानवी और फ़्रांसीसी साम्राज्यवादियों ने अपने मुल्क के अवाम को यह कह कर जंग में शामिल होने की दावत दी कि वे हिटलरिज़्म के ख़िलाफ़ आज़ादी, जम्हूरियत और पोलैंड को बचाने के लिए जंग कर रहे हैं, लेकिन वास्तव में वे अपने विरोधी साम्राज्यवादी से इसलिए लड़ रहे थे कि वह दुनिया को जीतने का निजी प्रोग्राम लेकर निकल खड़ा हुआ था और उसने सोवियत रूस के साथ युद्ध न करने का क़रार करके उनकी दुनिया को जीतने की तमन्नाओं का औज़ार बनने से इनकार कर दिया था. दोनों ही पक्षों का मक़सद एक था—उपनिवेश का विस्तार और व्यापारिक लूट.

3 सितंबर 1939 को वाइसराय-हिंद ने ऐलान किया कि हिंदुस्तान जंग में शामिल है, लेकिन हिंदुस्तान का शायर अभी रौलेट एक्ट, जलियांवाला बाग़ और अत्याचार और अन्याय की उस दीर्घ शृंखला को भूला नहीं था जिससे उसके मुल्क को पिछले पच्चीस साल में दोचार होना पड़ा था. वह जानता था कि यह जंग दो दुश्मन साम्राज्यवादी गिरोहों की जंग है, जो अपनी लालच को पूरा करने के लिए घायल इंसानियत के तड़पने का तमाशा देखना चाहते हैं. चुनांचे जोश मलीहाबादी ने अपनी नज़्म, 'ईस्ट इंडिया कंपनी के फ़रज़ंदों से' में बर्तानवी साम्राज्य के वहशियाना ज़ुल्मों और बर्बर व्यवहार का हवाला देते हुए बर्तानिया के इस दावे को रद्द किया कि वह अमन और इंसानियत के लिए लड़ रहा है; और अली सरदार जाफ़री ने तो जंग के विषय में हिंदुस्तान का रवैया बताते हुए साफ़ शब्दों में कह दिया :

हुकूमत हो तुम्हारी और हम तोपों का ईंधन हों
ये दीवाने का इक ख़्वाब-ए-जुनूं, ऐ बंदा-परवर है

सय्यद मुत्तलिबी फ़रीदाबादी ने जंग का विश्लेषण करते हुए कहा :

पच्छिम उमड़े बादल काले / पूरब फैले धुंए के गाले
खांडा बाजे, चमकें भाले / नाग खड़े जूं जीभ निकाले
तोपें खोल रहीं धम्माले / तड़तड़ तड़तड़ गोली चाले
कट कट गिरते गोरे काले / बहने लागे ख़ून के नाले
सारे किसां[12] हैं सारे ग्वाले / सब मज़दूरी करने वाले
आ अंबर से, कौन संभाले / तेरे ही बच्चे, तेरे ही बाले / धरती मां छाती से लगा ले

और ज़हीर काश्मीरी ने अपनी नज़्म, 'सुर्ख़ बगूले' में जंग की साम्राज्यवादी प्रकृति का पर्दा चाक करते हुए कहा :

धन के कारन, रन जाग उठा / सुर्ख़ बगूले छाये
पूरब पच्छिम के महराजे / आपस में टकराये
शोर मचा, हर कंगला अपने आपको भेंट चढ़ाये

लेकिन कंगले एक ऐसी जंग में अपने जीवन की भेंट क्यों दें जिसका मक़सद ग़ुलाम देशों और व्यापारिक मंडियों का आपस में बटवारा हो? वे अपना ख़ून चूसने वाले साम्राज्यवादियों की तबाही पर ख़ुश क्यों न हों? वे इस मुनासिब वक़्त से फ़ायदा क्यों न उठायें? चुनांचे सरदार जाफ़री ने अवाम को इस जंग से अलग रहने और अपनी तहरीके-आज़ादी को तेज़-तर करने का आग्रह करते हुए कहा :

है ये वो बिजली कि ख़ुद ख़िरमन[13] ने पाला था जिसे

है ये वो ख़ंजर कि ख़ुद हाथों ने ढाला था जिसे
आ गया है वक़्त वो जो आके टलता ही नहीं
अपना लंगर आज अपने से संभलता ही नहीं
हिल चला है तख़्ते-शाही, गिर चला है सर से ताज
हर क़दम पर डगमगाया जा रहा है सामराज
हमसे आज़ादों का इस दम गीत गाना ख़ूब है
सरफिरे, बाग़ी जवानों का तराना ख़ूब है
ग़म के सीने में ख़ुशी की आग भरने दो हमें
ख़ूं भरे परचम के नीचे रक़्स करने दो हमें

और जब 31 मार्च 1940 को हिंदुस्तान के साम्राज्यवादी आक़ाओं ने अपने भूखे नंगे ग़ुलामों से यह मांग की कि वे उनकी जीत के लिए दुआ करें और मंदिरों, मस्जिदों और गिरजाओं में जमा हो कर ख़ुदा से उनकी शहंशाहियत की हिफ़ाज़त की भीख मांगें तो कैफ़ी आज़मी ने इस मांग का जवाब ग़म और ग़ुस्से में बुझे हुए इन तीरों के साथ दिया :

बंदा-परवर हक़ ग़ुलामी का अदा क्योंकर करें
हैं शिकस्ता[14] साज़े-दिल[15], अज़्मे-नवा[16] क्योंकर करें
होंठ में टांके लगे हैं इल्तिजा[17] क्योंकर करें
आज है यौमे-दुआ[18], लेकिन दुआ क्योंकर करें

आप ही कुछ कीजिए तदबीर[19] ऐ शद्दाद-ख़ू[20]
हो न जाये लुक़्मा-ए-दोज़ख़[21] बहिश्ते-रंगो-बू[22]
मुश्तइल[23] शोलों को हम ठंडा भला क्योंकर करें
आज है यौमे-दुआ, लेकिन दुआ क्योंकर करें

हम तो यूं ही आपकी तोपों का ईंधन हो गये
ख़ानमां-बर्बाद[24] बहरे-हिफ़्ज़े-लंदन[25] हो गये
दूर अब लंदन पे मंडलाती बला क्योंकर करें
आज है यौमे-दुआ, लेकिन दुआ क्योंकर करें

संगे-ग़म[26] बरसे हैं हम पर आतिशीं[27] बम की तरह
काख़े-दिल[28] बर्बाद हैं क़स्रे-बकिंघम[29] की तरह
इस खंडर में रस्मे-हमदर्दी अदा क्योंकर करें
आज है यौमे-दुआ, लेकिन दुआ क्योंकर करें

मख़दूम मुहीयुद्दीन ने अपनी नज़्म, 'ज़ुल्फ़े-चलीपा और अंधेरा' में पूंजीवाद के उस आधारभूत अंतर्विरोध की तरफ़ इशारा किया जो आये दिन जंगों के लिए ज़िम्मेदार है और जिसका नतीजा हैं :

ख़ंदक़ें, बाड़ के तार
बाड़ के तारों में उलझे हुए इंसानों के जिस्म
और इंसानों के जिस्मों पे वे बैठे हुए गिद्ध
वे तड़खते हुए सर
मय्यतें हाथ कटी, पांव कटी
लाश के ढांचे के इस पार से उस पार तलक
सर्द हवा नौहा-ओ-नाला-ओ-फ़रियाद-कुनां[30]

लेकिन साथ ही यह भी कहा :

रात के माथे पे आज़ुर्दा[31] सितारों का हुजूम

सिर्फ़ ख़ूर्शीदे-दरख़शां[32] के निकलने तक है
रात के पास अंधेरे के सिवा कुछ भी नहीं

उसे यक़ीन था कि जिस तरह पिछले विश्वयुद्ध के दौरान में दुनिया के छठे हिस्से से पूंजीवाद का अंत हो गया था, इस बार भी पूंजीवाद की ज़ंजीर अपनी कमज़ोर कड़ियों से टूटेगी और कई दूसरे मुल्कों में पंचायती राज का आग़ाज़ होगा, इसीलिए जब उसने पूंजीवादियों को एक दूसरे से दस्तो-गिरेबां देखा तो कहा :

आफ़रीं[33] सद आफ़रीं[34] सरमायादारी के निज़ाम
अपने हाथों अपनी बर्बादी का इतना एहतिमाम!

और फिर अवाम को संबोधित करते हुए कहा :

अज़्मे-आज़ादी[35] सलामत, ज़िंदगी पाइंदाबाद![36]
सुर्ख़ परचम और ऊंचा हो, बग़ावत ज़िंदाबाद!

वह चाहता था कि युद्ध की स्थिति से फ़ायदा उठाते हुए हिंदुस्तान अपनी आज़ादी की जंग को तेज़ कर दे और फ़ौज में शामिल होकर बर्तानवी साम्राज्य के हाथ मज़बूत करने की बजाय बर्तानवी साम्राज्यको कमज़ोर करने और उसके चंगुल से निकलने के लिए अपनी शक्तियों का उपयोग करे, लेकिन जब भूख और बेकारी के मारे हुए हिंदुस्तान के दरिद्र नौजवान सत्रह-सत्रह रुपयों के बदले में साम्राज्यवादी बेड़ियों को और बढ़ाने का फ़र्ज़ अदा करने चले, तो वह अत्यंत दुखे हुए दिल के साथ कहने लगा :

जाने वाले सिपाही से पूछो—वो कहां जा रहा है
गिर रहा है सियाही का डेरा
हो रहा है मिरी जां सवेरा
ओ वतन छोड़कर जाने वाले
खुल गया इंक़लाबी फेरा
जाने वाले सिपाही से पूछो—वो कहां जा रहा है

देश में युद्धविरोधी आंदोलन जारी रहे, लेकिन जाने वाले सिपाही जाते रहे. वे किसी आदर्श के लिए भर्ती नहीं हो रहे थे, उनके सामने सिर्फ़ तीन बातें थीं—वही तीन बातें जिनका इश्तिहार नेशनल वार फ्रंट की तरफ़ से हर मोड़ पर चिपकाया गया था—अच्छी ख़ुराक, अच्छा लिबास और शीघ्र प्रगति.

इसीलिए जब कैफ़ी आज़मी ने अपने देश के फ़ाक़ा खींचने वाले अवाम को 'गुलामी को बचाने के लिए लड़ने वाले सिपाही' बन कर कानपुर के स्टेशन पर रेल के डिब्बों में सवार होते देखा, तो उसके ज़हन में उन तमाम क्रूर अत्याचारों का तसव्वुर घूमने लगा जो बर्तानवी शहंशाहियत की तरफ़ से हिंदुस्तान के देशप्रेमियों पर किये गये थे, चुनांचे वह कहने लगा :

कस गये हैं यूं मुसाफ़िर बोगियों में रेल की
जैसे हिंदी एहितजाजी[37] बारकों में जेल की
हर सिपाही की जबीं[38] पर ये लिखा पाता हूं मैं
आज वां तेग़[39]-ओ-कफ़न बांधे हुए जाता हूं मैं
'उज्र[40] मेरे क़त्ल करने में वो अब लायेंगे क्या?'
उज्र वो अब लायें तो आक़ा भी तरस खायेंगे क्या?
उनकी ख़ातिर ख़ुदकुशी का इक निकल आया है ढंग
वर्ना ये बे-दस्तो-पा[41]और जुर्रते-मैदाने-जंग[42]
कैसे कौंदेंगे ये तय्यारों[43] की ख़ूनीं छांव में
हाय अब तक भारी भारी बेड़ियां हैं पांव में
क्या करेगा बैंड जब साज़े-नफ़स[44] ख़ामोश है
जिस क़दर तनख़्वाह है बस दिल में उतना जोश है
कुछ तो सोचो बद-हवासो! कुछ ख़ुदा के वास्ते!

कौन लड़ता है गुलामी की बक़ा[45] के वास्ते!

यहां यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि फ़ासिज़्म के बारे में तरक़्क़ी-पसंद शायरों का रवैया शुरू ही से विरोध का रहा है, चुनांचे कैफ़ी इसी नज़्म में अपने हुक्मरानों को मुख़ातिब करते हुए कहता है :

हैफ़[46] अब भी तुम उन्हें आज़ाद कर देते अगर
दंग रह जाता जहां[47] भूकों को लड़ता देखकर
बरबरीयत[48] नब्ज़े-ग़ैरत[49] का भड़कना देखती
सर-ब-कफ़[50] रंजीत-ओ-नानक का कड़कना देखती
हैं निहत्ते तोमगर मैदां में जब रखते क़दम
हम उलट देते ज़मीं को ख़ूने-टीपू की क़सम

इंडियन नेशनल कांग्रेस 1939 में वामपंथियों के इस प्रस्ताव को रद्द कर चुकी थी कि हुकूमत को छ: माह का नोटिस देकर देश में एक जन-आंदोलन चलाया जाये और मांग की जाये कि बर्तानवी साम्राज्यवादी हिंदुस्तान से अपना क़ब्ज़ा हटा लें. इसके बाद कांग्रेस ने देश के लिए जो रणनीति अपनायी वह व्यक्तिगत सत्याग्रह की थी. हर सत्याग्रही को सत्याग्रह से पहले गांधीजी से इजाज़त हासिल करनी पड़ती थी. और कुछ ऐसी दैवीय शर्तों पर अमल करना पड़ता था जो प्रतिरोध की लय को और भी ज़ख़्मी और मद्धम बना देती थीं. नतीजे में आंदोलन नाकाम हो गया.

22 जून 1941 को हिटलर ने रूस पर हमला कर दिया. यूरोप की पूंजीवादी हुकूमतें उस वक़्त तक या तो जर्मनी के सामने हथियार डाल चुकी थीं या भाग कर लंदन पहुंच गयी थीं. हिटलर का ख़याल था कि वह बर्तानिया और अमरीका की पुरानी इंकलाब-दुश्मनी से फ़ायदा उठाकर उन्हें रूस के ख़िलाफ़ जंग के लिए तैयार कर सकेगा, चुनांचे इस मक़सद को पूरा करने के लिए उसने हैस को बर्तानिया भेजा, लेकिन उस वक़्त बर्तानिया में अवाम की ताक़त काफ़ी बढ़ चुकी थी, दूसरे वहां के साम्राज्यवादी शासक भी यह महसूस कर रहे थे कि अगर उस वक़्त रूस की हार हो गयी तो उनका वर्चस्व सुरक्षित नहीं रह सकता, चुनांचे मिस्टर चर्चिल ने ऐलान किया कि बर्तानिया इस जंग में रूस का साथ देगा. 6 दिसंबर 1941 को जापान ने पर्ल हार्बर पर हमला कर दिया जिसकी बिना पर अमेरिका भी जंग में शामिल हो गया और यूं दुनिया स्पष्ट रूप से दो गिरोहों में बट गयी. एक तरफ़ रूस, चीन, अमरीका, बर्तानिया और ग़ुलाम यूरोप के वे तरक़्क़ी-पसंद अवाम थे जो हिटलर के ख़ौफ़नाक अत्याचारों के बावजूद अपने स्वतंत्रता संग्रामों को संगठित कर रहे थे, दूसरी तरफ़ जर्मनी, इटली, जापान और यूरोप की वे कठपुतली हुकूमतें थीं जो फ़ासिज़्म की जीत के लिए अपने देशज अवाम का ख़ून चूस रही थीं. हमारा शायर किसका साथ दे? उसे चीन और रूस के साथ हमदर्दी थी, लेकिन अमरीकी और बर्तानवी इंपीरियलिस्टों से वह नफ़रत करता था, वह फ़ासीवाद के ख़िलाफ़ था, उसे मालूम था कि फ़ासिज़्म के मातहत अवाम के वे मौलिक अधिकार भी छिन जायेंगे जो उन्हें पूंजीवादी जनतंत्र के मातहत हासिल हैं, वह यह भी देख रहा था कि फ़ासिज़्म की जीत का मतलब अदब, आर्ट, कल्चर और आज़ादी की मौत है, लेकिन क्या फ़ासिज़्म के ख़िलाफ़ प्रोपेगंडा करने से वह बर्तानवी साम्राज्य के हाथ मज़बूत करने का जुर्म नहीं करेगा? यह सवाल बार बार उसे बेचैन करता था. रूस और चीन आज़ादी और जम्हूरियत के लिए लड़ रहे हैं, लेकिन बर्तानिया यक़ीनन अपने उपनिवेश के लिए लड़ रहा है, लूट खसोट के लिए लड़ रहा है, साम्राज्यवादी निज़ाम के लिए लड़ रहा है और अगर वह वास्तव में आज़ादी और जम्हूरियत के लिए लड़ रहा है तो हिंदुस्तान के साथ उसका व्यवहार फासीवादियों का सा क्यों है? फ़ासिस्ट यक़ीनन अवाम के स्वतंत्र रहने के अधिकार छीन लेते हैं, लेकिन क्या बर्तानिया ने अपने जम्हूरी दावों के बावजूद हिंदुस्तान में अभिव्यक्ति की आज़ादी और नागरिक अधिकारों का गला नहीं घोंट डाला? यह कशमकश हमारे पढ़े लिखे तबक़े के ज़हन में हिंदुस्तान भर में जारी थी जिसकी बिना पर वह जंग के संबंध में कोई निर्णायक रवैया अपनाने से वंचित था.

और जब मिस्टर चर्चिल ने ऐलान किया कि अटलांटिक चार्टर सिर्फ़ यूरोपी क़ौमों के लिए है, वह सिर्फ़ सफ़ेद

नस्लों की आज़ादी का परवाना है, हिंदुस्तान पर यह लागू नहीं होता तो हिंदुस्तान ने शिद्दत के साथ महसूस किया कि वह नस्ली नफ़रत जिसके लिए फ़ासीवादियों को बुरा भला कहा जाता है, उससे चीन और रूस के सहयोगी देश भी आज़ाद नहीं हैं. और फिर नून मीम राशिद ने अपनी नज़्म, 'ज़ंजीर' में यूरोपी क़ौमों के ग़ुलाम एशियाई बाशिंदों से 'पर्दा-ए-शबगीर[51] में अपने सलासिल[52] तोड़कर' भाग जाने का आग्रह किया. यह नज़्म एक देशप्रेमी हिंदुस्तानी की भावनात्मक प्रतिक्रिया का आईना है, लेकिन वह राष्ट्रवाद जिसकी बुनियाद नस्ली नफ़रत पर हो, खुद ही फ़ासिज़्म का एक रूप है और राशिद इस नज़्म में इसी रुझान का शिकार नज़र आता है. यह नज़्म साम्राज्य -दुश्मन कम और अंग्रेज़-दुश्मन जज़्बात ज़्यादा लिये हुए है और इसमें राशिद की वही बीमार मानसिकता झलकती है जिसका प्रदर्शन उसने अपनी नज़्म, 'इंतिक़ाम' में किया है जहां वह एक फ़िरंगी औरत के जिस्म से लज़्ज़त पाने की ख़ुशी को तमाम हिंदुस्तान की गुलामी का इंतिक़ाम समझता है. 'ज़ंजीर' में वह नस्ली नफ़रत के लगभग फ़ासीवादी जज़्बे का शिकार होने के साथ साथ वर्गचेतना और सियासी समझबूझ के अभाव का भी सबूत देता है और कहता है :

वे हसीं और दूर-उफ़्तादा[53] फ़िरंगी औरतें
तूने जिनके हुस्ने-रोज़-अफ़्ज़ूं[54] की ज़ीनत[55] के लिए
सालहा बे-दस्तो-पा[56] हो कर बुने हैं तार-हाए-सीमो-ज़र[57]
उनके मर्दों के लिए भी आज इक संगीन जाल
हो सके तो अपने पैकर[58] से निकाल

लेकिन प्रश्न केवल यह नहीं था कि हसीन मगर 'दूर-उफ़्तादा फ़िरंगी' औरतों के मर्दों को जाल में क्यूंकर फांसा जाये, प्रश्न यह था कि अब जब कि फ़ासिज़्म के ख़िलाफ़ वह अंतर्राष्ट्रीय मोर्चा बन गया है जिसके लिए हम 1939 में कोशिश कर रहे थे और जिसे चेम्बरलेन और दलादियर की रूस दुश्मन और रुढ़िवादी पालिसी ने कामयाब नहीं होने दिया था, तो हम उसके संबंध में क्या रवैया अपनायें और अब जब कि हिटलर की वहशी और बर्बरी शक्ति ने आज़ादी और बराबरी के सबसे बड़े केंद्र सोवियत रूस पर हमला कर दिया है और अपने दिल में यह पक्का इरादा कर लिया है कि वह यूरोप की आज़ादी चाहने वाले अवाम और उनकी रहनुमाई करने वाले सोशलिस्ट रूस को हमेशा के लिए मिटा डालेगा, तो क्या हम ख़ामोशी से हाथ पर हाथ धरे इन तमाम मूल्यों को बर्बाद होते देखते रहें जो हमारे अदब, आर्ट और कल्चर का मुख्य स्रोत हैं? क्या हम सिर्फ़ बर्तानिया के साम्राज्यवादी हुक्मरानों की तरफ़ ही देखते रहें, उन अवाम की तरफ़ न देखें जिनकी बढ़ती हुई ताक़त फ़ासिज़्म और साम्राज्य दोनों के अंत का ऐलान कर रही है? जापानी फ़ासिस्ट हमारे मुल्क की सरहदों तक पहुंच चुके थे और हमारी गर्दनों के लिए एक बदतर गुलामी का जुवा लिये हुए आ रहे थे. वे चाहते थे कि सिंगापुर, बर्मा, मलाया और हिंदुस्तान के अवाम को फ़ासिज़्म के ख़िलाफ़ उस मोर्चे से काट दें जो अंतर्राष्ट्रीय पैमाने पर संगठित हो रहा था. हम देख चुके थे कि बर्तानवी साम्राज्य की अंधी पालिसी मलाया, सिंगापुर और बर्मा को बचाने में कामयाब नहीं हो सकी, फिर क्या हम हिंदुस्तान को भी बर्तानवी साम्राज्य के रहमो-करम पर छोड़ दें, और जापानी फ़ासिस्टों को अपने मुल्क में घुस आने की दावत दें? ऐसा करने का मतलब दुनिया के आज़ादी-पसंद अवाम से ग़द्दारी करना और अपने मुल्क के जनतांत्रिक आंदोलनों को अपने हाथों कुचल डालना था. हमारे वे शायर जिनकी राजनीतिक चेतना अधिक पुख़्ता थी और जो सीधे जन-आंदोलनों से जुड़े थे, इस हक़ीक़त से बख़ूबी आगाह थे. चुनांचे सबसे पहला फ़ासिस्ट-दुश्मन तराना *क़ौमी जंग* में प्रकाशित हुआ जिसे सज्जाद ज़हीर और अली सरदार जाफ़री ने मिलकर लिखा था. इसमें इन्होंने साफ़ तौर पर माना था कि हिंदुस्तान में क़ौमी हुकूमत क़ायम हुए बिना देश को बचाने की भावना बेदार नहीं की जा सकती, लेकिन अगर बर्तानवी इम्पीरियलिस्ट हिंदुस्तान में क़ौमी हुकूमत न बनायें तो इसका यह मतलब नहीं होना चाहिए कि हिंदुस्तान एक बदतर गुलामी का जुवा अपनी गर्दन में डाल ले. हिंदुस्तान के लिए उस वक़्त एक ही रास्ता था—राष्ट्रीय एकजुटता—जो राष्ट्रीय हुकूमत और राष्ट्रीय सुरक्षा का अभिरक्षक था.

लेकिन उस समय हमारे देश की सबसे बड़ी सियासी पार्टी, इंडियन नेशनल कांग्रेस अंग्रेज़ों से मांग कर रही थी कि वे हिंदुस्तान छोड़कर चले जायें. गांधी जी ने अपने अख़बार *हरिजन* में साफ़-साफ़ लिख दिया था कि अंग्रेज़ हिंदुस्तान की हिफ़ाज़त नहीं कर सकते, उन्हें हिंदुस्तान छोड़कर चले जाना होगा. अगर वे नहीं जायेंगे तो मुल्क में बग़ावत का जन-आंदोलन चलाया जायेगा.

फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ ने अपनी नज़्म, 'सियासी लीडर के नाम' में कांग्रेस हाई-कमांड को उस ख़तरे से आगाह किया जो इस आंदोलन की तह में छिपा था और जिससे फ़ासिस्टों को इस बात का प्रलोभन मिलता था कि वे हिंदुस्तान के अंदरूनी बिखराव और हलचल से फ़ायदा उठाकर हमारे मुल्क पर पेश-क़दमी शुरू कर दें. फ़ैज़ ने हिंदुस्तान की पचास साल के आज़ादी के आंदोलन का हवाला देते हुए कहा :

साल-हा-साल ये बे-आसरा जकड़े हुए हाथ
रात के सख़्तो-सियह सीने में पैवस्त रहे
जिस तरह तिनका समंदर से हो सरगर्मे-सितेज़[59]
जिस तरह तीतरी कुहसार[60] पे यलग़ार करे
और अब रात के संगीनो-सियह सीने में
इतने घाव हैं कि जिस सम्त नज़र जाती है
जा-बजा नूर ने इक जाल सा बुन रक्खा है

साम्राज्यवाद के विश्वव्यापी समापन की तरफ़ इशारा करने के बाद उसने कांग्रेस हाई-कमांड को फ़ासिस्ट ख़तरे से आगाह करते हुए कहा :

तुझको मंज़ूर नहीं ग़लबा-ए-ज़ुल्मत[61] लेकिन
तुझको मंज़ूर है ये हाथ क़लम हो जायें
और मशरिक़ की कमीं-गह[62] में धड़कता हुआ दिन
रात की आहनी मय्यत[63] के तले दब जाये

8 अगस्त 1942 को कांग्रेस की ऐतिहासिक गोष्ठी हुई जिसमें ऑल इंडिया कांग्रेस के सामने दो राहें पेश की गयीं, एक राह वर्किंग कमेटी ने बतायी थी—मुल्क आज़ाद हो फिर हम एकजुट होंगे और फ़ासिस्टों से लड़ेंगे. दूसरी राह कम्युनिस्टों ने बतायी थी—आज़ादी के लिए एकजुट हो जाओ, फ़ासिस्टों से लड़ने के लिए संगठित हो, तब हम आज़ाद होंगे. कांग्रेस ने पहले वर्णित राह अपनायी और हुकूमत को चेतावनी दे दी कि या तो वह हिंदुस्तान की पूर्ण आज़ादी का ऐलान कर दे, वर्ना एक आम बग़ावत के मुक़ाबले के लिए तैयार रहे. साथ ही साथ गांधी जी ने यह भी कहा कि समझौते का दरवाज़ा आख़िरी वक़्त तक खुला रहेगा, फ़ैसला बर्तानवी शहंशाहियत पर छोड़ दिया गया था. अब हमें इंतज़ार करना था कि बर्तानवी शहंशाहियत कांग्रेस की तरफ़ समझौते का हाथ बढ़ाती है, या कांग्रेस की ताक़त को कुचलने के लिए मुल्क में ज़ुल्म और अत्याचार से काम लेती है. हुकूमत ने दूसरी राह अपनायी. अगस्त रेज़ोल्यूशन पास होने से दस घंटे बाद कांग्रेस के तमाम लीडर गिरफ़्तार कर लिये गये और कांग्रेस ग़ैरक़ानूनी जमात घोषित कर दी गयी. मुल्की अवाम ने भड़क कर सरकारी दफ़्तरों में आग लगा दी और रेलों की पटरियां उखाड़ डालीं, मुल्क में विनाश की एक आम लहर चल निकली. बर्तानवी शहंशाहियत ने इस बद-अमनी की आड़ लेकर हमारी क़ौमी ताक़त को कुचलने के लिए हिंसा के बदतरीन हथियार इस्तेमाल किये और निहत्थे हिंदुस्तानियों के ख़िलाफ़ लाठियों, गोलियों और मशीनगनों का प्रयोग किया. कम्युनिस्ट इस आंदोलन के ख़िलाफ़ थे, क्योंकि इस तरह नौकरशाही को हमारे अवाम के ख़िलाफ़ हिंसा करने का बहाना हाथ आता था और फ़ासिस्टों को मुल्क में घुस आने का प्रलोभन मिलता था. वे बदस्तूर इस नज़रिये पर क़ायम थे कि आज़ादी सिर्फ़ क़ौमी एकता, क़ौमी संगठन और फ़ासिज़्म के ख़िलाफ़ जंग में हिस्सा लेने से ही हासिल हो सकती है.

उधर यूरोप में नाज़ी अधिकृत क्षेत्रों के अंदर फ़ासिज़्म के ख़िलाफ़ जंग रोज़-बरोज़ तेज़ हो रही थी और ख़ुद जर्मनी और इटली के अंदर फ़ासिस्ट दुश्मन ताक़तें ज़ोर पकड़ रही थीं. बर्तानिया और अमरीका के अवाम न

सिर्फ़ फ़ासिज़्म के ख़िलाफ़ संगठित हो चुके थे बल्कि उन्होंने अपने हाथों में हथियार भी संभाल लिये थे और उनकी सशस्त्र ताक़त इस बात की ज़मानत बन गयी थी कि अब न फ़ासिस्ट उनके आज़ादी के हक़ को छीन सकते हैं न साम्राज्यवादी देश उन्हें ग़ुलामी का जुवा पहना सकते हैं. तरक़्क़ी-पसंद अवाम के इस अंतर्राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम की रहनुमाई सोवियत रूस कर रहा था जिसकी मज़दूर किसान फ़ौज स्टालिनग्राड के मोर्चे पर प्रतिगामियों के सबसे मज़बूत क़िले, नाज़ी जर्मनी की फ़ौजी ताक़त को नेस्तोनाबूद कर रही थी.

हमारे शायरों के लिए यह सबसे मुश्किल और कठिन वक़्त था, उन्हें एक ऐसे दौर में अवाम की रहनुमाई करना था, जब हर तरफ़ राजनैतिक गतिरोध का दौर-दौरा था, कांग्रेस अवैध क़रार दी जा चुकी थी और बर्तानवी नौकरशाही के अत्याचारों के रद्दे-अमल में देश में जापान दोस्ती का जज़्बा पैदा हो रहा था.लेकिन वे मायूस नहीं हुए. मख़दूम ने 'तराना-ए-आज़ादी' लिख कर जंग की बदली हुई प्रकृति पर रोशनी डाली और कहा:

आज़ादी के परचम के तले
यह जंग है जंगे-आज़ादी
हम हिंद के रहने वालों की
महकूमों की मजबूरों की
आज़ादी के मतवालों की
दहक़ानों[64] की मज़दूरों की
यह जंग है जंगे-आज़ादी

और फिर आने वाली अंतर्राष्ट्रीय क्रांति और क्रांति का मार्गदर्शन करने वाली अवामी क़ुव्वतों का ज़िक्र करते हुए कहा :

हम इफ़रंगी[65], हम अमरीकी
हम चीनी जां-बाज़ाने-वतन[66]
हम सुर्ख़ सिपाही ज़ुल्म-शिकन[67]
आहन-पैकर[68], फ़ौलाद-बदन
सारा संसार हमारा है
पूरब, पच्छम, उत्तर, दक्कन

सरदार जाफ़री ने अपनी नज़्म 'हमारी लड़ाई' में हिंदुस्तानी अवाम से उस अंतर्राष्ट्रीय जंग के मोर्चे में शामिल होने का आग्रह किया जो फ़ासिज़्म और इम्पीरीयलिज़्म के ख़िलाफ़ संगठित हो चुका था और जिसमें शामिल होकर हिंदुस्तान अपनी संगठनात्मक शक्ति और प्रतिरक्षा की ताक़त को इतना बढ़ा सकता था कि फिर कोई ताक़त उसे ग़ुलाम न रख सके. उसने कहा :

बिगुल की सुरीली सदा आ रही है
शुरू हो गयी है हमारी लड़ाई
हुकूमत की बुनियाद हिलने लगी है
हुकूमत की हम क्यूं करेंगे गदाई[69]
ग़रीबों के घर में जनम हमने पाया
मुसीबत की गोदों के पाले हुए हैं
मगर तोप, बंदूक़, तलवार, नेज़े
ये सब अपने हाथों के ढाले हुए हैं
...
चलो, आज कमज़ोर हाथों से अपने
गुलामी के ज़िंदां की दीवार ढा दें
रहे फ़र्क़ बाक़ी न रूसो-हबश[70] में

हदें चीनो-हिंदोस्तां की मिला दें

जोश मलीहाबादी, साग़र निज़ामी और असरारुल-हक़ मजाज़ ने *क़ौमी जंग* और *नया अदब* में जंग के अवामी स्वरूप के बारे में बयानात दिये और मुल्क के शायरों को एक मर्कज़ पर लाने की कोशिश की. कैफ़ी आज़मी ने जंग में तरक़्क़ी-पसंद तत्वों के शामिल होने पर अपनी ताक़त के एहसास से ख़ुश हो कर कहा :

हमारी क़ुव्वतों का पूछना क्या
हमारी पुश्त पर है एक दुनिया
हमारे हाथ में है लाल झंडा
ये झंडा जिसको हम ऊंचा करेंगे

और ज़हीर काश्मीरी ने जंग की तब्दीली की तार्किक प्रक्रिया को बयान करते हुए कहा :

साहिरे-इफ़रंग[71] ख़ुद अपने तिलिस्मों का असीर[72]
सर झुकाये पंजा-ए-अह्रर[73] में आकर रह गया
वक़्त ने ज़ंजीर फैला दी कुछ इस अंदाज़ से
ख़ुद-निगर[74] बे-आब[75] ख़ंजर को उठाकर रह गया

और फिर पूंजीवाद के सबसे घातक और भयानक मगर आख़िरी चरण फ़ासिज़्म के विरुद्ध संघर्ष का पैग़ाम देते हुए कहा :

जहाने-कुहना[77] अब ज़ेरो-ज़बर[78] होने को है
वो उफ़ुक़[79] पर कुछ नयी सरगोशियां होने लगीं
ज़ुल्म के साये पिघलते हैं, सह्र[80] होने को है
कौंद जाओ, संगे-आख़िर[76] का निशां मिट जायेगा

ये अहमद नदीम क़ासमी ने अवामी क़ुव्वतों की संभावित कामयाबी पर प्रशंसा का नारा लगाते हुए कहा :

जम्हूर से इस्तिबदाद[81] भिड़ा, मज़दूर से उलझा सरमाया
चकराई ज़मीं, महवर[82] टूटा, सच्चाई का परचम लहराया
वो खोपड़ियां जब्बारों[83] की बहती हैं लहू के धारों पर

क़ौमी जंग के अंतर्राष्ट्रीय नारे का हिंदुस्तानी अवाम से व्यावहारिक रिश्ता यह था कि देश में जापान के ख़िलाफ़ जज़्बे को उभारा जाये, मजाज़ की नज़्म 'आहंगे-नौ' इसी सिलसिले की एक कड़ी है जिसमें उसने जापानी हमले का हवाला देते हुए कहा है :

अपनी सरहद पे जो अग़ियार[84] चले आते हैं
शोला-अफ़्शां-ओ-शरर-बार[85] चले आते हैं
उनके इस्यां[86] की न हद है, न जराइम[87] का शुमार
ये क़यामत के हवसनाक[88], ग़ज़ब के ख़ूंख़ार
ये तरह्हुम[89] से न देखेंगे किसी की जानिब
इनकी तोपों के दहन[90] कर दो इन्हीं की जानिब

जांनिसार अख़्तर ने अपनी नज़्म 'जलूस' में देश के छात्रों, मज़दूरों, किसानों, नौजवानों और औरतों के सामने व्यावहारिक प्रोग्राम पेश किया जिस पर अमल करके हम दुनिया की तरक़्क़ी-पसंद शक्तियों के कांधे से कांधा मिलाकर आज़ादी की तरफ़ क़दम बढ़ा सकते थे. साग़र निज़ामी ने अपनी नज़्म 'चीन' में चीन के आज़ादी के जज़्बे को सराहा, और चीनी जांबाज़ों का प्रशस्ति गान किया. इस दौर की कविता पर सबसे ज़्यादा असर सोवियत फ़ौजों के कारनामों ने डाला, जो अपने ख़ून से दुनिया के भविष्य की खेतियां सींच रही थीं और जिनके परचम से आज़ादी की नयी सुबह उग रही थी, सुर्ख़ सिपाहियों के इरादों और दृढ़ता से प्रभावित हो कर हमारे देश के बहुत से

शायरों ने नज़्में लिखीं. इन में सरदार जाफ़री, अली जवाद ज़ैदी, कैफ़ी आज़मी, मख़दूम मुहीयुद्दीन, अहमद नदीम क़ासमी और जांनिसार अख़्तर के नाम ख़ासतौर पर क़ाबिले-ज़िक्र हैं. फ़िराक़ गोरखपुरी ने अपनी नज़्म, 'शामे-इयादत'[91] में आने वाले नये निज़ाम की तस्वीर खींचते हुए हर निराश को नयी ज़िंदगी की ख़ुशख़बरी दी और अपनी ग़ज़ल, कुछ ग़मे-जानां कुछ ग़मे-दौरां' में सुर्ख़ फ़ौज की विजयी यलग़ार पर ख़ुशी ज़ाहिर करते हुए कहा :

अभी देखा नहीं सरमायादारी ने जलाल उसका
अभी तो इश्तराकीयत[92] ने त्यौरी ही चढ़ायी है

यह सब कुछ हुआ लेकिन जब हम युद्धकाल की शायरी का जायज़ा लेते हैं तो यह महसूस किये बग़ैर नहीं रह सकते कि जंग के अवामी दौर का साहित्य उतना जानदार नहीं जितना साम्राज्यवादी दौर का. इसकी सबसे बड़ी वजह यह है कि जंग के साम्राज्यवादी दौर में हमारे शायरों को उन परस्परविरोधी भावनाओं का सामना नहीं करना पड़ा जिनसे उन्हें जंग के अवामी दौर में दोचार होना पड़ा है. साम्राज्यवादी जंग के दौर में देश में राष्ट्रीय आंदोलन की एक ऐसी लहर पायी जाती थी जो हमारे शायरों के जज़्बात को उभार रही थी, लेकिन जंग के अवामी दौर में देश में राजनीतिक गतिरोध था, और शायर चूंकि समाज और माहौल से पूरी तरह ऊपर नहीं उठ सकता इसलिए उस पर उन हालात का असर ज़रूर था. वह मायूसी और थकन, वह गतिरोध और जड़ता जो हमारे माहौल पर छायी थी, उससे हमारा साहित्य बच नहीं सकता था. इसके अतिरिक्त इस बीच हमारे बहुत से प्रतिष्ठित लेखक नेशनल वार फ्रंट, सॉन्ग पब्लिसिटी डिपार्टमेंट और ऑल इंडिया रेडियो में मुलाज़िम हो गये थे, और उनकी मजबूरियां या सुनहरे और रुपहले स्वार्थ और समझौते उन्हें अवाम से बहुत दूर ले गये थे. अन्य शायरों में से कई एक शायर, जैसे असरारुल-हक़ मजाज़ और मुईन अहसन जज़्बी, या तो बिल्कुल ख़ामोश हो गये थे या रूमानियत में पनाह ढूंढ़ रहे थे. संवेदनहीनता और पराजय का यह रुझान इतना बढ़ा कि उन्हें बंगाल के अकाल की त्रासदी भी हरकत में न ला सकी. बंगाल के अकाल पर बहुत कुछ लिखा गया है और यह भी सच है कि इस विषय पर जो नज़्में लिखी गयीं उनमें से अक्सर का साहित्यिक स्तर बहुत ऊंचा है, क्योंकि यह एक ऐसा विषय है जिसके संबंध में किसी भी तरह के मानसिक और जज़्बाती अंतर्विरोध की कल्पना नहीं की जा सकती. बंगाल के मसले पर हमारे उन शायरों ने भी लिखा है जिन्हें अदब की तरक़्क़ी-पसंद तहरीक से सीधा कोई ताल्लुक़ नहीं और जो ज़िंदगी के बारे में अलग दृष्टिकोण रखते हैं. जिगर मुरादाबादी की नज़्म, 'बंगाल की शामो-सह्र' इस संबंध में ख़ासतौर पर क़ाबिले-ज़िक्र है.जिगर सौ फ़ीसदी एक ग़ज़ल-गो शायर है, लेकिन बंगाल की त्रासदी के बारे में वह भी यह कहने पर मजबूर हो गया :

इंसान के होते हुए इंसान का यह हश्र
देखा नहीं जाता है, मगर देख रहा हूं

और

ये मरहला भी मिरी हैरतों ने देख लिया
बहार मेरे लिए, और मैं तही-दामन[93]

अख़्तरुल-ईमान जो सर से पाव तक निराशावादी और उदासी का शायर है और जिसकी फ़ितरत रूमानी है, एक मुर्दा लाश को तमाम बंगाल का प्रतीक बनाकर कहता है :

ज़मीं के तारीक गहरे सीने में फेंक दो उसका जिस्मे-ख़ाकी
खुली हुई बदनसीब आंखें, ये देखती थीं कि आदमी ने
इक अपने ही जैसे आदमी पर, तमाम दरवाज़े बंद करके
बहीमत[94] को जगा दिया है
लज़ीज़ अंबार नेमतों के सियाह पर्दों में दब गये हैं
और आख़िरश[95] रांदा-ए-जहां[96] से ज़मीं की आग़ोश ने वफ़ा की
...
इसीलिए क्या उगा करेंगे,ये नर्म पौदे, ये नर्म शाख़ें

कि उनको इक रोज़ हम उठाकर, ख़िज़ां की आग़ोश में सुला दें?

अहमद नदीम क़ासमी अकाल के भयावह दृश्यों की अक्कासी करने के साथ साथ हुकूमत के उस अत्याचार और हिंसा की तरफ़ भी इशारा करता है जिसने डिफ़ेंस ऑफ़ इंडिया एक्ट के रूप में हर ख़ुद्दार और आज़ादी पसंद हिंदुस्तानी शायर का गला घोंट रखा था. वह कहता है :

मैं शाहराहों[97] पे लाशों के ढेर देख चुका
मैं रक़्स गाहों में लाखों को सैर[98] देख चुका
मैं इस तज़ाद[99] के सब हेर-फेर देख चुका

मगर :

जो कहना चाहूं तो मेरी ज़बां पे पहरे हैं
जो कह भी दूं तो मिरे सामईन[100] बहरे हैं
जो कह चुकूं तो सलासिल[101] हैं और कटहरे हैं

लेकिन हमें देखकर हैरत होती है कि हमारे बहुत से ऐसे शायर जो अदब को ज़िंदगी से हम-आहंग करने का मक़सद लेकर निकले थे, इस विषय पर बिल्कुल ख़ामोश रहते हैं. बंगाल का अकाल कोई मामूली त्रासदी नहीं थी, यह हमारे मुल्क के इस सूबे की ज़िंदगी, सेहत और नैतिकता का सवाल था जो हमारे इंकलाबी आंदोलनों का गहवारा रहा है और जिसने हमें टैगोर और नज़रुल-इस्लाम जैसी शख़्सियतें दी हैं. लाखों इंसान भूख से तड़प-तड़प कर दम तोड़ रहे थे, लेकिन जमाख़ोर ज़ख़ीरों के मुंह नहीं खोलते थे क्योंकि भूखों की जान बचाने से ज़्यादा उन्हें अपना मुनाफ़ा प्रिय था. राज्य सरकार के कंट्रोल आर्डर नाकाम रहते हैं क्योंकि ख़ुद मंत्रीमंडल के कई सदस्य इस शर्मनाक काम में अनाज जमा करने वालों के साथ थे. केंद्रीय सरकार महीनों तक इस हक़ीक़त ही को स्वीकार नहीं करती कि बंगाल में अकाल पड़ा है क्योंकि बंगाल को उसकी दहशत-पसंदी की सज़ा मिलना ज़रूरी थी.मुस्लिम लीग की हाई कमांड इस मामले पर चुप साधे रहती है क्योंकि उसे अभी तक पाकिस्तान हासिल नहीं हो सका. हिंदू महासभा और ख़ुद कांग्रेस के कई ज़िम्मेदार सदस्य चोर बाज़ारों को संगठित करने में व्यस्त रहते हैं क्योंकि उन्हें पूंजी चाहिए थी, चाहे वह मुल्क के पचास लाख इंसानों के, एड़ियां रगड़-रगड़ कर, मरने से हासिल हो, चाहे कलकत्ते की तीस हज़ार शरीफ़-ज़ादियों के तवाइफ़ बन जाने से मिले. यह स्थिति इतनी घिनौनी और इस क़दर भयावह थी कि अख़्तर शीरानी और हफ़ीज़ होशियारपुरी तक इससे प्रभावित हुए बग़ैर न रह सके, लेकिन हमारे कई तरक़्क़ी-पसंद शायर, मसलन फ़ैज़ अहमद फ़ैज़, डाक्टर तासीर, असरारुल-हक़ मजाज़, मुईन अहसन जज़्बी और साग़र निज़ामी इस मसले पर बिल्कुल ख़ामोश रहते हैं और उनके होठों से प्रतिरोध का एक शब्द तक नहीं निकलता. उस वक़्त सिर्फ़ अली सरदार जाफ़री चीख़ता है:

तुम अभी उलझे हो बहसे-अंदको-बिसयार[102] में
और वतन है सैद[103] दामे-सिक्का-ओ-दीनार में
जिस्म किस के बिक रहे हैं कूचा-ओ-बाज़ार में
...
चंद टुकड़ों के इवज़ झांसी की रानी बिक गयी
आबरू मरियम की, सीता की जवानी बिक गयी

मायूसी और विवशता के उस अंधेरे में सिर्फ़ मख़दूम मुहीयुद्दीन हमारे अवाम को यह आस दिलाता है कि हम एकजुट हो कर अपने मसलों को सुलझा सकते हैं और अब भी :

एक होकर दुश्मनों पर वार कर सकते हैं हम
ख़ून से भरपूर दरिया पार कर सकते हैं हम
कांग्रेस को, लीग को बेदार कर सकते हैं हम

इस वक़्त अगर कोई इस मौज़ू को अपनाता है तो कैफ़ी आज़मी अपनाता है, वामिक़ जौनपुरी अपनाता है, शाहिद सिद्दीक़ी अपनाता है, राम प्रकाश अश्क अपनाता है, मजरूह सुलतानपुरी अपनाता है, यज़्दानी जालंधरी अपनाता है, और नज़र हैदराबादी अपनाता है.

मैं समझता हूं कि इस जंग ने जहां साम्राज्यवादी राजनीति का दीवालियापन साबित किया है वहां इस हक़ीक़त को भी स्पष्ट कर दिया है कि अवामी अदब, अवाम के दरमियान रह कर ही पैदा किया जा सकता है. और तरक़्क़ी-पसंद रुझान की नुमाइंदगी के लिए शायर का सीधे तरक़्क़ी-पसंद आंदोलनों से जुड़ाव ज़रूरी है वर्ना जागरूक से जागरूक लेखकों में भी फ़रारी रुझान पैदा हो जाने की संभावना रहती है. इस जंग में ऐसी बहुत सी मिसालें मिलती हैं.

लेकिन जहां तक उर्दू अदब की अन्य विधाओं का ताल्लुक़ है, यह बात ख़ुशी की है कि हमारी शायरी पलायन, हार और शर्मिंदगी से बहुत बड़ी हद तक दूर रही है. उर्दू मज़मून का तो ख़ैर ज़िक्र ही छोड़िए, उर्दू अफ़साने में भी कृष्णचंदर, अख़्तर हुसैन रायपुरी, इब्राहीम जलीस और अनवर की रचनाओं को छोड़ कर, दौराने -जंग का सारा कथा साहित्य पढ़ डालिए, आप यूं महसूस करेंगे कि हमारे कहानीकारों तक जंग की आंच तो दरकिनार, जंग की ख़बर तक नहीं पहुंची; और अगर पहुंची भी है तो निहायत धुंधली और मद्धम आवाज़ में. इसके विपरीत हमारे शायरों ने न सिर्फ़ जंग से असर क़बूल किया बल्कि जंग के स्वरूप का विश्लेषण करके अवाम का सही दिशा में मार्गदर्शन भी किया है. और अब, जब कि जंग ख़त्म हो गयी है और यूरोप के ज़्यादातर मुल्कों के अवाम ने फ़ासिज़्म के ख़िलाफ़ जंग में हिस्सा लेकर अपनी एकजुटता और संगठन के बल पर वहां की सरमायादार हुकूमतों का अंत कर दिया है और देश के शासन की बागडोर अपने हाथ में ले ली है, यह अंदाज़ा लगाना मुश्किल नहीं कि तरक़्क़ी-पसंदों की रहनुमाई किस हद तक सही थी और इससे मुल्क और क़ौम को कितना फ़ायदा पहुंच सकता था.

आख़िर में मुझे इन नज़्मों के साहित्यिक स्तर के विषय में कुछ कहना है. शायद कुछ लोग यह कहें कि इन नज़्मों में से अक्सर नज़्में अल्पकालिक और हंगामी हैं, और उनकी कोई मुस्तक़िल और स्थिर हैसियत नहीं, तो मैं कहूंगा कि अदब 'ज़िंदगी" के लिए है और ज़िंदगी इस जंग के कारण हिंसा, हलाकत और बरबरियत के जिन ख़ौफ़नाक तूफ़ानों में घिर गयी थी, मानव इतिहास में इसकी मिसाल नहीं मिलती. मौत की एक सियाह आंधी थी जो पूरी धरती पर छा जाना चाहती थी और अपने वज़नी पर्दों में उन जगमगाते हुए सितारों को हमेशा हमेशा के लिए ढांप देना चाहती थी जो कुचले हुए वर्गों, पिसे हुए अवाम और लुटी हुई इंसानियत के दामन को नूरानी कलियों से भर देना चाहते हैं. तरक़्क़ी-पसंद शायर जो ज़िंदगी को ज़्यादा से ज़्यादा स्वीकार्य, सुंदर और संतुलित बनाने का उद्देश्य लेकर निकले हैं, इस नाज़ुक लम्हे पर—ऐसे लम्हे पर जो आने वाली सदियों के लिए इंसानियत के भाग्य का फ़ैसला कर रहा था—रचनात्मक बारीक़ियों में उलझ कर मुल्क, क़ौम और इंसानियत से ग़द्दारी नहीं कर सकते थे. उन्हें प्रोपेगंडा करना था, उन आततायी, वहशी और ख़ून पीने वाली शक्तियों के ख़िलाफ़ प्रोपेगंडा करना था जो इंसान से उसके तमाम उच्चतम आदर्शों को छीन लेना चाहती थीं. जो चाहती थीं कि उन सारे सुनहरी ख़्वाब को चकनाचूर करके रख दें जिन्हें आज़ादी, अमन और बराबरी के उसूलों ने परवान चढ़ाया है, नस्ली नफ़रत और भाईचारा, आज़ादी और गुलामी, रोशनी और अंधकार, धर्म और अधर्म के इस टकराव में उन्हें अवाम के जज़्बात को उभारना था, उनको मायूसी और हार के भंवर से बचाना था, उन्हें अमन की ताक़त से आगाह करना था. चुनांचे उन्होंने प्रोपेगंडा किया और मैं समझता हूं कि शायरी अगर केवल शब्दों का जादू जगाना नहीं, उसका कोई उद्देश्य है, और शायर अगर महज़ दीवाना या मजनूं नहीं बल्कि समाज का एक ज़िम्मेदार सदस्य भी है, तो तरक़्क़ी पसंदों को अपने इस प्रोपेगंडा पर गर्व करना चाहिए.

अनुवाद: अर्जुमंद आरा

साभार: त्रैमासिक उर्दू *अदब*,अंजुमन तरक़्क़ी-ए-उर्दू हिंद, दिल्ली, जनवरी-मार्च, 2021, पृ. 35-53

1 यह लेख 'कुल-हिंद अंजुमन तरक़्क़ी-पसंद मुसन्निफ़ीन' के सालाना इजलास में पढ़ा गया था. यहां उर्दू अदब, दिल्ली, अंक जनवरी-मार्च 2021 के शुक्रिये के साथ पेश है. 2 अत्याचार करने की आदत 3 युद्धरत 4 आक्रमणकारी शक्ति 5 चालाक, मक्कार 6 चीन का युद्धक्षेत्र 7 कफ़न चोरों को डराना-धमकाना 8 हर तरफ़ फैली हुई जंग 9 पहला मंज़र 10 लालिमा 11 दूरस्थ क्षितिज 12 किसान 13 खलियान 14 खंडित 15 दिल रूपी वाद्य 16 गाने का इरादा 17 याचना 18 प्रार्थना-दिवस 19 युक्ति 20 शद्दाद जैसी प्रकृति रखने वाला. प्राचीनकाल में शद्दाद एक अत्याचारी, दंभी राजा था जो स्वयं को ख़ुदा कहता था. 21 नरक रूपी दानव का भोजन 22 रंगों और सुवास का स्वर्ग अर्थात दुनिया 23 भड़कते हुए 24 घर-संसार, हर चीज़ से बर्बाद 25 लंदन की सुरक्षा के लिए 26 दुखों के पत्थर 27 आग्नेय 28 दिल रूपी महल 29 बकिंघम पैलेस 30 रोती-बिलखती और विलाप करती हुई 31 उदास, दुखी 32 चमकता हुआ सूरज 33 शाबाश 34 सौ बार धन्य 35 आज़ादी पाने का दृढ़ निश्चय 36 सदैव ज़िंदा रहे 37 भारतीय विद्रोही 38 ललाट 39 तलवार 40 काम न करने का बहाना 41अपंग, मजबूर 42 युद्ध के मैदान में जाने का दुस्साहस 43 हवाई जहाज़ 44 श्वासों का यंत्र 45 बचाव, विकास 46 अफ़सोस 47 संसार 48 बर्बरता 49 आत्मसम्मान रूपी नाड़ी 50 सर हथेली पर रखे हुए 51 अंधेरी रात का पर्दा 52 ज़ंजीरें, बेड़ियां 53 दूर रहने वाली 54 प्रतिदिन बढ़ने वाली सुंदरता 55 शोभा, सजावट 56 वर्षों तक विवश होकर 57 सोने-चांदी के तार 58 अस्तित्व 59 संघर्षरत 60 पहाड़ 61 अंधकार का वर्चस्व 62 वह जगह जहां छिप कर घात लगायी जाती है 63 फ़ौलादी लाश 64 किसानों 65 फ़िरंगी 66 देश पर जान न्योछावर करने वाले 67 अत्याचार का दमन करने वाला 68 लोहे जैसे बदन वाला 69 भीख मांगना 70 रूस और इथियोपिया 71 फ़िरंगी जादूगर 72 क़ैदी 73 लाल पंजे में 74 ख़ुद को देखने वाला 75 धार-रहित, खोटा 76 आख़िरी पत्थर 77 पुरानी दुनिया 78 उलट-पलट, ध्वस्त 79 क्षितिज 80 सुबह 81 निरंकुश तंत्र 82 धुरी 83 अत्याचारियों 84 ग़ैर का बहुवचन, दुश्मन 85 शोले फैलाते, चिंगारियां बरसाते 86 पाप 87 जुर्म का बहुवचन, अपराध 88 अत्यंत लोभी 89 दयाभाव 90 मुंह 91 वह शाम जिसमें बीमार का हाल पूछा जाये 92 साम्यवाद 93 ख़ाली गोद 94 वहशीपन 95 अंतत: 96 दुनिया भर में धिक्कारा हुआ 97 मुख्य सड़कों 98 तृप्त 99 अंतर्विरोध 100 श्रोतागण 101 बेड़ियां 102 कम और ज़्यादा की बहस 103 क़ैदी

नज़्में और ग़ज़लें

(*तल्ख़ियां* और *आओ कि कोई ख़्वाब बुनें* से)

यकसूई[1]

अहदे-गुम-गश्ता[2] की तस्वीर दिखाती क्यों हो
एक आवारा-ए-मंज़िल[3] को सताती क्यों हो
वो हसीं अहद[4] जो शर्मिंदा-ए-ईफ़ा[5] न हुआ
उस हसीं अहद का मफ़्हूम[6] जताती क्यों हो
ज़िंदगी शोला-ए-बेबाक[7] बना लो अपनी
ख़ुद को ख़ाकिस्तरे-ख़ामोश[8] बनाती क्यों हो
मैं तसव्वुफ़ के मराहिल[9] का नहीं हूं क़ायल
मेरी तस्वीर पे तुम फूल चढ़ाती क्यों हो
कौन कहता है कि आहें हैं मसाइब[10] का इलाज
जान को अपनी अबस[11] रोग लगाती क्यों हो
एक सरकश से मुहब्बत की तमन्ना रख कर
ख़ुद को आयीन[12] के फंदों में फंसाती क्यों हो
मैं समझता हूं तक़द्दुस[13] को तमद्दुन[14] का फ़रेब
तुम रसूमात[15] को ईमान बनाती क्यों हो
जब तुम्हें मुझ से ज़ियादा है ज़माने का ख़याल
फिर मिरी याद में यूं अश्क[16] बहाती क्यों हो
तुम में हिम्मत है तो दुनिया से बग़ावत कर दो
वर्ना मां बाप जहां कहते हैं शादी कर लो!

1. संतोष, एक तरफ़ हो जाना; 2. खो चुका ज़माना; 3. भटकता हुआ राही जिसकी कोई मंज़िल नहीं; 4. सुंदर वायदा; 5. वा'दा पूरा होना; 6. अर्थ, मायने; 7. आग की स्वछंद और निडर लपट; 8. बुझी हुई राख; 9. सूफ़ी-दर्शन के विभिन्न आयाम; 10. कठिनाइयों; 11. व्यर्थ में; 12. विधि, नियम; 13. पवित्रता का गुण; 14. सभ्यता; 15. रीति-रिवाज; 16. आंसू

शहकार[1]

मुसव्विर[2] मैं तिरा शहकार वापस करने आया हूं
अब इन रंगीन रुख़्सारों[3] में थोड़ी ज़र्दियां[4] भर दे
हिजाब-आलूद[5] नज़रों में ज़रा बेबाकियां भर दे
लबों की भीगी-भीगी सिलवटों को मुज़्महिल[6] कर दे
नुमायां रंगे-पेशानी[7] पे अक्से-सोज़े-दिल[8] कर दे
तबस्सुम-आफ़रीं[9] चेहरे में कुछ संजीदगी[10] भर दे
जवां सीने की मख़रूती[11] उठानें सर-निगूं[12] कर दे
घने बालों को कम कर दे, मगर रख़शंदगी[13] दे दे

नज़र से तमकिनत[14] ले कर मज़ाक़े-आजिज़ी[15] दे दे
मगर हां बेंच के बदले इसे सोफ़े पे बिठला दे!
यहां मेरे बजाय इक चमकती कार दिखला दे!

1 कलाकृति; 2. चित्रकार; 3. कपोल; 4. पीलापन; 5. शर्मीली; 6. शिथिल या मद्धम; 7. ललाट का रंग और चमक; 8. दिल की जलन का प्रतिबिंब; 9. मुस्कुराता हुआ; 10. गंभीरता; 11. नुकीली तराश वाली; 12. झुकाना; 13. चांदी सी चमक; 14. घमंड, शानो-शौकत; 15. विनम्रता का भाव

शिकस्त

अपने सीने से लगाये हुए उम्मीद की लाश
मुद्दतों ज़ीस्त[1] को नाशाद[2] किया है मैंने
तू ने तो एक ही सदमे से किया था दो-चार
दिल को हर तरह से बर्बाद किया है मैंने
जब भी राहों में नज़र आये हरीरी मल्बूस[3]
सर्द आहों में तुझे याद किया है मैंने

और अब जब कि मिरी रूह की पहनाई[4] में
एक सुनसान सी, मग़्मूम[5] घटा छायी है
तू दमकते हुए आरिज़[6] की शुआएं[7] ले कर
गुल-शुदा[8] शमएं जलाने को चली आयी है

मेरी महबूब ये हंगामा-ए-तज्दीदे-वफ़ा[9]
मेरी अफ़्सुर्दा[10] जवानी के लिए रास नहीं
मैंने जो फूल चुने थे तिरे क़दमों के लिए
उनका धुंधला सा तसव्वुर[11] भी मिरे पास नहीं

एक यख़-बस्ता[12] उदासी है दिलो-जां पे मुहीत[13]
अब मिरी रूह में बाक़ी है न उमीद, न जोश
रह गया दब के गिरां-बार[14] सलासिल[15] के तले
मेरी दरमांदा[16] जवानी की उमंगों का ख़रोश[17]

रेगज़ारों[18] में बगूलों के सिवा कुछ भी नहीं
साया-ए-अब्रे-गुरेज़ां[19] से मुझे क्या लेना
बुझ चुके हैं मिरे सीने में मुहब्बत के कंवल
अब तिरे हुस्ने-पशीमां[20] से मुझे क्या लेना

तेरे आरिज़[21] पे ये ढलके हुए सीमीं[22] आंसू
मेरी अफ़्सुर्दगी-ए-ग़म[23] का मुदावा[24] तो नहीं
तेरी महबूब निगाहों का पयामे-तज्दीद[25]

इक तलाफ़ी[26] ही सही, मेरी तमन्ना तो नहीं

1. ज़िंदगी; 2. अप्रसन्न; 3. रेशमी परिधान; 4. विस्तार; 5. उदास; 6. कपोल; 7. किरणें; 8. बुझी हुई; 9. प्रेम को निभाने के पुन: प्रिक्रिया का उपक्रम; 10. उदास, दुखी; 11. कल्पना; 12. बर्फ़ीली, ठंड से जमी हुई; 13. व्याप्त, फैली हुई; 14. भारी बोझ वाली; 15. ज़ंजीरें, बेड़ियां; 16. थकी हुई; 17. शोरगुल; 18. रेगिस्तानों; 19. गुज़रते हुए बादल की छांव; 20. ऐसा सौंदर्य जिसमें शर्मिंदगी या ग्लानि से ग्रस्त हो; 21. गाल; 22. चांदी जैसे; 23. इश्क़ के दुख के कारण मिली उदासी; 24. दवा, इलाज; 25. नये सिरे से प्रेम का संदेश; 26. क्षतिपूर्ति

किसी को उदास देख कर

तुम्हें उदास सी पाता हूं मैं कई दिन से
न जाने कौन से सदमे उठा रही हो तुम
वो शोख़ियां, वो तबस्सुम, वो क़हक़हे न रहे
हर एक चीज़ को हसरत से देखती हो तुम
छुपा छुपा के ख़मोशी में अपनी बेचैनी
ख़ुद अपने राज़ की तशहीर[1] बन गयी हो तुम

मिरी उम्मीद अगर मिट गयी तो मिटने दो
उमीद क्या है, बस इक पेशो-पस[2] है, कुछ भी नहीं
मिरी हयात[3] की ग़मगीनियों का ग़म न करो
ग़मे-हयात, ग़मे-यक-नफ़स[4] है, कुछ भी नहीं
तुम अपने हुस्न की रानाइयों[5] पे रहम करो
वफ़ा फ़रेब है, तूले-हवस[6] है, कुछ भी नहीं

मुझे तुम्हारे तग़ाफ़ुल[7] से क्यों शिकायत हो
मिरी फ़ना[8] मिरे एहसास का तक़ाज़ा है
मैं जानता हूं कि दुनिया का ख़ौफ़ है तुम को
मुझे ख़बर है ये दुनिया अजीब दुनिया है
यहां हयात के पर्दे में मौत पलती है
शिकस्ते-साज़[9] की आवाज़ रूहे-नग़मा[10] है

मुझे तुम्हारी जुदाई का कोई रंज नहीं
मिरे ख़याल की दुनिया में मेरे पास हो तुम
ये तुम ने ठीक कहा है तुम्हें मिला न करूं
मगर मुझे ये बता दो कि क्यों उदास हो तुम
ख़फ़ा न होना मिरी जुरअते-तख़ातुब[11] पर
तुम्हें ख़बर है मिरी ज़िंदगी की आस हो तुम

मिरा तो कुछ भी नहीं है, मैं रो के जी लूंगा
मगर ख़ुदा के लिए तुम असीरे-ग़म[12] न रहो

हुआ ही क्या जो ज़माने ने तुम को छीन लिया
यहां पे कौन हुआ है किसी का, सोचो तो
मुझे क़सम है मिरी दुखभरी जवानी की
मैं ख़ुश हूं, मेरी मुहब्बत के फूल ठुकरा दो

मैं अपनी रूह की हर इक ख़ुशी मिटा लूंगा
मगर तुम्हारी मसर्रत[13] मिटा नहीं सकता
मैं ख़ुद को मौत के हाथों में सौंप सकता हूं
मगर ये बारे-मसाइब[14] उठा नहीं सकता
तुम्हारे ग़म के सिवा और भी तो ग़म हैं मुझे
निजात जिनसे मैं इक लहज़ा[15] पा नहीं सकता

ये ऊंचे ऊंचे मकानों की डेवढ़ियों के तले
हर एक गाम[16] पे भूके भिकारियों की सदा
हर एक घर में ये इफ़्लास[17] और भूक का शोर
हर एक सम्त ये इंसानियत की आहो-बुका[18]
ये कारख़ानों में लोहे का शोरो-ग़ुल जिसमें
है दफ़्न लाखों ग़रीबों की रूह का नग़्मा

ये शाहराहों[19] पे रंगीन साड़ियों की झलक
ये झोंपड़ों में ग़रीबों के बे-कफ़न लाशे
ये माल रोड पे कारों की रेल-पेल का शोर
ये पटरियों पे ग़रीबों के ज़र्द-रू[20] बच्चे
गली गली में ये बिकते हुए जवां चेहरे
हसीन आंखों में अफ़्सुर्दगी[21] सी छायी हुई

ये जंग और ये मेरे वतन के शोख़ जवां
ख़रीदी जाती हैं उठती जवानियां जिनकी
ये बात बात पे क़ानूनो-ज़ाब्ते की गिरफ़्त
ये ज़िल्लतें, ये ग़ुलामी, ये दौरे-मजबूरी
ये ग़म बहुत हैं मिरी ज़िंदगी मिटाने को
उदास रहके मिरे दिल को और रंज न दो!

1.प्रचार, शोहरत; 2. दुविधा; 3. ज़िंदगी; 4. क्षण भर का दुख; 5. रमणीयता; 6. अत्यधिक लालसा; 7. उपेक्षा; 8. विनाश; 9. यंत्र का टूटना; 10. गीत का उद्भव; 11. संबोधित करने का हौसला; 12 . दुखों की क़ैदी; 13. ख़ुशी; 14. मुसीबतों का बोझ; 15. क्षण; 16. क़दम; 17. ग़रीबी; 18. रोना-चिल्लाना; 19. राजमार्गों; 20. पीले चेहरे; 21. उदासी.

ताजमहल

ताज तेरे लिए इक मज़हरे-उल्फ़त[1] ही सही
तुझको इस वादी-ए-रंगीं से अक़ीदत[2] ही सही

मेरी महबूब कहीं और मिला कर मुझ से
बज़्मे-शाही[3] में ग़रीबों का गुज़र क्या मअ'नी?
सब्त[4] जिस राह में हों सतवते-शाही[5] के निशां
उस पे उल्फ़त भरी रूहों का सफ़र क्या मअ'नी

मेरी महबूब पसे-पर्दा-ए-तश्हीरे-वफ़ा[6]
तू ने सतवत[7] के निशानों को तो देखा होता!
मुर्दा शाहों के मक़ाबिर[8] से बहलने वाली
अपने तारीक[9] मकानों को तो देखा होता!

अन-गिनत लोगों ने दुनिया में मुहब्बत की है
कौन कहता है कि सादिक़[10] न थे जज़्बे उनके
लेकिन उनके लिए तश्हीर[11] का सामान नहीं
क्योंकि वो लोग भी अपनी ही तरह मुफ़्लिस[12] थे

ये इमारातो-मक़ाबिर, ये फ़सीलें, ये हिसार
मुतलक़ुल-हुक्म[13] शहंशाहों की अज़्मत[14] के सुतूं[15]
सीना-ए-दहर[16] के नासूर[17] हैं, कोहना[18] नासूर
जज़्ब है इनमें तिरे और मिरे अज्दाद[19] का ख़ूं

मेरी महबूब उन्हें भी तो मुहब्बत होगी
जिनकी सन्नाई[20] ने बख़्शी है इसे शक्ले-जमील[21]
उनके प्यारों के मक़ाबिर रहे बेनामो-नुमूद[22]
आज तक उन पे जलायी न किसी ने क़िंदील[23]

ये चमन-ज़ार, ये जमना का किनारा, ये महल
ये मुनक़्क़श दरो-दीवार[24], ये मेहराब, ये ताक़
इक शहंशाह ने दौलत का सहारा ले कर
हम ग़रीबों की मुहब्बत का उड़ाया है मज़ाक़

मेरी महबूब कहीं और मिला कर मुझ से

1.प्रेम का प्रतीक; 2. श्रद्धा; 3. शाही महफ़िल; 4. अंकित; 5. राजसी वैभव; 6. प्रेम का प्रचार करने वाले पर्दे के पीछे;
7. वैभव; 8. मक़बरों, समाधियों; 9. अंधकारमय; 10. सच्चे; 11. प्रचार-प्रसार; 12. ग़रीब; 13. स्वेच्छाचारी;

14. महानता; 15. सुतून; 16. धरती के सीने पर; 17. ऐसा ज़ख़्म जो कभी न भरे; 18. पुराने; 19. पूर्वज; 20. कारीगरी; 21. सुंदर रूप; 22. बेनाम और बेनिशान; 23. मोमबत्ती, दिया; 24. नक़्क़ाशी से अलंकृत दरवाज़े और दीवारें.

तुलू-ए-इश्तिराकियत[1]

जश्न बपा है कुटियाओं में, ऊंचे ऐवां कांप रहे हैं
मज़दूरों के बिगड़े तेवर देख के सुल्तां कांप रहे हैं
जागे हैं इफ़्लास[2] के मारे, उट्ठे हैं बे-बस दुखियारे
सीनों में तूफ़ां का तलातुम[3], आंखों में बिजली के शरारे
चौक चौक पर, गली गली में सुर्ख़ फरेरे लहराते हैं
मज़लूमों के बाग़ी लश्कर सैल-सिफ़त[4] उमड़े आते हैं

शाही दरबारों के दर से फ़ौजी पहरे ख़त्म हुए हैं
ज़ाती जागीरों के हक़ और मोहमल[5] दा'वे ख़त्म हुए हैं
शोर मचा है बाज़ारों में टूट गये दर ज़िंदानों[6] के
वापस मांग रही है दुनिया ग़सब-शुदा[7] हक़ इंसानों के
रुस्वा बाज़ारी ख़ातूनें[8] हक़्क़-ए-निसाई[9] मांग रही हैं
सदियों की ख़ामोश ज़बानें सहर-नवाई[10] मांग रही हैं

रौंदी कुचली आवाज़ों के शोर से धरती गूंज उठी है
दुनिया के अन्याय-नगर में हक़ की पहली गूंज उठी है
जमा हुए हैं चौराहों पर आ के भूके और गदागर[11]
एक लपकती आंधी बन कर एक भबकता शो'ला होकर
कांधों पर संगीन कुदालें, होंटों पर बेबाक तराने
दहक़ानों[12] के दल निकले हैं अपनी बिगड़ी आप बनाने

आज पुरानी तदबीरों[13] से आग के शो'ले थम न सकेंगे
उभरे जज़्बे दब न सकेंगे, उखड़े परचम जम न सकेंगे
राजमहल के दरबानों से, ये सरकश तूफ़ां न रुकेगा
चंद किराये के तिनकों से सैले-बे-पायां[14] न रुकेगा
कांप रहे हैं ज़ालिम सुल्तां, टूट गये दिल जब्बारों[15] के
भाग रहे हैं ज़िल्ले-इलाही[16], मुंह उतरे हैं ग़द्दारों के

एक नया सूरज चमका है एक अनोखी ज़ौ-बारी[17] है
ख़त्म हुई अफ़राद[18] की शाही, अब जम्हूर की सालारी[19] है

1. साम्यवाद का उद्भव; 2. दरिद्रता; 3. लहरों का ज़ोर, थपेड़े; 4. सैलाब/बाढ़ की तरह; 5. निरर्थक, बेकार; 6. जेलों; 7. छीने हुए; 8. बदनाम वैश्याएं; 9. नारी होने का अधिकार; 10. बोलने का जादू; 11. भिखारी; 12. किसानों; 13. युक्तियों;

14. अथाह सैलाब; 15. अत्याचार करने वाले; 16. ख़ुदा का साया, अर्थात बादशाह/शासक; 17. प्रकाश का फैलना/बिखराव; 18. व्यक्तियों; 19. जनता की सरदारी.

शहज़ादे

ज़हन में अज़्मते-अज्दाद[1] के क़िस्से लेकर
अपने तारीक घरोंदों के ख़ला[2] में खो जाओ
मरमरीं[3] ख़्वाब की परियों से लिपट कर सो जाओ
अब्र-पारों[4] पे चलो, चांद सितारों में उड़ो
यही अज्दाद से विरसे[5] में मिला है तुमको
दूर मग़रिब[6] की फ़ज़ाओं में दहकती हुई आग
अहले-सरमाया[7] की आवेज़िशे-बाहम[8] न सही
जंगे-सरमाया-ओ-मेहनत[9] ही सही
दूर मग़रिब में है—मशरिक़[10] की फ़ज़ा में तो नहीं
तुम को मग़रिब के बखेड़ों से भला क्या लेना?
तीरगी[11] ख़त्म हुई, सुर्ख़ शुआएं[12] फैलीं
दूर मग़रिब की फ़ज़ाओं में तराने गूंजे
फ़तहे-जम्हूर[13] के, इंसाफ़ के, आज़ादी के
साहिले-शर्क़[14] पे गैसों का धुआं छाने लगा
आग बरसाने लगे अजनबी तोपों के दहन
ख़्वाब -गाहों की छतें गिरने लगीं
अपने बिस्तर से उठो
नये आक़ाओं की ताज़ीम[15] करो
और फिर अपने घरोंदों के ख़ला[16] में खो जाओ
तुम बहुत देर, बहुत देर तलक सोये रहे!

1.पूर्वजों की महानता; 2. शून्य; 3. संगेमरमर की तरह निर्मल; 4. बादलों के टुकड़े; 5. विरासत, धरोहर; 6. पश्चिम; 7. पूंजीपतियों; 8. परस्पर दुश्मनी; 9. पूंजी और परिश्रम की जंग; 10. पूरब; 11. अंधकार; 12. किरणें; 13. अवाम की जीत; 14. पूरब का किनारा; 15. अभिवादन; 16. रिक्तता, शून्य.

नाकामी

मैंने हर चंद ग़मे-इश्क़ को खोना चाहा
ग़मे-उल्फ़त ग़मे-दुनिया में समोना चाहा
वही अफ़्साने मिरी सम्त रवां हैं अब तक
वही शो'ले मिरे सीने में निहां[1] हैं अब तक
वही बेसूद[2] ख़लिश[3] है मिरे सीने में हनूज़[4]
वही बेकार तमन्नाएं जवां हैं अब तक
वही गेसू[5] मिरी रातों पे हैं बिखरे बिखरे
वही आंखें मिरी जानिब निगरां[6] हैं अब तक

कसरते-ग़म[7] भी मिरे ग़म का मुदावा[8] न हुई
मेरे बेचैन ख़यालों को सुकूं[9] मिल न सका
दिल ने दुनिया के हर इक दर्द को अपना तो लिया
मुज़्महिल[10] रूह को अंदाज़े-जुनूं[11] मिल न सका
मेरी तख़ईल[12] का शीराज़ा-ए-बरहम[13] है वही
मेरे बुझते हुए एहसास का आलम है वही
वही बे-जान इरादे, वही बे-रंग सवाल
वही बे-रूह कशाकश[14], वही बेचैन ख़याल

आह इस कशमकशे-सुबह-मसा[15] का अंजाम
मैं भी नाकाम, मिरी सई-ए-अमल[16] भी नाकाम

1.छिपे हुए; 2. बे-फ़ायेदा; 3. चुभन 4. अभी तक; 5. केश, ज़ुल्फ़ें; 6. देखती हुई, निगरानी करती हुई; 7. दुखों की अधिकता; 8. इलाज; 9. शांति; 10. थकी हुई; 11. जूनून/दीवानगी का अंदाज़; 12. कल्पना-शक्ति; 13. अनियंत्रित बिखराव; 14. खींचातानी; 15. सुबह और शाम का संघर्ष; 16. काम करने की कोशिश.

शुआ-ए-फ़र्दा[1]

तीरा-ओ-तार[2] फ़ज़ाओं में सितम-ख़ुर्दा बशर[3]
और कुछ देर उजाले के लिए तरसेगा
और कुछ देर उठेगा दिले-गेती[4] से धुआं
और कुछ देर फ़ज़ाओं से लहू बरसेगा
और फिर अहमरीं[5] होंटों के तबस्सुम[6] की तरह
रात के चाक से फूटेगी शुआओं[7] की लकीर
और जम्हूर के बेदार तआवुन के तुफ़ैल[8]
ख़त्म हो जायेगी इंसां के लहू की तक़्तीर[9]
और कुछ देर भटक ले मिरे दरमांदा[10] नदीम[11]
और कुछ दिन अभी ज़हराब[12] के साग़र पी ले
नूर-अफ़शां[13] चली आती है उरूसे-फ़र्दा[14]
हाल[15] तारीको-सम-अफ़शां[16] सही, लेकिन जी ले

1.आने वाले कल की किरण; 2. घोर अंधकारमय; 3. अत्याचारों का शिकार इंसान; 4.धरती का दिल; 5. लालिमायुक्त; 6. मुस्कुराहट; 7. किरणों; 8. जनता के सचेत सहयोग के कारण; 9. क़तरा-क़तरा बहना, स्राव; 10. थका हुआ; 11. दोस्त; 12. ज़हरीला पय; 13. प्रकाश बिखेरती हुई; 14. कल (भविष्य) रुपी दुल्हन; 15. वर्तमान; 16. अंधकारमय और ज़हर बरसाता हुआ.

क़हते-बंगाल[1]

जहाने-कोहना[2] के मफ़्लूज[3] फ़ल्सफ़ा-दानो
निज़ामे-नौ[4] के तक़ाज़े सवाल करते हैं
ये शाहराहें[5] इसी वास्ते बनी थीं क्या
कि इन पे देस की जनता सिसक सिसक के मरे?
ज़मीं ने क्या इसी कारन अनाज उगला था
कि नस्ले-आदमो-हव्वा[6] बिलक-बिलक के मरे?
मिलें इसीलिए रेशम के ढेर बुनती हैं
कि दुख़तराने-वतन[7] तार तार को तरसें?
चमन को इसलिए माली ने ख़ूं से सींचा था
कि उसकी अपनी निगाहें बहार को तरसें?
ज़मीं की क़ुव्वते-तख़्लीक़[8] के ख़ुदा-वंदो[9]!
मिलों के मुंतज़िमो[10]! सल्तनत के फ़रज़ंदो[11]!
पचास लाख फ़सुर्दा[12] गले-सड़े ढांचे
निज़ामे-ज़र[13] के ख़िलाफ़ एहतिजाज[14] करते हैं
ख़मोश होंटों से, दम तोड़ती निगाहों से
बशर[15] बशर के ख़िलाफ़ एहतिजाज[16] करते हैं

1. बंगाल का अकाल; 2. पुराना युग; 3. अपाहिज; 4. नयी व्यवस्था; 5. रास्ते; 6. आदम और हव्वा के नस्ल, अर्थात मानव-जाति; 7. देश की बेटियां; 8. सृजन-शक्ति; 9. मालिको; 10. प्रबंधको; 11. बेटो; 12. दुखी, उदास; 13. पूंजी की सत्ता; 14. प्रतिरोध; 15. आदमी; 16. प्रतिरोध.

फ़रार

अपने माज़ी[1] के तसव्वुर[2] से हिरासां[3] हूं मैं
अपने गुज़रे हुए अय्याम[4] से नफ़रत है मुझे
अपनी बेकार तमन्नाओं पे शर्मिंदा हूं
अपनी बेसूद[5] उमीदों पे नदामत[6] है मुझे

मेरे माज़ी को अंधेरे में दबा रहने दो
मेरा माज़ी मिरी ज़िल्लत के सिवा कुछ भी नहीं
मेरी उम्मीदों का हासिल मिरी काविश का सिला[7]
एक बेनाम अज़िय्यत[8] के सिवा कुछ भी नहीं

कितनी बेकार उमीदों का सहारा ले कर
मैंने ऐवान[9] सजाये थे किसी की ख़ातिर
कितनी बे-रब्त[10] तमन्नाओं के मुबहम ख़ाके[11]
अपने ख़्वाब में बसाये थे किसी की ख़ातिर

मुझ से अब मेरी मुहब्बत के फ़साने न कहो
मुझ को कहने दो कि मैंने उन्हें चाहा ही नहीं
और वो मस्त निगाहें जो मुझे भूल गयीं
मैंने उन मस्त निगाहों को सराहा ही नहीं

मुझको कहने दो कि मैं आज भी जी सकता हूं
इश्क़ नाकाम सही, ज़िंदगी नाकाम नहीं
उनको अपनाने की ख़ाहिश, उन्हें पाने की तलब
शौक़े-बेकार सही, सई-ए-ग़म-अंजाम[12] नहीं

वही गेसू[13], वही नज़रें, वही आरिज़[14], वही जिस्म
मैं जो चाहूं तो मुझे और भी मिल सकते हैं
वो कंवल जिनको कभी उनके लिए खिलना था
उनकी नज़रों से बहुत दूर भी खिल सकते हैं

1. अतीत; 2. कल्पना; 3. डरा हुआ; 4. दिनों; 5. व्यर्थ; 6. शर्मिंदगी; 7. प्रयत्न का फल; 8. प्रताड़ना; 9. महल; 10. असंगत; 11. धुंधले/अस्पष्ट चित्र; 12. दुखांत कोशिश; 13. बाल, केश; 14. कपोल

कल और आज

कल भी बूंदें बरसी थीं
कल भी बादल छाये थे
और कवि ने सोचा था
बादल ये आकाश के सपने उन ज़ुल्फ़ों के साये हैं
दोशे-हवा[1] पर मयख़ाने ही मयख़ाने घिर आये हैं
रुत बदलेगी, फूल खिलेंगे, झोंके मधु बरसायेंगे
उजले-उजले खेतों में रंगीं आंचल लहरायेंगे
चरवाहे बंसी की धुन से गीत फ़ज़ा में बोयेंगे
आमों के झुण्डों के नीचे परदेसी दिल खोयेंगे
पेंग बढ़ाती गोरी के माथे से कोंदे लपकेंगे
जोहड़ के ठहरे पानी में तारे आंखें झपकेंगे
उलझी उलझी राहों में वो आंचल थामे आयेंगे
धरती, फूल, आकाश, सितारे सपना सा बन जायेंगे
कल भी बूंदें बरसी थीं
कल भी बदल छाये थे
और कवि ने सोचा था

.आज भी बूंदें बरसेंगी
आज भी बादल छायेंगे
और कवि इस सोच में है
बस्ती पर बादल छाये हैं, पर ये बस्ती किसकी है
धरती पर अमृत बरसेगा, लेकिन धरती किसकी है
हल जोतेगी खेतों में अल्हड़ टोली दहक़ानों[2] की
धरती से फूटेगी मेहनत, फ़ाक़ाकश[3] इंसानों की
फ़सलें काट के मेहनतकश ग़ल्ले के ढेर लगायेंगे
जागीरों के मालिक आकर, सब पूंजी ले जायेंगे
बूढ़े दहक़ानों के घर बनीये की क़ुरक़ी आयेगी
और क़र्ज़े के सूद में कोई गोरी बेची जायेगी
आज भी जनता भूखी है और कल भी जनता तरसी थी
आज भी रिमझिम बरखा होगी, कल भी बारिश बरसी थी
आज भी बादल छाये हैं
आज भी बूंदें बरसेंगी
और कवि इस सोच में है

1. हवा का कंधा; 2. किसानों; 3. भूखों मरने वाले.

हिरास[1]

तेरे होंटों पे तबस्सुम[2] की वो हल्की सी लकीर
मेरी तख़्ईल[3] में रह रह के झलक उठती है
यूं अचानक तिरे आरिज़[4] का ख़याल आता है
जैसे ज़ुल्मत[5] में कोई शम्अ भड़क उठती है

तेरे पैराहने-रंगीं[6] की जुनूं-ख़ेज़[7] महक
ख़्वाब बन बन के मिरे ज़हन में लहराती है
रात की सर्द ख़मोशी में हर इक झोंके से
तेरे अन्फ़ास[8], तिरे जिस्म की आंच आती है

मैं सुलगते हुए राज़ों को अयां[9] तो कर दूं
लेकिन इन राज़ों की तशहीर[10] से जी डरता है
रात के ख़्वाब उजाले में बयां तो कर दूं
इन हसीं ख़्वाब की ताबीर[11] से जी डरता है

तेरी सांसों की थकन, तेरी निगाहों का सुकूत[12]
दर-हक़ीक़त कोई रंगीन शरारत ही न हो

मैं जिसे प्यार का अंदाज़ समझ बैठा हूं
वो तबस्सुम[13], वो तकल्लुम[14] तिरी आदत ही न हो

सोचता हूं कि तुझे मिल के मैं जिस सोच में हूं
पहले उस सोच का मक़्सूम[15] समझ लूं तो कहूं
मैं तिरे शहर में अंजान हूं, परदेसी हूं
तेरे अल्ताफ़[16] का मफ़्हूम[17] समझ लूं तो कहूं

कहीं ऐसा न हो पांव मिरे थर्रा जायें
और तिरी मरमरीं[18] बांहों का सहारा न मिले
अश्क बहते रहें ख़ामोश सियह रातों में
और तिरे रेशमी आंचल का किनारा न मिले

1. डर, निराशा; 2. मुस्कुराहट; 3. कल्पना; 4. गाल; 5. अंधेरा; 6. रंगीन लिबास; 7. उन्माद भरने वाली; 8. नफ़स (सांस) का बहुवचन, सांसें; 9. प्रकट; 10. प्रसार, शोहरत; 11. अर्थ, व्याख्या, परिणाम; 12. ठहराव, ख़ामोशी; 13. मुस्कराहट; 14. बातचीत का ढंग; 15. भाग्य, परिणाम; 16. महरबानी; 17. अर्थ; 18. संगमरमर जैसी.

एक तस्वीरे रंग

मैंने जिस वक़्त तुझे पहले पहल देखा
तू जवानी का कोई ख़्वाब नज़र आयी थी
हुस्न का नग़्मा-ए-जावेद[1] हुई थी मालूम
इश्क़ का जज़्बा-ए-बेताब नज़र आयी थी
ऐ तरब-ज़ारे-जवानी[2] की परेशां तितली
तू भी इक बू-ए-गिरफ़्तार है, मालूम न था
तेरे जल्वों में बहारें नज़र आती थीं मुझे
तू सितम-ख़ुर्दा-ए-इदबार[3] है, मालूम न था

तेरे नाज़ुक से परों पर ये ज़रो-सीम[4] का बोझ
तेरी परवाज़ को आज़ाद न होने देगा
तूने राहत की तमन्ना में जो ग़म पाला है
वो तिरी रूह को आबाद न होने देगा

तूने सरमाये की छांव में पनपने के लिए
अपने दिल, अपनी मुहब्बत का लहू बेचा है
दिन की तज़ईन-ए-फ़सुर्दा [5]का असासा[6] लेकर
शोख़[7] रातों की मसर्रत[8] का लहू बेचा है

ज़ख़्म-ख़ुर्दा[9] हैं तख़य्युल[10] की उड़ानें तेरी
तेरे गीतों में तिरी रूह के ग़म पलते हैं
सुर्मगीं आंखों में यूं हसरतें लौ देती हैं
जैसे वीरान मज़ारों पे दिये जलते हैं

इससे क्या फ़ायदा रंगीन लबादों के तले
रूह जलती रहे, घुलती रहे, पज़मुर्दा[11] रहे
होंट हंसते हों दिखावे के तबस्सुम[12] के लिए
दिल ग़मे-ज़ीस्त[13] से बोझल रहे, आज़ुर्दा[14] रहे

दिल की तस्कीं[15] भी है आसाइशे-हस्ती[16] की दलील
ज़िंदगी सिर्फ़ ज़रो-सीम[17] का पैमाना नहीं
ज़ीस्त एहसास भी है, शौक़ भी है, दर्द भी है
सिर्फ़ अन्फ़ास[18] की तरतीब का अफ़्साना नहीं

उम्र भर रेंगते रहने से कहीं बेहतर है
एक लम्हा जो तिरी रूह में वुसअत[19] भर दे
एक लम्हा जो तिरे गीत को शोख़ी[20] दे दे
एक लम्हा जो तिरी लय में मसर्रत[21] भर दे

1. शाश्वत गीत; 2. जवानी रूपी आनंद-उद्यान; 3. विभिन्न प्रकार के बोझों की सतायी हुई; 4. सोना-चांदी; 5. उदास सजावट; 6. पूंजी; 7. चंचल; 8. ख़ुशी, आनंद; 9. ज़ख़्म खाये हुए; 10. कल्पना; 11. मुरझायी हुई; 12. मुस्कराहट; 13. जीवन का दुख; 14. दुखी; 15. संतोष; 16. जीवन का सुख 17. सोना-चांदी; 18. सांसों; 19. विस्तार, व्यापकता; 20. चंचलता; 21. ख़ुशी.

नूरजहां के मज़ार पर

पहलू-ए-शाह में ये दुख़्तरे-जम्हूर[1] की क़ब्र
कितने गुम-गश्ता[2] फ़सानों का पता देती है
कितने ख़ूं-रेज़[3] हक़ायक़[4] से उठाती है नक़ाब
कितनी कुचली हुई जानों का पता देती है

कैसे मग़रूर शहंशाहों की तस्कीं[5] के लिए
साल-हा-साल हसीनाओं के बाज़ार लगे
कैसे बहकी हुई नज़रों के तअय्युश[6] के लिए

सुर्ख़ महलों में जवां जिस्मों के अंबार[7] लगे

कैसे हर शाख़ से, मुंह-बंद महकती कलियां
नोच ली जाती थीं तज़ईने-हरम[8] की ख़ातिर
और मुरझा के भी आज़ाद न हो सकती थीं
ज़िल्ले-सुबहान[9] की उल्फ़त के भरम की ख़ातिर

कैसे इक फ़र्द के होंटों की ज़रा सी जुम्बिश
सर्द कर सकती थी बे-लौस[10] वफ़ाओं के चराग़
लूट सकती थी दमकते हुए हाथों का सुहाग
तोड़ सकती थी मये-इश्क़[11] से लबरेज़ अयाग़[12]

सहमी सहमी सी फ़ज़ाओं में ये वीरां मरक़द[13]
इतना ख़ामोश है फ़रियाद-कुनाँ[14] हो जैसे
सर्द शाख़ों में हवा चीख़ रही है ऐसे
रूहे-तक़्दीस-ओ-वफ़ा[15] मर्सिया-ख़्वां[16] हो जैसे

तू मिरी जान मुझे हैरतो-हसरत से न देख
हम में कोई भी जहां-नूर ओ जहां-गीर नहीं
तू मुझे छोड़ के, ठुकरा के भी जा सकती है
तेरे हाथों में मिरे हाथ हैं, ज़ंजीर नहीं!

1. अवाम की बेटी; 2. खोये हुए; 3. रक्त-रंजित; 4. वास्तविकताएं; 5. संतोष, तृप्ति; 6. ऐश, भोग-विलास; 7. ढेर; 8. महल की अंत:कोष्ठ की सजावट; 9. ईश्वर की छाया, यानी सम्राट; 10. निस्वार्थ; 11. इश्क़ रूपी शराब; 12. छलकते जाम; 13. क़ब्र; 14. दुहाई देता हुआ; 15. पवित्रता और प्रेम में वफ़ादारी की भावना; 16. शोक गीत गाती हुई.

जागीर

फिर उसी वादी-ए-शादाब[1] में लौट आया हूं
जिसमें पिन्हां[2] मिरे ख़्वाब की तरब-गाहें[3] हैं
मेरे अहबाब[4] के सामाने-तअय्युश[5] के लिए
शोख़ सीने हैं, जवां जिस्म, हसीं बांहें हैं

सब्ज़ खेतों में ये दुबकी हुई दोशीज़ाएं[6]
इनकी शिरयानों[7] में किस किस का लहू जारी है
किस में जुरअत है कि इस राज़ की तशहीर[8] करे
सब के लब पर मिरी हैबत[9] का फ़ुसूं[10] तारी है

हाए वो गर्मो-दिल-आवेज़[11] उबलते सीने

जिनसे हम सतवते-आबा[12] का सिला[13] लेते हैं
जाने उन मरमरीं जिस्मों को ये मरियल दहक़ां[14]
कैसे इन तीरा[15] घरोंदों में जनम देते हैं

ये लहकते हुए पौदे, ये दमकते हुए खेत
पहले अज्दाद[16] की जागीर थे, अब मेरे हैं
ये चरागाह, ये रेवड़, ये मवेशी, ये किसान
सब के सब मेरे हैं, सब मेरे हैं, सब मेरे हैं

इनकी महनत भी मिरी, हासिले-महनत[17] भी मिरा
इनके बाज़ू भी मिरे, क़ुव्वते-बाज़ू भी मिरी
मैं ख़ुदावंद हूं इस वुसअते-बे-पायां[18] का
मौजे-आरिज़[19] भी मिरी नकहते-गेसू[20] भी मिरी
मैं उन अज्दाद का बेटा हूं जिन्होंने पैहम[21]
अजनबी क़ौम के साये की हिमायत की है
ग़द्र[22] की साअते-नापाक[23] से लेकर अब तक
हर कड़े वक़्त में सरकार की ख़िदमत की है

ख़ाक पर रेंगने वाले ये फ़सुर्दा[24] ढांचे
इनकी नज़रें कभी तलवार बनी हैं, न बनें
इनकी ग़ैरत पे हर इक हाथ झपट सकता है
इनके अबरू[25] की कमानें न तनी हैं, न तनें

हाए ये शाम, ये झरने, ये शफ़क़ की लाली[26]
मैं इन आसूदा[27] फ़ज़ाओं में ज़रा झूम न लूं
वो दबे पांव उधर कौन चली जाती है
बढ़ के उस शोख़ के तरशे हुए लब चूम न लूं

1. हरी-भरी घाटी; 2. छिपी हुई; 3. आनंद की जगहें; 4. मित्रगण; 5. भोग-विलास की सामग्री/तैयारी; 6. सुंदरियां; 7. रगों; 8. शोहरत, प्रचार-प्रसार; 9. आतंक, भय; 10. जादू; 11. गर्म और आकर्षक; 12. बुज़ुर्गों की शान, वैभव; 13. फल, क़ीमत, बदल; 14. किसान; 15. अंधेरे; 16. पूर्वज; 17. परिश्रम का फल; 18. असीम विस्तार; 19. गालों पर दौड़ती लालिमा; 20. बालों की ख़ुशबू; 21. निरंतर; 22. ग़दर; 23. ग़दर की नापाक घड़ी (1857 की ओर संकेत); 24. उदास, खिन्न; 25. भवें, भृकुटि; 26. सूरज डूबते समय आसमान की लाली; 27. संतोषजनक, तृप्त

मादाम

आप बेवजह परेशान सी क्यों हैं मादाम?
लोग कहते हैं तो फिर ठीक ही कहते होंगे
मेरे अहबाब[1] ने तहज़ीब न सीखी होगी

मेरे माहौल में इंसान न रहते होंगे

नूरे-सरमाया[2] से है रू-ए-तमद्दुन[3] की जिला[4]
हम जहां हैं वहां तहज़ीब नहीं पल सकती
मुफ़लिसी हिस्से-लताफ़त[5] को मिटा देती है
भूख आदाब[6] के सांचे में नहीं ढल सकती

लोग कहते हैं तो लोगों पे तअज्जुब कैसा!
सच तो कहते हैं, कि नादारों[7] की इज़्ज़त कैसी!
लोग कहते हैं—मगर आप अभी तक चुप हैं
आप भी कहिए, ग़रीबो में शराफ़त कैसी!

नेक मादाम! बहुत जल्द वो दौर आयेगा
जब हमें ज़ीस्त[8] के अदवार[9] परखने होंगे
अपनी ज़िल्लत की क़सम, आपकी अज़मत की क़सम
हमको ताज़ीम[10] के मे'यार परखने होंगे

हम ने हर दौर में तज़लील[11] सही है लेकिन
हम ने हर दौर के चेहरे को ज़िया[12] बख़्शी है
हम ने हर दौर में मेहनत के सितम झेले हैं
हम ने हर दौर के हाथों को हिना[13] बख़्शी है

लेकिन इन तल्ख़ मबाहिस[14] से भला क्या हासिल?
लोग कहते हैं तो फिर ठीक ही कहते होंगे
मेरे एहबाब ने तहज़ीब न सीखी होगी
मेरे माहौल में इंसान न रहते होंगे

1. हबीब (प्रियजन, दोस्त) का बहुवचन; 2. पूंजी का प्रकाश; 3. सभ्यता का चेहरा; 4. प्रकाश, कांति; 5. नर्मी, मृदुलता की भावना; 6. शिष्टाचार; 7. निर्धनों; 8. जीवन; 9. दौर (युग) का बहुवचन; 10. सत्कार, सम्मान; 11. अपमान, ज़िल्लत; 12. कांति; 13. मेंहदी; 14. विवाद,

आवाज़े-आदम

दबेगी कब तलक आवाज़े-आदम[1] हम भी देखेंगे
रुकेंगे कब तलक जज़्बाते-बरहम[2] हम भी देखेंगे
चलो यूं ही सही, ये जौरे-पैहम[3] हम भी देखेंगे

दरे-ज़िंदां[4] से देखें या उरूजे-दार[5] से देखें
तुम्हें रुस्वा[6] सरे-बाज़ारे-आलम[7] हम भी देखेंगे

ज़रा दम लो, मआले-शौकते-जम[8] हम भी देखेंगे

ब-ज़ोमे-क़ुव्वते-फ़ौलादो-आहन[9] देख लो तुम भी
ब-फ़ैज़े-जज़्बा-ए-ईमाने-मुहकम[10] हम भी देखेंगे
जबीने-कज-कुलाही[11] ख़ाक पर ख़म[12] हम भी देखेंगे

मुकाफ़ाते-अमल[13] तारीख़े-इंसां की रिवायत[14] है
करोगे कब तलक नावक[15] फ़राहम[16] हम भी देखेंगे
कहां तक है तुम्हारे ज़ुल्म में दम हम भी देखेंगे

ये हंगामे-विदा-ए-शब[17] है ऐ ज़ुल्मत के फ़रज़ंदो[18]
सहर के दोश[19] पर गुलनार[20] परचम हम भी देखेंगे
तुम्हें भी देखना होगा ये आलम[21], हम भी देखेंगे!

1. आदमी की आवाज़; 2. क्रुद्ध भावनाएं; 3. निरंतर अत्याचार; 4. जेल का दरवाज़ा; 5. सूली की ऊंचाई; 6. बदनाम, ज़लील; 7. दुनिया रूपी बाज़ार में खुले आम; 8. राजसी वैभव का अंत/नतीजा. यहां ईरान के एक प्राचीन शासक जमशेद (जम) की शानो-शौकत को सत्ता और उसकी निरर्थकता का प्रतीक बनाया गया है; 9. लौहे और फ़ौलाद (हथियारों) की शक्ति के घमंड में; 10. अपने दृढ़ विश्वास की भावना से लाभ उठाकर; 11. तिरछी टोपी लगाने वाला सर (उच्च वर्गीय घमंडी का प्रतीक); 12. झुका हुआ; 13. क्रिया की प्रतिक्रिया; 14. परंपरा; 15. तीर (हथियार); 16. उपलब्ध कराना; 17. अंधकार या रात के गुज़रने की हलचल; 18. अंधकार के बेटो; 19. सुबह के कंधे पर; 20. गुलाब और आग (गुल+नार) की तरह दहकता लाल रंग; 21. स्थिति, हालत.

मता-ए-ग़ैर[1]

मेरे ख़्वाब के झरोकों को सजाने वाली
तेरे ख़्वाब में कहीं मेरा गुज़र है कि नहीं
पूछ कर अपनी निगाहों से बता दे मुझको
मेरी रातों की मुक़द्दर में सहर है कि नहीं

चार दिन की ये रफ़ाक़त[2] जो रफ़ाक़त भी नहीं
उम्र भर के लिए आज़ार[3] हुई जाती है
ज़िंदगी यूं तो हमेशा से परेशान सी थी
अब तो हर सांस गिरांबार[4] हुई जाती है

मेरी उजड़ी हुई नींदों के शबिस्तानों[5] में
तू किसी ख़्वाब के पैकर[6] की तरह आयी है
कभी अपनी सी, कभी ग़ैर नज़र आती है
कभी इख़लास[7] की मूरत, कभी हरजाई है

प्यार पर बस तो नहीं है मिरा, लेकिन फिर भी
तू बता दे कि तुझे प्यार करूं या न करूं
तूने ख़ुद अपने तबस्सुम[8] से जगाया है जिन्हें
उन तमन्नाओं का इज़हार करूं या न करूं

तू किसी और के दामन की कली है लेकिन
मेरी रातें तिरी ख़ुश्बू से बसी रहती हैं
तू कहीं भी हो, तेरे फूल से आरिज़[9] की क़सम
तेरी पलकें मेरी आंखों पे झुकी रहती हैं

तेरे हाथों की हरारत, तेरे सांसों की महक
तैरती रहती है एहसास की पिनहाई[10] में
ढूंढती रहती हैं तख़ईल[11] की बाहें तुझको
सर्द रातों की सुलगती हुई तनहाई में

तेरा अल्ताफ़ो-करम[12] एक हक़ीक़त है मगर
ये हक़ीक़त भी हक़ीक़त में फ़साना ही न हो
तेरी मानूस[13] निगाहों का ये मोहतात[14] पयाम
दिल के ख़ूं करने का इक और बहाना ही न हो

कौन जाने मेरे इमरोज़[15] का फ़र्दा[16] क्या है
क़ुरबतें[17] बढ़ के पशेमान[18] भी हो जाती है
दिल के दामन से लिपटती हुई रंगीं नज़रें
देखते देखते अंजान भी हो जाती है

मेरी दरमांदा[19] जवानी की तमन्नाओं के
मुज़महिल[20] ख़्वाब की ताबीर बता दे मुझको
तेरे दामन में गुलिस्तां भी हैं, वीराने भी
मेरा हासिल, मिरी तक़दीर बता दे मुझको

1. ग़ैर की पूंजी, पराया धन; 2. दोस्ती; 3. रोग, तकलीफ़; 4. भारी बोझ; 5. ख़्वाब गाहों; 6. आकृति; 7. निस्वार्थ प्रेम; 8. मुस्कान; 9. गाल; 10. छुपावट, गुप्तता; 11. कल्पना-शक्ति; 12. महरबानी; 13. परिचित; 14. सावधान; 15. आज का दिन; 16. आने वाला कल; 17. नज़दीकियां, सामीप्य; 18. लज्जित, शर्मिंदा; 19. असहाय; 20. शिथिल, थका हुआ.

लम्हा-ए-ग़नीमत[1]

मुस्कुरा ऐ ज़मीने-तीरा-ओ-तार[2]
सर उठा ऐ दबी हुई मख़्लूक़[3]!
देख वो मग़रिबी उफ़ुक़[4] के क़रीब

आंधियां पेचो-ताब खाने लगीं
और पुराने क़िमार-ख़ाने[5] में
कोहना शातिर[6] बहम[7] उलझने लगे
कोई तेरी तरफ़ नहीं निगरां[8]
ये गिरांबार[9] सर्द ज़ंजीरें
ज़ंग-ख़ुर्दा हैं, आहनी[10] ही सही
आज मौक़ा है, टूट सकती हैं
फ़ुर्सते-यक-नफ़स[11] ग़नीमत[12] जान
सर उठा ऐ दबी हुई मख़्लूक़!

1. एक उचित पल; 2. घोर अंधकार में घिरी धरती; 3. जीव; 4. पश्चिमी क्षितिज; 5. जुआघर; 6. पुराने खिलाड़ी; 7. आपस में; 8. निगरानी करने वाला, निगरानी करता हुआ; 9. भारी बोझ वाली; 10. फ़ौलादी; 11. एक सांस लेने की फ़ुर्सत; 12. उचित.

इंतिज़ार

चांद मद्धम है आसमां चुप है
नींद की गोद में जहां चुप है

दूर वादी में दूधिया बादल
झुक के पर्बत को प्यार करते हैं
दिल में नाकाम हसरतें लेकर
हम तिरा इंतिज़ार करते हैं

इन बहारों के साये में आ जा
फिर मोहब्बत जवां रहे न रहे
ज़िंदगी तेरे ना-मुरादों पर
कल तलक मेहरबां रहे न रहे!

रोज़ की तरह आज भी तारे
सुबह की गर्द में न खो जायें
आ तेरे ग़म में जागती आंखें
कम से कम एक रात सो जायें

चांद मद्धम है आसमां चुप है
नींद की गोद में जहां चुप है

ख़ूबसूरत मोड़

चलो इक बार फिर से अजनबी बन जायें हम दोनों

न मैं तुम से कोई उम्मीद रखूं दिल-नवाज़ी की
न तुम मेरी तरफ़ देखो ग़लत-अंदाज़ नज़रों से
न मेरे दिल की धड़कन लड़खड़ाये मेरी बातों से
न ज़ाहिर हो तुम्हारी कशमकश[1] का राज़ नज़रों से

तुम्हें भी कोई उलझन रोकती है पेश-क़दमी[2] से
मुझे भी लोग कहते हैं कि ये जल्वे पराये हैं
मिरे हमराह भी रुस्वाइयां[3] हैं मेरे माज़ी की
तुम्हारे साथ भी गुज़री हुई रातों के साये हैं

तआरुफ़ रोग हो जाये तो उसका भूलना बेहतर
तअल्लुक़ बोझ बन जाये तो उसको तोड़ना अच्छा
वो अफ़साना जिसे अंजाम तक लाना न हो मुमकिन
उसे इक ख़ूबसूरत मोड़ दे कर छोड़ना अच्छा

चलो इक बार फिर से अजनबी बन जायें हम दोनों

1. असमंजस; 2. क़दम आगे बढ़ाना, पहल-क़दमी; 3. बदनामियां.

मिरे अहद के हसीनो!

वो सितारे जिनकी ख़ातिर, कई बेक़रार सदियां
मिरी तीरा-बख़्त[1] दुनिया में सितारा-वार[2] जागीं
कभी रिफ़अतों[3] पे लपकीं, कभी वुसअतों[4] से उलझीं
कभी सोगवार सोयीं, कभी नग़मा-बार[5] जागीं

वो बुलंद-बाम[6] तारे, वो फ़लक-मक़ाम[7] तारे
वो निशान दे के अपना, रहे बे-निशां हमेशा
वो हसीं, वो नूर-ज़ादे[8] वो ख़ला[9] के शाहज़ादे
जो हमारी क़िस्मतों पर रहे हुक्मरां हमेशा

जिन्हें मुज़्महिल[10] दिलों ने अबदी[11] पनाह जाना
थके-हारे क़ाफ़िलों ने जिन्हें ख़िज़्रे-राह[12] जाना
जिन्हें कमसिनों[13] ने चाहा कि लपक के प्यार कर लें
जिन्हें महवशों[14] ने मांगा कि गले का हार कर लें

जिन्हें आशिक़ों ने चाहा कि फ़लक से तोड़ लायें
किसी राह में बिछायें, किसी सेज पर सजायें
जिन्हें बुत-गरों ने चाहा कि सनम[15] बना के पूजें
ये जो दूर के हसीं हैं उन्हें पास ला के पूजें
जिन्हें मुतरिबों[16] ने चाहा कि सदाओं[17] में पिरो लें
जिन्हें शायरों ने चाहा कि ख़याल में समो लें
जो हज़ार कोशिशों पर भी शुमार में न आये
कभी ख़ाके-बे-बिज़ाअत के दयार[18] में न आये
जो हमारी दस्तरस[19] से रहे दूर दूर अब तक
हमें देखते रहे हैं जो ब-सद-ग़ुरूर[20] अब तक

मिरे अहद के हसीनो! वो नज़र-नवाज़[21] तारे
मिरा दौरे-इश्क़-परवर[22] तुम्हें नज़्र[23] दे रहा है
वो जुनूं जो आबो-आतिश[24] को असीर[25] कर चुका था
वो ख़ला[26] की वुसअतों[27] से भी ख़िराज[28] ले रहा है

मेरे साथ रहने वालो, मेरे बाद आने वालो
मिरे दौर का ये तोहफ़ा तुम्हें साज़गार[29] आये
कभी तुम ख़ला से गुज़रो किसी सीमतन[30] की ख़ातिर
कभी तुम को दिल में रख कर कोई गुल-अज़ार[31] आये

(स्पूतनिक के आविष्कार पर)

1. अंधेरी क़िस्मत वाली; 2. सितारों की तरह; 3. ऊंचाइयों; 4. विस्तारों, व्यापकताओं; 5. गीत बरसाती हुई; 6. ऊंचे स्थानों पर आसीन; 7. आकाश के निवासी; 8. रौशनी के बेटे; 9. अंतरिक्ष, शून्य; 10. थके हुए; 11. हमेशा की, आख़िरी; 12. मार्गदर्शक; 13. किशोर, युवा लोग; 14. चांद जैसे मुख वालियों; 15. प्रियतम; 16. संगीतकारों; 17. आवाज़ों; 18. तुच्छ मिट्टी का घर; 19. पहुंच; 20. अत्यंत अहंकार के साथ; 21. नज़रों को लुभाने वाले; 22. इश्क़ को पालने-पोसने वाला दौर; 23. भेंट; 24. पानी और आग; 25. क़ैदी; 26. अंतरिक्ष; 27. विस्तार; 28. लगान, प्रशंसा; 29. रास; 30. चांदी जैसे बदन वाली प्रियसी; 31. फूल जैसे गालों वाली महबूबा.

ये किस का लहू है

(जहाज़ियों की बग़ावत 1946 ई.)

ऐ रहबरे-मुल्को-क़ौम[1] ज़रा
आंखें तो उठा, नज़रें तो मिला
कुछ हम भी सुनें, हम को भी बता
ये किसका लहू है कौन मरा?

धरती की सुलगती छाती के बेचैन शरारे पूछते हैं
तुम लोग जिन्हें अपना न सके, वो ख़ून के धारे पूछते हैं
सड़कों की ज़बां चिल्लाती है, सागर के किनारे पूछते हैं
ये किसका लहू है कौन मरा?
ऐ रहबरे-मुल्को-क़ौम बता!
ये किसका लहू है कौन मरा?

वो कौन सा जज़्बा था जिससे अफ़सुर्दा निज़ामे-ज़ीस्त[2] हिला
झुलसे हुए वीरां गुलशन में इक आस उम्मीद का फूल खिला
जनता का लहू फ़ौजों से मिला, फ़ौजों का लहू जनता से मिला
ये किसका जुनूं है कौन मरा?
ऐ रहबरे-मुल्को-क़ौम बता!
ये किसका लहू है कौन मरा?

क्या क़ौमो-वतन की जय गाकर मरते हुए राही गुंडे[3] थे?
जो देश का परचम लेके उठे, वो शोख़ सिपाही गुंडे थे?
जो बारे-ग़ुलामी[4] सह न सके, वो मुजरिमे-शाही गुंडे थे?
ये किसका लहू है कौन मरा?
ऐ रहबरे-मुल्को-क़ौम बता!
ये किसका लहू है कौन मरा?

ऐ अज़्मे-फ़ना[5] देने वालो! पैग़ामे-बक़ा[6] देने वालो!
अब आग से क्यों कतराते हो, शोलों को हवा देने वालो!
तूफ़ान से अब डरते क्यों हो, मौजों को सदा[7] देने वालो!
क्या भूल गये अपना नारा
ऐ रहबरे-मुल्को-क़ौम बता!
ये किसका लहू है कौन मरा?

समझौते की उम्मीद सही, सरकार के वादे ठीक सही
हां मश्क़े-सितम[8] अफ़साना सही, हां प्यार के वादे ठीक सही
अपनों के कलेजे मत छेदो, अग़यार[9] के वादे ठीक सही
जम्हूर[10] से यूं दामन न छुड़ा
ऐ रहबरे-मुल्को-क़ौम बता!
ये किसका लहू है कौन मरा?

हम ठान चुके हैं अब जी में, हर ज़ालिम से टकरायेंगे
तुम समझौते की आस रखो, हम आगे बढ़ते जायेंगे
हर मंज़िले-आज़ादी की क़सम, हर मंज़िल पे दोहरायेंगे
ये किसका लहू है कौन मरा?

ऐ रहबरे-मुल्को-क़ौम बता!
ये किसका लहू है कौन मरा?

1. देश और राष्ट्र के नेता; 2. जीवन की दुखी व्यवस्था; 3. अंग्रेज़ों ने नाविक विद्रोहियों पर गुंडा एक्ट लागू किया था. 4. ग़ुलामी का बोझ; 5. मिट जाने का संकल्प; 6. अस्तित्व/जीवन का संदेश; 7. आवाज़; 8. अत्यचार का अभ्यास, निरंतर अत्याचार; 9. ग़ैर का बहुवचन, पराये; 10. जनता.

आओ कि कोई ख़्वाब बुनें

आओ कि कोई ख़्वाब बुनें कल के वास्ते
वर्ना ये रात आज के संगीन दौर की
डस लेगी जानो-दिल को कुछ ऐसे कि जानो-दिल
ता-उम्र फिर न कोई हसीं ख़्वाब बुन सकें
गो[1] हम से भागती रही ये तेज़-गाम[2] उम्र
ख़्वाब के आसरे पे कटी है तमाम उम्र

ज़ुल्फ़ों के ख़्वाब , होंटों के ख़्वाब और बदन के ख़्वाब
मेराजे-फ़न[3] के ख़्वाब , कमाले-सुख़न[4] के ख़्वाब
तहज़ीबे-ज़िंदगी[5] के, फ़रोग़े-वतन[6] के ख़्वाब
ज़िंदां[7] के ख़्वाब , कूचा-ए-दारो-रसन[8] के ख़्वाब

ये ख़्वाब ही तो अपनी जवानी के पास थे
ये ख़्वाब ही तो अपने अमल की असास[9] थे
ये ख़्वाब मर गये हैं तो बे-रंग है हयात[10]
यूं है कि जैसे दस्ते-तहे-संग[11] है हयात

आओ कि कोई ख़्वाब बुनें कल के वास्ते
वर्ना ये रात आज के संगीन दौर की
डस लेगी जानो-दिल को कुछ ऐसे कि जानो-दिल
ता-उम्र फिर न कोई हसीं ख़्वाब बुन सकें

1. यद्यपि; 2. तीव्रगति; 3. कला का चरमोत्कर्ष; 4. शायरी की परिपूर्णता; 5. जीवन का संवरना/संवारना; 6. देश की प्रगति; 7. जेल; 8. फांसी तक पहुंचने का रास्ता; 9. कामों का आधार; 10. जीवन; 11. पत्थर के नीचे दबा हुआ हाथ.

एक मुलाक़ात

तिरी तड़प से न तड़पा था मेरा दिल लेकिन
तिरे सुकून से बेचैन हो गया हूं मैं
ये जान कर तुझे क्या जाने कितना ग़म पहुंचे
कि आज तेरे ख़यालों में खो गया हूं मैं

किसी की हो के तू इस तरह मेरे घर आयी
कि जैसे फिर कभी आये तो घर मिले न मिले
नज़र उठायी मगर ऐसी बे-यक़ीनी से
कि जिस तरह कोई पेशे-नज़र[1] मिले न मिले
तू मुस्कुरायी मगर मुस्कुरा के रुक सी गयी
कि मुस्कुराने से ग़म की ख़बर मिले न मिले
रुकी तो ऐसे कि जैसे तिरी रियाज़त[2] को
अब इस समर[3] से ज़ियादा समर मिले न मिले
गयी तो सोग में डूबे क़दम ये कह के गये
सफ़र है शर्त, शरीके-सफ़र मिले न मिले

तिरी तड़प से न तड़पा था मेरा दिल लेकिन
तिरे सुकून से बेचैन हो गया हूं मैं
ये जान कर तुझे क्या जाने कितना ग़म पहुंचे
कि आज तेरे ख़यालों में खो गया हूं मैं

1. आंखों के सामने; 2. तपस्या; 3. फल.

ख़ून फिर ख़ून है

(...एक मक़तूल[1] लुमुम्बा[2], एक ज़िंदा लुमुम्बा से ज़्यादा ताक़तवर होता है—जवाहरलाल नेहरू)

ज़ुल्म फिर ज़ुल्म है बढ़ता है तो मिट जाता है
ख़ून फिर ख़ून है टपकेगा तो जम जायेगा

ख़ाके-सहरा[3] पे जमे या कफ़े-क़ातिल[4] पे जमे
फ़र्क़े-इंसाफ़[5] पे या पाये-सलासिल[6] पे जमे
तेग़े-बेदाद[7] पे या लाशा-ए-बिस्मिल[8] पे जमे
ख़ून फिर ख़ून है टपकेगा तो जम जायेगा

लाख बैठे कोई छुप-छुप के कमीं-गाहों[9] में
ख़ून ख़ुद देता है जल्लादों के मस्कन[10] का सुराग़
साज़िशें लाख उढ़ाती रहें ज़ुल्मत[11] की नक़ाब
ले के हर बूंद निकलती है हथेली पे चराग़

ज़ुल्म की क़िस्मते-नाकारा-ओ-रुस्वा[12] से कहो
जब्र की हिकमते-पुरकार[13] के ईमा[14] से कहो
महमिले-मज्लिसे-अक़्वाम की लैला[15] से कहो
ख़ून दीवाना है, दामन पे लपक सकता है
शोला-ए-तुंद[16] है, ख़िर्मन[17] पे लपक सकता है

तुम ने जिस ख़ून को मक़्तल[18] में दबाना चाहा
आज वो कूचा-ओ-बाज़ार में[19] आ निकला है
कहीं शो'ला, कहीं नारा, कहीं पत्थर बन कर
ख़ून चलता है तो रुकता नहीं संगीनों[20] से
सर उठाता है तो दबता नहीं आईनों[21] से

ज़ुल्म की बात ही क्या! ज़ुल्म की औक़ात ही क्या!
ज़ुल्म बस ज़ुल्म है, आग़ाज़[22] से अंजाम[23] तलक
ख़ून फिर ख़ून है, सौ शक्ल बदल सकता है
ऐसी शक्लें कि मिटाओ तो मिटाये न बने!
ऐसे शो'ले कि बुझाओ तो बुझाये न बने!
ऐसे ना'रे कि दबाओ तो दबाये न बने !

1. जिसका क़त्ल हुआ हो; 2. कांगो राष्ट्रवादी आंदोलन के नायक और कांगो के प्रथम प्रधानमंत्री पैट्रिस एमिरी लुमुम्बा, जिनकी साम्राज्यवादियों ने 17 जनवरी 1961 को हत्या करा दी थी. 3. मरुभूमि की मिट्टी; 4. हत्यारे की हथेली; 5. न्याय का चेहरा; 6. बेड़ियों में जकड़े पैर; 7. अत्याचारी की तलवार; 8. घायल होकर मर जाने वाले की लाश; 9. छुप कर वार करने की जगह; 10. ठिकाना, आवास; 11. अंधकार; 12. ज़ुल्म और अत्याचार जिसके भाग्य में हमेशा व्यर्थता और बदनामी होती है. 13. अत्याचारी की कारगर नीतियां; 14. इशारा, इरादा; 15. संयुक्त राष्ट्र को लैला से उपमा दी है जो ऊंट के कजावे (महमिल) पर सवार जा रही थी और जिसकी तलाश में मजनूं ने रेगिस्तान में भटकते हुए जान दी. 16. भड़कता हुआ तेज़ शोला; 17. खलिहान; 18. क़त्ल-गाह; 19. गलियों और बाज़ारों में; 20. भालों-हथियारों; 21. विधि-विधान, नियम-क़ानून; 22. प्रारंभ; 23. अंत.

ऐ शरीफ़ इंसानो!

(1)
ख़ून अपना हो या पराया हो
नस्ले-आदम[1] का ख़ून है आख़िर

जंग मशरिक़[2] में हो कि मग़रिब[3] में
अम्ने-आलम[4] का ख़ून है आख़िर

बम घरों पर गिरें कि सरहद पर
रूहे-तामीर[5] ज़ख़्म खाती है
खेत अपने जलें कि औरों के
ज़ीस्त[6] फ़ाक़ों[7] से तिलमिलाती है

टैंक आगे बढ़ें कि पीछे हटें
कोख धरती की बांझ होती है
फ़तह[8] का जश्न हो कि हार का सोग
ज़िंदगी मय्यतों पे रोती है

जंग तो ख़ुद ही एक मसला है
जंग क्या मसअलों का हल देगी
आग और ख़ून आज बख़्शेगी
भूक और एहतियाज[9] कल देगी

इसलिए ऐ शरीफ़ इंसानो !
जंग टलती रहे तो बेहतर है
आप और हम सभी के आंगन में
शम्अ जलती रहे तो बेहतर है

(2)
बरतरी[10] के सुबूत की ख़ातिर
ख़ूं बहाना ही क्या ज़रूरी है?
घर की तारीकियां[11] मिटाने को
घर जलाना ही क्या ज़रूरी है?

जंग के और भी तो मैदां हैं
सिर्फ़ मैदाने-कुश्तो-ख़ूं[12] ही नहीं
हासिले-ज़िंदगी[13] ख़िरद[14] भी है
हासिले-ज़िंदगी जुनूं[15] ही नहीं

आओ इस तीरा-बख़्त[16] दुनिया में
फ़िक्र की रौशनी को आम करें
अम्न को जिनसे तक़्वियत[17] पहुंचे
ऐसी जंगों का एहतिमाम[18] करें

जंग वहशत से, बरबरीयत से
अम्न, तहज़ीबो-इर्तिक़ा[19] के लिए
जंग मर्ग-आफ़रीं[20] सियासत से
अम्न इंसान की बक़ा[21] के लिए

जंग इफ़्लास[22] और ग़ुलामी से
अम्न बेहतर निज़ाम[23] की ख़ातिर
जंग भटकी हुई क़यादत[24] से
अम्न बेबस अवाम की ख़ातिर

जंग सरमाये[25] के तसल्लुत[26] से
अम्न जम्हूर[27] की ख़ुशी के लिए
जंग जंगों के फ़लसफ़े के ख़िलाफ़
अम्न पुर-अम्न ज़िंदगी के लिए

1. मानव जाति; 2. पूर्व; 3. पश्चिम; 4. वैश्विक शांति; 5. सृजन, रचनात्मकता; 6. ज़िंदगी; 7. भुखमरी; 8. जीत; 9. अभाव, कंगाली; 10. वर्चस्व; 11. अंधेरे; 12. रक्तपात का मैदान; 13. जीवन का लक्ष्य, परिणाम; 14. होश, बुद्धि; 15. दीवानगी, उन्माद; 16. दुर्भाग्यपूर्ण, अंधकारमय; 17. शक्ति; 18. व्यवस्था; 19. सभ्यता और विकास; 20. मौत का आवाहन करने वाली; 21. अस्तित्व; 22. दरिद्रता; 23. व्यवस्था; 24. नेतृत्व; 25. पूंजी; 26. शासन, वर्चस्व; 27. जन-साधारण

26 जनवरी

आओ कि आज ग़ौर करें इस सवाल पर
देखे थे हम ने जो वो हसीं ख़्वाब क्या हुए

दौलत बढ़ी तो मुल्क में इफ़्लास[1] क्यों बढ़ा
ख़ुशहाली-ए-अवाम के अस्बाब[2] क्या हुए

जो अपने साथ-साथ चले कूए-दार[3] तक
वो दोस्त, वो रफ़ीक़[4], वो अहबाब[5] क्या हुए

क्या मोल लग रहा है शहीदों के ख़ून का
मरते थे जिन पे हम वो सज़ायाब[6] क्या हुए

बेकस-बिरहनगी [7] को कफ़न तक नहीं नसीब
वो वादाहाए-अतलसो-कमख़्वाब [8] क्या हुए

जम्हूरियत-नवाज़, बशर-दोस्त, अम्न-ख़ाह[9]
ख़ुद को जो ख़ुद दिए थे वो अलक़ाब[10] क्या हुए

मज़हब का रोग आज भी क्यों ला-इलाज है
वो नुस्ख़ा-हाए-नादिरो-नायाब[11] क्या हुए

हर कूचा शोला-ज़ार[12] है, हर शहर क़त्ल-गाह
यकजहती-ए-हयात[13] के आदाब[14] क्या हुए
सहरा-ए-तीरगी[15] में भटकती है ज़िंदगी
उभरे थे जो उफ़ुक़[16] पे वो महताब[17] क्या हुए

मुजरिम हूं मैं अगर तो गुनहगार तुम भी हो
ऐ रहबराने-क़ौम![18] ख़ताकार[19] तुम भी हो

1. ग़रीबी; 2. सामान, कारण, प्रक्रिया; 3. फांसी की राह; 4. दोस्त; 5. प्यारे साथी; 6. सज़ा पाने वाले; 7. विवश नग्नता, अर्थात अत्यंत दरिद्रता; 8. अतलस और कमख़्वाब जैसे बहुमूल्य परिधान देने के वायदे; 9. जनतंत्रवादी, मानवतावादी और शांति-प्रिय; 10. उपाधियां; 11. अनुपम और दुर्लभ नुस्ख़े/उपचार; 12. शोलों की लपेट में; 13. जीवन में एकता और एकजुटता; 14. सलीक़े, उसूल; 15. अंधकार रूपी रेगिस्तान; 16. क्षितिज; 17. चांद; 18. देश के नेतागण; 19. अपराधी.

जश्ने-ग़ालिब

इक्कीस बरस गुज़रे आज़ादी-ए-कामिल[1] को
तब जा के कहीं हम को 'ग़ालिब' का ख़याल आया
तुर्बत[2] है कहां उसकी, मस्कन[3] था कहां उसका
अब अपने सुख़न-परवर[4] ज़हनों में सवाल आया

सौ साल से जो तुर्बत चादर को तरसती थी
अब उस पे अक़ीदत के फूलों की नुमाइश है
उर्दू के तअल्लुक़ से कुछ भेद नहीं खुलता
ये जश्न, ये हंगामा, ख़िदमत है कि साज़िश है

जिन शहरों में गूंजी थी ग़ालिब की नवा[5] बरसों
उन शहरों में अब उर्दू बेनामो-निशां ठहरी
आज़ादी-ए-कामिल का ऐलान हुआ जिस दिन
मातूब[6] ज़बां ठहरी, ग़द्दार ज़बां ठहरी

जिस अहदे-सियासत ने यह ज़िंदा ज़बां कुचली
उस अहदे-सियासत को मरहूम का ग़म क्यों है?

‘ग़ालिब’ जिसे कहते हैं, उर्दू ही का शायर था
उर्दू पे सितम ढाकर, ग़ालिब पे करम क्यों है?

ये जश्न, ये हंगामे दिलचस्प खिलौने हैं
कुछ लोगों की कोशिश है, कुछ लोग बहल जायें
जो वादा-ए-फ़र्दा[7] पर अब टल नहीं सकते हैं
मुमकिन है कि कुछ अर्सा इस जश्न पे टल जायें

ये जश्न मुबारक हो, पर ये भी सदाक़त[8] है
हम लोग हक़ीक़त के एहसास से आरी[9] हैं
गांधी हो कि ग़ालिब हो, इंसाफ़ की नज़रों में
हम दोनों के क़ातिल हैं, दोनों के पुजारी हैं

1. पूर्ण स्वतंत्रता; 2. क़ब्र; 3. निवास-स्थान; 4. शायरी का चाव रखने वाले; 5. आवाज़; 6. कोपित; 7. कल का वायदा; 8. सच्चाई; 9. रिक्त, ख़ाली.

गांधी हो या ग़ालिब हो

(गांधी शताब्दी और ग़ालिब सदी के समापन [1969] पर लिखी गयी)

गांधी हो या ग़ालिब हो
ख़त्म हुआ दोनों का जश्न
आओ, इन्हें अब कर दें दफ़्न
ख़त्म करो तहज़ीब की बात / बंद करो कल्चर का शोर
सत्य, अहिंसा सब बकवास / हम भी क़ातिल तुम भी चोर
ख़त्म हुआ दोनों का जश्न
आओ इन्हें अब कर दें दफ़्न
वो बस्ती, वो गांव ही क्या / जिसमें हरिजन हो आज़ाद
वो क़स्बा, वो शहर ही क्या /जो न बने अहमदाबाद[1]
ख़त्म हुआ दोनों का जश्न
आओ इन्हें अब कर दें दफ़्न
गांधी हो या ग़ालिब हो / दोनों का क्या काम यहां
अब के बरस भी क़त्ल हुई / एक की शिक्षा, इक की ज़बां
ख़त्म हुआ दोनों का जश्न
आओ इन्हें अब कर दें दफ़्न

1. उस साल के भयानक सांप्रदायिक दंगों की तरफ़ इशारा है.

मगर ज़ुल्म के ख़िलाफ़

हम अम्न चाहते हैं, मगर ज़ुल्म के ख़िलाफ़
गर जंग लाज़मी है, तो फिर जंग ही सही

ज़ालिम को जो न रोके वो शामिल है ज़ुल्म में
क़ातिल को जो न टोके वो क़ातिल के साथ है
हम सर-ब-कफ़[1] उठे हैं कि हक़[2] फ़तहयाब[3] हो
कह दो उसे जो लश्करे-बातिल[4] के साथ है
इस ढंग पर है ज़ोर तो ये ढंग ही सही
ज़ालिम की कोई ज़ात, न मज़हब, न कोई क़ौम
ज़ालिम के लब पे ज़िक्र भी उनका गुनाह है
फलती नहीं है शाख़े-सितम इस ज़मीन पर
तारीख़ जानती है, ज़माना गवाह है
कुछ कोर-बातिनों[5] की नज़र तंग ही सही
ये ज़र[6] की जंग है, न ज़मीनों की जंग है
ये जंग है बक़ा[7] के उसूलों के वास्ते
जो ख़ून हम ने नज़्र[8] दिया है ज़मीन को
वो ख़ून है गुलाब के फूलों के वास्ते
फूटेगी सुबह-अम्न, लहू-रंग ही सही

1. सर हथेली पर लिए; 2. सच्चाई, धर्म; 3. विजयी; 4. झूठ/विधर्म की सेना; 5. मन के अंधे; 6. सोना, पूंजी; 7. अस्तित्व 8. भेंट.

विरसा[1]

ये वतन तेरी मिरी नस्ल की जागीर नहीं
सैंकड़ों नस्लों की मेहनत ने संवारा है इसे
कितने ज़हनों का लहू, कितनी निगाहों का अरक़
कितने चेहरों की हया[2], कितनी जबीनों की शफ़क़[3]
ख़ाक की नज़्र[4] हुई, तब ये नज़ारे बिखरे

पत्थरों से ये तराशे हुए असनामे-जवां[5]
ये सदाओं के ख़मो-पेच[6], ये रंगों की ज़बां
चिमनियों से ये निकलता हुआ पुरपेच धुआं
तेरी तख़्लीक़[7] नहीं है, मिरी तख़्लीक़ नहीं
हम अगर ज़िद भी करें इस पे, तो तस्दीक़[8] नहीं

इल्म सूली पे चढ़ा, तब कहीं तख़्मीना[9] बना
ज़हर सदियों ने पिया, तब कहीं नौशीना[10] बना
सैंकड़ों पांव कटे तब कहीं इक ज़ीना बना
तेरे क़दमों के तले या मिरे क़दमों के तले
नौए-इंसां[11] के शबो-रोज़ की तक़दीर नहीं

ये वतन तेरी मिरी नस्ल की जागीर नहीं
सैकड़ों नस्लों की मेहनत ने संवारा है इसे
तेरा ग़म कुछ भी सही, मेरा अलम[12] कुछ भी सही
अहले-सरवत[13] की सियासत का सितम कुछ भी सही
कल की नस्लें भी कोई चीज़ हैं, हम कुछ भी सही

उनका विरसा हो खंडर, ये सितम ईजाद न कर
तेरी तख़्लीक़ नहीं, तू इसे बरबाद न कर
जिससे दहक़ान[14] को रोज़ी नहीं मिलने पाती
मैं न दूंगा तुझे वो खेत जलाने का सबक़[15]
फ़स्ल बाक़ी है तो तक़्सीम[16] बदल सकती है
फ़स्ल की ख़ाक से क्या मांगेगा जम्हूर[17] का हक़

पुल सलामत[18] है तो तू पार उतर सकता है
चाहे तब्लीग़े-बग़ावत[19] के लिए ही उतरे
वर्ना ग़ालिब की ज़बां में, मिरे हमदम मिरे दोस्त!
'दामे-हर मौज में है हल्क़ा-ए-सद-कामे-निहंग[20]'
सोच ले फिर कोई तामीर[21] गिराने जाना
तेरी तामीर से है जंग, कि तख़रीब[22] से जंग

अहले-मंसब[23] हैं ग़लत-कार तो उनके मंसब
तेरी ताईद[24] से ढाले गये, तू मुजरिम है
मेरी ताईद से ढाले गये, मैं मुजरिम हूं
पटरियां रेल की, सड़कों की बसें, फ़ोन के तार
तेरी और मेरी ख़ताओं की सज़ा क्यों भुगतें?
उन पे क्यों ज़ुल्म हो जिनकी कोई तक़्सीर[25] नहीं

ये वतन तेरी मिरी नस्ल की जागीर नहीं
सैकड़ों नस्लों की मेहनत ने संवारा है इसे
तेरा शिकवा भी बजा, मेरी शिकायत भी दुरुस्त
रंगे-माहौल बदलने की ज़रूरत भी दुरुस्त

कौन कहता है कि हालात पे तन्क़ीद[26] न कर
हुक्मरानों के ग़लत दावों की तरदीद[27] न कर

तुझ को इज़हारे-ख़यालात का हक़[28] हासिल है
और ये हक़ कोई तारीख़ की ख़ैरात[29] नहीं
तेरे और मेरे रफ़ीक़ों[30] ने लहू दे दे कर
ज़ुल्म की ख़ाक में इस हक़ का शजर[31] बोया था
सालहा-साल[32] में जो बर्गो-समर[33] लाया है

अपना हक़ मांग, मगर उनके तआवुन[34] से न मांग
जो तिरे हक़ का तसव्वुर ही फ़ना कर डालें
हाथ उठा अपने, मगर उनके जिलौ[35] में न उठा
जो तिरे हाथ तिरे तन से जुदा कर डालें
ख़ाबे-आज़ादी-ए-इंसां की ये ताबीर नहीं

ये वतन तेरी मिरी नस्ल की जागीर नहीं
सैकड़ों नस्लों की मेहनत ने संवारा है इसे

1. धरोहर; 2. शर्म, लाज; 3. माथे की लाली; 4. भेंट; 5. मूर्ति के सामान तराशे हुए महबूब; 6. आवाज़ों के उतार-चढ़ाव; 7. रचना; 8. प्रमाण; 9. अंदाज़ा, हिसाब-किताब; 10. मीठा/स्वादिष्ट पय, अमृत; 11. मानव-जाति; 12. दुख; 13. पूंजीपति; 14. किसान; 15. अल्लामा इक़बाल की इन पंक्तियों की ओर इशारा है : 'जिस खेत से दहकां को मयस्सर न हो रोज़ी / उस खेत के हर ख़ोशा-ए-गंदुम को जला दो' 16. बटवारा, विभाजन; 17. जनता, अवाम; 18. सुरक्षित; 19. विद्रोह का प्रचार; 20. पानी की हर लहर में सैकड़ों मगरमच्छ मुंह खोले हुए हैं, अर्थात भारी कठिनाइयों का सामना है. 21. निर्माण; 22. विनाश; 23. उच्च पदों पर आसीन लोग; 24. संतुति, अनुमोदन; 25. क़ुसूर, अपराध; 26. आलोचना; 27. खंडन; 28.अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार; 29. इतिहास द्वारा दिया गया दान; 30. दोस्तों; 31. पेड़; 32. अनेक वर्ष; 33. पत्ते और फल; 34. सहयोग, समर्थन; 35. साथ.

शिकस्ते-ज़िंदां[1]

(चीनी शायर यांग सू को समर्पित, जो चिआंग काई शेक के शासनकाल में जेल में रहा और जिसने अपनी कविता 'जेल में बीस वर्ष' में लिखा : यह मुमकिन है कि मैं अगले बीस साल तक सूरज को न देख पाऊं, लेकिन तुम्हारा यह ठंडा पड़ता राज्य, जो बिजली की रफ़्तार से अपने अंत की ओर बढ़ रहा है, क्या अगले बीस वर्ष तक बाक़ी रह पायेगा?)

ख़बर नहीं कि बला-ख़ाना-ए-सलासिल[2] में
तिरी हयाते-सितम-आश्ना[3] पे क्या गुज़री
ख़बर नहीं कि निगारे-सहर[4] की हसरत में
तमाम रात चराग़े-वफ़ा पे क्या गुज़री
मगर वो देख! फ़ज़ा में ग़ुबार सा उट्ठा

वो तेरे सुर्ख़ जवानों के राहवार[5] आये
नज़र उठा कि वो तेरे वतन के मेहनत-कश
गले से कोहना[6] ग़ुलामी का तौक़ उतार आये
उफ़ुक़[7] पे सुबह-बहारां की आमद-आमद[8] है
फ़ज़ा में सुर्ख़ फरेरों के फूल खिलते हैं
ज़मीन ख़ंदा-ब-लब[9] है शफ़ीक़[10] मां की तरह
कि उसकी गोद में बिछड़े रफ़ीक़[11] मिलते हैं
शिकस्ते-मजलिसो-ज़िंदां[12] का वक़्त आ पहुंचा
वो तेरे ख़्वाब हक़ीक़त में ढाल आये हैं
नज़र उठा कि तिरे देस की फ़ज़ाओं पर
नयी बहार, नयी जन्नतों के साये में
दरीदा-तन[13] है वो क़हबा-ए-सीमो-ज़र[14] जिसको
बहुत संभाल के लाये थे शातिराने-कुहन[15]
रबाब[16] छेड़, ग़ज़ल-ख़्वां[17] हो, रक़्स-फ़रमा हो[18]
कि जश्ने-नुसरते-मेहनत[19] है, जश्ने-नुसरते-फ़न[20]
मैं तुझ से दूर सही लेकिन ऐ रफ़ीक़ मिरे!
तिरी वफ़ा को मिरी जद्दे-मुस्तक़िल[21] का सलाम
तिरे वतन को, तिरी अर्ज़े-बा-हमीयत[22] को
धड़कते-खौलते हिंदोस्तां के दिल का सलाम

1. कारावास की पराजय/क़ैद का टूटना; 2. ज़ंजीरों का यातना घर; 3. अत्याचारों से परिचित जीवन; 4. सुबह रूपी सुंदरी; 5. घोड़े; 6. पुरानी; 7. क्षितिज; 8. नया-नया आगमन; 9. होठों पर मुस्कान लिये; 10. ममतामयी; 11. दोस्त; 12. महफ़िल भंग होने और क़ैद होने; 13. क्षत-विक्षिप्त शरीर; 14. चांदी-सोने रूपी वैश्या; 15. पुराने जुआरी; 16. एक वाद्य यंत्र; 17. ग़ज़ल पढ़; 18. नृत्य कर; 19. परिश्रम की जीत का जश्न; 20. कला की जीत का जश्न; 21. निरंतर संघर्ष; 22. स्वाभिमानी धरती

हर चीज़ ज़माने की जहां पर थी

हर चीज़ ज़माने की जहां पर थी वहीं है
इक तू ही नहीं है
नज़रें भी वही और नज़ारे भी वही हैं
ख़ामोश फ़ज़ाओं के इशारे भी वही हैं
कहने को तो सब कुछ है, मगर कुछ भी नहीं है

हर अश्क में खोयी हुई ख़ुशियों की झलक है
हर सांस में बीती हुई घड़ियों की कसक है
तू चाहे कहीं भी हो, तेरा दर्द यहीं है

हसरत नहीं, अरमान नहीं, आस नहीं है
यादों के सिवा कुछ भी मेरे पास नहीं है
यादें भी रहें या न रहें, किसको यक़ीं है

चकले

ये कूचे, ये नीलाम घर दिलकशी के
ये लुटते हुए कारवां ज़िंदगी के
कहां हैं कहां हैं, मुहाफ़िज़ ख़ुदी[1] के
सना-ख़्वाने-तक़्दीसे-मशरिक़[2] कहां हैं?
ये पुरपेच गलियां, ये बे-ख़्वाब बाज़ार
ये गुमनाम राही, ये सिक्कों की झंकार
ये इस्मत[3] के सौदे, ये सौदों पे तकरार
सना-ख़्वाने-तक़्दीसे-मशरिक़ कहां हैं?
तअफ़्फ़ुन[4] से पुर, नीम-रौशन[5] ये गलियां
ये मसली हुई अधखिली ज़र्द कलियां
ये बिकती हुई खोखली रंग-रलियां
सना-ख़्वाने-तक़्दीसे-मशरिक़ कहां हैं?
वो उजले दरीचों में पायल की छनछन
तनफ़्फ़ुस[6] की उलझन पे तबले की धनधन
ये बे-रूह कमरों में खांसी की ठनठन
सना-ख़्वाने-तक़्दीसे-मशरिक़ कहां हैं?
ये गूंजे हुए क़हक़हे, रास्तों पर
ये चारों तरफ़ भीड़ सी खिड़कियों पर
ये आवाज़े खिंचते हुए आंचलों पर
सना-ख़्वाने-तक़्दीसे-मशरिक़ कहां हैं?
ये फूलों के गजरे, ये पीकों के छींटे
ये बेबाक नज़रें, ये गुस्ताख़ फ़िक़रे
ये ढलके बदन और ये मदक़ूक़[7] चेहरे
सना-ख़्वाने-तक़्दीसे-मशरिक़ कहां हैं?
ये भूकी निगाहें हसीनों की जानिब[8]
ये बढ़ते हुए हाथ सीनों की जानिब
लपकते हुए पांव ज़ीनों की जानिब
सना-ख़्वाने-तक़्दीसे-मशरिक़ कहां हैं?
यहां पीर[9] भी आ चुके हैं, जवां भी
तनौमंद[10] बेटे भी, अब्बा मियां भी
ये बीवी भी है, और बहन भी है, मां भी
सना-ख़्वाने-तक़्दीसे-मशरिक़ कहां हैं?
मदद चाहती है ये हव्वा[11] की बेटी
यशोदा की हम-जिंस[12], राधा की बेटी

पयम्बर की उम्मत[13], ज़ुलैख़ा[14] की बेटी
सना-ख़्वाने-तक़्दीसे-मशरिक़ कहां हैं?
बुलाओ ख़ुदायाने-दीं को बुलाओ
ये कूचे, ये गलियां, ये मंज़र दिखाओ
सना-ख़्वाने-तक़्दीसे-मशरिक़ को लाओ
सना-ख़्वाने-तक़्दीसे-मशरिक़ कहां हैं?

1. आत्म-गौरव की रक्षा करने वाले; 2. पूर्व की पवित्रता का बखान करने वाले; 3. इज़्ज़त; 4. दुर्गंध; 5. आधा उजाला; 6. सांसों का आना जाना; 7. दिक़ की बीमारी के कारण पीले; 8. ओर, तरफ़; 9. बूढ़े; 10. हट्टा-कट्टा, मज़बूत बदन; 11. पहले इंसान आदम की पत्नी; 12. समलिंग; 13. पैगंबर की क़ौम से, अर्थात मुस्लिम; 14. पैगंबर यूसुफ़ की पत्नी.

उम्मीद

वो सुबह कभी तो आयेगी
इन काली सदियों के सर से जब रात का आंचल ढलकेगा
जब दुख के बादल पिघलेंगे, जब सुख का सागर छलकेगा
जब अंबर झूम के नाचेगा, जब धरती नग़मे गायेगी
वो सुबह कभी तो आयेगी

जिस सुबह की ख़ातिर जुग-जुग से, हम सब मर-मर जीते हैं
जिस सुबह के अमृत की धुन में, हम ज़हर के प्याले पीते हैं
इन भूकी प्यासी रूहों पर एक दिन तो करम फ़रमायेगी
वो सुबह कभी तो आयेगी

माना कि अभी तेरे मेरे अरमानों की क़ीमत कुछ भी नहीं
मिट्टी का भी है कुछ मोल मगर इंसानों की क़ीमत कुछ भी नहीं
इंसानों की इज़्ज़त जब झूटे सिक्कों में न तोली जायेगी
वो सुबह कभी तो आयेगी

दौलत के लिए जब औरत की इस्मत को न बेचा जायेगा
चाहत को न कुचला जायेगा, ग़ैरत को न बेचा जायेगा
अपने काले करतूतों पर जब ये दुनिया शरमायेगी
वो सुबह कभी तो आयेगी

बीतेंगे कभी तो दिन आख़िर, ये भूक के और बेकारी के
टूटेंगे कभी तो बुत आख़िर, दौलत की इजारा-दारी के
जब एक अनोखी दुनिया की बुनियाद उठायी जायेगी
वो सुबह कभी तो आयेगी

मजबूर बुढ़ापा जब सूनी राहों की धूल न फांकेगा
मासूम लड़कपन जब गंदी गलियों में भीक न मांगेगा
हक़ मांगने वालों को जिस दिन सूली न दिखायी जायेगी
वो सुबह कभी तो आयेगी

फ़ाक़ों की चिताओं पर जिस दिन इंसां न जलाये जायेंगे
सीने के दहकते दोज़ख़ में अरमां न जलाये जायेंगे
ये नरक से भी गंदी दुनिया जब स्वर्ग बनायी जायेगी
वो सुबह कभी तो आयेगी

मेरे गीत

मेरे सरकश तराने सुन के दुनिया ये समझती है
कि शायद मेरे दिल को इश्क़ के नग़्मों से नफ़रत है

मुझे हंगामा-ए-जंग-ओ-जदल [1] में कैफ़[2] मिलता है
मेरी फ़ितरत को ख़ूरेज़ी के अफ़सानों से रग़बत[3] है
मेरी दुनिया में कुछ वक़अत[4] नहीं है रक़्सो-नग़्मे की
मेरा महबूब नग़्मा शोर-ए-आहंग-ए-बग़ावत [5] है

मगर ऐ काश! देखें वो मेरी पुरसोज़[6] रातों को
मैं जब तारों पे नज़रें गाड़कर आसूं बहाता हूं
तसव्वुर बनके भूली वारदातें याद आती हैं
तो सोज़-ओ-दर्द की शिद्दत से पहरों तिलमिलाता हूं
कोई ख़्वाब में ख़ाबीदा[7] उमंगों को जगाती है
तो अपनी ज़िंदगी को मौत के पहलू में पाता हूं

मैं शायर हूं मुझे फ़ितरत के नज़्ज़ारों से उल्फ़त है
मेरा दिल दुश्मन-ए-नग़्मा-सराई हो नहीं सकता
मुझे इंसानियत का दर्द भी बख़्शा है क़ुदरत ने
मेरा मक़सद फ़क़त शोला-नवाई[8] हो नहीं सकता
जवां हूं मैं, जवानी लग़्ज़िशों[9] का एक तूफ़ां है
मेरी बातों में रंगे-पारसाई [10] हो नहीं सकता

मेरे सरकश तरानों की हक़ीक़त है तो इतनी है
कि जब मैं देखता हूं भूक के मारे किसानों को
ग़रीबों-मुफ़्लिसों को, बेकसों को, बेसहारों को
सिसकती नाज़नीनों को, तड़पते नौजवानों को

हुकूमत के तशद्दुद को, अमारत के तकब्बुर[11] को
किसी के चीथड़ों को और शहंशाही ख़ज़ानों को
तो दिल ताबे-निशाते-बज़्मे-इशरत[12] ला नहीं सकता
मैं चाहूं भी तो ख़्वाब -आवर[13] तराने गा नहीं सकता

1. युद्ध और रक्तपात के हंगामे; 2. आनंद; 3. रुचि; 4. महत्व, मूल्य; 5. विद्रोह की धुन का शोर; 6. दर्द और दिल की जलन से भरे हुए; 7. सोयी हुई; 8. आग बरसाते गीत गाना; 9. लड़खड़ाहट; 10. पवित्रता भरे जीवन का रंग; 11. दौलतमंदी और सत्ता का दंभ; 12. भोग-विलास की महफ़िलों का आनंद उठाने का सामर्थ्य ; 13. नींद लाने वाले.

रद्दे-अमल

चंद कलियां निशात[1] की चुनकर
मुद्दतों महवे-यास[2] रहता हूं
तेरा मिलना ख़ुशी की बात सही
तुझ से मिलकर उदास रहता हूं

1. ख़ुशी, आनंद; 2. निराशा में खोया हुआ

आख़िरी बुराई

शराब बंद करो, अब यही बुराई है
कि जिससे मुल्क की इज़्ज़त पे हर्फ़ आता है

फ़साद बंद हुआ, लूट मार बंद हुई
हर एक रस्म, जो थी नागवार, बंद हुई
मकान बन गये बेघर भिकारियों के लिए
लिबास सिल गये नंगी कुंवारियों के लिए
वतन में ख़ैर से बेरोज़गार कोई नहीं
वो मुंसफ़ी[1] है कि शिकवा-गुज़ार[2] कोई नहीं

कोई मरीज़ तरसता नहीं दवा के लिए
कोई ज़ईफ़[3] भटकता नहीं असा[4] के लिए
सितम का, ग़म का, जहालत का दौर ख़त्म हुआ
तमीज़े-बंदा-ओ-आक़ा[5] मिटी, सब एक हुए
वज़ीर ख़ादिमे-मिल्लत[6], रईस नेक हुए

शराब बंद करो, अब यही बुराई है
कि जिससे मुल्क की इज़्ज़त पे हर्फ़ आता है

1. न्याय, इंसाफ़; 2. शिकायत करने वाला; 3. बूढ़ा; 4. लाठी; 5. स्वामी और सेवक का फ़र्क़; 6. राष्ट्र के सेवक.

कृष्ण फिर आयेंगे

(कृष्ण चंदर जश्न के मौक़े पर)

कृष्ण ने वा'दा किया था कि वो फिर आयेंगे
जब भी धरती पे गुनाहों का अंधेरा छाया
जब भी ज़ुल्म और शक़ावत[1] का अलम[2] लहराया
कृष्ण ने वा'दा किया था कि वो फिर आयेंगे

और जब ऐसे ही हालात ने पंजे गाड़े
ज़ुल्म ने सूलियां, वहशत ने शिकंजे गाड़े
और भारत पे कड़ा वक़्त पड़ा
कृष्ण फिर आये ग़ुलामों का लहू गरमाने
कृष्ण फिर आये, मगर अब की बार
बांसुरी की जगह हाथों में क़लम था उनके

यह क़लम रस्मो-रिवायात के आगे न झुका
ज़ंग-आलूद ख़यालात के आगे न झुका
ज़ुल्म के, जब्र के, आफ़ात के आगे न झुका
सुबह का नूर था, यह रात के आगे न झुका
और जब ज़ुल्म के बंधन टूटे
क़ैदे-अफ़रंग से क़ैदी छूटे
यह क़लम और भी बेबाक हुआ
अब उसे अपना नहीं, सारे जहां का ग़म था
सारे मज़लूमों का यह हमदमो-दमसाज़[3] बना

इसकी आवाज़ को कांगो की फ़ज़ा जानती है
अल-जज़ाइर के शहीदों की क़बा[4] जानती है
कोरिया के दिले-सद-चाक[5] को है इसकी ख़बर
हेरोशीमा की सम-आलूद[6] हवा जानती है
वियतनाम आज भी सुनता है सदाएं इसकी
मिस्र की अर्ज़े-हसीं[7] इसकी वफ़ा जानती है
अपने हक़ के लिए लड़ती हुई सारी मख़्लूक़[8]
इसकी आवाज़ को पैग़ामे-बक़ा[9] जानती है

कृष्ण ने वा'दा किया था कि वो फिर आयेंगे
कृष्ण फिर आये, मगर अब की बार
हम उन्हें देर में पहचान सके
सारे संसार ने जब जान लिया तब कहीं जान सके

बहुत देर में यह मान सके
कृष्ण एक ज़ात[10] नहीं, एक अमल[11] होता है
कृष्ण एक सिलसिला-ए-जद्दे-बक़ा[12] है, यानी
आज होता है कोई उसका, न कल होता है
कृष्ण हर दौर में आता है नया रूप लिए
कृष्ण हर दौर के अरमानों का फल होता है

1. निर्दयता; 2. झंडा; 3. साथी और हमदर्द; 4. अचकन नुमा वस्त्र; 5. टुकड़े-टुकड़े दिल; 6. ज़हरीली; 7. सुंदर धरती; 8. जनता, जीव-जंतु; 9. ज़िंदा रहने/अस्तित्व का पैग़ाम; 10. व्यक्ति; 11. कर्म; 12. अस्तित्व के लिए निरंतर संघर्ष.

मसीह पाक रूह थे

मसीह बेगुनाह थे
मगर उन्हें भी क्या मिला?
यही कि अपने वास्ते, सलीब[1] ख़ुद उठा के लाओ
और अपने क़ातिलों की ख़ाहिशे-सितम[2] के काम आओ
जो हम गुनाह छोड़ दें, हमें मिलेगा क्या? बताओ
कि हम मसीह भी नहीं

बहिश्त[3] में न आदम और हव्वा पाक रह सके
फ़रिश्ते उनको इस ज़मीं पे डाल कर चले गये
हमारी ज़िंदगी है क्या? उन्हीं के जुर्म की सज़ा
गुनाह इसकी इब्तिदा, गुनाह इसकी इन्तहा
वहां गुनाह शौक़ था, यहां गुनाह बेबसी
कि ज़िंदगी के चार सांस काटने के वास्ते
यहां हैं दो ही रास्ते
है एक रास्ता गुनाह, दूसरा है ख़ुदकुशी
जो ख़ुद भी इक गुनाह है.

हमारे इर्द-गिर्द जितने लोग हैं
वो सब गुनाहगार हैं / वो सब सियाहकार हैं
उन्हीं की नस्ल से हैं हम / ख़ुदा की नस्ल से नहीं
गुनाह कर लिया तो क्या? / कि हम मसीह भी नहीं
मसीह पाक रूह थे / मसीह बेगुनाह थे

1. सूली, क्रॉस; 2. ज़ुल्म करने की इच्छा; 3. जन्नत, स्वर्ग.

ग़ज़लें

1

मुहब्बत तर्क की[1] मैंने, गिरेबां सी लिया मैंने
ज़माने अब तो ख़ुश हो, ज़हर ये भी पी लिया मैंने

अभी ज़िंदा हूं लेकिन सोचता रहता हूं ख़ल्वत[2] में
कि अब तक किस तमन्ना के सहारे जी लिया मैंने

उन्हें अपना नहीं सकता, मगर इतना भी क्या कम है
कि कुछ मुद्दत हसीं[3] ख़्वाब में खो कर जी लिया मैंने

बस अब तो दामने-दिल छोड़ दो बेकार उम्मीदो!
बहुत दुख सह लिये मैंने, बहुत दिन जी लिया मैंने

1. छोड़ दी; 2. तन्हाई; 3. सुंदर.

2

सज़ा का हाल सुनायें, जज़ा[1] की बात करें
ख़ुदा मिला हो जिन्हें वो ख़ुदा की बात करें

उन्हें पता भी चले और वो ख़फ़ा भी न हों
इस एहतियात से क्या मुद्दआ[2] की बात करें

हमारे अहद[3] की तहज़ीब में क़बा[4] ही नहीं
अगर क़बा हो तो बंदे-क़बा[5] की बात करें

हर एक दौर का मज़हब नया ख़ुदा लाया
करें तो हम भी, मगर किस ख़ुदा की बात करें

वफ़ा-शिआर[6] कई हैं, कोई हसीं भी तो हो
चलो फिर आज उसी बेवफ़ा की बात करें

1. सज़ा का विलोम, अच्छा बदला, पुण्य; 2. अभीष्ट, मक़सद; 3. युग, दौर; 4. अचकन जैसा एक लंबा लिबास जो सामने से खुला होता है. 5. क़बा का बंद, अर्थात बेल्ट या फ़ीता जो क़बा में कमर से बांधा जाता है. 6. वफ़ा का रास्ता अपनाने वाले.

3

अक़ायद[1] वहम हैं, मज़हब ख़याले-ख़ाम[2] है साक़ी[3]
अज़ल[4] से ज़ेह्ने-इंसां बस्ता-ए-औहाम[5] है साक़ी

हक़ीक़त-आश्नाई[6] अस्ल में गुम-कर्दा-राही[7] है
उरूसे-आगही[8] परवर्दा-ए-इब्हाम[9] है साक़ी

मुबारक हो ज़ईफ़ी[10] को ख़िरद[11] की फ़लसफ़ा-रानी[12]
जवानी बे-नियाज़े-इबरते-अंजाम[13] है साक़ी

हवस[14] होगी असीरे-हल्क़ा-ए-नेको-बदो-आलम[15]
मुहब्बत मावरा-ए-फ़िक्रे-नंगो-नाम[16] है साक़ी

अभी तक रास्ते के पेचो-ख़म से दिल धड़कता है
मिरा ज़ौक़े-तलब[17] शायद अभी तक ख़ाम[18] है साक़ी

वहां भेजा गया हूं चाक करने पर्दा-ए-शब[19] को
जहां हर सुबह के दामन पे अक्से-शाम[20] है साक़ी

मिरे साग़र में मय[21] है और तिरे हाथों में बरबत[22] है
वतन की सरज़मीं में भूक से कोहराम है साक़ी

ज़माना बरसरे-पैकार[23] है पुरहौल[24] शोलों से
तिरे लब पर अभी तक नग़्मा-ए-ख़य्याम है साक़ी

1. अक़ीदा (आस्था, धर्म) का बहुवचन; 2. झूठा विचार, भ्रम; 3. साक़ी (शराब पिलाने वाले) से संबोधन उर्दू-फ़ारसी शायरी की परंपरा में व्यापक अर्थ रखता है क्योंकि साक़ी ही ख़ुदा और गुरु है जो बोध-ज्ञान रुपी शराब पिलाता है. साक़ी और रिंद एक आडम्बर रहित रिश्ते के प्रतीक भी हैं. 4. चिरकाल से; 5. तरह-तरह के भ्रम में जकड़ा हुआ; 6.सच्चाई से परिचित होना; 7. रास्ते से भटक जाना; 8. ज्ञान-बोध रूपी दुल्हन; 9. भ्रम या मायाजाल द्वारा पाली-पोसी हुई; 10. बुढ़ापा; 11. बुद्धि; 12. ज्ञान-दर्शन में रमना; 13. बुरे अंजाम की आशंका से लापरवाह; 14. अत्यधिक लालच; 15. दुनिया में अच्छे और बुरे कर्म की ज़ंजीरों में जकड़ी हुई; 16. नेकनामी और बदनामी की चिंता से आज़ाद; 17. चाहत की भावना; 18. कच्चा, अपरिपक्व; 19. रात/अंधकार के परदे के चीरने के लिए; 20. शाम का साया, प्रतिबिंब; 21. प्याले में शराब है; 22. संगीत का एक यंत्र; 23. युद्धरत; 24. भयावह.

4

सदियों से इंसान ये सुनता आया है
दुख की धूप के आगे सुख का साया है

हमको इन सस्ती ख़ुशियों का लोभ न दो
हम ने सोच समझ कर ग़म अपनाया है

झूट तो क़ातिल ठहरा, उसका क्या रोना
सच ने भी इन्सां का ख़ून बहाया है

पैदाइश के दिन से मौत की ज़द[1] में हैं
इस मक़तल[2] में कौन हमें ले आया है

अव्वल-अव्वल[3] जिस दिल ने बर्बाद किया
आख़िर -आख़िर वो दिल ही काम आया है

उतने दिन अहसान किया दीवानों पर
जितने दिन लोगों ने साथ निभाया है

. चोट, चपेट; 2. क़त्ल होने की जगह; 3. पहले-पहल, शुरू में.

5

जब कभी उनकी तवज्जो में कमी पायी गयी
अज़ सर-ए-नव-ए-दास्तान-ए-शौक़[1] दोहरायी गयी

बिक गये जब तेरे लब फिर तुझको क्या शिकवा अगर
ज़िंदगानी बादा-ओ-साग़र[2] से बहलायी गयी

ऐ ग़म-ए-दुनिया तुझे क्या इल्म तेरे वास्ते
किन बहानों से तबीअत राह पर लायी गयी

हम करें तर्क-ए-वफ़ा[3] अच्छा चलो यूं ही सही
और अगर तर्क-ए-वफ़ा से भी न रुस्वाई गयी?

कैसे कैसे चश्म-ओ-आरिज़[4] गर्द-ए-ग़म[5] से बुझ गये
कैसे कैसे पैकरों[6] की शान-ए-ज़ेबाई[7] गयी

दिल की धड़कन में तवाज़ुन[8] आ चला है ख़ैर हो
मेरी नज़रें बुझ गयीं, या तेरी रानाई[9] गयी

उनका ग़म, उनका तसव्वुर, उनके शिकवे अब कहां
अब तो ये बातें भी ऐ दिल! हो गयीं आयी गयी

जुरअते-इंसां पे गो[10] तादीब[11] के पहरे रहे
फ़ितरते-इंसां[12] को कब ज़ंजीर पहनायी गयी

अरसा-ए-हस्ती[13] में अब तेशा-ज़नों[14] का दौर है
रस्मे-चंगेज़ी[15] उठी, तौक़ीरे-दाराई[16] गयी

1. नये सिरे से; 2. शराब की सुराही और जाम; 3. वफ़ा छोड़ना, बेवफ़ाई करना; 4. आंखें और गाल; 5. ग़मों की धूल; 6. सुंदर साकार वाले लोग; 7. शोभा, साज-सज्जा की शान; 8. संतुलन; 9. सौंदर्य; 10. यद्यपि; 11. अदब सिखाना, कड़े नियम; 12. इंसान की प्रकृति; 13. जीवनकाल; 14. कुदाल, बसूला चलाने वाले; 15. चंगेज़ ख़ान के तौर तरीक़े, यानी युद्ध-कौशल; 16. दारा के प्रतिष्ठा. दारा ईरान का वह प्रसिद्ध शहंशाह था जो सिकंदर के साथ लड़ता हुआ मारा गया.

6

तंग आ चुके हैं कशमकशे-ज़िंदगी से हम
ठुकरा न दें जहां[1] को कहीं बेदिली से हम

मायूसी-ए-मआले-मुहब्बत[2] न पूछिए
अपनों से पेश आये हैं बेगानगी[3] से हम

लो आज हम ने तोड़ दिया रिश्ता-ए-उमीद
लो अब कभी गिला न करेंगे किसी से हम

उभरेंगे एक बार अभी दिल के वलवले[4]
गो[5] दब गये हैं बारे-ग़मे-ज़िंदगी[6] से हम

गर ज़िंदगी में मिल गये फिर इत्तिफ़ाक़ से
पूछेंगे अपना हाल तिरी बेबसी से हम

अल्लाह रे! फ़रेबे-मशीय्यत[7] कि आज तक
दुनिया के ज़ुल्म सहते रहे ख़ामुशी से हम

1. दुनिया; 2. मुहब्बत के नतीजे में मिलने वाली निराशा; 3. ग़ैरियत; 4. जोश, उत्साह; 5. हालांकि; 6. जीवन के दुखों का बोझ; 7. भाग्य का धोखा.

7

तरब-ज़ारों[1] पे क्या बीती, सनम-ख़ानों पे क्या गुज़री?
दिले-ज़िंदा! तिरे मरहूम[2] अरमानों पे क्या गुज़री?

ज़मीं ने ख़ून उगला, आसमां ने आग बरसायी
जब इंसानों के दिन बदले तो इंसानों पे क्या गुज़री?

हमें ये फ़िक्र उनकी अंजुमन[3] किस हाल में होगी
उन्हें ये ग़म कि उनसे छुट के दीवानों पे क्या गुज़री?

मिरा इल्हाद[4] तो ख़ैर एक लानत था, सो है अब तक
मगर इस आलमे-वहशत[5] में ईमानों पे क्या गुज़री?

ये मंज़र कौन सा मंज़र है, पहचाना नहीं जाता
सियह-ख़ानों[6] से कुछ पूछो, शबिस्तानों[7] पे क्या गुज़री?

चलो वो कुफ़्र[8] के घर से सलामत आ गये लेकिन
ख़ुदा की मम्लिकत[9] में सोख़्ता-जानों[10] पे क्या गुज़री?

1. ख़ुशी की महफ़िलों; 2. मृत; 3. महफ़िल; 4. नास्तिकता; 5. भय और दीवानगी से भरा हुआ संसार; 6. अंधेरे घर; 7. झिलमिलाते हुए शयन कक्ष; 8. ख़ुदा को न मानने वालों का घर (भारत); 9. ख़ुदा का देश (पाकिस्तान). धर्म के नाम पर बटवारे के कारण व्यंगात्मक शब्दावली का प्रयोग; 10. जले दिल वाले, दुखी लोग.

8

बहुत घुटन है, कोई सूरते-बयां[1] निकले
अगर सदा[2] न उठे, कम से कम फ़ुग़ां[3] निकले

फ़क़ीरे-शहर के तन पर लिबास बाक़ी है
अमीरे-शहर के अरमां अभी कहां निकले

हक़ीक़तें हैं सलामत तो ख़्वाब बहुतेरे
मलूल[4] क्यों हों, जो कुछ ख़्वाब रायगां[5] निकले

वो फ़लसफ़े जो हर इक आस्तां[6] के दुश्मन थे
अमल में[7] आये तो ख़ुद वक़्फ़े-आस्तां[8] निकले

उधर भी ख़ाक उड़ी है, उधर भी ज़ख़्म पड़े
जिधर से होके बहारों के कारवां निकले

सितम के दौर में हम अहले-दिल ही काम आये
ज़बां पे नाज़ था जिनको वो बे-ज़बां निकले

9

देखा है ज़िंदगी को कुछ इतना क़रीब से
चेहरे तमाम लगने लगे हैं अजीब से

ऐ रूहे-अस्र[1] जाग, कहां सो रही है तू
आवाज़ दे रहे हैं पयंबर सलीब से[2]

इस रेंगती हयात[3] का कब तक उठायें बार[4]
बीमार अब उलझने लगे हैं तबीब[5] से

हर गाम[6] पर है मजमा-ए-उश्शाक़[7] मुंतज़िर[8]
मक़तल[9] की राह मिलती है कूए-हबीब[10] से

इस तरह ज़िंदगी ने दिया है हमारा साथ
जैसे कोई निबाह रहा हो रक़ीब[11] से

1. समय की आत्मा; 2. पैगंबर सूली पर से पुकार रहे हैं (ईसा मसीह को प्रतीक बनाया है); 3. ज़िंदगी; 4. बोझ; 5. डॉक्टर, वैद्य; 6. क़दम; 7. आशिक़ों की भीड़; 8. प्रतीक्षारत; 9. क़त्लगाह; 10. प्रियसी/प्रीतम की गली; 10. दुश्मन, इश्क़ में प्रतिरोधी.

10

तोड़ लेंगे हर एक शय से रिश्ता, तोड़ देने की नौबत तो आये
हम क़यामत के ख़ुद मुंतज़िर[1] हैं, पर किसी दिन क़यामत तो आये

हम भी सुक़रात हैं अहदे-नौ[2] के, तिश्ना-लब[3] ही न मर जायें यारो
ज़हर हो या मय-आतिशीं[4] हो, कोई जामे-शहादत[5] तो आये

एक तहज़ीब है दोस्ती की, एक मेयार है दुश्मनी का
दोस्तों ने मुरव्वत न सीखी, दुश्मनों को अदावत[6] तो आये

रिंद[7] रस्ते में आंखें बिछायें, जो कहे बिन सुने मान जायें
नासहे-नेक-तीनत[8] किसी शब[9] सूए-कूए-मलामत[10] तो आये

इल्मो-तहज़ीब, तारीख़ो-मंतिक़[11], लोग सोचेंगे इन मसअलों पर
ज़िंदगी के मशक़्क़त-कदे[12] में, कोई अहदे-फ़राग़त[13] तो आये

कांप उठें क़स्रे-शाही[14] के गुंबद, थरथराये ज़मीं माबदों[15] की
कूचा-गर्दों की वहशत[16] तो जागे, ग़मज़दों[17] को बग़ावत तो आये

1. प्रतीक्षारत; 2. नया ज़माना; 3. प्यासे; 4. आग लगा देने वाली तेज़ शराब; 5. शहीद कर देने वाला ज़हरीला पेय; 6. दुश्मनी; 7. शराबी; 8. अच्छी नीयत रखने वाला उपदेशक; 9. रात; 10. उस गली की ओर जहां गालियां पड़ती हैं, बुरा-भला कहा जाता है. 11. इतिहास और तर्कशास्त्र; 12. परिश्रम-घर; 13. फ़ुर्सत और संतोष का दौर; 14. राजमहल; 15. देवालयों, उपासना-घरों; 16. गली गली ख़ाक छानने वालों की दीवानगी; 17. दुखियारों.

गाता जाये बंजारा, स्टार पॉकेट बुक्स सीरीज़ -1 के पृष्ठ 18 का अक्स प्रस्तुत है:

चांद मद्धम है आसमां चुप है/
नींद की गोद में जहां चुप है.

साहिर के गीतों का यह संग्रह दरियागंज, देहली से छपा लेकिन इस पर प्रकाशन का वर्ष दर्ज नहीं है. 124 पन्नों की इस किताब की क़ीमत एक रुपया रखी गयी थी. दीबाचा जांनिसार अख़्तर ने लिखा. साहिर ने इन गीतों को समर्पित किया है—'उन तमाम फ़नकारों के नाम जिन्होंने इन नग़मों के लिए अपनी आवाज़ें, अपनी धुनें और अपने चेहरे दिये."

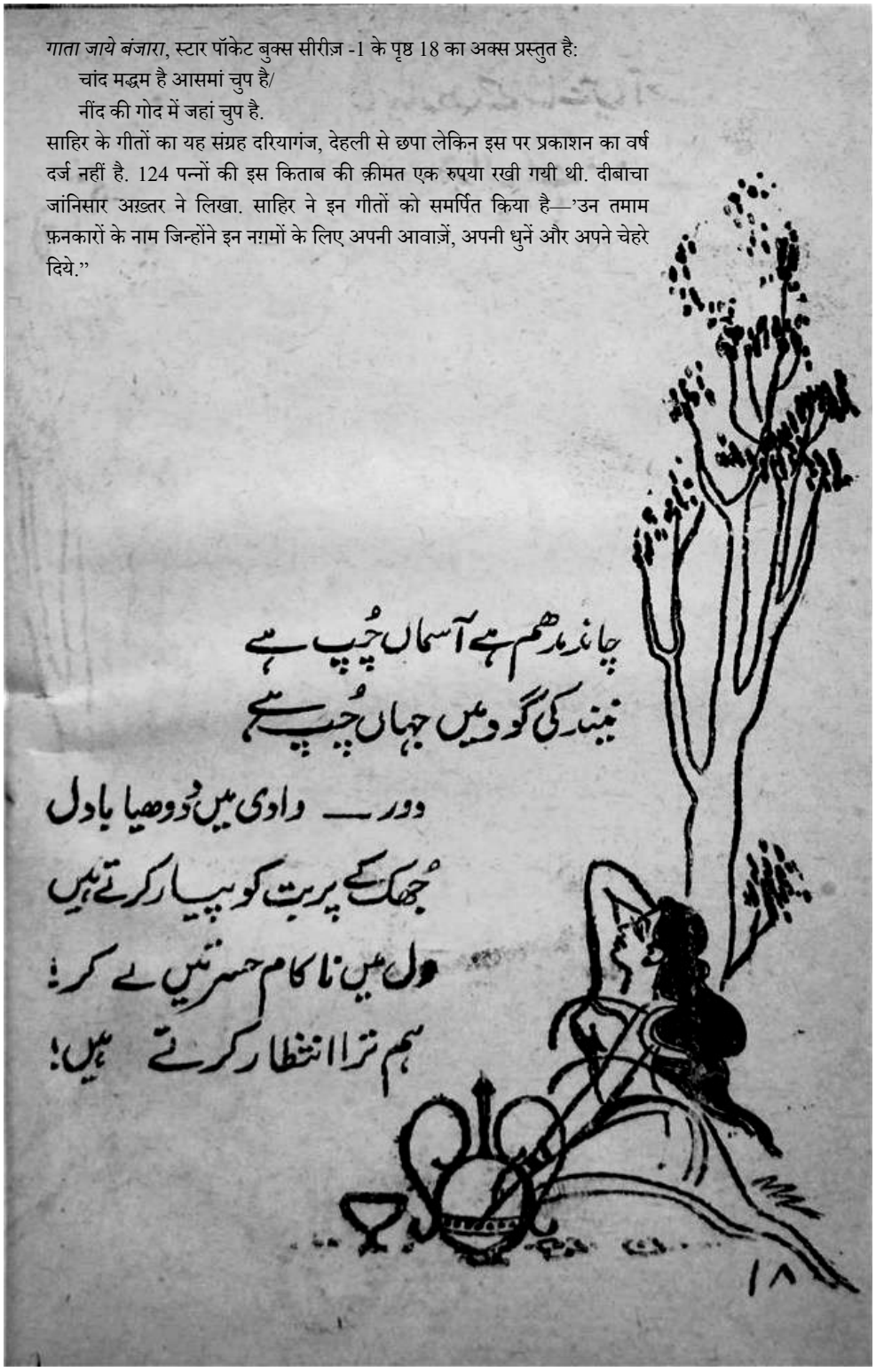

गाता जाये बंजारा की भूमिका

साहिर लुधियानवी

गाता जाये बंजारा फ़िल्म के लिए लिखे गये गीतों का संकलन है. इसमें शक नहीं कि इस [संकलन] में कुछ ऐसे गीत भी सम्मिलित हैं जो रेडियो या ग्रामोफ़ोन रिकार्डों के लिए लिखे गये. मगर चूंकि इनकी संख्या सीमित है इसलिए मैं इनके बारे में बहस नहीं करूंगा. सिर्फ़ फ़िल्मी-गीत-लेखन पर ही राय दूंगा.

फ़िल्म हमारे युग का सबसे प्रभावकारी तथा उपयोगी माध्यम है जिसे अगर रचनात्मक तथा प्रचारात्मक दृष्टिकोण से अपनाया जाये तो जनता के जीवन स्तर और सामाजिक प्रगति की रफ़्तार को बहुत तेज़ किया जा सकता है. दुर्भाग्य से हमारे यहां अभी तक फ़िल्म के इस पहलू की ओर पूरा ध्यान नहीं दिया गया, क्योंकि यह दायित्व अभी तक प्राय: ऐसे लोगों के हाथों में है जो निजी लाभ को सामाजिक दायित्व से अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं. इसलिए हमारी फ़िल्मी कहानियों, फ़िल्मी धुनों और फ़िल्मी गीतों का स्तर प्राय: निम्न होता है और शायद इसीलिए साहित्यिक क्षेत्र में फ़िल्मी साहित्य को घृणा की दृष्टि से देखा जाता है.

मैं उनके इस रवैये पर आपत्ति नहीं करता बल्कि सच पूछा जाये तो उनकी कई बातों से मैं स्वयं भी सहमत हूं. किंतु कुछ आपत्तियां ऐसी हैं जो या तो उनके बढ़ते हुए कट्टरपन की उत्पत्ति हैं या फिर किसी अज्ञान के कारण. इस प्रकार की आलोचना से न पाठक या दर्शक को ही कोई लाभ पहुंचता है, और न किसी गीतकार को.

मेरा संबंध चूंकि फ़िल्म और साहित्य दोनों से है अतः मैं अपने साहित्यकार सहयोगियों की सूचना के लिए यहां कुछ बातें कहना आवश्यक समझता हूं.

फ़िल्मी गीतकार को वह स्वतंत्रता प्राप्त नहीं होती जो एक साहित्यिक कवि को मिलती है. गीतकार को हर स्थिति में ड्रामे की सीमा से प्रभावित रहना पड़ता है और पात्रों के मानसिक स्तर के अनुसार शब्दों और विचारों का चुनाव करना पड़ता है—बिलकुल इस प्रकार जैसे एक संवाद लेखक को एक ही ड्रामे में नास्तिक और आस्तिक, मालिक और नौकर, शरीफ़ और बदमाश—सभी प्रकार के पात्रों का प्रतिनिधित्व करना पड़ता है. इसी प्रकार गीतकार के लिए भी आवश्यक होता है कि वह पात्रों और कथानक के अनुरूप विचारों और भावनाओं को एक जैसी बढ़त के साथ प्रकट करे. यह बात साहित्यिक शायरी से भिन्न भी है और कठिन भी है. अतः समालोचक के लिए यह आवश्यक है कि जब वह फ़िल्मी गीतों की समालोचना करें तो केवल यही न देखे कि अमुक गीत किस कवि ने लिखा है बल्कि इस बात को भी ध्यान में रखे कि वह किस पात्र के लिए लिखा गया है. इस संबंध में यह ध्यान रखना भी आवश्यक है कि फ़िल्मी गीत प्रायः बनी बनायी धुनों पर लिखे जाते हैं. हमारे यहां क्योंकि अभी तक संगीत का 'कॉपीराइट' नहीं हैं इसलिए फ़िल्मी संगीत में विदेशी धुनों का प्रयोग पर्याप्त किया जाता है. इसका निश्चित परिणाम यह होता है कि कवि को कई बार कविता को प्रचलित छंद-रीतियों से हटना पड़ता है और कई बार शाब्दिक मूल्यों को भूलकर ध्वनि अनुकूलता पर संतोष करना पड़ता है.

शब्दों के चुनाव में भी उसे इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि देश के दूरस्थ अंचलों में बसने वाले लोग भी, जिनमें प्राय: अनपढ़ लोगों की संख्या अधिक होती है और जिनकी भाषा उर्दू या हिंदी नहीं है, उन गीतों के अर्थ समझ सकें.

स्पष्ट है इन बंधनों के कारण जो काव्य-साहित्य लिखा जायेगा वह कला की उन ऊंचाइयों को स्पर्श नहीं कर सकेगा जो अच्छे साहित्य का भाग हैं. फिर भी इस माध्यम के महत्व और आवश्यकता को भुलाया नहीं जा सकता. इसका अपना क्षेत्र है जो पुस्तकों, पत्रिकाओं, रेडियो और नाटक से अधिक बड़ा है और इसके द्वारा हम अपनी बात कम से कम समय में अधिक से अधिक लोगों तक पहुंचा सकते हैं.

मेरा सदैव यह प्रयास रहा है कि यथासंभव फ़िल्मी गीतों को सृजनात्मक काव्य के निकट ला सकूं और इस प्रकार नये सामाजिक और राजनीतिक दृष्टिकोण को जन-साधारण तक पहुंचा सकूं.

जहां तक इस संकलन के गीतों की लोकप्रियता का संबंध है इनमें से प्राय: की गणना अपने समय के सर्वाधिक लोकप्रिय गीतों में होती है. किंतु मेरे निकट कलात्मक रचना की लोकप्रियता ही सब कुछ नहीं. यदि इस संकलन से आप महसूस करें कि ये गीत आपके मनोरंजन की सामग्री प्रस्तुत करने के साथ-साथ आपकी राजनीतिक, सामाजिक और साहित्यक रुचि की भी संतुष्टि करते हैं तो मैं समझूंगा कि मेरा प्रयास असफल नहीं गया.

बंबई, 23 मार्च 1974

%%%%%%%%%%%%%%%%%%%%%%%%%%%

फ़िल्मी नग़मे और गीत

रात के राही थक मत जाना, सुबह की मंज़िल दूर नहीं
धरती के फैले आंगन में पल-दो-पल है रात का डेरा
ज़ुल्म का सीना चीर के देखो झांक रहा है नया सवेरा
ढलता दिन मजबूर सही, चढ़ता सूरज मजबूर नहीं
थक मत जाना ओ राही थक मत जाना
रात के राही...

सदियों तक चुप रहने वाले अब अपना हक़ ले के रहेंगे
जो करना है खुल के करेंगे, जो कहना है साफ़ कहेंगे
जीते जी घुट-घुट कर मरना, इस युग का दस्तूर नहीं
थक मत जाना ओ राही थक मत जाना
रात के राही...

टूटेंगी बोझल ज़ंजीरें जागेंगी सोयी तक़दीरें
लूट पे कब तक पहरा देंगी, ज़ंग लगी ख़ूनीं ज़ंजीरें
रह नहीं सकता इस दुनिया में जो सब को मंज़ूर नहीं
थक मत जाना ओ राही थक मत जाना
रात के राही...
(*बाबला* : 1953)
https://www.youtube.com/watch?v=QXHWdgo1yG8
1,063 बार देखा गया.

बस्ती-बस्ती पर्बत-पर्बत गाता जाये बंजारा
लेकर दिल का एकतारा

पल-दो-पल का साथ हमारा पल-दो-पल की यारी
आज रुके तो कल करनी है चलने की तैयारी
बस्ती-बस्ती पर्बत-पर्बत...

क़दम-क़दम पर होनी बैठी, अपना जाल बिछाये
इस जीवन की राह में जाने कौन कहां रह जाये
बस्ती-बस्ती पर्बत-पर्बत...

धन-दौलत के पीछे क्यूं है ये दुनिया दीवानी
यहां की दौलत यहां रहेगी साथ नहीं ये जानी
बस्ती-बस्ती पर्बत-पर्बत...

सोने-चांदी में तुलता हो जहां दिलों का प्यार
आंसू भी बेकार वहां पर आहें भी बेकार
बस्ती-बस्ती पर्बत-पर्बत...
दुनिया के बाज़ार में आख़िर चाहत भी ब्यौपार बनी
मेरे दिल से उनके दिल तक चांदी की दीवार बनी
बस्ती-बस्ती पर्बत-पर्बत...
हम जैसों के भाग में लिक्खा चाहत का वरदान नहीं
जिसने हमको जन्म दिया वो पत्थर है भगवान नहीं
बस्ती-बस्ती पर्बत-पर्बत...
***(रेलवे प्लेटफ़ॉर्म* : 1955)**
https://www.youtube.com/watch?v=Ec4V8REAT5I
776,333 बार देखा गया.

ये महलों ये तख़्तों ये ताजों की दुनिया
ये इंसां के दुश्मन समाजों की दुनिया
ये दौलत के भूके रिवाजों की दुनिया
ये दुनिया अगर मिल भी जाये तो क्या है

हर इक जिस्म घायल, हर इक रूह प्यासी
निगाहों में उलझन, दिलों में उदासी
ये दुनिया है या आलमे-बदहवासी
ये दुनिया अगर मिल भी जाये तो क्या है

यहां इक खिलौना है इंसां की हस्ती
ये बस्ती है मुर्दा-परस्तों की बस्ती
यहां पर तो जीवन से है मौत सस्ती
ये दुनिया अगर मिल भी जाये तो क्या है

जवानी भटकती है बदकार बनकर
जवां जिस्म सजते हैं बाज़ार बनकर
यहां प्यार होता है ब्यौपार बनकर
ये दुनिया अगर मिल भी जाये तो क्या है

ये दुनिया जहां आदमी कुछ नहीं है
वफ़ा कुछ नहीं दोस्ती कुछ नहीं है
जहां प्यार की क़द्र ही कुछ नहीं है
ये दुनिया अगर मिल भी जाये तो क्या है

जला दो इसे फूंक डालो ये दुनिया
जला दो जला दो फूंक डालो ये दुनिया
मेरे सामने से हटा लो ये दुनिया
तुम्हारी है, तुम ही संभालो ये दुनिया
ये दुनिया अगर मिल भी जाये तो क्या है
(*प्यासा* : 1957)

https://www.youtube.com/watch?v=t8f7bukIUWU
2,783,658 बार देखा गया.

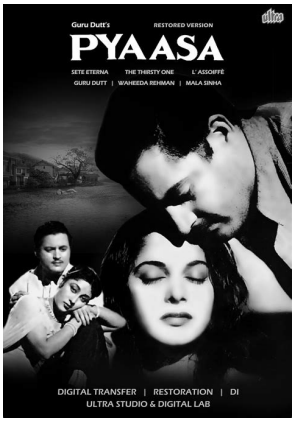

जाने वो कैसे लोग थे जिनके प्यार को प्यार मिला
हमने तो जब कलियां मांगीं कांटों का हार मिला

ख़ुशियों की मंज़िल ढूंढी तो ग़म की गर्द मिली
चाहत के नग़्मे चाहे तो आहें सर्द मिलीं
दिल के बोझ को दूना कर गया, जो ग़म-ख़ार मिला
हमने तो जब कलियां मांगीं कांटों का हार मिला

बिछड़ गया हर साथी देकर पल-दो-पल का साथ
किस को फ़ुर्सत है जो थामे दीवानों का हाथ
हमको अपना साया तक अक्सर बेज़ार मिला
हमने तो जब कलियां मांगीं कांटों का हार मिला

इसको ही जीना कहते हैं तो यूं ही जी लेंगे
उफ़ न करेंगे, लब सी लेंगे आंसू पी लेंगे

ग़म से अब घबराना कैसा, ग़म सौ बार मिला
हम ने तो जब कलियां मांगीं कांटों का हार मिला
(*प्यासा* : 1957)
https://www.youtube.com/watch?v=wH9EfluP5C4
462,925 बार देखा गया.

साथी हाथ बढ़ाना
साथी हाथ बढ़ाना साथी रे
एक अकेला थक जायेगा मिल कर बोझ उठाना
साथी हाथ बढ़ाना

हम मेहनत वालों ने जब भी मिल कर क़दम बढ़ाया
सागर ने रस्ता छोड़ा, पर्बत ने सीस झुकाया
फ़ौलादी हैं सीने अपने, फ़ौलादी हैं बांहें
हम चाहें तो पैदा कर दें चट्टानों में राहें
साथी हाथ बढ़ाना...

मेहनत अपने लेख की रेखा मेहनत से क्या डरना
कल ग़ैरों की ख़ातिर की, आज अपनी ख़ातिर करना
अपना दुख भी एक है साथी, अपना सुख भी एक
अपनी मंज़िल सच की मंज़िल, अपना रस्ता नेक
साथी हाथ बढ़ाना...

एक से एक मिले तो क़तरा बन जाता है दरिया
एक से एक मिले तो ज़र्रा बन जाता है सहरा
एक से एक मिले तो राई बन सकती है पर्बत
एक से एक मिले तो इंसां बस में करले क़िस्मत
साथी हाथ बढ़ाना...

माटी से हम लाल निकालें, मोती लायें जल से
जो कुछ इस दुनिया में बना है, बना हमारे बल से
कब तक मेहनत के पैरों में दौलत की ज़ंजीरें?
हाथ बढ़ा कर छीन लो अपने सपनों की ता'बीरें
साथी हाथ बढ़ाना...
(*नया दौर* : 1957)
https://www.youtube.com/watch?v=gGbYRMqGGsU
272,000 बार देखा गया.

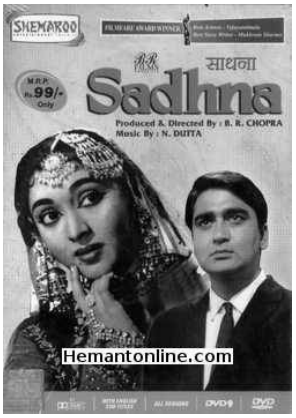

औरत ने जनम दिया मर्दों को, मर्दों ने उसे बाज़ार दिया
जब जी चाहा मसला-कुचला, जब जी चाहा दुत्कार दिया

तुलती है कहीं दीनारों में, बिकती है कहीं बाज़ारों में
नंगी नचवायी जाती है, अय्याशों के दरबारों में
ये वो बेइज़्ज़त चीज़ है जो बंट जाती है इज़्ज़तदारों में
औरत ने जनम दिया मर्दों को...
मर्दों के लिए हर ज़ुल्म रवा, औरत के लिए रोना भी ख़ता
मर्दों के लिए लाखों सेजें, औरत के लिए बस एक चिता
मर्दों के लिए हर ऐश का हक़, औरत के लिए जीना भी सज़ा
औरत ने जनम दिया मर्दों को...
जिन होठों ने इनको प्यार किया, उन होठों का ब्यौपार किया
जिस कोख में इनका जिस्म ढला, उस कोख का कारोबार किया
जिस तन से उगे कोंपल बन कर, उस तन को ज़लीलो-ख़ार किया
औरत ने जनम दिया मर्दों को...
मर्दों ने बनायी जो रस्में, उनको हक़ का फ़रमान कहा
औरत के ज़िंदा जलने को क़ुर्बानी और बलिदान कहा
इस्मत के बदले रोटी दी और उसको भी एहसान कहा
औरत ने जनम दिया मर्दों को...
संसार की हर एक बेशर्मी, ग़ुर्बत की गोद में पलती है
चकलों ही में आ कर रुकती है, फ़ाकों से जो राह निकलती है
मर्दों की हवस है जो अक्सर औरत के पाप में ढलती है
औरत ने जनम दिया मर्दों को...
औरत संसार की क़िस्मत है, फिर भी तक़दीर की हेटी है
अवतार पयम्बर जनती है, फिर भी शैतान की बेटी है
ये वो बदक़िस्मत मां है जो बेटों की सेज पे लेटी है
औरत ने जनम दिया मर्दों को...
(*साधना* : 1958)

https://www.youtube.com/watch?v=6HSjI2Di2nM
75,159 बार देखा गया.

चीनो-अरब हमारा, हिंदोस्तां हमारा
रहने को घर नहीं है, सारा जहां हमारा
चीनो-अरब हमारा...

खोली भी छिन गयी है, बेन्चें भी छिन गयी हैं
सड़कों पे घूमता है अब कारवां हमारा
जेबें हैं अपनी ख़ाली, क्यूं देता वरना गाली

वो संतरी हमारा, वो पासबां हमारा
चीनो-अरब हमारा...

जितनी भी बिल्डिंगें थीं, सेठों ने बांट ली हैं
फ़ुटपाथ बंबई के, हैं आशियां हमारा
सोने को हम क़लंदर, आते हैं बोरी-बन्दर
हर एक क़ुली यहां है राज़दां हमारा
चीनो-अरब हमारा...

तालीम है अधूरी, मिलती नही मजूरी
मालूम क्या किसी को दर्दे-निहां हमारा
चीनो-अरब हमारा...

पतला है हाल अपना, लेकिन लहू है गाढ़ा
फ़ौलाद से बना है, हर नौजवां हमारा
मिलजुल के इस वतन को ऐसा सजायेंगे हम
हैरत से मुंह तकेगा सारा जहां हमारा
चीनो-अरब हमारा...
(*फिर सुबह होगी* : 1958)
https://www.youtube.com/watch?v=GHnKVOezOR4&t=54s
143,093 बार देखा गया.

आसमां पे है ख़ुदा और ज़मीं पे हम
आजकल वो इस तरफ़ देखता है कम
आसमां पे है ख़ुदा...

आजकल किसी को वो टोकता नहीं
चाहे कुछ भी कीजिए, रोकता नहीं
हो रही है लूट-मार, फट रहे है बम
आसमां पे है ख़ुदा...

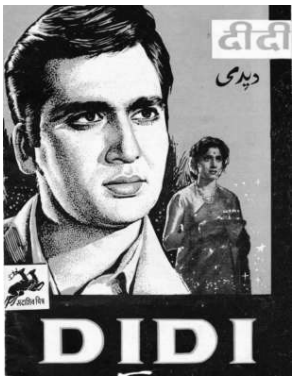

किसको भेजे वो यहां हाथ थामने
इस तमाम भीड़ का हाल जानने
आदमी हैं अनगिनत, देवता हैं कम
आसमां पे है ख़ुदा...

जो भी है वो ठीक है, ज़िक्र क्यूं करें
हम ही सब जहान की फ़िक्र क्यूं करें
जब उसे ही ग़म नहीं, क्यूं हमें हो ग़म

आसमां पे है ख़ुदा और ज़मीं पे हम
आजकल वो इस तरफ़ देखता है कम
***(फिर सुबह होगी* : 1958)**
https://www.youtube.com/watch?v=N96R-uVLDgU
329,997 बार देखा गया.

हमने सुना था एक है भारत : एक मकालमा/संवाद

बच्चा:
हमने सुना था एक है भारत, सब मुल्कों से नेक है भारत
लेकिन जब नज़दीक से देखा, सोच समझ कर ठीक से देखा
हमने नक़्शे और ही पाये, बदले हुए सब तौर ही पाये
एक से एक की बात जुदा है, धर्म जुदा है ज़ात जुदा है
आपने जो कुछ हम को पढ़ाया, वह तो कहीं भी नज़र न आया
उस्ताद:
जो कुछ मैंने तुम को पढ़ाया, उसमें कुछ भी झूठ नहीं
भाषा से भाषा न मिले तो इसका मतलब फूट नहीं
इक डाली पर रह कर जैसे फूल जुदा है, पात जुदा
बुरा नहीं गर यूं ही वतन में धर्म जुदा हों ज़ात जुदा
अपने वतन में...
बच्चा:
वही है जब क़ुरआन का कहना, जो है वेद-पुरान का कहना
फिर ये शोर-शराबा क्यूं है, इतना ख़ून-ख़राबा क्यूं है?
अपने वतन में...
उस्ताद:
सदियों तक इस देश में बच्चो! रही हुकूमत ग़ैरों की
अभी तलक हम सबके मुंह पर धूल है उनके पैरों की
लड़वाओ और राज करो, यह उन लोगों की हिकमत थी
उन लोगों की चाल में आना हम लोगों की ज़िल्लत थी
यह जो बैर है इक दूजे से, यह जो फूट और रंजिश है
उन्हीं विदेशी आक़ाओं की सोची समझी बख़्शिश है
अपने वतन में...
बच्चा:
कुछ इंसान ब्रह्मन क्यूं है, कुछ इंसान हरीजन क्यूं हैं,
एक की इतनी इज़्ज़त क्यूं है, एक की इतनी ज़िल्लत क्यूं है?
उस्ताद:
धन और ज्ञान को ताक़त वालों ने अपनी जागीर कहा
मेहनत और ग़ुलामी को कमज़ोरों की तक़दीर कहा

इंसान का ये बंटवारा वहशत और जहालत है
जो नफ़रत की शिक्षा दे वह धरम नहीं है, लानत है
जनम से कोई नीच नहीं है, जनम से कोई महान नहीं
करम से बढ़कर किसी मनुष की कोई भी पहचान नहीं
बच्चा:
ऊंचे महल बनाने वाले फ़ुटपाथों पर क्यूं रहते हैं?
दिन भर मेहनत करने वाले फ़ाक़ों का दुख क्यों सहते हैं?
उस्ताद:
खेतों और मिलों पर अब तक धन वालों का इजारा है
हमको अपना देश है प्यारा, उन्हें मुनाफ़ा प्यारा है
उनके राज में बनती है हर चीज़ तिजारत की ख़ातिर
अपने राज में बना करेगी सब की ज़रूरत की ख़ातिर
बच्चा:
अब तो देश में आज़ादी है, अब क्यूं जनता फ़रयादी है?
कब जायेगा दौर पुराना, कब आयेगा नया ज़माना?
उस्ताद:
सदियों की भूख और बेकारी क्या इक दिन में जायेगी?
इस उजड़े गुलशन पर रंगत आते-आते आयेगी
ये जो नये मनसूबे हैं और ये जो नयी तामीरें हैं
आने वाली दौर की कुछ धुंधली-धुंधली तस्वीरें हैं
तुम ही रंग भरोगे इनमें, तुम ही इन्हें चमकाओगे
नवयुग आप नहीं आयेगा, नवयुग को तुम लाओगे!
(*दीदी* : 1959)

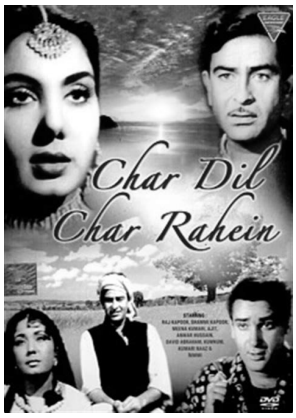

https://www.youtube.com/watch?v=GToO82aY4jI
918,308 बार देखा गया

साथी रे भाई रे
क़दम क़दम से, दिल से दिल मिला रहे हैं हम
वतन में एक नया चमन खिला रहे हैं हम

साथी रे भाई रे
हम आज नींव रख रहे हैं उस निज़ाम की
बिके न ज़िंदगी जहां किसी ग़ुलाम की
लुटे न मेहनतें पिसे हुए आवाम की
न भर सके तिजोरियां कोई हराम की
साथी रे भाई रे
हर एक ऊंच-नीच को मिटा रहे हैं हम

क़दम क़दम से...

साथी रे भाई रे
हमारे बाज़ुओं में आंधियो का ज़ोर है
हमारी धड़कनों में बादलों का शोर है
हमारे हाथ में वतन की बागडोर है
न बच के जा सकेंगे जिनके दिल में चोर है
साथी रे भाई रे
सुनो कि अपना फ़ैसला सुना रहे हैं हम
क़दम क़दम से ...

साथी रे भाई रे
उठा लिया है अब समाजवाद का निशां
अलग-थलग न होंगीं अब हमारी खेतियां
चलेंगी सबके वास्ते मिलों की चरख़ियां
ज़मीं से आसमां तलक उठेंगी चिमनियां
साथी रे भाई रे
कहा था जो वो करके अब दिखा रहे हैं हम
क़दम-क़दम से...

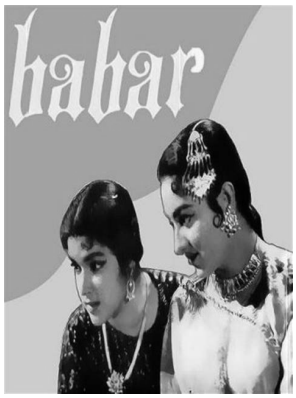

साथी रे भाई रे
उठें वो नौजवान जिनको प्यार चाहिए
बढ़ें वो दुल्हनें जिन्हें दुलार चाहिए
चलें वो गुलसितां जिन्हें निखार चाहिए
सुनें वो बस्तियां जिन्हें बहार चाहिए
साथी रे भाई रे
कि जिंदगी को उसका हक़ दिला रहे हैं हम
क़दम-क़दम से...

साथी रे भाई रे
ये रास्ता सुनहरी मंज़िलों को जायेगा
ये रास्ता खुशी की बस्तियां बसायेगा
बिछड़ गये थे जो उन्हें क़रीब लायेगा
ये रास्ता है जो दिल से दिल मिलायेगा
साथी रे भाई रे
कि अब तमाम फ़ासले मिटा रहे हैं हम
क़दम-क़दम से...
(*चार दिल चार राहें* : 1959)
https://www.youtube.com/watch?v=ZKfgADnO

(7,134 बार देखा गया.)

तुम एक बार मुहब्बत का इम्तिहान तो लो
मेरे जुनूं, मेरी वहशत का इम्तिहान तो लो
तुम एक बार...
सलामे-शौक़ पे रंजिश भरा पयाम न दो
मेरे ख़ुलूस पे फिर से हवस का नाम न दो
मेरी वफ़ा की हक़ीकत का इम्तिहान तो लो
तुम एक बार...
न तख़्तो-ताज न लालो-गौहर की हसरत है
तुम्हारे प्यार, तुम्हारी नज़र की हसरत है
तुम अपने हुस्न की अज़मत का इम्तिहान तो लो
तुम एक बार...
मैं अपनी जान भी दे दूं तो ऐतबार नहीं
कि तुम से बढ़के मुझे ज़िंदगी से प्यार नहीं
यूं ही सही, मेरी चाहत का इम्तिहान तो लो
तुम एक बार...
(*बाबर* : 1960)

https://www.youtube.com/watch?v=JSmeq0fqA50
(400,307 बार देखा गया.)

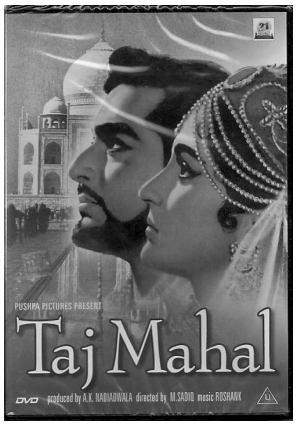

जो बात तुझ में है तेरी तस्वीर में नहीं
रंगों में तेरा अक्स ढला, तू न ढल सकी
सांसों की आंच जिस्म की ख़ुशबू न ढल सकी
तुझ में जो लोच है मेरी तहरीर में नहीं
जो बात तुझ में है...
बेजान हुस्न में कहां रफ़्तार की अदा
इंकार की अदा है, न इक़रार की अदा
कोई लचक भी ज़ुल्फ़े-गिरह-गीर में नहीं
जो बात तुझ में है...
दुनिया में कोई चीज़ नहीं है तेरी तरह
फिर एक बार सामने आ जा किसी तरह
क्या और इक झलक मेरी तक़दीर में नहीं
जो बात तुझ में है...
(*ताजमहल* : 1960)

https://www.youtube.com/watch?v=K-LpErDQEps
1,828,733 बार देखा गया.
मैंने शायद तुम्हें पहले भी कहीं देखा है
अजनबी-सी हो मगर ग़ैर नहीं लगती हो

वहम से भी जो हो नाज़ुक, वो यक़ीं लगती हो
हाय ये फूल-सा चेहरा, ये घनेरी ज़ुल्फ़ें
मेरे शे'रों से भी तुम मुझको हसीं लगती हो
मैंने शायद तुम्हें पहले भी कहीं देखा है

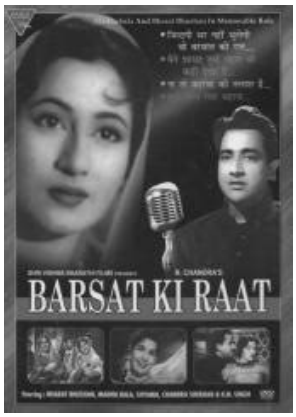

देखकर तुमको किसी रात की याद आती है
एक ख़ामोश मुलाक़ात की याद आती है
ज़ेहन में हुस्न की ठंडक का असर जागता है
आंच देती हुई बरसात की याद आती है
मैंने शायद तुम्हें पहले भी कहीं देखा है

जिसकी पलकें मेरी आंखों पे झुकी रहती हैं
तुम वही मेरे ख़यालों की परी हो कि नहीं
कहीं पहले की तरह फिर तो न खो जाओगी
जो हमेशा के लिए हो, वो ख़ुशी हो कि नहीं
मैंने शायद तुम्हें पहले भी कहीं देखा है
(*बरसात की रात* : 1960)
https://www.youtube.com/watch?v=0_pilWUMOFI
143,128 बार देखा गया.

ज़िंदगी-भर नहीं भूलेगी वो बरसात की रात
एक अंजान हसीना से मुलाक़ात की रात
हाय वो रेशमीं ज़ुल्फ़ों से बरसता पानी
फूल से गालों पे रुकने को तरसता पानी
दिल में तूफ़ान उठाये हुए जज़्बात की रात
ज़िंदगी-भर नहीं भूलेगी वो बरसात की रात

डर के बिजली से अचानक वो लिपटना उसका
और फिर शर्म से बल खाके सिमटना उसका
कभी देखी न सुनी ऐसी तिलिस्मात की रात
ज़िंदगी-भर नहीं भूलेगी वो बरसात की रात

सुर्ख़ आंचल को दबा कर जो निचोड़ा उसने
दिल पे जलता हुआ इक तीर-सा छोड़ा उसने
आग पानी में लगाते हुए हालात की रात
ज़िंदगी-भर नहीं भूलेगी वो बरसात की रात

मेरे नग़्मों में जो बसती है वो तस्वीर थी वो
नौजवानी के हसीं ख़्वाब की ताबीर थी वो

आसमानों से उतर आयी थी जो रात की रात
ज़िंदगी-भर नहीं भूलेगी वो बरसात की रात
(*बरसात की रात* : 1960)
https://www.youtube.com/watch?v=-tuPIVNiJVE
549,109 बार देखा गया.

ना तो कारवां की तलाश है, ना तो हमसफ़र की तलाश है
मेरे शौक़े-ख़ाना ख़राब को, तेरी रहगुज़र की तलाश है

मेरे नामुराद जुनून का, है इलाज कोई तो मौत है
जो दवा के नाम पे ज़हर दे, उसी चारागर की तलाश है

तेरा इश्क़ है मेरी आरज़ू, तेरा इश्क़ है मेरी आबरू
दिल इश्क़, जिस्म इश्क़ है और जान इश्क़ है
ईमान की जो पूछो तो ईमान इश्क़ है
तेरा इश्क़ है मेरी आबरू
तेरा इश्क़ मैं कैसे छोड़ दूं, मेरी उम्र भर की तलाश है

ये इश्क़ इश्क़ है इश्क़ इश्क़, ये इश्क़ इश्क़ है इश्क़ इश्क़
जांसोज़ की हालत को जांसोज़ ही समझेगा
मैं शमा से कहता हूं महफ़िल से नहीं कहता
क्योंकि
ये इश्क़ इश्क़ है इश्क़ इश्क़, ये इश्क़ इश्क़ है इश्क़ इश्क़

सहर तक सबका है अंजाम जल कर ख़ाक हो जाना
भरी महफ़िल में कोई शम्मा या परवाना हो जाये
क्योंकि
ये इश्क़ इश्क़ है इश्क़ इश्क़, ये इश्क़ इश्क़ है इश्क़ इश्क़

वहशते-दिल रसनो-दार से रोकी न गयी
किसी ख़ंजर, किसी तलवार से रोकी न गयी
इश्क़ मजनूं की वो आवाज़ है जिसके आगे
कोई लैला किसी दीवार से रोकी न गयी
क्योंकि
ये इश्क़ इश्क़ है इश्क़ इश्क़, ये इश्क़ इश्क़ है इश्क़ इश्क़

वो हंसके अगर मांगें तो हम जान भी दे दें,
हां ये जान तो क्या चीज़ है ईमान भी दे दें
क्योंकि
ये इश्क़ इश्क़ है इश्क़ इश्क़, ये इश्क़ इश्क़ है इश्क़ इश्क़

नाज़ो-अंदाज़ से कहते हैं कि जीना होगा,
ज़हर भी देते हैं तो कहते हैं कि पीना होगा
जब मैं पीता हूं तो कहते है कि मरता भी नहीं
जब मैं मरता हूं तो कहते हैं कि जीना होगा
ये इश्क़ इश्क़ है इश्क़ इश्क़, ये इश्क़ इश्क़ है इश्क़ इश्क़

मज़हबे-इश्क़ की हर रस्म कड़ी होती है
हर क़दम पर कोई दीवार खड़ी होती है
इश्क़ आज़ाद है, हिंदू न मुसलमान है इश्क़
आप ही धर्म है और आप ही ईमान है इश्क़
जिससे आगाह नहीं शेख़ो-ब्रहमन दोनों
उस हक़ीक़त का गरजता हुआ ऐलान है इश्क़

इश्क़ न पुच्छे दीन धरम नूं, इश्क़ न पुच्छे जातां
इश्क़ दे हाथों गर्म लहू विच डुबकियां लख बरातां
क्योंकि
ये इश्क़ ये इश्क़ इश्क़ है इश्क़ इश्क़, ये इश्क़ इश्क़ है इश्क़ इश्क़

राह उल्फ़त की कठिन है इसे आसां न समझ
ककि ये इश्क़ इश्क़ है इश्क़ इश्क़, ये इश्क़ इश्क़ है इश्क़ इश्क़

बहुत कठिन है डगर पनघट की
अब क्या भर लाऊं मैं जमुना से मटकी
मैं जो चली जल जमुना भरन को
देखो सखी जी, मैं जो चली जल जमुना भरन
नंद को छोरा मोहे रोके ठाड़ो तो
क्या भर लाऊं मैं जमुना से मटकी
अब लाज राखो मोरे घूंघट पट की

जब-जब कृष्ण की बंसी बाजी, निकली राधा सज के
जान अजान का ध्यान भुला के, लोक लाज को तज के
बन बन डोली जनक-दुलारी, पहन के प्रेम की माला
दशर्न-जल की प्यासी मीरा पी गयी विष का प्याला
और फिर अरज करी के
लाज राखो राखो राखो, लाज राखो देखो देखो
लाज राखो राखो, हे हे हे, लाज राखो राखो
इश्क़ इश्क़ है इश्क़ इश्क़, ये इश्क़ इश्क़ है इश्क़ इश्क़

अल्लाह और रसूल का फ़रमान इश्क़ है
यानी हदीस इश्क़ है, क़ुरान इश्क़ है

गौतम का और मसीह का अरमान इश्क़ है
ये कायनात जिस्म है, और जान इश्क़ है
इश्क़ सरमद, इश्क़ ही मंसूर है
इश्क़ मूसा, इश्क़ कोहे-तूर है
ख़ाक़ को बुत, और बुत को देवता करता है इश्क़
इंतहा ये है कि बंदे को ख़ुदा करता है इश्क़

हां इश्क़ इश्क़, तेरा इश्क़ इश्क़
तेरा इश्क़ इश्क़, इश्क़ इश्क़ ...
(*बरसात की रात* : 1960)
https://www.youtube.com/watch?v=BQRHuMBtOYY
(4,789,659 बार देखा गया)

अल्लाह तेरो नाम, ईश्वर तेरो नाम
सबको सन्मति दे भगवान
अल्लाह तेरो नाम...

इस धरती का रूप न उजड़े
प्यार की ठंडी धूप न उजड़े
सबको मिले सुख का वरदान
अल्लाह तेरो नाम...
मांगों का सिंदूर न छूटे
मां बहनों की आस न टूटे
देह बिना, दाता, भटके न प्राण
सबको सन्मति दे भगवान
अल्लाह तेरो नाम...

ओ सारे जग के रखवाले
निर्बल को बल देने वाले
बलवानों को दे दे ज्ञान
सबको सन्मति दे भगवान
अल्लाह तेरो नाम...
(*हम दोनों* : 1961)
https://www.youtube.com/watch?v=prJ9NbOycEI
968,928 बार देखा गया.

काबे में रहो या काशी में, निस्बत तो उसी की ज़ात से है
तुम राम कहो कि रहीम कहो, मतलब तो उसी की बात से है

ये मस्जिद है वो बुतख़ाना, चाहे ये मानो चाहे वो मानो

मक़सद तो है दिल को समझाना, चाहे ये मानो चाहे वो मानो
ये शेख़ो-ब्रहमन के झगड़े, सब नासमझी की बातें हैं
हमने तो है बस इतना जाना, चाहे ये मानो चाहे वो मानो

गर जज़्बे-मुहब्बत सादिक़ हो, हर दर से मुरादें मिलती हैं
मंदिर से मुरादें मिलती हैं, मस्जिद से मुरादें मिलती हैं
काबे से मुरादें मिलती हैं, काशी से मुरादें मिलती हैं
हर घर है उसी का काशाना, चाहे ये मानो चाहे वो मानो
(*धर्मपुत्र* : 1959)
https://www.youtube.com/watch?v=J1dUwPZB2sg
6,632 बार देखा गया.

मैं जब भी अकेली होती हूं, तुम चुपके-से आ जाते हो
और झांक के मेरी आंखों में, बीते दिन याद दिलाते हो
मस्ताना हवा के झोंकों से हर बार वो पर्दे का हिलना
पर्दे को पकड़ने की धुन में, दो अजनबी हाथों का मिलना
आंखों में धुआं-सा छा जाना, सांसों में सितारे-से खिलना
बीते दिन याद दिलाते हो...

मुड़-मुड़ के तुम्हारा रस्ते में, तकना वो मुझे जाते-जाते
और मेरा ठिठक कर रुक जाना, चिलमन के क़रीब आते-आते
नज़रों का तरस कर रह जाना, इक और झलक पाते-पाते
बीते दिन याद दिलाते हो...

बालों को सुखाने की ख़ातिर, कोठे पे वो मेरा आ जाना
और तुम को मुक़ाबिल पाते ही, कुछ शर्माना, कुछ बल खाना
हमसायों के डर से कतराना, घर वालों के डर से घबराना
बीते दिन याद दिलाते हो...

एहसास के भीगे मौसम में, सर्दी की ठिठुरती रातों में
पहरों यूं ही बैठे रहना, हाथों को पकड़ कर हाथों में
और लंबी -लंबी घड़ियों का, कट जाना बातों-बातों में
बीते दिन याद दिलाते हो...

रो-रोके तुम्हें ख़त लिखती हूं और ख़ुद पढ़ कर रो लेती हूं
हालात के तपते तूफ़ां में, जज़्बात की कश्ती खेती हूं
कैसे हो, कहां हो, कुछ तो कहो, मैं तुम को सदाएं देती हूं
मैं जब भी अकेली होती हूं.
(*धर्मपुत्र* : 1961)
https://www.youtube.com/watch?v=Gtg9CJ3aM-c

2,437,193 बार देखा गया.
चलो इक बार फिर से अजनबी बन जायें हम दोनों
चलो इक बार फिर से...

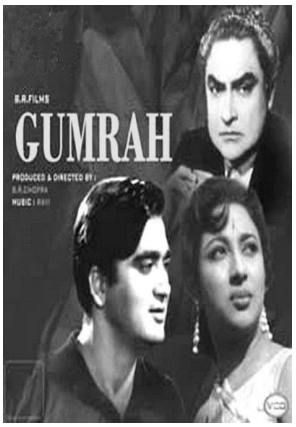

न मैं तुमसे कोई उम्मीद रखूं दिलनवाज़ी की
न तुम मेरी तरफ़ देखो ग़लत-अंदाज़ नज़रों से
न मेरे दिल की धड़कन लड़खड़ाये मेरी बातों में
न ज़ाहिर हो तुम्हारी कशमकश का राज़ नज़रों से
चलो इक बार फिर से...

तुम्हें भी कोई उलझन रोकती है पेशक़दमी से
मुझे भी लोग कहते हैं कि ये जलवे पराये हैं
मेरे हमराह भी रुसवाइयां हैं मेरे माज़ी की
तुम्हारे साथ भी गुज़री हुई रातों के साये हैं
चलो इक बार फिर से...

त'आरुफ़ रोग हो जाये तो उसको भूलना बेहतर
त'आल्लुक़ बोझ बन जाये तो उसको तोड़ना अच्छा
वो अफ़साना जिसे अंजाम तक लाना न हो मुमकिन
उसे एक ख़ूबसूरत मोड़ देकर छोड़ना अच्छा
चलो इक बार फिर से...
(*गुमराह* : 1963)
https://www.youtube.com/watch?v=zwx6a_dPoOM
2,842,065 बार देखा गया.

आप आये तो ख़याले-दिले-नाशाद आया
कितने भूले हुए ज़ख़्मों का पता याद आया

आपके लब पे कभी अपना भी नाम आया था
शोख़ नज़रों से मोहब्बत का सलाम आया था
उम्र भर साथ निभाने का पयाम आया था
आपको देखके वो अहदे-वफ़ा याद आया
कितने भूले हुए ज़ख़्मों का पता याद आया

रूह में जल उठे बुझती हुई यादों के दिये
कैसे दीवाने थे हम आपको पाने के लिए
यूं तो कुछ कम नहीं जो आपने एहसान किये
पर जो मांगे से न पाया, वो सिला याद आया
कितने भूले हुए ज़ख़्मों का पता याद आया

आज वो बात नहीं फिर भी कोई बात तो है
मेरे हिस्से में ये हल्की-सी मुलाक़ात तो है
ग़ैर का हो के भी ये हुस्न मिरे साथ तो है
हाय किस वक़्त मुझे कब का गिला याद आया
कितने भूले हुए ज़ख़्मों का पता याद आया
(*गुमराह* : 1963)
https://www.youtube.com/watch?v=Qud7fhDE-do
15,780 बार देखा गया.

तेरे बचपन को जवानी की दुआ देती हूं
और दुआ देके परेशान-सी हो जाती हूं
मेरे मुन्ने मेरे गुलज़ार के नन्हे पौदे
तुझको हालात की आंधी से बचाने के लिए
आज मैं प्यार के आंचल में छुपा लेती हूं
कल ये कमज़ोर सहारा भी न हासिल होगा
कल तुझे कांटों भरी राह पे चलना होगा
ज़िंदगानी की कड़ी धूप में जलना होगा
तेरे बचपन को जवानी...

तेरे माथे पे शराफ़त की कोई मोहर नहीं
चंद बोसे हैं मुहब्बत के, सो वो भी क्या हैं
मुझ-सी मांओं की मुहब्बत का कोई मोल नहीं
मेरे मासूम फ़रिश्ते तू अभी क्या जाने
तुझको किस-किसके गुनाहों की सज़ा मिलनी है
दीन और धर्म के मारे हुए इंसानों की
जो नज़र मिलनी है तुझको वो ख़फ़ा मिलनी है
तेरे बचपन को जवानी ...
बेड़ियां लेके लपकता हुआ क़ानून का हाथ
तेरे मां-बाप से जब तुझको मिली ये सौग़ात
कौन लायेगा तेरे वास्ते ख़ुशियों की बरात
मेरे बच्चे तेरे अंजाम से जी डरता है
तेरी दुश्मन ही न साबित हो जवानी तेरी
कांप जाती है जिसे सोच के ममता मेरी
उसी अंजाम को पहुंचे न कहानी तेरी
तेरे बचपन को जवानी की दुआ देती हूं
और दुआ देके परेशान-सी हो जाती हूं
(*मुझे जीने दो* : 1963)
https://www.youtube.com/watch?v=xnAPrhwYCY

472,413 बार देखा गया.

लागा चुनरी में दाग छुपाऊं कैसे
घर जाऊं कैसे
हो गयी मैली मोरी चुनरिया
कोरे बदन-सी कोरी चुनरिया
जा के बाबुल से नजरें मिलाऊं कैसे
घर जाऊं कैसे
भूल गयी सब बचन बिदा के
खो गयी मैं ससुराल में आके
जाके बाबुल से नजरें मिलाऊं कैसे
घर जाऊं कैसे
कोरी चुनरिया आत्मा मोरी, मैल है माया जाल
वो दुनिया मोरे बाबुल का घर, ये दुनिया ससुराल
जा के बाबुल से नजरें मिलाऊं कैसे
घर जाऊं कैसे
लागा चुनरी में दाग छुपाऊं कैसे
घर जाऊं कैसे....

(*दिल ही तो है* : 1963)

https://www.youtube.com/watch?v=gMT5-nTq5Jo
743,772 बार देखा गया.

तुम चली जाओगी परछाइयां रह जायेंगी
कुछ न कुछ हुस्न की रानाइयां रह जायेंगी

तुम कि इस झील के साहिल पे मिली हो मुझसे
जब भी देखूंगा यहीं मुझको नज़र आओगी
याद मिटती है, न मंज़र कोई मिट सकता है
दूर जा कर भी तुम अपने को यहीं पाओगी
तुम चली जाओगी...
घुल के रह जायेगी झोंकों में बदन की ख़ुशबू
ज़ुल्फ़ का अक्स घटाओं में रहेगा सदियों
फूल चुपके से चुरा लेंगे लबों की सुर्ख़ी
ये जवां हुस्न फ़ज़ाओं में रहेगा सदियों
तुम चली जाओगी...

इस धड़कती हुई शादाबो-हसीं वादी में
ये न समझो कि ज़रा देर का क़िस्सा हो तुम
अब हमेशा के लिए मेरे मुक़द्दर की तरह

इन नज़ारों के मुक़द्दर का भी हिस्सा हो तुम
तुम चली जाओगी परछाइयां रह जायेंगी
कुछ न कुछ हुस्न की रानाइयां रह जायेंगी
(*शगुन* : 1963)
https://www.youtube.com/watch?v=dm9jbBrvnAk
344,570 बार देखा गया.

संसार से भागे फिरते हो, भगवान को तुम क्या पाओगे
इस लोक को भी अपना न सके, उस लोक में भी पछताओगे

ये पाप है क्या, ये पुण्य है क्या, रीतों पर धर्म की मोहरें हैं
हर युग में बदलते धर्मों को कैसे आदर्श बनाओगे
संसार से भागे फिरते हो...

ये भोग भी एक तपस्या है, तुम त्याग के मारे क्या जानो
अपमान रचियता का होगा, रचना को अगर ठुकराओगे
संसार से भागे फिरते हो...

हम कहते हैं ये जग अपना है, तुम कहते हो झूटा सपना है
हम जन्म बिता कर जायेंगे, तुम जन्म गंवा कर जाओगे
संसार से भागे फिरते हो...
(*चित्रलेखा* : 1964)
https://www.youtube.com/watch?v=17kq4TkpeUE
(2,003,372 बार देखा गया)

ये दुनिया दो-रंगी है
एक तरफ़ से रेशम ओढ़े, एक तरफ़ से नंगी है
एक तरफ़ अंधी दौलत की पागल ऐश-परस्ती
एक तरफ़ जिस्मों की क़ीमत रोटी से भी सस्ती
एक तरफ़ है सोनागाछी, एक तरफ़ चौरंगी है
ये दुनिया दोरंगी है...

आधे मुंह पर नूर बरसता, आधे मुंह पर चीरे
आधे तन पर कोढ़ के धब्बे, आधे तन पर हीरे
आधे घर में ख़ुशहाली है, आधे घर में तंगी है
ये दुनिया दो-रंगी है

माथे ऊपर मुकुट सजाये, सर पर ढोये गंदा
दायें हाथ से भिक्षा मांगे, बायें से दे चंदा

एक तरफ़ भंडार चलाये, एक तरफ़ भिकमंगी है
ये दुनिया दोरंगी है

इक संगम पर लानी होगी दुख और सुख की धारा
नये सिरे से करना होगा दौलत का बटवारा
जब तक ऊंच और नीच है बाक़ी, हर सूरत बेढंगी है
ये दुनिया दोरंगी है
(*चांदी की दीवार* : 1964)
https://www.youtube.com/watch?v=i4VC8tsSI0Y
14,660 बार देखा गया.

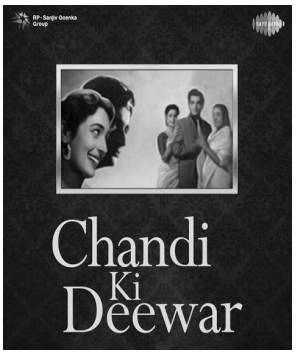

1. मुहम्मद रफ़ी की आवाज़ में

रंग और नूर की बारात किसे पेश करूं
ये मुरादों की हसीं रात किसे पेश करूं

मैंने जज़्बात निभाये हैं उसूलों की जगह
अपने अरमान पिरो लाया हूं फूलों की जगह
तेरे सेहरे की ये सौग़ात किसे पेश करूं

ये मेरे शे'र मेरे आख़िरी नज़राने हैं
मैं उन अपनों में हूं जो आज से बेगाने हैं
बे-ता'ल्लुक़ सी मुलाक़ात किसे पेश करूं

सुर्ख़ जोड़े की तबो-ताब मुबारक हो तुझे
तेरी आंखों का नया ख़्वाब मुबारक हो तुझे
मैं ये ख़ाहिश, ये ख़यालात किसे पेश करूं

कौन कहता है कि चाहत पे सभी का हक़ है
तू जिसे चाहे तेरा प्यार उसी का हक़ है
मुझ से कह दे मैं तेरा हाथ किसे पेश करूं
(ग़ज़ल, 1964)
https://www.youtube.com/watch?v=CZmSgtSq9T8

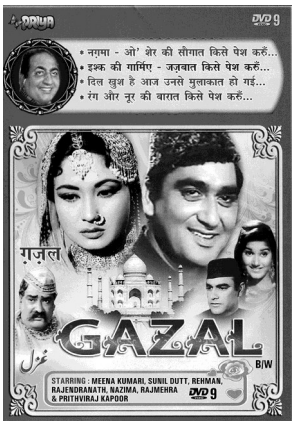

159,07,193 बार देखा गया.

2. लता की आवाज़ में

नग़मा-ओ-शेर की सौग़ात किसे पेश करूं
ये छलकते हुए जज़्बात किसे पेश करूं
शोख़ आंखों के उजालों को लुटाऊं किस पर
मस्त ज़ुल्फ़ों की सियह रात किसे पेश करूं

नग़मा-ओ-शेर की...
गर्म सांसों में छुपे राज़ बताऊं किसको
नर्म होंटों में दबी बात किसे पेश करूं
नग़मा-ओ-शेर की...

कोई हमराज़ तो पाऊं, कोई हमदम तो मिले
दिल की धड़कन के इशारात किसे पेश करूं
नग़मा-ओ-शेर की...
https://www.youtube.com/watch?v=a-Kzb9drwSk
159,181 बार देखा गया.

3. मुहम्मद रफ़ी की आवाज़ में

इश्क़ की गर्मी-ए-जज़्बात किसे पेश करूं
ये सुलगते हुए दिन-रात किसे पेश करूं
हुस्न और हुस्न का हर नाज़ है पर्दे में अभी
अपनी नज़रों की शिकायात किसे पेश करूं
तेरी आवाज़ के जादू ने जगाया है जिन्हें
वो तस्सव्वुर, वो ख़यालात किसे पेश करूं
ऐ मेरी जाने-ग़ज़ल, ऐ मेरी ईमाने-ग़ज़ल
अब सिवा तेरे ये नग़मात किसे पेश करूं
कोई हमराज़ तो पाऊं कोई हमदम तो मिले
दिल की धड़कन के इशारात किसे पेश करूं
(ग़ज़ल 1964)
https://www.youtube.com/watch?v=es_qGPRr-ps
259,676 बार देखा गया.

तोरा मन दर्पन कहलाये
प्रानी अपने प्रभु से पूछे किस विधि पाऊं तोहे
प्रभु कहे तू मन को पा ले, पा जायेगा मोहे

तोरा मन दर्पन कहलाये
भले-बुरे सारे कर्मों को, देखे और दिखाये
तोरा मन दर्पन कहलाये...
मन ही देवता, मन ही ईश्वर, मन से बड़ा न कोय
मन उजियारा जब जब फैले, जग उजियारा होय
इस उजले दर्पन पे प्रानी, धूल न जमने पाये
तोरा मन दर्पन कहलाये...

सुख की कलियां, दुख के कांटे, मन सबका आधार

मन से कोई बात छुपे ना, मन के नैन हज़ार
जग से चाहे भाग ले कोई, मन से भाग न पाये
तोरा मन दर्पन कहलाये...

तन की दौलत ढलती छाया, मन का धन अनमोल
तन के कारन मन के धन को, मत माटी में रोल
मन की क़दर भुलाने वाला हीरा जन्म गंवाये
तोरा मन दर्पन कहलाये...
(*काजल* : 1965)
https://www.youtube.com/watch?v=c44Ah24hr9
(1,95,55,421)

कल जहां बसती थीं ख़ुशियां आज है मातम वहां
वक़्त लाया था बहारें, वक़्त लाया है ख़िज़ां

वक़्त से दिन और रात, वक़्त से कल और आज
वक़्त की हर शह ग़ुलाम, वक़्त का हर शय पे राज
वक़्त की गर्दिश से है चांद तारों का निज़ाम
वक़्त की ठोकर में है क्या हुकूमत, क्या समाज
वक़्त से दिन और रात...
वक़्त की पाबंद हैं आती-जाते रौनक़ें
वक़्त है फूलों की सेज, वक़्त है कांटों का ताज
वक़्त से दिन और रात...
आदमी को चाहिए वक़्त से डर कर रहे
कौन जाने किस घड़ी वक़्त का बदले मिजाज़
वक़्त से दिन और रात…
(*वक़्त* : 1965)
https://www.youtube.com/watch?v=iY0s7CToeII
4,404,765 बार देखा गया.

आगे भी जाने न तू, पीछे भी जाने न तू
जो भी है, बस यही एक पल है

अनजाने सायों का राहों में डेरा है
अनदेखी बांहों ने हम सबको घेरा है
ये पल उजाला है बाक़ी अंधेरा है
ये पल गंवाना न, ये पल ही तेरा है
जीने वाले सोच ले यही वक़्त है कर ले पूरी आरज़ू
आगे भी ...

इस पल की जलवों ने महफ़िल संवारी है
इस पल की गर्मी ने धड़कन उभारी है
इस पल के होने से दुनिया हमारी है
ये पल जो देखो तो सदियों पे भारी है
जीने वाले सोच ले यही वक़्त है कर ले पूरी आरज़ू
आगे भी ...

इस पल के साये में अपना ठिकाना है
इस पल की आगे की हर शय फ़साना है
कल किसने देखा है कल किसने जाना है
इस पल से पायेगा जो तुझको पाना है
जीने वाले सोच ले यही वक़्त है कर ले पूरी आरज़ू
आगे भी…
(*वक़्त* : 1965)
https://www.youtube.com/watch?v=tgn5l6mQemo
4,275,070 बार देखा गया.

जियो तो ऐसे जियो जैसे सब तुम्हारा है
मरो तो ऐसे कि जैसे तुम्हारा कुछ भी नहीं

ये एक राज़ कि दुनिया न जिसको जान सकी
यही वो राज़ है जो ज़िंदगी का हासिल है
तुम्हीं कहो तुम्हें ये बात कैसे समझाऊं
कि ज़िंदगी की घुटन, ज़िंदगी की क़ातिल है
हर इक निगाह को क़ुदरत का ये इशारा है
जियो तो ऐसे जियो...

जहां में आ के जहां से खिंचे-खिंचे न रहो
वो ज़िंदगी ही नहीं जिसमें आस बुझ जाये
कोई भी प्यास दबाये से दब नहीं सकती
इसी से चैन मिलेगा कि प्यास बुझ जाये
ये कहके मुड़ता हुआ ज़िंदगी का धारा है
जियो तो ऐसे जियो...

ये आसमां, ये ज़मीं, ये फ़िज़ा, ये नज़्ज़ारे
तरस रहे हैं तुम्हारी-मेरी नज़र के लिए
नज़र चुरा के हर इक शय को यूं न ठुकराओ
कोई शरीके-सफ़र ढूंढ़ लो सफ़र के लिए

बहुत क़रीब से मैंने तुम्हें पुकारा है
जियो तो ऐसे जियो…
(*बहू-बेटी* : 1965)
https://www.youtube.com/watch?v=Pe0CQpnv5lo
57,772 बार देखा गया.

भारत मां की आंख के तारो
नन्हे मुन्ने राज दुलारो
जैसे मैंने तुमको संवारा
वैसे ही तुम देश संवारो
भारत मां की आंख के तारो...

ये जो है एक छोटा सा बस्ता
इल्म के फूलों का गुलदस्ता
कृष्ण है इसमें, राम है इसमें
बुद्ध मत और इस्लाम है इसमें
ये बस्ता ईसा की कहानी
ये बस्ता नानक की बानी
इसमें छुपी है हर सच्चाई
अपना सुख, औरों की भलाई
इस बस्ते को शीश नवाओ
इस बस्ते पर तन-मन वारो
भारत मां की आंख के तारो...

छोड़ के झूठी ज़ातें-पातें
सब से सीखो अच्छी बातें
अपना किसी से बैर न समझो
जग में किसी को ग़ैर न समझो
आप पढ़ो औरों को पढ़ाओ
घर-घर ज्ञान की जोत जगाओ
नव जीवन की आस तुम्हीं हो
बनता हुआ इतिहास तुम्हीं हो
जितना गहरा अंधियारा हो
उतने ऊंचे दीप उबारो
भारत मां की आंख के तारो...

ये संसार जो हमने सजाया
ये संसार जो तुमने पाया
इस संसार में झूठ बहुत है

ज़ुल्म बहुत है, लूट बहुत है
ज़ुल्म के आगे सर न झुकाना
हर एक झूठ से टकरा जाना
इस संसार का रंग बदलना
ऊंच और नीच का ढंग बदलना
सारा जग है देश तुम्हारा
सारे जग का रूप निखारो
भारत मां की आंख के तारो
नन्हे मुन्ने राज दुलारो
जैसे मैंने तुमको संवारा
वैसे ही तुम देश संवारो
भारत मां की आंख के तारो…
(*बहू-बेटी* : 1965)
https://www.youtube.com/watch?v=PjmfcVPGbQQ
27,543 बार देखा गया.

हम इंतज़ार करेंगे तेरा क़यामत तक
ख़ुदा करे कि क़यामत हो और तू आये
ये इंतज़ार भी इक इम्तिहान होता है
किसी के इश्क़ का शो'ला जवान होता है
ये इंतज़ार सलामत हो और तू आये
ख़ुदा करे कि क़यामत हो और तू आये
बिछाये शौक़ के सज्दे वफ़ा की राहों में
खड़े हैं दीद की हसरत लिये निगाहों में
क़ुबूल दिल की इबादत हो और तू आये
ख़ुदा करे कि क़यामत हो और तू आये
वो ख़ुश-नसीब है जिसको तू इंतख़्वाब करे
ख़ुदा हमारी मोहब्बत को कामयाब करे
जवां सितारा-ए-क़िस्मत हो और तू आये
ख़ुदा करे कि क़यामत हो और तू आये
(*बहू बेगम* : 1967)
https://www.youtube.com/watch?v=iPx5cZOjIvE
8,154,400 बार देखा गया.

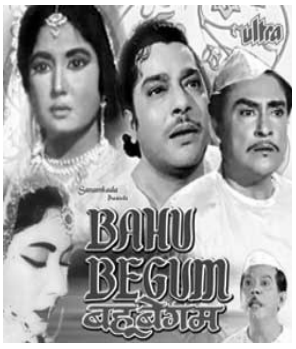

किसी पत्थर की मूरत से मुहब्बत का इरादा है
परस्तिश की तमन्ना है, इबादत का इरादा है

जो दिल की धड़कनें समझे, न आंखों की ज़बां समझे

नज़र की गुफ़्तगू समझे, न जज़्बों का बयां समझे
उसी के सामने उसकी शिकायत का इरादा है
किसी पत्थर की मूरत से...

सुना है हर जवां पत्थर के दिल में आग होती है
मगर जब तक न छेड़ो, शर्म के पर्दे में सोती है
ये सोचा है कि दिल की बात उसके रू-ब-रू कह दें
नतीजा कुछ भी निकले, आज अपनी आरज़ू कह दें
हर इक बेजा तकल्लुफ़ से बग़ावत का इरादा है
किसी पत्थर की मूरत से...

मोहब्बत बेरुख़ी से और भड़केगी वो क्या जाने
तबीअत इस अदा पे और फड़केगी वो क्या जाने
वो क्या जाने कि अपना किस क़यामत का इरादा है
किसी पत्थर की मूरत से…
(*हमराज़:* 1967)
https://www.youtube.com/watch?v=c2SFDSrsIQ8
415,740 बार देखा गया.

तुम अगर साथ देने का वा'दा करो
मैं यूंही मस्त नग़मे लुटाता रहूं
तुम मुझे देख कर मुस्कुराती रहो
मैं तुम्हें देख कर गीत गाता रहूं

कितने जल्वे फ़िज़ाओं में बिखरे मगर
मैंने अब तक किसी को पुकारा नहीं
तुमको देखा तो नज़रें ये कहने लगीं
हमको चेहरे से हटना गवारा नहीं
तुम अगर मेरी नज़रों के आगे रहो
मैं हर इक शय से नज़रें चुराता रहूं
मैंने ख़ाबों में बरसों तराशा जिसे
तुम वही संगे-मरमर की तस्वीर हो
तुम न समझो तुम्हारा मुक़द्दर हूं मैं
मैं समझता हूं तुम मेरी तक़दीर हो
तुम अगर मुझको अपना समझने लगो
मैं बहारों की महफ़िल सजाता रहूं

मैं अकेला बहुत देर चलता रहा
अब सफ़र ज़िंदगानी का कटता नहीं

जब तलक कोई रंगीं सहारा न हो
वक़्त काफ़िर जवानी का कटता नहीं
तुम अगर हम-क़दम बनके चलती रहो
मैं ज़मीं पर सितारे बिछाता रहूं
(*हमराज़* : 1967)
https://www.youtube.com/watch?v=UChwbOJwdRk
51,348,922 बार देखा गया.

बाबुल की दुआएं लेती जा, जा तुझको सुखी संसार मिले
मैके की कभी न याद आये, ससुराल में इतना प्यार मिले

नाज़ों से तुझे पाला मैंने, कलियों की तरह, फूलों की तरह
बचपन में झुलाया है तुझको, बांहों ने मेरी झूलों की तरह
मिरे बाग़ की ऐ नाज़ुक डाली! तुझे हर पल नयी बहार मिले
मैके की कभी न याद आये, ससुराल में इतना प्यार मिले

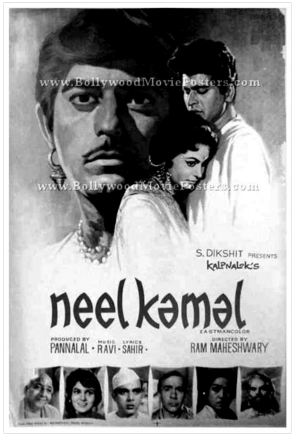

जिस घर से बंधे हैं भाग तेरे, उस घर में सदा तेरा राज रहे
होंटों पे हंसी की धूप खिले, माथे पे ख़ुशी का ताज रहे
कभी जिस की जोत न हो फीकी, तुझे ऐसा रूप-सिंगार मिले
मैके की कभी न याद आये, ससुराल में इतना प्यार मिले

बीतें तेरे जीवन की घड़ियां, आराम की ठंडी छांव में
कांटा भी न चुभने पाये कभी, मेरी लाड़ली तेरे पांव में
उस द्वार से भी दुख दूर रहे, जिस द्वार से तेरा द्वार मिले
मैके की कभी न याद आये, ससुराल में इतना प्यार मिले
(*नीलकमल* : 1968)
https://www.youtube.com/watch?v=FEFTYtt10l0
5,051,406 बार देखा गया.

ग़ैरों पे करम अपनों पे सितम
ऐ जाने-वफ़ा ये ज़ुल्म न कर
रहने दे अभी थोड़ा-सा भरम
ऐ जाने-वफ़ा ये ज़ुल्म न कर
हम चाहने वाले हैं तेरे
यूं हम को जलाना ठीक नहीं
महफ़िल में तमाशा बन जायें
इस दर्जा सताना ठीक नहीं
मर जायेंगे हम, मिट जायेंगे हम

ऐ जाने-वफ़ा ये ज़ुल्म न कर
ग़ैरों के थिरकते शाने पर ये हाथ गवारा कैसे करें
हर बात गवारा है लेकिन ये बात गवारा कैसे करें
तुझको तेरी बेदर्दी की क़सम
ऐ जाने-वफ़ा ये ज़ुल्म न कर

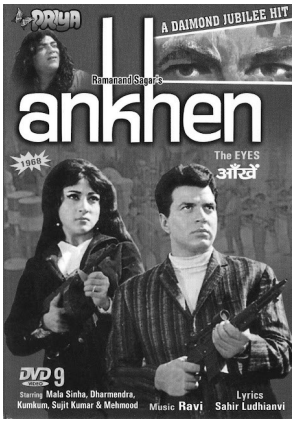

हम भी थे तेरे मंज़ूरे-नज़र
जी चाहे तो अब इक़रार न कर
सौ तीर चला सीने पे मगर
बेगानों से मिलकर वार न कर
बेमौत कहीं मर जायें न हम
ऐ जाने-वफ़ा ये ज़ुल्म न कर
(*आंखें* : 1968)

https://www.youtube.com/watch?v=f_SJ2MPDAZI
26,093,501 बार देखा गया.

बच्चे मन के सच्चे, सारे जग की आंख के तारे
ये वो नन्हे फूल हैं जो भगवान को लगते प्यारे

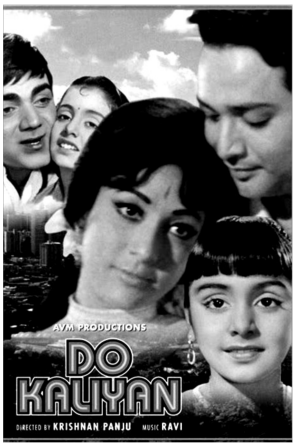

ख़ुद रूठें ख़ुद मन जायें, फिर हमजोली बन जायें
झगड़ा जिसके साथ करें, अगले ही पल फिर बात करें
इनको किसी से बैर नहीं, इनके लिए कोई ग़ैर नहीं
इनका भोलापन मिलता है सब को बांह पसारे
बच्चे मन के सच्चे...

इंसां जब तक बच्चा है, तब तक समझो सच्चा है
ज्यों ज्यों उसकी उम्र बढ़े, मन पर झूठ का मैल चढ़े
क्रोध बढ़े नफ़रत घेरे, लालच की आदत घेरे
बचपन इन पापों से हट कर अपनी उम्र गुज़ारे
बच्चे मन के सच्चे...
तन कोमल मन सुंदर है, बच्चे बड़ों से बेहतर हैं
इनसे छूत और छात नहीं, झूटी ज़ात और पात नहीं
भाषा की तकरार नहीं, मज़हब की दीवार नहीं
इनकी नज़रों में इक हैं, मंदिर मस्जिद गुरुद्वारे
बच्चे मन के सच्चे…
(*दो कलियां* : 1968)

https://www.youtube.com/watch?v=CQuBmwOUFpU
13,607,017 बार देखा गया.

क्या मिलिए ऐसे लोगों से जिनकी फ़ितरत छुपी रहे
नक़ली चेहरा सामने आये, असली सूरत छुपी रहे

ख़ुद से ही जो ख़ुद को छुपाये, क्या उनसे पहचान करें
क्या उनके दामन से लिपटें, क्या उनका अरमान करें
जिनकी आधी नीयत उभरे, आधी नीयत छुपी रहे
नक़ली...

दिलदारी का ढोंग रचाकर, जाल बिछाये बातों का
जीते जी का रिश्ता कहकर, सुख ढूंढ़े कुछ रातों का
रूह की हसरत लब पे आये, जिस्म की हसरत छुपी रहे
नक़ली...

जिनके ज़ुल्म से दुखी है जनता, हर बस्ती हर गांव में
दया धरम की बात करें वो, बैठ के सजी सभाओं में
दान का चर्चा घर-घर पहुंचे, लूट की दौलत छुपी रहे
नक़ली...

देखें इन नक़ली चेहरों की कब तक जय-जयकार चले
उजले कपड़ों की तह में कब तक काला संसार चले
कब तक लोगों की नज़रों से छुपी हक़ीक़त छुपी रहे.
नक़ली...

क्या मिलिए ऐसे लोगों से जिनकी फ़ितरत छुपी रहे
नक़ली चेहरा सामने आये, असली सूरत छुपी रहे
(इज़्ज़त, 1968)

https://www.youtube.com/watch?v=2Uq9Mq7qM
15,541,496 बार देखा गया.

जागेगा इंसान ज़माना देखेगा
उट्ठेगा तूफ़ान ज़माना देखेगा

बहता चलेगा मीलों नहरों का पानी
झूमेगी खेती जैसे झूमे जवानी
चमकेगा देश हमारा मेरे साथी रे
आंखों में कल का नज़ारा मेरे साथी रे
नवयुग का वरदान ज़माना देखेगा
जागेगा इंसान ज़माना देखेगा

फिरते थे मुल्कों-मुल्कों झोली पसारे
अब से जियेंगे हम भी अपने सहारे
चमकेगा देश हमारा मेरे साथी रे
आंखों में कल का नज़ारा मेरे साथी रे
भरे हुए खलियान ज़माना देखेगा
जागेगा इंसान ज़माना देखेगा

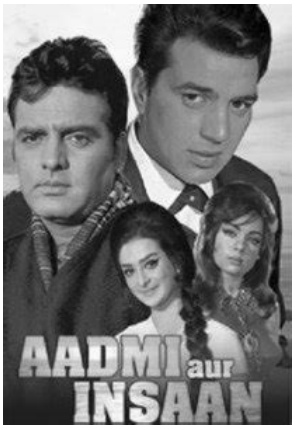

फूटेगा मोती बनके अपना पसीना
दुनिया की क़ौमें हमसे सीखेंगी जीना
चमकेगा देश हमारा मेरे साथी रे
आंखों में कल का नज़ारा मेरे साथी रे
कल का हिंदुस्तान ज़माना देखेगा
जागेगा इंसान ज़माना देखेगा
(*आदमी और इंसान* : 1969)
https://www.youtube.com/watch?v=gQW_NtNZf0w
55,675 बार देखा गया.

अपने अंदर ज़रा झांक मेरे वतन
अपने ऐबों को मत ढांक मेरे वतन

तेरा इतिहास है ख़ूं में लिथड़ा हुआ
तू अभी तक है दुनिया में पिछड़ा हुआ
तूने अपनों को अपना न माना कभी
तूने इंसां को इंसां न जाना कभी
तेरे धर्मों ने ज़ातों की तक़्सीम की
तेरी रस्मों ने नफ़रत की तालीम दी
वहशतों का चलन तुझ में जारी रहा
क़त्लो-ख़ूं का जुनूं तुझ पे तारी रहा
अपने अंदर ज़रा झांक मेरे वतन
अपने ऐबों को मत ढांक मेरे वतन

रंग और नस्ल के दायरे से निकल
गिर चुका है बहुत देर, अब तो संभल
तू द्राविड़ है या आर्या नस्ल है
जो भी है अब इसी ख़ाक की फ़स्ल है
तेरे दिल से जो नफ़रत न मिट पायेगी
तेरे घर में ग़ुलामी पलट आयेगी
तेरी बर्बादियों का तुझे वास्ता
ढूंढ़ अपने लिए अब नया रास्ता

अपने अंदर ज़रा झांक मेरे वतन
अपने ऐबों को मत ढांक मेरे वतन
(*नया रास्ता* : 1970)
https://www.youtube.com/watch?v=Bu6mS5hyLco
2,457 बार देखा गया.

मेरे दिल में आज क्या है तू कहे तो मैं बता दूं
तेरी ज़ुल्फ़ फिर संवारूं, तिरी मांग फिर सजा दूं

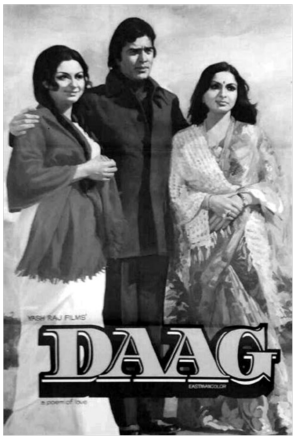

मुझे देवता बनाकर तेरी चाहतों ने पूजा
मेरा प्यार कह रहा है मैं तुझे ख़ुदा बना दूं
कोई ढूंढ़ने भी आये तो हमें न ढूंढ़ पाये
तू मुझे कहीं छुपा दे मैं तुझे कहीं छुपा दूं

मेरे बाज़ुओं में आ कर तेरा दर्द चैन पाये
तेरे गेसुओं में छुप कर मैं जहां के ग़म भुला दूं
तेरी ज़ुल्फ़ फिर संवारूं, तेरी मांग फिर सजा दूं
मिरे दिल में आज क्या है तू कहे तो मैं बता दूं
(*दाग़* : 1973)
https://www.youtube.com/watch?v=IsKN8iylATk
23,913,523 बार देखा गया.

जब भी जी चाहे नयी दुनिया बसा लेते हैं लोग
एक चेहरे पर कई चेहरे लगा लेते हैं लोग

याद रहता है किसे, गुज़रे ज़माने का चलन
सर्द पड़ जाती है चाहत, हार जाती है लगन
अब मोहब्बत भी है क्या, इक तिजारत के सिवा
हम ही नादां थे जो ओढ़ा बीती यादों का कफ़न
वर्ना जीने के लिए सब कुछ भुला लेते हैं लोग
एक चेहरे पर कई चेहरे लगा लेते हैं लोग
जाने वो क्या लोग थे, जिनको वफ़ा का पास था
दूसरे के दिल पे क्या गुज़रेगी ये एहसास था
अब हैं पत्थर के सनम, जिनको एहसास न ग़म
वो ज़माना अब कहां जो अहले-दिल को रास था
अब तो मतलब के लिए नामे-वफ़ा लेते हैं लोग

जब भी चाहे नयी दुनिया बसा लेते हैं लोग
एक चेहरे पर कई चेहरे लगा लेते हैं लोग
(*दाग़* : 1973)

दीवारों का जंगल जिसका आबादी है नाम
बाहर से चुप-चुप लगता है, अंदर है कोहराम

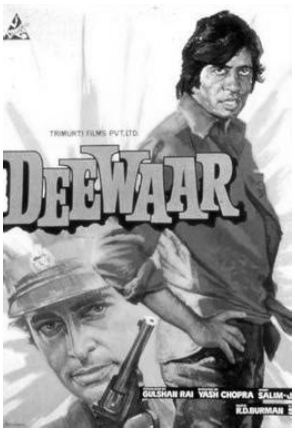

दीवारों के इस जंगल में भटक रहे इंसान
अपने-अपने उलझे दामन झटक रहे इंसान
अपनी बिपता छोड़ के आये कौन किसी के काम
बाहर से चुप-चुप लगता है अंदर है कोहराम
सीने ख़ाली, आंखें सूनी, चेहरों पर हैरानी
जितने घने हगामे इसमें, उतनी घनी वीरानी
रातें क़ातिल, सुबहें मुजरिम, मुल्ज़िम है हर शाम
बाहर से चुप-चुप लगता है अंदर है कोहराम
(*दीवार* : 1975, फ़िल्म में नहीं)
https://www.youtube.com/watch?v=aN1iyM_iRpE
4,281 बार देखा गया.

मैं पल दो पल का शायर हूं, पल दो पल मेरी कहानी है
पल दो पल मेरी हस्ती है, पल दो पल मेरी जवानी है
मैं पल दो पल का शायर हूं ...

मुझसे पहले कितने शायर आये और आकर चले गये
कुछ आहें भर कर लौट गये, कुछ नग़मे गाकर चले गये
वो भी एक पल का क़िस्सा थे, मैं भी एक पल का क़िस्सा हूं
कल तुमसे जुदा हो जाऊंगा, गो आज तुम्हारा हिस्सा हूं
मैं पल दो पल का शायर हूं ...

कल और आएंगे नग़मों की खिलती कलियां चुनने वाले
मुझसे बेहतर कहने वाले, तुमसे बेहतर सुनने वाले
कल कोई मुझको याद करे, क्यूं कोई मुझको याद करे
मसरूफ़ ज़माना मेरे लिए, क्यूं वक़्त अपना बरबाद करे
मैं पल दो पल का शायर हूं ...
(*कभी-कभी*: 1976)
https://www.youtube.com/watch?v=QkGqpVYjLUw
12,636,961 बार देखा गया.

मैं हर इक पल का शायर हूं, हर इक पल मेरी कहानी है
हर इक पल मेरी हस्ती है , हर इक पल मिरी जवानी है
मैं हर इक पल का शायर हूं...
रिश्तों का रूप बदलता है, बुनियादें ख़त्म नहीं होतीं
ख़ाबों की और उमंगों की मीआदें ख़त्म नहीं होतीं

इक फूल में तेरा रूप बसा, इक फूल में तेरी जवानी है
इक चेहरा तेरी निशानी है, इक चेहरा मेरी निशानी है
मैं हर इक पल का शायर हूं
तुझको मुझको जीवन-अमृत अब इन हाथों से ही पीना है
इनकी धड़कन में बसना है, इनके सांसों में जीना है
तू अपनी अदाएं बख़्श इन्हें, मैं अपनी वफ़ाएं देता हूं
जो अपने लिए सोची थीं कभी, वो सारी दुआएं देता हूं
मैं हर एक पल का शायर हूं, हर इक पल मेरी कहानी है
हर एक पल मेरी हस्ती है, हर एक पल मेरी जवानी है
मैं हर एक पल का शायर हूं
(*कभी कभी* : 1976)
https://www.youtube.com/watch?v=ZnI1-fJtsSI
241,632 बार देखा गया.

हुस्न हाज़िर है मुहब्बत की सज़ा पाने को
कोई पत्थर से न मारे मेरे दीवाने को

मेरे दीवाने को इतना न सताओ लोगो
ये तो वहशी हैं तुम्हीं होश में आओ लोगो
बहुत रंजूर है ये, ग़मों से चूर है ये
ख़ुदा का ख़ौफ़ खाओ, बहुत मजबूर है ये
क्यूं चले आये हो बेबस पे सितम ढाने को
कोई पत्थर से न मारे...

मेरे जलवों की ख़ता है जो ये दीवाना हुआ
मैं हूं मुजरिम ये अगर होश से बेगाना हुआ
मुझे सूली चढ़ा दो, कि शोलों में जला दो
कोई शिकवा नहीं है जो जी चाहे सज़ा दो
बख़्श दो इसको, मैं तैयार हूं मिट जाने को
कोई पत्थर से न मारे...

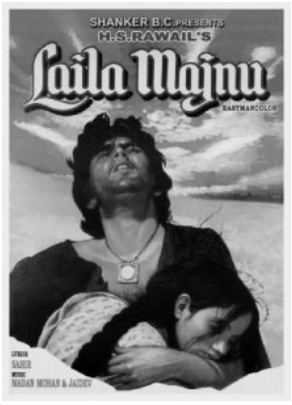

पत्थरों को भी वफ़ा फूल बना सकती है
ये तमाशा भी सरे-आम दिखा सकती है
लो अब पत्थर उठाओ, ज़माने के ख़ुदाओ
तुम्हें मैं आज़माऊं, मुझे तुम आज़माओ
अब दुआ अर्श पे जाती है असर लाने को
कोई पत्थर से न मारे …
(*लैला मजनूं* : 1976)
https://www.youtube.com/watch?v=aonYkU8-owY
20,168,506 बार देखा गया.

लोग औरत को फ़क़त जिस्म समझ लेते हैं
रूह भी होती है उसमें, ये कहां सोचते हैं
रूह क्या होती है इससे, उन्हें मतलब ही नहीं
वो तो बस तन के तक़ाज़ों का कहा मानते हैं
रूह मर जाती है तो ये जिस्म है चलती हुई लाश
इस हक़ीक़त को समझते हैं, न पहचानते हैं
कितनी सदियों से ये वहशत का चलन जारी है
कितनी सदियों से है क़ायम ये गुनाहों का रिवाज
लोग औरत की हर इक चीख़ को नग़्मा समझे
वो क़बीलों का ज़माना हो, कि शहरों का रिवाज
जब्र से नस्ल बढ़े, ज़ुल्म से तन मेल करें
ये अमल हम में है, बे-इल्म परिंदों में नहीं
हम जो इंसानों की तहज़ीब लिये फिरते हैं
हम-सा वहशी कोई जंगल के दरिंदों में नहीं
इक बुझी रूह, लुटे जिस्म के ढांचे में लिये
सोचती हूं मैं कहां जा के मुक़द्दर फोड़ूं
मैं न ज़िंदा हूं कि मरने का सहारा ढूढूं
और न मुर्दा हूं कि जीने के ग़मों से छूटूं
कौन बतलायेगा मुझको, किसे जाकर पूछूं
ज़िंदगी क़हर के सांचों में ढलेगी कब तक
कब तलक आंख न खोलेगा ज़माने का ज़मीर
ज़ुल्म और जब्र की ये रीत चलेगी कब तक
(इंसाफ़ का तराज़ू, 1980)

https://www.youtube.com/watch?v=ZtPiq58Z57Q
72,568 बार देखा गया.

सिमटी हुई ये घड़ियां फिर से न बिखर जायें
इस रात में जी ले हम, इस रात में मर जायें
सिमटी हुई ये घड़ियां...

अब सुबह न आ पाये, आओ ये दुआ मांगे
इस रात के हर पल से, रातें ही उभर जायें
सिमटी हुई ये घड़ियां...

दुनिया की निगाहें अब हम तक न पहुँच पायें
तारो में बसे चलकर, धरती में उतर जायें
सिमटी हुई ये घड़ियां...

हालात के तीरों से छलनी है बदन अपने

पास आओ कि सीनों के कुछ ज़ख्म तो भर जायें
सिमटी हुई ये घड़ियां...

आगे भी अंधेरा है, पीछे भी अंधेरा है
अपनी हैं वही सांसें, जो साथ गुज़र जायें
सिमटी हुई ये घड़ियां...

बिछड़ी हुई रूहों का ये मेल सुहाना है
इस मेल का कुछ एहसां, जिस्मों पे भी कर जायें
सिमटी हुई ये घड़ियां...

तरसे हुए जज़्बों को अब और न तरसाओ
तुम शाने पे सर रख दो, हम बांहों में भर जायें
सिमटी हुई ये घड़ियां.
(चम्बल की क़सम, 1980)

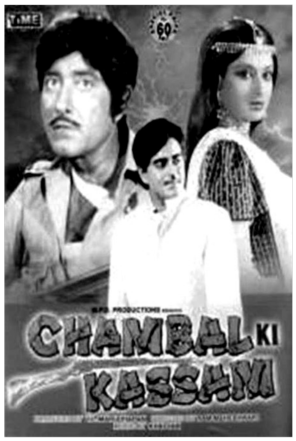

https://www.youtube.com/watch?v=YNwck9xHyys
1,527,787 बार देखा गया.

सवेरा (1948) का संपादकीय : 'बातचीत'

साहिर लुधियानवी

(उर्दू की एक महत्वपूर्ण पत्रिका, *सवेरा* 1946 में लाहौर से प्रकाशित होना शुरू हुई. अहमद नदीम क़ासमी, नज़ीर चौधरी और फ़िक्र तौंसवी इसके पहले अंक के संपादक थे. नज़ीर चौधरी ने यह रिसाला, अदबे-लतीफ़ छोड़ने के बाद शुरू किया था. सियासी उथल-पुथल के उस दौर में पत्रिका न तो वक़्त पर छप सकती थी, न इसके संपादक ही स्थायी थे. चुनांचे *सवेरा* के अंक दो (1947) के संपादक मंडल में से फ़िक्र तौंसवी ग़ायब हो गये, जबकि तीसरे अंक (1948) में साहिर लुधियानवी का नाम संपादक मंडल में शामिल हुआ. यह अंक आज़ादी के बाद का, और नये मुल्क पाकिस्तान का पहला *सवेरा* था. अन्य दो संपादक, अहमद नदीम क़ासमी और नज़ीर चौधरी ही थे. लेकिन अंक चार (1948) में केवल नज़ीर चौधरी और साहिर का नाम प्रकाशित हुआ. *सवेरा* के इस अंक का संपादकीय, 'बातचीत' शीर्षक से गांधीजी की शहादत के बाद लिखा गया था जिसमें दोनों देशों की स्वार्थजनित और जनविरोधी राजनीति से सचेत करते हुए लेखकों से अवाम की रहनुमाई करने का आवाहन किया गया था. साहिर की राजनीतिक विचारधारा और इस संपादकीय के तेवरों ने नये मुल्क के नये हुक्मरानों का ध्यान अवश्य ही आकृष्ट किया होगा, क्योंकि ज़्यादा समय नहीं गुज़रा कि साहिर को चुपके से वापस भारत लौटना पड़ा. अपने इसी ऐतिहासिक महत्व के कारण *सवेरा* अंक 4 का यह संपादकीय यहां पेश किया जा रहा है-सं.)

गांधीजी की मौत के बाद पाकिस्तान और हिंदुस्तान की सियासी ज़िंदगी का एक नया दौर शुरू होता है. इस नये दौर में तरक़्क़ी और रजअत (प्रगति और प्रतिक्रियावाद) के नुमाइंदा तबक़ों की जंग स्पष्ट और नुमायां-तर हो गयी है. गांधीजी की मौत ने अवाम पर जो मनोवैज्ञानिक असर छोड़ा था, हिंदुस्तान और पाकिस्तान की हुकूमतों ने उससे पूरी तरह फ़ायदा नहीं उठाया क्योंकि अभी तक दोनों हुकूमतों में ऐसे लोगों की बहुतायत है जो यह नहीं चाहते कि अवाम का ज़हन ग़लत क़िस्म के सांप्रदायिक जुनून से हटकर ज़िंदगी की वास्तविक और बुनियादी समस्याओं की तरफ़ केंद्रित हो और वे अपनी रोज़मर्रा की ज़रूरतें पूरी करने के लिए देसी सरमायादारों और जागीरदारों के ख़िलाफ़ पंक्तिबद्ध होकर खड़े हो जायें. इसीलिए वे अवाम को विभिन्न नारों में उलझाये रखना चाहते हैं. और इसमें शक नहीं कि वे एक लंबे अरसे तक अपने इस मक़सद में कामयाब भी रहे, लेकिन अवाम की चेतना जाग रही है, और सामूहिकता का एहसास परवान चढ़ रहा है. यह सही है कि अभी इस धरती की रगों से फ़िरक़ापरस्ती का ज़हर पूरी तरह से बाहर नहीं हुआ लेकिन फ़सादात का सैलाबी दौर गुज़र गया है, और अपने पीछे जली हुई बस्तियों, अकाल पीड़ित आबादियों और लुटी हुई इज़्ज़तों का एक अंतहीन कारवां छोड़ गया है. जैसे-जैसे नये हुक्मरां अपने असली रूप में अवाम के सामने आते जा रहे हैं, पुराने तिलिस्म टूट रहे हैं, राष्ट्रीयता के वे महल चकनाचूर हो रहे हैं जिनकी बुनियाद मज़हब के ग़लत नज़रिये पर रखी गयी थी. अवाम अपने असली दुश्मनों को पहचान रहे हैं, और दोनों देशों में लोग अपने-अपने प्रतिगामी शासकों के ख़िलाफ़ एक बेहतर और मज़बूत जीवन को पाने के लिए जद्दोजहद शुरू कर रहे हैं. हमारे अदीबों और फ़नकारों का फ़र्ज़ है कि वे अवाम की मांगों का साथ दें और इस जद्दोजहद में उनकी रहनुमाई करें.

ज्यों-ज्यों इस महाद्वीप में वर्ग-संघर्ष तेज़ होगा, फ़िरक़ापरस्ती का जुनून कम होगा, और विश्वव्यापी भाईचारे की परिकल्पना परवान चढ़ेगी, प्रतिगामी संस्थाएं कमज़ोर पड़ेंगी और जनतंत्र और समाजवाद की ताक़तों को बढ़ावा मिलेगा. जब तक हिंदुस्तान और पाकिस्तान में मौजूदा शासक वर्ग की जगह वामपंथी ताक़तों की सत्ता क़ायम नहीं हो जाती, ख़ुशहाल ज़िंदगी और संतुलित समाज की प्राप्ति और अल्पसंख्यकों को फिर से बसाने के ख़्वाब पूरे नहीं हो सकते.

हमारे अदीबों और फ़नकारों को इस नये दौर में पहले से भी ज़्यादा कठिनाइयों का मुक़ाबला करना पड़ेगा. मुमकिन है हमारे बहुत से दोस्तों को यूरोप और चीन के अदीबों की तरह क़ैदो-बंद की मुश्किलें भी बर्दाश्त करनी पड़ें. यह भी मुमकिन है कि बहुत से अदीब हमारा साथ छोड़ जायें, और हम संख्या में कम रह जायें, लेकिन हमें इन चीज़ों से घबराना-डरना नहीं चाहिए. हर दौर अपने प्रतिनिधि ख़ुद पैदा करता है, हम जहां कुछ पुरानी और जीर्ण-शीर्ण मूर्तियों को टूटते देखेंगे वहां नयी इंक़लाबी जद्दोजहद के गर्भ से असंख्य नये फ़नकारों को जन्म लेते भी देखेंगे. और फिर अगर हमारा अहसास पुख़्ता, हमारे जज़्बात नेक, और हमारी धारणाएं ठोस बुनियादों पर क़ायम हैं तो कोई वजह नहीं कि हम इस नये दौर में भय और समझौते की बुनियाद पर क़दम पीछे हटाने का रुझान अपना लें और वक़्त और माहौल के तक़ाज़ों का साथ न दे सकें.

हमें अपने लेखक साथियों की सामूहिक चेतना और दूरदर्शिता पर भरोसा है, और हमें उम्मीद है कि वे इस नये दौर में न सिर्फ़ अवाम की रहनुमाई करेंगे बल्कि उन हमलों का एकजुट होकर जवाब भी देंगे जिनकी तैयारी में इस वक़्त हुकूमत के प्रतिगामी हल्क़े व्यस्त हैं.

अनुवाद: अर्जुमंद आरा

साभार : https://www.rekhta.org/ebook-detail/savera-shumara-number-004-nazeer-chaudhary-sahir-ludhianvi-magazines

.

'जान पहचान'

(*सवेरा*, लाहौर, अंक 4, 1948 में शामिल कुछ लेखकों का साहिर का लिखा हुआ परिचय)

ख़्वाजा अहमद अब्बास

ख़्वाजा अहमद अब्बास उर्दू के इन तरक़्क़ीपसंद अदीबों में से हैं जिन्होंने इस राज़ को पा लिया है कि श्रेष्ठ और उच्च-कोटि का साहित्य सृजन स्थाई मूल्यों के पीछे भागने से नहीं, समसामयिक विषयों को अपनाने ही से हो सकता है. अब्बास का फ़न उसके दौर की राजनीतिक और सामाजिक उलझनों का प्रतिबिंब ही नहीं, समीक्षा भी करता है और इसी में उसकी कला की महानता है.

अंग्रेज़ी और उर्दू दोनों ज़बानों में लिखता है और बहुत तेज़ लिखता है. मेहनत और जफ़ाकशी में अपना जवाब नहीं रखता, यहां तक कि वह रात को एक अंग्रेज़ी ड्रामा लिखेगा, सुबह उसका उर्दू में तर्जुमा कर देगा, दोपहर के वक़्त हिंदुस्तानी अवामी थिएटर के अदाकारों को उसकी रिहर्सल करवायेगा और शाम के साढ़े सात बजे उसे सुंदरबाई हाल, मैरीन लाइंज़ बंबई में स्टेज करेगा, और रात के दस बजे घर जाते हुए उस ड्रामे पर टिप्पणी लिखकर *बंबई क्रॉनिकल* के अंतिम पृष्ठ पर शाय भी करवा देगा.

सर के बेशतर हिस्से पर बाल नहीं हैं लेकिन आसार बताते हैं कि किसी ज़माने में रहे ज़रूर होंगे. एक अर्से से बंबई में रहता है. एक अंग्रेज़ी दैनिक का एडीटर है, तीन चार फ़िल्मों की कहानियां लिख चुका है, दो तीन फ़िल्मों में डायरेक्टर का दायित्व निभा चुका है, और आजकल एक निजी फ़िल्म कंपनी क़ायम करने की धुन में है.

भयानक दंगों के दिनों में भी बंबई के ख़ालिस हिंदू इलाक़े शिवाजी पार्क में रहता था और पैदल घर जाता था. यह उसके ईमान के पक्के होने का ठोस सबूत है—विश्वव्यापी मानव अधिकारों के नज़रिये पर एक इंसान के ईमान का सबूत. गांधी जी की मौत पर उर्दू में सबसे पहली कहानी अब्बास ने लिखी है और वस्तुत: उसी का यह हक़ था.

ज़हीर काश्मीरी

सूरत शक्ल से इंकलाबे-फ़्रांस के ज़माने का कोई 'मरहूम अदीब' मालूम होता है... लंबोतरा चेहरा, नुकीली और तीखी नाक, सुर्ख़-रंग, लंबे और घने भूरे बाल और ब्रश जैसी दाढ़ी. और सच्ची बात तो यह है कि इसमें और इंकलाबे-फ़्रांस के अदीबों में बहुत सी विशेषताएं हैं भी एक जैसी. दो बार जेल जा चुका है और बरसों तक मज़दूरों और किसानों के ज़मीनी संघर्ष में हिस्सा लेता रहा है. बातचीत का अंदाज़ ख़तीबाना (तक़रीरी) है. और इस हद तक ख़तीबाना कि अच्छी ख़ासी महफ़िल पर स्टडी सर्किल का रंग तारी हो जाये.

अमृतसर में पैदा हुआ और वहीं पर मुस्लिम ऐंग्लो-ओरिएंटल कॉलेज में बी.ए. तक तालीम हासिल की. पिछले कुछ वर्षों से लाहौर में रहता है और फ़िल्मों के गाने, मकालमे लिखता है. आलोचनात्मक लेखों का संग्रह, *अदब के माद्दी नज़रिये* शीर्षक से छप चुका है और नज़्मों का मजमूआ, *अज़मते-आदम* जल्द ही *नया इदारा* लाहौर से छपने वाला है.

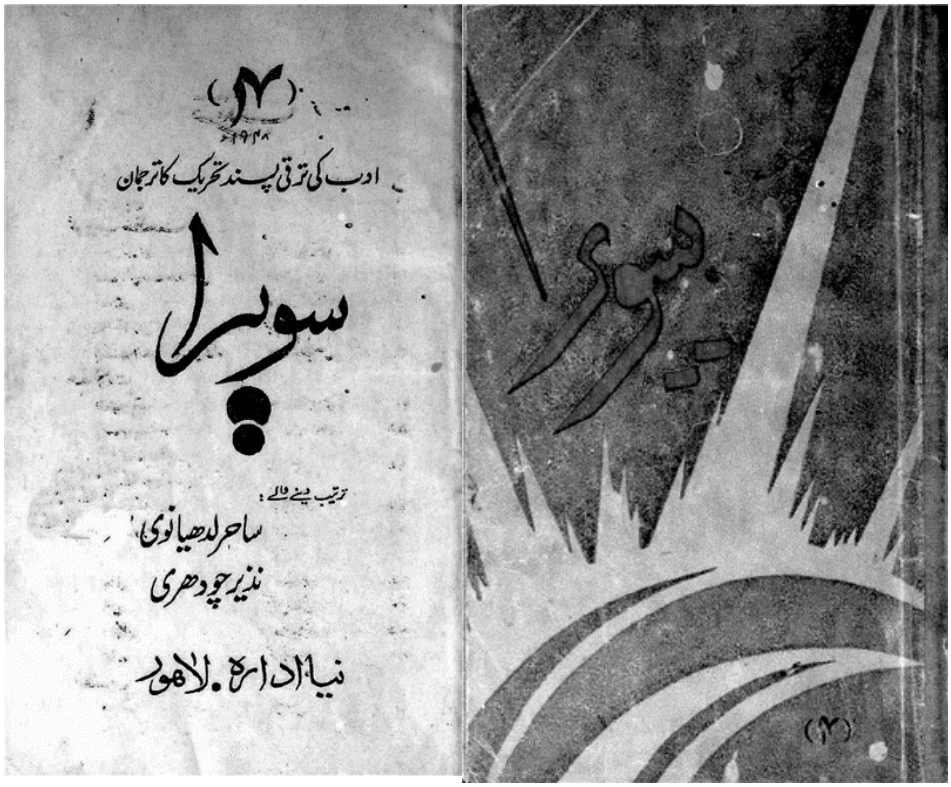

सवेरा-4 का मुख पृष्ठ और संपादकीय विवरण

सैफ़ुद्दीन सैफ़

नौजवान शायरों में सैफ़ ग़ालिबन अकेला शायर है जिसने ग़ज़ल की तरफ़ संजीदगी से तवज्जो दी है. रूमानी प्रकृति का है, और ज़िंदगी के मुताल्लिक़ उसका रवैया भी बड़ी हद तक रूमानियत-पसंदाना है. शायद यही वजह है कि इर्तिक़ा/विकास और इंसान भविष्य की बेहतरी पर यक़ीन रखने के बावजूद उसकी शायरी किसी हद तक थकन और निराशा का अक्स लिये हुए है.

इस निराशा ने उसकी शायरी में एक ऐसी चुभन और मिठास पैदा कर दी है जो पढ़ने वाले के दिल पर सीधे असर करती है. शुरू कॉलेज के ज़माने में 'ख़ाकसार तहरीक' से वाबस्ता था, आजकल हर फ़ासीवादी या अर्ध-फ़ासीवादी तहरीक का विरोधी और मज़हबी अंधविश्वास का बाग़ी है.

कैफ़ी आज़मी

घने और ख़ुश्क बालों वाला सांवला सा नौजवान जिसकी शायरी खेतों की धूल और कारख़ानों की गड़गड़ाहट में पैदा हुई और वहीं परवान चढ़ी. आजकल उर्दू अदब में विवादास्पद बना हुआ है. कला और प्रोपेगेंडा की कोई बहस हो, उसमें कैफ़ी का ज़िक्र ज़रूर आता है. मध्यम श्रेणी के आलोचक उसकी रूमानी शायरी की तारीफ़ करते हैं लेकिन सियासी नज़्मों का ज़िक्र आते ही बिदक उठते हैं.

कैफ़ी किसी यूनीवर्सिटी का सनद-याफ़्ता नहीं, और न उसे अंग्रेज़ी अदब पर महारत हासिल है, वर्ना शायद वह आसानी से अपने नज़रियात के जवाज़ में आधुनिक रूस से मायाकोव्स्की, आधुनिक फ़्रांस से लुई अरागोन

और आधुनिक स्पेनी शायरी से पेब्लो नेरूदा के हवाले दे देकर अवचेतन के लेखकों का मुंह बंद कर देता. लेकिन वह इन सबकी शायरी से परिचित नहीं, हां अपनी शायरी को अच्छी तरह पहचानता है, और जानता है कि अदब का सही स्थान अमीरों की घुटी हुई महफ़िलें नहीं, ज़िंदगी के खुले मैदान हैं—वो मैदान जिनमें इंसानियत दरांतियों और हथौड़ों के साये में सरमायादारी और जागीरदारी के क़िलों की जानिब पेशक़दमी कर रही है.

आज़मगढ़ (यूपी) में पैदा हुआ. वहीं उर्दू और फ़ारसी की आला तालीम हासिल की और वहीं से अपनी शायराना ज़िंदगी का आग़ाज़ किया. 1942 से बंबई में रहता है, और हिंदुस्तानी कम्युनिस्ट पार्टी का फ़ुल-टाइम कार्यकर्ता है जहां से उसे दो वक़्त का खाना और चाय, और नौ-रुपये-चौदह-आने माहवार मिलते हैं. पिछले साल औरंगाबाद के एक ख़ुशहाल घराने की लड़की शौकत से उसकी शादी हो गयी है, जो उसकी शरीके-हयात (जीवन संगिनी) भी है और शरीके-कार (सहकर्मी) भी.

नाहीद आलम

गहरी आंखों और गोलाये हुए सुनहरे बालों वाली, लंबी-सी, गोरी-सी लड़की जिसने अभी लिखना शुरू ही किया था कि लिखना छोड़ भी दिया, हमारे दौर की सबसे नौ-उम्र अफ़्साना-निगार है. इसके पात्रों की उलझनें आम तौर पर आंतरिक होती हैं और वो उनका हल भी आम तौर से आंतरिकता ही में तलाश करते हैं. फिर भी उसकी कहानियां पढ़कर उस घुटन का एहसास नहीं होता जो उससे पहले की महिलाओं के कथा-साहित्य का नुमायां हिस्सा रही है. इसीलिए यह बात यक़ीनी है कि अगर उसने लिखना छोड़ न दिया तो उसकी कला को अपना समाजिक स्थान तलाश करने में देर नहीं लगेगी.

1928 में जलालाबाद ज़िला फ़िरोज़पुर में पैदा हुई. रियासत पटौदी में पली और पटौदी ही से, जहां उसके वालिद रियासत के दीवान थे, प्राइवेट तौर पर बी.ए. का इम्तिहान पास किया. 1947 में अजमेर के एक अमीर घराने में उसकी शादी हो गयी थी, जहां से पाकिस्तान बनने के बाद वह अपने शौहर के साथ लाहौर चली आयी है. एक साल की लंबी ख़ामोशी के बाद 'रख़्शी' उसने पहली कहानी लिखी है. शायद यह तमन्ना करना ना-मुनासिब न होगा कि वह लिखेगी और लिखती रहेगी.

तरक़्क़ीपसंद अदीब और देशप्रेम

साहिर लुधियानवी

पिछले कुछ महीनों से तरक़्क़ी-पसंद अदीबों के विरोध में लगभग एक ही तरह के और एक ही रुझान के लेख पाकिस्तान के विभिन्न अख़बारों और पत्रिकाओं में प्रकाशित हो रहे हैं. ये लेख अपने वास्तविक स्वरूप और बुनियादी उद्देश्यों के एतबार से उन्हीं लेखों का एक हिस्सा हैं जिनका प्रारंभ आज से बारह वर्ष पहले हुआ था. फ़र्क़ केवल इतना है कि पहले यह विरोध धर्म और नैतिकता के नाम पर किया जाता था, फिर फ़्रांस के प्रतिगामी लेखकों, बोदलेयर और फ़्लाबेयर की भाषा में होने लगा (जो मानसिक रूप से ही नहीं, शारीरिक तौर पर भी बीमार थे और ख़तरनाक गुप्तरोगों में गल कर मरे थे)कि जो पाकिस्तान की मज़बूती और रियासत के वफ़ादार नहीं हैं वे रूस के एजेंट हैं, उनकी कला कला नहीं है,कम्युनिज़म का प्रोपगैंडा है. वे फ़िफ़्थ कालम हैं वग़ैरह वग़ैरह.

मुहम्मद हसन अस्करी साहिब को तो यह भी सदमा है कि हुकूमत इन मरदूदों को गिरफ़्तार क्यों नहीं करती. क़ता-नज़र इससे कि अदबी या वैचारिक मतभेद की बिना पर किसी लेखक का फ़ौज या पुलिस की मदद तलब करना कहां का अच्छा है, ख़ुद राज्य से वफ़ादारी का मामला बेहद उलझा हुआ है.

पिछले दिनों जब डाकख़ाने के मुलाज़िमों, रेलवे के मज़दूरों, सूबे के क्लर्कों और मर्कज़ी हुकूमत के दो लाख मुलाज़िमों ने बढ़ती हुई महंगाई के कारण वेतन में इज़ाफ़े की मांग की थी और छटनी के ख़िलाफ़ तहरीक चलायी थी तो उन्हें भी ग़द्दार और पाकिस्तान के दुश्मन कहा गया था; और ख़ुद अस्करी साहिब ने हड़ताल के विरोध में पृष्ठ के पृष्ठ काले कर डाले थे और अब जब कि उनमें से बहुत से मज़दूर और नौकरीपेशा लोग वापस हिंदुस्तान जा रहे हैं तो उन्हें भी ग़द्दार कहा जा रहा है. राज्य में मुस्लिम लीग का अध्यक्ष अगर जागीरदारी व्यवस्था को समाप्त करने की मांग करे तो वह ग़द्दार है और अगर सज्जाद ज़हीर पाकिस्तान में एक से ज़्यादा राजनीतिक दलों का होना ज़रूरी समझे तो वह पाकिस्तान का दुश्मन है. आख़िर यह वफ़ा कैसी है? इसका मेयार क्या है? अस्करी साहिब मुझे इजाज़त दें तो मैं कहूं कि राष्ट्र, मज़दूर आंदोलनों से ख़तरे में नहीं पड़ता, सत्तावर्ग की स्वार्थी मानसिकता से ख़तरे में पड़ता है. क़ौम को रोटी और काम की मांग से नुक़्सान नहीं पहुंचता, जागीरदारों की उस अपंग राजनीति से पहुंचता है जो आर्थिक संकट पैदा करती है और लोगों को सड़कों और कैंपों में भूखों मरने पर मजबूर करती है.

देश किसी व्यक्ति विशेष या वर्ग का नाम नहीं है, देश का वजूद अवाम से अर्थ पाता है, हर सच्चा और तरक़्क़ी-पसंद अदीब अपने अवाम का वफ़ादार होता है, अपनी रचनात्मक सलाहियतों से उन्हें ज़िंदगी और तरक़्क़ी की जद्दोजहद में मदद देता है. इतिहास ऐसी मिसालों से भरा पड़ा है जहां तरक़्क़ी-पसंद अदीबों को देश को बचाने के लिए हुक्मरां तबक़ों के ख़िलाफ़ जंग करनी पड़ी है. देश और सरकार दो मुख़्तलिफ़ चीज़ें हैं और ज़रूरी नहीं कि हुक्मरां तबक़े और देश का वफ़ादार एक हो. दुनिया की दूसरी बड़ी जंग में फ़्रांस की पूंजीवादी हुकूमत ने अपने देश के जन-आंदोलनों से भयभीत होकर फ़्रांस को ख़ुशी-ख़ुशी हिटलर की झोली में डाल दिया था. इसलिए नहीं कि इसमें देश की बेहतरी थी, बल्कि इसलिए कि हुक्मरां तबक़ा अपनी मिलें, अपने कारख़ाने और अपने बैंक सुरक्षित रखना चाहता था, चाहे इसके लिए उसे अपने देश के अवाम को फ़ासीवाद के नरक में ही क्यों न झोंकना पड़े.

ख़ुद हमारे देश में क्या हमारे बड़े सियासी दलों के लीडरों ने बंगाल के तिरेपन लाख किसानों के संघर्ष से, बंबई और कराची के जहाज़ियों की बग़ावत और रेलवे के अठारह लाख मज़दूरों की देशव्यापी हड़ताल से ग़द्दारी नहीं की थी? हम केवल इस डर के मारे हुए हैं कि अवामी क्रांति जहां बर्तानिया के शासन को ख़त्म करेगी, वहां इन सियासी दलों के समर्थक पूंजीपति और जागीरदार वर्गों के स्वार्थों को भी ख़तरे में डाल देगी. और आज भी जब कि हिंदुस्तान और पाकिस्तान के आज़ाद देश वजूद में आ चुके हैं, क्या अवाम और हुकूमत के हितों में परस्पर विरोध नहीं है? क्या आज राष्ट्र की मज़बूती और ख़ुशहाली का यह तक़ाज़ा नहीं है कि किसानों को दासता से मुक्ति दिलायी जाये और देश के उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करके मज़दूरों को भूखों मरने से बचाया जाये? लेकिन इस तरह की आवाज़ बुलंद करने वालों को आज ग़द्दार और फ़िफ़्थ कालम कहा जा रहा है. क्योंकि इन आंदोलनों से जागीरदारों और सरमायादारों के विशिष्ट निहित स्वार्थों पर चोट पड़ती है और यही वर्ग इस समय राष्ट्र-हितों पर क़ब्ज़ा किये हुए है. लिहाज़ा अवाम को भड़काने और अपने वेतनधारी-एजेंटों की मदद से अपनी मौत को मुल्क की मौत साबित कर दिखाना कुछ भी मुश्किल नहीं. लेकिन वे अदीब और शायर जो देश और सरकार के आपसी फ़र्क़ को समझते हैं और अपने देश के अवाम को ख़ुशहाल और चिंतामुक्त देखना चाहते हैं, वे सत्ता-लोलुप जागीरदार और सरमायादार तबक़ों की चालों के ख़िलाफ़ आवाज़ उठायेंगे. अगर वे इस व्यवस्था और इस वर्ग के ख़िलाफ़ आवाज़ नहीं उठाते तो वे अपने अवाम और अपने देश से ग़द्दारी करते हैं.

अभी हमारा समाज वर्ग आधारित है और उन वर्गों के हित अलग अलग ही नहीं बल्कि परस्पर-विरोधी हैं. आज कोई भी अदीब एक साथ मज़दूर और सरमायादार, किसान और जागीरदार का वफ़ादार नहीं हो सकता. उसे या तो अवामी पंक्तियों में आना पड़ेगा, या अवाम के दुश्मन वर्गों का समर्थन करना होगा. अंजुमन तरक़्क़ी-पसंद मुसन्निफ़ीन अपना रास्ता चुन चुकी है और अपने घोषणापत्र में साफ़ तौर पर कह चुकी है कि उसकी वफ़ादारी अपने देश के अवाम के साथ है. हुकूमत की पालिसी जब और जहां कहीं भी जम्हूरी हितों से टकरायेगी—और अच्छी हुकूमत की पालिसी को कभी और कहीं भी जम्हूरी हितों से नहीं टकराना चाहिए—तरक़्क़ी-पसंद अदीब अपनी पूरी ताक़त के साथ ऐसी हुकूमत के विरुद्ध आवाज़ उठायेंगे. उन्हें मालूम है कि अवाम इस वक़्त असंगठित हैं, अशिक्षित हैं और निहत्थे हैं. उन्हें यह भी मालूम है कि प्रतिगामी वर्ग, मज़बूत और हथियारबंद हैं और उन्होंने

अवाम को गुमराह करने के लिए अनगिनत दिमाग़ों को ख़रीद रखा है, लेकिन उन्हें जीवन और विकास की शक्तियों पर भरोसा है. उन्हें सच्चाई और नेकी पर भरोसा है. वे हुकूमत के कड़े से कड़े दमन के बावजूद अवाम से अपनी वफ़ादारी निभायेंगे और अवाम के कंधे से कंधा मिलाकर आज़ादी और जनतंत्र की जंग में हिस्सा लेंगे. हुकूमत उन्हें जेल भेज सकती है, और मुझे यक़ीन है कि अगर अस्करी साहिब ने हुकूमत को यह क़ीमती मश्वरा न दिया होता, तो भी वह इसका सामर्थ्य रखती थी. तरक़्क़ी-पसंद अदीबों के लिए जेल कोई नयी या अनोखी चीज़ नहीं है, वे बर्तानवी हुकूमत के दौर में भी जेल भेजे जाते रहे हैं. हिटलर और मुसोलिनी ने भी उन्हें अपने दमन का शिकार बनाया है. चीन के राष्ट्रीय दल कोमिनतांग ने भी उनके लिए क़दम-क़दम पर फांसियां गाड़ी हैं, स्पेन की जम्हूरी जंग में भी वे मौत का मुक़ाबला कर चुके हैं और कॉडवेल, लोर्का और राल्फ़ फ़ॉक्स जैसे फ़नकारों को अपनी आंखों के सामने शहीद होते देख चुके हैं, आज इंडियन यूनियन में भी उन पर कड़ी निगरानी रखी जा रही है. और मिस्टर अशोक मेहता हुकूमते-हिंद से कह रहे हैं कि अंजुमन तरक़्क़ी-पसंद मुसन्निफ़ीन को अवैध क़रार दिया जाये. अस्करी साहिब इस वक़्त पाकिस्तान में तरक़्क़ी-पसंद मुसन्निफ़ीन के विरुद्ध जो 'मुक़द्दस'(पवित्र) जंग लड़ रहे हैं, वह अंतर्राष्ट्रीय प्रगतिविरोधी सोच से अलग या कटी हुई घटना नहीं, बल्कि उसी का एक हिस्सा है. आज अमरीका में भी इसी प्रकार के नारे बुलंद किये जा रहे हैं. हैनरी लैस को क़त्ल की धमकियां दी जा रही हैं और चार्ली चैपलिन को देश-निकाला दिया जा रहा है क्योंकि वे तीसरी जंग नहीं चाहते. वे जानते हैं कि जंग में अमरीकी पूंजीपतियों का फ़ायदा हो तो हो, अमरीकी अवाम का कोई नहीं. अवाम आर्थिक संपन्नता, अमन और ख़ुशहाली चाहते हैं, तबाही और ख़ून-ख़राबा नहीं चाहते, उनकी रूहें अमृत की प्यासी हैं, तोपों और बंदूक़ों के धमाकों की इच्छुक नहीं. लेकिन उनकी इस इस इच्छा की अभिव्यक्ति अमरीकी सरमायादारों की नज़र में देश से ग़द्दारी है क्योंकि इस रुझान के प्रसार से उनके साम्राज्यवादी जाल के धागे टूटने का डर है.

यहां हम लोगों पर ग़द्दारी का इल्ज़ाम लगाया जा रहा है, क्योंकि हम पाकिस्तान को अमरीका की साम्राज्यवादी लालसा की पूर्ति का साधन नहीं बनाना चाहते, क्योंकि हम किसानों को भू-दासता से आज़ाद देखना चाहते हैं और कारख़ानों को व्यक्तिगत स्वामित्व से निकाल कर राष्ट्रीय स्वामित्व में देना चाहते हैं. आज हमारी आवाज़ को रोका जा सकता है लेकिन कल इस तूफ़ान को कौन रोकेगा जो एक-एक घर, एक-एक गांव, एक-एक शहर से फूट रहा है? हिंदुस्तान में, पाकिस्तान में, इटली में, फ़्रांस में, चीन में, बर्मा में, इंडोनेशिया में, इस आवाज़ को कहां-कहां रोका जा सकता है? कहां-कहां देश से वफ़ादारी के पुरफ़रेब नारों से इस तूफ़ान के रास्ते में बांध बांधे जा सकते हैं? मानवता एक विश्वव्यापी व्यवस्था की ओर बढ़ रही है, उसके सर पर विकास के हाथ का साया है,और उसकी पुश्त पर ऐतिहासिक कारकों की बेपनाह शक्ति है. उसे कौन रोक सकता है?

हम मानवता के इस महान कारवां की उमंगों और उम्मीदों को प्रतिबिंबित करते हैं. हमारी कला की नन्ही-नन्ही किरणें दुनिया को रौशनी और गर्मी पहुंचाने वाले सूरज की किरणों का एक हिस्सा हैं जो दुनिया भर के अवाम के ललाट पर उदित हो रहा है. हमें क़ैद किया जा सकता है लेकिन इस सूरज की रौशनी को कोई क़ैद नहीं कर सकता. उसे न अमरीकी ता-उम्र क़ैद कर सकते हैं, न हिंदुस्तानी सरमायादार. न पाकिस्तानी जागीरदार जकड़ सकते हैं और न उनके अदबी मुहाफ़िज़, मुहम्मद हसन अस्करी साहिब. यह सूरज तो अभी और उभरेगा और रौशन होगा, यहां तक कि धरती का कोना-कोना इसके नूर से जगमगा उठेगा और ज़ुल्म,जहालत और अभावों की परछाइयां सदा के लिए मिट जायेंगी.

अनुवाद: अर्जुमंद आरा

साभार: त्रैमासिक उर्दू *अदब*,अंजुमन तरक़्क़ी-ए-उर्दू हिंद, दिल्ली, जनवरी-मार्च, 2021, पृ. 10-13

तरक़्क़ीपसंद सत्यार्थी

साहिर लुधियानवी

मुझे अच्छी तरह याद है कि उस रोज़ दिन भर बारिश होती रही. शाम के वक़्त बूंदें ज़रा थम गयी थीं, लेकिन आसमान अभी तक बादलों से आच्छादित था. ऐसा मालूम होता था कि अभी अभी मेह फिर बरसने लगेगा. मैं और गोपाल मित्तल[1] *मकतबा-ए-उर्दू*[2] से ब्रांडरेथ रोड की तरफ़ जा रहे थे. अनारकली के चौक पर किसी ने मित्तल का नाम लेकर आवाज़ दी. हमने मुड़ कर देखा, बायें हाथ पर मुल्लां हुसैन हलवाई की दुकान के सामने एक सिख नौजवान हमें बुला रहा था. यह नौजवान राजिंदर सिंह बेदी था जिसे मैं एक बार पहले *हल्क़ा-ए-अरबाब-ए-ज़ौक़*[3] की गोष्ठी में देख चुका था. उसके साथ एक और व्यक्ति था—लंबे-लंबे बाल, लंबी और घनी दाढ़ी, मैला और लंबा ओवरकोट.

'आओ,तुम्हें एक बहुत बड़े फ्रॉड से मिलायें.' गोपाल मित्तल ने कहा.

'किससे?' मैंने पूछा.

'देवेंद्र सत्यार्थी से.' उसने जवाब दिया.

देवेंद्र सत्यार्थी उस वक़्त गाजर का हलवा खाने में मगन था, इसलिए जब गोपाल मित्तल ने मेरा परिचय कराया तो उसने कोई ख़ास ध्यान नहीं दिया.

मैं उन दिनों दयाल सिंह कॉलेज, लाहौर में बी.ए. का छात्र था और नया नया लुधियाना से लाहौर आया था. अदीबों से मेरी जान-पहचान कम थी. सत्यार्थी ने हलवे की प्लेट ख़त्म करने के बाद बेदी की तरफ़ देखा और कहा,'बड़ी मज़ेदार चीज़ है दोस्त, एक प्लेट और नहीं ले दोगे?' बेदी उस वक़्त गोपाल मित्तल से एक अदबी मसले पर बातें कर रहा था.

'ले लो,' उसने जल्दी से कहा.

'लेकिन कैसे?' सत्यार्थी बोला. 'तुम पैसे दो तब ना?'

'ओह—' बेदी ने ज़रा चौंकते हुए कहा,और हलवाई को पैसे अदा करके हलवे की दूसरी प्लेट देवेंद्र सत्यार्थी के हाथ में थमा दी.

सत्यार्थी फिर हलवा खाने में लीन हो गया. बेदी और मित्तल बातें करने लगे. मैं ख़ामोश एक तरफ़ खड़ा रहा. हलवे की दूसरी प्लेट ख़त्म करने के बाद सत्यार्थी ने अपनी जेब से एक मैला ख़ाकी रूमाल निकाल कर हाथ पोंछे, पास पड़ी हुई टीन की कुर्सी पर से अपना कैमरा और चमड़े का थैला उठाया और गोपाल मित्तल की तरफ़ बढ़ते हुए बोला, 'यार मित्तल, एक ख़ुशख़बरी सुनोगे?'

'क्या?', उसने कहा

'मैं तरक़्क़ी-पसंद हो गया हूं.'

'कब से?'मित्तल ने मुस्कुराते हुए पूछा

'था तो शुरू ही से, लेकिन यह अफ़साना जो मैंने अभी-अभी लिखा है, इसके बाद तो सौ फ़ीसदी हो गया हूं.'

'हूं. यानी तुम ने फिर एक अफ़साना लिखा है.'

'लेकिन इस अफ़साने और मेरे पिछले अफ़सानों में फ़र्क़ है. यह अफ़साना मैंने ख़ालिस तरक़्क़ी-पसंदी के उसूलों को सामने रखकर लिखा है.' सत्यार्थी ने कहा, और फिर बेदी की तरफ़ हाथ बढ़ाते हुए बोला,

'अच्छा तो यार बेदी, अब तुम चलो, मैं ज़रा गोपाल मित्तल को कहानी सुना लूं.'

'और बेदी को क्यों नहीं?'गोपाल मित्तल ने बड़ी बेबसी के साथ बेदी की तरफ़ देखते हुए कहा.

'मैं यह कहानी दो बार सुन चुका हूं,' बेदी मुस्कुराया.'इस के अलावा मुझे अभी रेडियो स्टेशन

पहुंचना है. शाम की ख़बरों के बाद मेरी टॉक है.'

'हां हां, आप जाइए.' सत्यार्थी ने बेदी को रुख़स्त करते हुए कहा. बेदी चला गया.

मैं और गोपाल मित्तल एक दूसरे की तरफ़ देखने लगे. सत्यार्थी ने अपने चमड़े के थैले में से काग़ज़ात का एक पुलंदा निकाला और पन्ने उलटते हुए बोला,

'तो फ़िर (फिर) कहां बैठें?'

'अब तुम ख़ुद ही बताओ.'

'मेरा ख़याल है, सामने के लॉन में ठीक रहेगा.'

'ओह मुझे ख़याल ही नहीं रहा. तो फ़िर तुम यूं करो, थोड़ी दूर मेरे साथ चलो, यहां से एक फ़र्लांग के फ़ासले पर सीतला मंदिर है. वहां इत्मीनान से बैठ सकेंगे.'

सीतला मंदिर का फ़र्श यात्रियों की आमदो-रफ़्त से कीचड़ में लथपथ हो रहा था, और इस कीचड़ में बड़े बड़े मकोड़े कुलबुला रहे थे. मित्तल ने देवेंद्र सत्यार्थी की तरफ़ घूर कर देखा और पूछा,

'तुम अफ़साना ज़रूर सुनाओगे?'

'हां दोस्त! तुम नहीं सुनोगेतो मुझे बड़ा दुख होगा.' सत्यार्थी ने बड़े विनय भाव से कहा,

'मैं तुम्हारी राय लेना चाहता हूं.'

'अच्छा तो एक मिनट इंतज़ार करो.' मित्तल ने कहा और मंदिर से बाहर निकल गया.

थोड़ी देर के बाद एक तांगा मंदिर के दरवाज़े के बाहर आकर रुका और गोपाल मित्तल ने उस तांगे में से गर्दन निकाल कर हमें पुकारा. हम दोनों जाकर तांगे में बैठ गये. तांगा चलने लगा. रास्ते भर गोपाल मित्तल ने कोई बात नहीं की. सत्यार्थी भी ख़ामोश बैठा रहा. तांगा इंडिया काफ़ी हाउस के सामने जाकर रुक गया.

'चलो.' गोपाल मित्तल ने सत्यार्थी से कहा.

'कहां? काफ़ी हाउस में!" सत्यार्थी का चेहरा जैसे एक दम खिल उठा.

'हां. चलो उतरो.'

'यार मित्तल, तुम वाक़ई कम्युनिस्ट हो, अब तो मुझे भी यक़ीन आ गया है कि सोवियत रूस में अदीबों और आर्टिस्टों का ख़ास ख़याल रखा जाता होगा.'

सत्यार्थी फिर मुस्कुराया और काफ़ी हाउस की सीढ़ियां चढ़ते हुए मसौदे के पन्ने उलटने लगा. यह मेरी उससे पहली मुलाक़ात थी. इसके बाद वह मुझे कई बार मिला—कभी किसी जनरल मरचैंट की दुकान के सामने, कभी किसी डाकख़ाने के गेट पर, कभी किताबों की दुकान में, कभी मैकलोड और निसबत रोड के चायख़ानों में और कभी यूं ही सरे-राह.

हर बार वह मेरे क़रीब आकर मुझ से पूछता. 'कहिए आपका मिज़ाज कैसा है? इस वक़्त किधर से आ रहे थे? कहां जाइएगा? आपने कोई नयी नज़्म लिखी?' और जब मैं चलने लगता,तो वह मुझे रोक कर कहता. 'माफ़ कीजिए, मुझे आपका नाम याद नहीं रहा.' मैं उसे फिर से अपना नाम बता देता.

'हां हां हां.' वह कहता,और फिर झूमता हुआ एक तरफ़ को चला जाता. इसी तरह कोई दो महीने गुज़र गये, आहिस्ता-आहिस्ता मुझे यक़ीन होने लगा कि यह शख़्स कभी मुझ से कोई नया सवाल नहीं पूछेगा और कभी उसको मेरा नाम याद नहीं होगा.

एक शाम मैं अपने दोस्त के साथ निसबत रोड से गुज़र रहा था कि सामने से सत्यार्थी आता दिखायी दिया.

'हैलो, हैलो, आपका मिज़ाज कैसा है?'उसने पूछा

'आपकी इनायत है.' मैंने जवाब दिया.

'इस वक़्त लॉ कॉलेज होस्टल से आ रहा हूं. ये मेरे दोस्त राम प्रकाश अश्क हैं. हम दोनों सिनेमा देखने जा रहे हैं, मैंने कोई नज़्म नहीं लिखी, मेरा नाम साहिर लुधियानवी है. कहिए, आप सिनेमा देखने चलेंगे?'

'नहीं,' सत्यार्थी ने जवाब दिया, उसके लहजे की नरमी और अनासक्त भाव बदस्तूर क़ायम था. मैंने देखा उसका चेहरा एकदम उदास हो गया था. मुझे अपने बात करने के अंदाज़ पर अफ़सोस होने लगा. उस बैर के बावजूद जो अपने को मुसलसल नज़रअंदाज़ किये जाने के भाव से मेरे दिल में पैदा हो गया था, मैं सत्यार्थी की इज़्ज़त करता था क्योंकि वह *मैं हूं ख़ाना-ब-दोश* का रचयिता था, और उसने गांव-गांव घूम कर हिंदुस्तान की विभिन्न भाषाओँ के ढाई लाख से अधिक गीत जमा किये थे जिनसे मैंने हिंदुस्तान की सभ्यता, संस्कृति, आर्ट और कल्चर के बारे में बहुत कुछ सीखा था. मैंने फ़ैसला किया कि मुझे उससे माफ़ी मांग लेनी चाहिए. लेकिन वह उस वक़्त जा चुका था.

फिर बहुत दिनों तक मेरी और उसकी मुलाक़ात नहीं हुई. उसके बाद जब वह मुझे लाहौर के एक मशहूर प्रकाशक की दुकान पर मिला तो उसे मेरा नाम याद था.

प्रकाशक की दुकान पर वह प्रकाशक से माफ़ी मांगने के लिए आया था, कुछ दिन पहले उसने 'अगले तूफ़ाने -नूह तक' के शीर्षक से, *हल्क़ा-ए-अरबाब-ए-ज़ौक़* की साप्ताहिक गोष्ठी में इस प्रकाशक के ख़िलाफ़ एक कहानी पढ़ी थी जिस पर प्रकाशक बेहद ख़फ़ा था. लेकिन जब सत्यार्थी ने उसे बताया कि वह यह अफ़साना उसकी पत्रिका में बिना मुआवज़ा लिए देने को तैयार है तो प्रकाशक ने उसे माफ़ कर दिया और उसे अपने साथ निज़ाम होटल में चाय पिलाने ले गया. मैं और फ़िक्र तौंसवी भी साथ थे.

रास्ते में देवेंद्र सत्यार्थी प्रकाशक के कंधे पर हाथ रखकर चलने लगा और बोला,'चौधरी तुम्हारा रिसाला उस जिन्न के पेट की तरह है जो एक बस्ती में घुस आया था और उस वक़्त तक बस्ती से बाहर जाने को राज़ी नहीं हुआ था जब तक वहां के लोगों ने उसे यह यक़ीन नहीं दिला दिया कि वे हर रोज़ गुफा में एक आदमी बतौर नज़राना भेजते रहेंगे. तुम भी वैसे ही एक जिन्न हो और तुम्हारा रिसाला तुम्हारा पेट है. हम बेचारे अदीब और शायर हर महीने इसके लिए भोजन मुहय्या करते हैं लेकिन इसकी भूख मिटने में नहीं आती. और यह फ़िक्र तौंसवी...' उसने फ़िक्र की तरफ़ मुड़ते हुए कहा. 'यह तुम्हारा गुमाश्ता है, जो हर वक़्त हमें धमकाता रहता है कि अगर जिन्न का राशन पहुंचने में देर हुई तो जिन्न तुम्हारी किताबें, तुम्हारे मसौदे, तुम्हारी रॉयल्टी सब खा जायेगा, कुछ बाक़ी नहीं छोड़ेगा.'

प्रकाशक ख़ामोश सुनता रहा.

'अब मुझी को देखो,' सत्यार्थी फिर बोला. 'मैंने तुम्हारी नाराज़ी से डर कर तुम्हें बिला मुआवज़ा अफ़साना देना मंज़ूर कर लिया, लेकिन तुम ही बताओ, क्या मेरा जी नहीं चाहता कि मैं साफ़ और सुथरे कपड़े पहनूं, मेरे जूते तुम्हारे जूतों की तरह क़ीमती और चमकीले हों. मेरी बीवी अपने जिस्म पर रेशमी साड़ी पहने, और मेरी बच्ची तुम्हारी बच्ची की तरह तांगे में स्कूल जाये? लेकिन कोई मेरे जज़्बात का ख़याल नहीं करता. कोई मुझे मेरी कहानी का मुआवज़ा नहीं देता और तुम हो कि वे बीस रुपये भी हज़म कर जाते हो. ख़ैर, तुम्हारी मर्ज़ी, चाय पिला देते हो, यही बहुत है.'

प्रकाशक फिर भी ख़ामोश सुनता रहा.

हम लोग होटल के गेट में दाख़िल हो गये. सत्यार्थी ने प्रकाशक के कंधे से हाथ उठा लिया और अलग हो कर चलने लगा.

मैं उसी रोज़ शाम की गाड़ी से लायलपुर जा रहा था. होटल में पहुंच कर प्रकाशक ने मुझ से पूछा,

'आप वापस कब आयेंगे?'

'दो तीन रोज़ में.' मैंने जवाब दिया.

'तुम कहीं बाहर जा रहे हो?'सत्यार्थी ने पूछा.

'हां, दो एक रोज़ के लिए लायलपुर जा रहा हूं,' मैंने जवाब दिया.

'लायलपुर!' वह बोला. और फिर न जाने किस सोच में पड़ गया.

'अगर मैं तुम्हें अपना कैमरा दे दूं, तो तुम मेरे लिए किसानों के झूमर नाच की तस्वीर उतार लाओगे?' उसने थोड़ी देर के बाद पूछा.

'मेरे लिए तो यह बहुत मुश्किल है,' मैंने कहा. 'तुम ख़ुद क्यों नहीं चलते.'

'मैं?. मेरा जी तो बहुत चाहता है.' वह बोला... 'लेकिन...'

वह एक मिनट रुका, और फिर थैले से काग़ज़ों का एक पुलंदा निकाल कर प्रकाशक से बोला, 'चौधरी यह मेरी मिनी कहानी है,अगर तुम इसके बदले में मुझे बीस रुपये दे दो,तो...'

प्रकाशक ने कहानी लेकर जेब में रख ली और बोला,

'आप साहिर से क़र्ज़ ले लीजिए. जब आप लोग लौटेंगे, तो मैं उन्हें रुपये दे दूंगा.'

'तुम अपनी कहानी वापस ले लो.' मैंने सत्यार्थी से कहा. 'आजकल मेरे पास रुपये हैं.'

लेकिन प्रकाशक ने कहानी वापस नहीं की, सत्यार्थी चुपचाप मेरे साथ चल पड़ा. रास्ते में मैंने उससे कहा, 'तुम जल्दी से जाकर घर इत्तिला दे आओ, अभी गाड़ी छूटने में काफ़ी वक़्त है.'

'नहीं, इसकी कोई ज़रूरत नहीं,' वह बोला. 'मेरी बीवी मेरी आदत को जानती है, अगर मैं दो चार दिन के लिए घर से ग़ायब हो जाऊं तो उसे उलझन या चिंता नहीं होती.'

'तुम्हारी मर्ज़ी,' मैंने कहा,और उसको साथ लेकर चल पड़ा.

गाड़ी मुसाफ़िरों से खचाखच भरी हुई थी और कहीं तिल तक धरने की जगह नहीं थी, बहुत से लोग बाहर पायदानों पर लटक रहे थे और वे जिन्हें पायदानों पर भी जगह नहीं मिली थी गाड़ी की छत पर चढ़ने की कोशिश कर रहे थे. सिर्फ़ फ़ौजी डिब्बों में जगह थी लेकिन उनमें ग़ैर-फ़ौजी सवार नहीं हो सकते थे.

'अब क्या किया जाये?'मैंने सत्यार्थी से पूछा.

'ठहरो, मैं किसी सिपाही से बात करता हूं.' वह बोला.

'कुछ फ़ायदा नहीं'—मैंने कहा. 'वे जगह नहीं देंगे.'

'तुम आओ तो सही"—वह मुझे बाज़ू से घसीटते हुए बोला, और जाकर एक फ़ौजी से कहने लगा 'मैं शायर हूं. लायलपुर जाना चाहता हूं, आप मुझे अपने डिब्बे में बिठा लीजिए. मैं राह में आपको गीत सुनाऊंगा.'

'नहीं नहीं, हमको गीत-वीत कुछ नहीं चाहिए.' डिब्बे में बैठे हुए सिपाही ने ज़ोर से हाथ झटकते हुए कहा.

'क्या मांगता है?' —एक दूसरे फ़ौजी ने अपनी सीट पर से उठते हुए तीसरे फ़ौजी से पूछा.

तीसरे फ़ौजी ने बंगाली ज़बान में उसे कुछ जवाब दिया.

'मैं सचमुच शायर हूं.' सत्यार्थी ने कहा—'मुझे सब ज़बानें आती हैं.' —और फिर वह बंगाली बोलने लगा.

फ़ौजी सिपाही हैरत से उसका मुंह तकने लगे.

'तमिल जानता है?' —एक नाटे क़द के काले भुजंग फ़ौजी ने डिब्बे की खिड़की में से सर निकाल कर उससे पूछा.

'तमिल, मराठी, गुजराती,पंजाबी सब जानता हूं,'—सत्यार्थी ने कहा, आपको सब ज़बानों के गीत सुनाऊंगा.'

'अच्छा?' —तमिल सिपाही ने कहा.

'हां.' सत्यार्थी बोला. और तमिल में उससे बातें करने लगा. इतने में इंजन ने सीटी दे दी.

'तो क्या मैं अंदर आ जाऊं?'सत्यार्थी ने पूछा.

दरवाज़े के क़रीब बैठा हुआ फ़ौजी कुछ सोचने लगा.

'गीत पसंद न आयें तो अगले स्टेशन पर उतार देना.' सत्यार्थी बोला.

फ़ौजी हंस पड़ा और बोला, 'आ जाओ.'

सत्यार्थी मेरे हाथ से अटैची लेकर जल्दी से अंदर घुस गया, मैं डिब्बे के सामने बुत बना खड़ा रहा.

'आओ आओ, चले आओ,' सत्यार्थी ने सीट पर जगह बनाते हुए दोनों हाथों के इशारे से मुझे कहा. फ़ौजियों ने घूर कर मेरी तरफ़ देखा. मैं दो क़दम पीछे हट गया.

'यह भी शायर है,' सत्यार्थी बोला. 'यह भी गीत सुनायेगा, हम दोनों गीत सुनायेंगे.'

सिपाहियों ने मुझे सर से पैर तक गौर से देखा. मालूम होता था कि उन्हें मेरे शायर होने का यक़ीन नहीं आ रहा था. शायद वे सोच रहे थे कि यह तेईस चौबीस साल का छोकरा वही चीज़ क्यों कर हो सकता है जो यह लंबी दाढ़ी वाला संन्यासी है.

'तुम भी सब ज़बानें जानते हो?' एक फ़ौजी ने दरवाज़ा खोलते हुए मुझ से पूछा.

'नहीं,' मैंने जवाब दिया.

'हूं,' —उसने कुछ इस अंदाज़ से कहा, जैसे कह रहा हो: फिर तुम क्या जानते हो? फिर तुम्हारा क्या फ़ायदा है?

मैं सत्यार्थी के साथ की सीट पर बैठ गया.

जब ट्रेन चल पड़ी तो मैंने सत्यार्थी से कहा,

'मैं अगले जंक्शन पर उतर जाऊंगा.'

'लेकिन उतर कर जायेंगे किस डिब्बे में?' वह बोला.

मैं ख़ामोश हो गया.

सिपाही बड़े शौक़ और दिलचस्पी से सत्यार्थी के साथ बातें करने लगे. सत्यार्थी बड़े प्यार के साथ उनके गांव,गांव के क़रीब बहती हुई नदियों, नदियों के किनारे लहलहाते हुए खेतों, रस्मों, त्यौहारों की बातें करता रहा. जैसे वह इन सबको जानता हो. उन्हीं में से एक हो—और जब बातें ख़त्म हो गयीं तो सत्यार्थी उन्हें गीत सुनाने लगा. सिपाही उससे प्रभावित हुए.

सत्यार्थी ने कहा,'लय के बिना गीत का मज़ा आधा रह जाता है, फिर भी मुझको इस वक़्त जितने गीत याद आये, मैंने आपको सुना दिये, अब आप लोगों में से जिसको गाना आता हो, वह गाकर सुनाये.'

तमिल सिपाही ने कहा,

'मैं गाना जानता हूं, बोलो कौन सा गीत सुनोगे?'

'कोड़ीदा कोड़ीदा कादलाली!" सत्यार्थी बोला (मिल कर फंसो मिल कर फंसो मछलियो!)

'इस डिब्बे में जहां हर सूबे के फ़ौजी जमा हैं, इससे अधिक सटीक और कोई गीत नहीं हो सकता.'

'क्या मतलब?'तमिल सिपाही ने पूछा.

'क्या हम मछलियां हैं?'—पंजाबी सिपाही चिल्लाया.

'गुस्सा मत करो मेरे दोस्त,' —सत्यार्थी ने उसी धैर्य और संतोष से कहा—

'हम सब मछलियां हैं, तुम बंदूक़ वाली मछली हो, मैं दाढ़ी वाली मछली हूं.'

सिपाही हंसने लगे.

'और हम सब मछेरों के जाल में फंसे हुए हैं.' सत्यार्थी ने कहा.

सिपाही फिर गंभीर हो गये.

ट्रेन तेज़ी से भागी जा रही थी. बाहर चारों तरफ़ गहरा अंधेरा था और इस अंधेरे में इक्का-दुक्का तारे जगमगा रहे थे. सिपाहियों ने हमारे सोने के लिए जगह बना दी और कहा,'आप लोग आराम कीजिए, सुबह हम आप को जगा देंगे.'

अगले दिन जब हम उन साहिब के मकान पर पहुंचे जिनसे मुझे मिलना था तो वे घर पर नहीं थे. मालूम हुआ कि आज एक स्थानीय मजिस्ट्रेट के यहां उनकी दावत है. वे मजिस्ट्रेट मुझे भी जानते थे, इसलिए हम लोग सीधे वहीं

चले गये. बातों बातों में सत्यार्थी ने बताया कि वह झूमर नाच की तस्वीर लेना चाहता है. मजिस्ट्रेट साहिब ने कहा— 'आजकल तो किसान फ़सल काट रहे हैं, नाच छोड़ो, उन्हें दम लेने की फ़ुर्सत नहीं.

'फ़िर?'सत्यार्थी बोला—'मैं तो बड़ी आस लेकर आया था.'

मजिस्ट्रेट साहिब ख़ामोश हो गये. जब हम चलने लगे तो उन्होंने सत्यार्थी को रोक कर कहा.

'आप ज़रूर तस्वीर लेना चाहते हैं?'

'हां,' सत्यार्थी ने कहा.

'अच्छा तो कल दो बजे के क़रीब आप थाने में तशरीफ़ लाइए, मैं बंदोबस्त करूंगा.'

'थाने में?' —सत्यार्थी ने हैरत से मेरी तरफ़ घूरते हुए कहा.

'हां, हां, हम थाने के कुछ सिपाही भेज कर दस बीस किसानों को जो नाचना जानते हों, चौकी पर बुला लेंगे, आप जी भर कर तस्वीरें ले लीजिएगा.'

'जी नहीं, आप तकलीफ़ न कीजिए. मैं फिर कभी आ जाऊंगा.' सत्यार्थी बोला. 'थानेदार के सामने भला किसान ख़ाक नाचेंगे.'

अगले दिन हम लोग वहां से लौट आये. रास्ता भर सत्यार्थी मजिस्ट्रेट के प्रस्ताव पर हंसता रहा.

यूनीवर्सिटी की परीक्षाओं के बाद मैं लुधियाना आ गया और चार पांच महीने तक घर पर ही रहा. उसके बाद अचानक प्रीत नगर की वार्षिक कांफ्रेंस में मेरी और उसकी मुलाक़ात हो गयी.

कांफ्रेंस में कोई आठ दस हज़ार मर्दों और औरतों का मजमा था, पंजाब के हर हिस्से से लोग इस अजीबोग़रीब बस्ती को देखने के लिए आये थे, जिसके अहाते में मस्जिद, मंदिर, गुरुद्वारा या गिरजा तामीर करने की इजाज़त नहीं, जहां के बाशिंदे साझा किचन में खाना खाते हैं और जहां की औरतें आज़ादी और बेबाकी के साथ घूमती फिरती हैं.

जब सत्यार्थी पंडाल में दाख़िल हुआ तो हुजूम में से बहुत से मर्दों ने उठकर उसके हाथ चूमे और बहुत सी औरतों ने उसके चरण छुए. सत्यार्थी ने उन्हें आशीर्वाद दिया और उत्सुक और भक्तिभाव वाली नज़रों के एक बहुत बड़े हुजूम में से गुज़रता हुआ स्टेज के क़रीब जाकर बैठ गया.

प्रोग्राम की पहली चीज़ एक ड्रामा था जिसे प्रीत नगर के छात्र-छात्राएं पेश कर रहे थे. ड्रामे के बाद पहले पंजाबी और फिर उर्दू मुशायरा था. सत्यार्थी ने भी एक पंजाबी नज़्म सुनायी, जिस का अर्थ कुछ यूं था :

हिंदुस्तान!—हिंदुस्तान!
तेरे हल लहूलुहान
तेरा बदन चीथड़ों में लिपटा हुआ
तेरी पोरों से ख़ून बह रहा है
—हिंदुस्तान
सदियों का भूखा प्यासा उड़ीसा दम तोड़ रहा है
आसाम का बीहू नाच सूखे ढांचों के इरतिआश-ए-जांकनी[4] में तब्दील हो गया है
बंगाल पर मौत के गिद्ध मंडला रहे हैं
कालिदास से कहो कि वह मेघदूत को उठाकर परे फेंक दे,
उदयशंकर से कहो कि वह अजंता का रक़्स बंद कर दे
आज चारों तरफ़ भूख है, मौत है, उर्यानी है, और अफ़्लास[5] है
महानदी की आंखों से दुख के आंसू बह रहे हैं
और सदियों पुरानी बांसुरी के हलक़ में नग़मे सूख गये हैं

स्टेज पर खड़ा वह एक अलौकिक हस्ती दिखायी दे रहा था. उसकी शख़्सियत एक दार्शनिक, एक संन्यासी और एक शायर की शख़्सियत का मिश्रण महसूस हो रही थी. वह अपनी नज़्म में हिंदुस्तान के विभिन्न इलाक़ों का ज़िक्र इस कामयाबी से कर रहा था कि सुनने वाले अपने आपको उन इलाक़ों में सांस लेते महसूस करते थे. एक के बाद

दूसरे क्षेत्र की आबादी अपनी विशिष्ट सभ्यता की पृष्ठभूमि में, विशिष्ट लिबास पहने और विशिष्ट भाषा बोलती आहिस्ता-आहिस्ता उनकी आंखों के सामने उभरती और फिर क्षितिज के कोनों में गुम हो जाती. यह माहिराना पेशकश सत्यार्थी की वर्षों की साधना और हिंदुस्तान भर में घूमने का फल थी. मैंने महसूस किया कि हिंदुस्तान का कोई शायर चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न हो, हिंदुस्तान की रूह का अक्स पेश करने में सत्यार्थी की बराबरी नहीं कर सकता.

पंजाबी मुशायरे के समापन पर जब पंद्रह मिनट का अंतराल दिया गया तो उर्दू *प्रीतलड़ी* के सह-संपादक शमशेर सिंह 'ख़ंजर' ने मुझे बताया कि उर्दू मुशायरे के सदर अभी तशरीफ़ नहीं लाये. मैंने कहा—शाम के वक़्त मैंने डाक्टर अख़्तर हुसैन रायपुरी को यहां देखा था, उनसे कहिए कि वे मुशायरे की सदारत कर दें. शमशेर सिंह ख़ंजर एक टांग और एक लकड़ी के सहारे अख़्तर हुसैन रायपुरी को ढूंढ़ने चला गया. सत्यार्थी ने मेरे क़रीब आ कर पूछा,

'तुम शमशेर सिंह ख़ंजर को कब से जानते हो?'

'क़रीबन एक बरस से.'

'मैं छः बरस से जानता हूं और उससे एक सवाल करना चाहता हूं लेकिन हौसला नहीं होता.' सत्यार्थी ने कहा.

'मैं उससे पूछना चाहता हूं कि उसने अपना तख़ल्लुस 'ख़ंजर' टांग टूटने से पहले रखा था या बाद में.'

और फिर वह ओवरकोट की जेबों में हाथ डाल कर हंसने लगा. सामने से एक पंजाबी शायरा आ रही थी, सत्यार्थी की हंसी एक दम संजीदगी में बदल गयी और उसने फ़ौरन ओवरकोट की जेबों से हाथ निकाल लिये.

'कहिए किधर जा रही हैं आप? उर्दू मुशायरा नहीं सुनिएगा!' उसने शायरा को मुख़ातिब करते हुए कहा.

'ज़रूर सुनूंगी,' शायरा बोली. 'बैठे बैठे कुछ थक सी गयी थी इसलिए इधर चली आयी.'

'हां, हां ज़रूर सुनिएगा, आज मैं भी अपनी एक उर्दू नज़्म सुनाऊंगा, साहिर तुमने इनकी नज़्म सुनी थी?'

'जी हां, बहुत ख़ूबसूरत नज़्म थी.'

'और उसमें रवानी और शिद्दत और गहराई कितनी थी. वाह वाह, मैं तो सोचता हूं कि मुझे शे'र कहना छोड़ देना चाहिए.' सत्यार्थी बोला.

'यह आप क्या कह रहे हैं?' —शायरा कहने लगी, 'आप तो इतना अच्छा लिखते हैं.'

'जी हां, जी हां.' सत्यार्थी बोला— 'लेकिन वह बात पैदा नहीं होती.'

इतने में शमशेर सिंह 'ख़ंजर' वापस आ गया. उसने बताया कि अख़्तर हुसैन रायपुरी वापस चले गये हैं और शायरों की तीन टोलियां, तीन अलग अलग शायरों का नाम सदारत के लिए दे रही हैं.

मैंने पूछा— 'तो फिर तुम ने क्या फ़ैसला किया?'

'मैं कोई फ़ैसला नहीं कर सका.' वह बोला.

शायरा मुस्कुरायी और पूछने लगी— 'आपके यहां सदारत तक पर फ़साद होते हैं?'

'कुछ ऐसा ही है"—मैंने कहा.

'क्यों?'—उसने कहा.

मुझे जैसे उसकी सादगी पर प्यार आ गया.

'अभी शायरों के सामने ज़्यादा अहम मक़ासिद पैदा नहीं हुए. जब पैदा हो जायेंगे तो वो इन छोटी-छोटी बातों पर झगड़ना बंद कर देंगे.'

शायरा ख़ामोश हो गयी.

मैंने पूछा— 'आप क्या हमारी कोई मदद नहीं कर सकतीं?'

'मैं? मैं क्या मदद कर सकती हूं?'वह बोली.

'आप हमारे मुशायरे की सदारत क़बूल फ़रमा लीजिए.'

'पर मैं तो पंजाबी ज़बान में लिखती हूं.'

'यही तो एक अच्छी बात है,' मैंने कहा— 'वर्ना ज़ाहिर है कि एक मुशायरे के तीन सदर नहीं बनाये जा सकते. दो गिरोह हर सूरत में नाराज़ होंगे.'

'लेकिन यह भी तो मुमकिन है,' वह बोली, 'कि मेरे सदर बनने से तीनों गिरोह ख़फ़ा हो जायें.'

'नहीं आप लड़की हैं, इसलिए ऐसा नहीं होगा.' शमशेर सिंह 'ख़ंजर' बोला.

शायरा कुछ शरमा सी गयी,वह कुछ कहना चाहती थी मगर कह न सकी. मैंने ख़ंजर से कहा,

'आप जाकर स्टेज सेक्रेट्री को इनका नाम सदारत के लिए दे दीजिए.'

ख़ंजर चला गया.

एक मिनट बाद शायरा भी चली गयी.

'ओ हरामज़ादे!" सत्यार्थी चीख़ा, और फिर वह भी चला गया.

मुझे उसका एक मज़मून याद आ गया जिसमें उसने लिखा था—'वेरीनाग के नीलरंग पानी में थकन से चूर पांव डाले मैं सोच रहा था कि मैंने अपनी उम्र का बेहतरीन हिस्सा नाहक़ ख़ानाबदोशी में ज़ाया कर दिया. नाहक़ लोकगीतों की तलाश में भटकता रहा, नाहक़ घाट-घाट का पानी पीने ही को आदर्श बनाये ज़िंदगी बर्बाद करता रहा.'

स्टेज पर खड़ा वह एक अलौकिक हस्ती दिखायी दे रहा था लेकिन स्टेज से उतरते ही फिर वह इंसान बन गया और उसके सीने में निजी नाकामियों का दर्द जाग उठा था. उम्र का बेहतरीन हिस्सा ज़ाया हो जाने का दर्द.

मुशायरे से अगले दिन प्रीत नगर के कुछ बासियों की तरफ़ से उर्दू और पंजाबी के अदीबों को एक साझी पार्टी दी गयी. शायरा और सत्यार्थी साथ साथ बैठे थे. चाय के साथ शायरी का दौर भी चल रहा था. सब शायरों ने एक एक नज़्म सुनायी लेकिन जब सत्यार्थी की बारी आयी तो वह ख़ामोश बैठा रहा. शायरा ने कहा, 'आप कुछ सुनाइए ना?'

'छोड़िए जी' —सत्यार्थी बोला. 'मेरी नज़्मों में क्या रखा है? आप सुनाइए.' सत्यार्थी ने चाय का घूंट भरते हुए कहा.

'हादिसा' —एक कोने से आवाज़ आयी.

सत्यार्थी से हंसी ज़ब्त न हो सकी. भक्ख से उसका मुंह खुला और तमाम चाय दाढ़ी और कोट पर बिखर गयी. वह मैले ख़ाकी रूमाल से चेहरे पर ओट किये अपनी कुर्सी से उठा और नल पर जाकर मुंह धोने लगा. जब वह मुंह धोकर वापस आया तो उसका चेहरा बेहद उदास था. शायरा के साथ की कुर्सी ख़ाली छोड़कर वह एक कोने में दुबक कर बैठ गया. तमाम वक़्त उसने कोई बात नहीं की.

पार्टी ख़त्म होने के बाद मैंने सत्यार्थी से उसकी ख़ामोशी का कारण पूछा तो वह बहुत दुखे हुए दिल के साथ कहने लगा, 'मैं सभ्य लोगों की सोसाइटी में बहुत कम बैठा हूं, मैंने अपनी सारी उम्र किसानों और ख़ानाबदोशों में गुज़ार दी है और अब, जब मुझे माडर्न क़िस्म की महफ़िलों में बैठना पड़ता है तो मैं घबरा जाता हूं. मैं ज़्यादा से ज़्यादा एहतियात बरतने को कोशिश करता हूं. फिर भी मुझ से ज़रूर कोई न कोई ऐसी हरकत हो जाती है जो आम सामाजिक दृष्टिकोण से अच्छी नहीं समझी जाती.'

मुझे सत्यार्थी की इस बात से बहुत दुख हुआ, उसने वाक़ई बहुत बड़ी क़ुर्बानी दी थी. लोक गीतों की तलाश में उसने हिंदुस्तान का कोना-कोना छान मारा था. अनगिनत लोगों के सामने दामन फैलाया था. बीसियों क़िस्म की बोलियां सीखी थीं. किसानों के साथ किसान और ख़ानाबदोशों के साथ ख़ानाबदोश बन कर अपनी जवानी की उमंगों भरी रातों का गला घोंट दिया था. लेकिन सारे प्रयास और सारी मेहनत और सारी क़ुर्बानी के बदले में उसे क्या मिला? एक भूख से जूझती ज़िंदगी और एक प्यासा दिल.

प्रीत नगर से वापस आकर मैंने लाहौर में रिसाला *अदबे-लतीफ़* की संस्था में मुलाज़मत कर ली. सत्यार्थी अपना ज़्यादातर वक़्त मेरे साथ गुज़ारने लगा. हर रोज़ सुबह-सवेरे वह मुझे बिस्तर से उठा देता और रात गये

तक मेरे साथ घूमता रहता. कभी-कभी जब उसकी तबीयत लहर पर होती तो वह मुझे पंजाब के देहाती गीत सुनाने लगता.

कीटहरे पन्डो मकलावे जाना. नी टाली दे सन्दू वालिए?

(ऐ दहेज़ में शीशम का संदूक़ लेकर जाने वाली! तेरा ब्याह किस गांव में हुआ है?)

अग बाल के धुवें दे बिच रोदां भेड़े दुख यारियां दे

(आग जला कर आंखों में धुआं पड़ जाने के बहाने रोती हूं, मुहब्बतों के दुख बहुत बुरे होते हैं.)

गीत सुनाते सुनाते वह ख़ामोश हो जाता और कहता— 'चाहे मेरी माली हालत कितनी ही बुरी क्यों न हो लेकिन मैं महान आदमी हूं.'

'इसमें क्या शक है.' मैं जवाब देता. वह मेरे कंधे पर हाथ मार कर हंसने लगता और कहता—'तुम भी महान आदमी हो.'

उसने सारे कॉलिजों और हॉस्टलों में अपने अड्डे बना रखे थे. हर दिन वह किसी न किसी हॉस्टल में चला जाता और बैठा गप्पें हांकता रहता. छात्र उससे बड़े शौक़ और सम्मान से मिलते, चाय पिलाते, खाना खिलाते और अगर सत्यार्थी राज़ी होता तो उसे अपने साथ सिनेमा भी ले जाते.

एक दोपहर जब मैं दफ़्तर में दाख़िल हुआ तो एक ख़ुशपोश नौजवान पहले से मेरा मुंतज़िर था.

'मैं देवेंद्र सत्यार्थी हूं.' उसने कहा.

मेरी आंखें हैरत से खुली की खुली रह गयीं, दाढ़ी मूंछ साफ़ और सर पर कॉलेजियन कट के छोटे छोटे बाल. 'यह देवेंद्र सत्यार्थी को क्या हुआ?' मैंने सोचा.

'बैठो,' उसने मुझे हैरान खड़े देखकर कहा.

मैं बैठ गया.

थोड़ी देर हम दोनों ख़ामोश बैठे रहे. फिर मैं उसे अपने साथ क़रीब के एक होटल में ले गया. जब ब्वॉय चाय ले आया, तो मैंने पूछा, 'तुमने आख़िर ग़म की छबि क्यों बदल डाली?'

'यूं ही.' वह बोला.

'यह तो कोई जवाब न हुआ,' मैंने कहा. 'आख़िर कुछ तो वजह होगी.'

'वजह?—वजह दरअसल यह है,' वह बोला, 'कि मैं उस हुलिये से तंग आ गया था. पहले पहल जब मैं गीत जमा करने निकला था तो मेरी सूरत ऐसी नहीं थी.उस वक़्त मुझे गीत इकट्ठे करने में बड़ी दिक़्क़त का सामना करना पड़ता था. लोग मुझ पर भरोसा नहीं करते थे, लड़कियां मेरे क़रीब बैठते हुए हिचकिचाती थीं. फिर मैंने दाढ़ी और सर के बाल बढ़ा लिये और बिल्कुल संन्यासियों की-सी शक्ल बना ली. इस हुलिये ने मेरे लिए बहुत सी आसानियां पैदा कर दीं. देहाती मेरी इज़्ज़त करने लगे. लड़कियां मुझे दरवेश समझ कर मुझसे तावीज़ मांगने लगीं. मैंने देखा, अब उन्हें मेरे क़रीब आने में झिझक महसूस नहीं होती थी, और बिना टिकट रेल का सफ़र करने में भी सहूलत हासिल हो गयी थी. आहिस्ता-आहिस्ता दाढ़ी और जटाएं मेरी शख़्सियत का हिस्सा बन गयीं.'

'फिर?' मैंने पूछा.

'फ़िर मैं शहर में आ गया...' वह बोला. और लेखन पर गुज़र-औक़ात करने लगा. मैं दूसरे अदीबों को देखता तो उन्हें एक दूसरे से बहुत बे-तकल्लुफ़ पाता. हर समय वे एक दूसरे से हंसते-खेलते और मज़ाक़ करते रहते. लेकिन यही लोग मुझसे बात करते तो उनके लहजों में तकल्लुफ़ आ जाता. मुझमें और उनमें आदर का एक कृत्रिम पर्दा हाइल हो जाता. मुझे यूं महसूस होता जैसे मैं उनके दिलों से बहुत दूर हूं. आम लोग भी जब मेरे सामने आते तो अदब से बैठ जाते, जैसे वे किसी देवता के सामने बैठे हों,अपने से बुलंद और अलग हस्ती के सामने.'

'फिर?'मैंने कहा.

'आम मर्दों की निगाह पड़ते ही लड़कियों के चेहरों पर सुर्ख़ी दौड़ जाती, उनके गाल तमतमा उठते

लेकिन जब मैं उनकी तरफ़ देखता तो उनके गालों का रंग वही रहता. वे फ़ैसला न कर सकतीं कि मैं उनकी तरफ़ बाप जैसे दुलार से देख रहा हूं या आशिक़ाना प्यार से? मैं इस ज़िंदगी से तंग आ गया था.' वह बोला. 'मैंने फ़ैसला कर लिया कि मैं अपनी इस हैयत को बदल डालूंगा. मैं देवता नहीं हूं, इंसान हूं, मैं इंसान बन कर रहना चाहता हूं.'

'फिर?'मैंने आख़िरी बार कहा.

'फ़िर? —फ़िर मैं इस वक़्त तुम्हारे सामने बैठा हूं, क्या मेरी हैसियत आम इंसानों की सी नहीं?'

'है और बिल्कुल है.' मैंने कहा.

'लेकिन तुम यह क्यों पूछ रहे हो?'

'यूं ही.' मैंने कहा.

और फिर हम दोनों मुस्कुराने लगे. शायरा ने सुना तो हैरान रह गयी.

'मैं सत्यार्थी जी को इस नये रूप में एक नज़र देखना चाहती हूं, क्या आप उन्हें यहां ला सकेंगे?' उसने मुझसे पूछा.

'मैं कोशिश करूंगा,' मैंने जवाब दिया.

अगले दिन मैंने सत्यार्थी को बताया कि शायरा उससे मिलना चाहती है.

'सच्च!' उसने आंखें फाड़ते हुए पूछा.

'सच्च.' मैंने कहा.

'तो फिर कब चलोगे.'

'कल किसी वक़्त आ जाना,मैं घर ही पर रहूंगा.'

'बहुत अच्छा.' उसने कहा.

अगले दिन सुबह ठीक पौने छः बजे उसने मुझे बिस्तर से उठा दिया.

'तुम रात को सोये भी थे या नहीं?'मैंने पूछा.

'यार! एक बात बताओ,' उसने बड़े राज़दाराना अंदाज़ में कहा.

'मैं शायरा की तस्वीर लेना चाहता हूं, क्या वह रज़ामंद हो जायेगी?'

'वहीं तो चल रहे हो, पूछ लेना.'

'मैं कैमरा लेता आया हूं,' वह बोला.

'बहुत अच्छा किया, दुश्मन के घर बे-हथियार नहीं जाना चाहिए,' मैंने कहा.

सत्यार्थी को देखते ही शायरा खिल उठी. अरे आप तो बिल्कुल नौजवान हैं.' वह बोली.

सत्यार्थी कुछ कहना चाहता था लेकिन ऐन उसी वक़्त शायरा का पति कमरे में दाख़िल हुआ.

'आपने इन्हें पहचाना? ये देवेंद्र सत्यार्थी हैं,' शायरा ने कहा.

शायरा के पति ने सत्यार्थी को सर से पैर तक घूरा. फिर उसके क़रीब बैठ कर आहिस्ता-आहिस्ता बातें करने लगा.

सत्यार्थी ने कहा.

'मैं आप दोनों की तस्वीर लेना चाहता हूं.'

'तस्वीर? तस्वीर क्या कीजिएगा?' शायरा ने मुस्कुराते हुए पूछा.

'अपने एलबम में लगाऊंगा. मैंने सब अदीबों की तस्वीरें ली हैं.'

'आपको शायद मालूम नहीं,' शायरा ने अपने शौहर से कहा. 'सत्यार्थी जी बहुत अच्छे फ़ोटोग्राफ़र हैं.'

'मैं बहुत अच्छा अफ़साना-निगार और शायर भी हूं.' सत्यार्थी ने कहा.

शायरा झेंप गयी.

'तो फिर बताइए,' सत्यार्थी बोला. 'मैंने सब अदीबों की तस्वीरें ली हैं.'

'आप इनसे बराहे-रस्त पूछिए.' शायरा के पति ने मुस्कुराते हुए कहा.

'तो फिर आप दोनों चलिए.'

'कहां?' शायरा बोली.

'छत पर,' सत्यार्थी ने कहा. 'वहां लाइट मिल सकेगी.'

सब लोग छत पर चले गये. सत्यार्थी कोई दो घंटे तक शायरा और उसके पति की तस्वीरें उतारता रहा. तीन तस्वीरें उसने शायरा की उसके पति के साथ लीं और सात तस्वीरें अलग.बाहर निकल कर उसने मुझ से कहा,'मैंने तीनों तस्वीरों में शायरा के पति को उससे ज़रा फ़ासले पर खड़ा किया है ताकि शायरा की तस्वीर का अलग प्रिंट निकालने में आसानी रहे.'

इसी तरह एक महीना गुज़र गया. हर दूसरे तीसरे दिन सत्यार्थी शायरा की तस्वीर का इनलार्जमेंट बना लाता और आकर मुझसे कहता. 'चलो यह इनलार्जमेंट उसे दे आयें.'

एक दिन सत्यार्थी ने शायरा से कहा, 'मैं आपकी कुछ और तस्वीरें लेना चाहता हूं.'

'और तस्वीरें क्या कीजिएगा?' शायरा ने मुस्कुराते हुए कहा. 'उस दिन इतनी बहुत सी तस्वीरें तो आप ले चुके हैं?'

'आप मुझे कोई ऐसा वक़्त दीजिए जब आपके पति घर पर न हों.'

'वे किस लिए?'

'दर असल बात यह है...' सत्यार्थी ने कहा, और फिर वह लायलपुर के मजिस्ट्रेट और किसानों का क़िस्सा सुनाने लगा. 'तो माफ़ कीजिए...'

उसने पूरा क़िस्सा सुनाने के बाद कहा, 'आपके पति के सामने आपका फ़ोटो लेना भी बिल्कुल ऐसा ही है,जैसा थानेदार के सामने किसान नचवाना.' शायरा का पति दूसरे कमरे में सारी बातें सुन रहा था. वह सत्यार्थी पर बहुत ख़फ़ा हुआ. साथ ही साथ शायरा पर भी बिगड़ा. अगले दिन शायरा ने मुझे दफ़्तर में रुक़्क़ा भेज कर बुलाया और कहा, 'आप जानते हैं, मेरी ज़िंदगी बड़ी मजबूर क़िस्म की ज़िंदगी है. सत्यार्थी जी ने उस दिन कुछ ऐसी बातें कह दीं जिस पर मेरे पति सख़्त नाराज़ हैं. आप सत्यार्थी जी से कह दीजिए कि मेरी तस्वीरों के जो निगेटिव उनके पास हैं, वे किसी के हाथ मेरे पति को वापस भिजवा दें.'

'बहुत अच्छा.' मैंने कहा.

सत्यार्थी ने निगेटिव वापस कर दिये, शायरा के पति ने कहा. 'आप उनकी क़ीमत ले लीजिए.'

सत्यार्थी की आंखों में जैसे ख़ून उतर आया,

'मैं बहुत ग़रीब हूं, यह सही है, लेकिन मैंने अभी तक फ़ोटोग्राफ़ी को रोज़गार नहीं बनाया. जब बना लूंगा तो आपको इत्तिला दे दूंगा.'

वह अपनी जगह से उठ खड़ा हुआ. फिर दो तीन माह तक मैंने उसकी सूरत नहीं देखी. इसी दौरान में मुझे बंबई की एक फ़िल्म कंपनी में मुलाज़मत मिल गयी. मैं सत्यार्थी से मिलने उसके घर गया. वह टेबल लैम्प की हल्की रोशनी में अपने छोटे से कमरे में मेज़ पर झुका हुआ कुछ लिख रहा था. क़दमों की आहट सुनकर उसने दरवाज़े की तरफ़ मुड़ कर देखा, 'हेलो साहिर!"

मैं अंदर चला गया.

सत्यार्थी ने दाढ़ी और सर के बाल फिर से बढ़ा लिये थे.

'मैं कल शाम की गाड़ी से जा रहा हूं,' मैंने कहा.

'क्यों?'

'मुझे एक फ़िल्म कंपनी में मुलाज़मत मिल गयी है.'

'अच्छा?' —उसने कहा. 'तब तो आज तुमसे लंबी चौड़ी बातें होनी चाहिए.' उसने फाउंटेन पेन बंद

करके मेज़ पर रख दिया.

इतने में सत्यार्थी की बीवी अंदर आ गयी. सूरत शक्ल से उसकी उम्र उनत्तीस-तीस बरस के लगभग मालूम होती थी. मैंने हाथ जोड़ कर नमस्ते कहा.

'नमस्ते.' वह बोली.

सत्यार्थी ने मेरी तरफ़ इशारा करते हुए कहा, 'ये आज यहीं रहेंगे और खाना भी यहीं खायेंगे.'

वह जाकर खाना ले आयी. सत्यार्थी की नौ वर्षीय बच्ची कविता भी आ गयी .हम सब खाना खाने लगे. सत्यार्थी की बीवी हमारे क़रीब बैठी दस्ती पंखे से हवा करती रही.

'खाना ठीक है.' उसने पूछा.

'सिर्फ़ ठीक ही नहीं, बेहद लज़ीज़ है.' मैंने कहा.

'हम लोग बहुत ग़रीब हैं.' वह बोली.

अचानक मुझे अपने सूट का ख़याल आ गया.

'मेरे पास यही एक सूट है,' मैंने कहा. 'और यह भी मेरे मामूं ने बनवा कर दिया है.'

वह हंसने लगी. एक निहायत बे-झिझक और पाकीज़ा हंसी. और जब वह खाने के जूठे बर्तन उठा कर चली गयी तो सत्यार्थी ने मुझसे कहा,

'इस औरत ने मेरे साथ अनगिनत मुसीबतें उठायी हैं, हिंदुस्तान का कोई सूबा ऐसा नहीं जहां यह मुझ भिखारी के साथ भिखारन बन कर मारी-मारी न फिरी हो, अगर यह मेरा साथ न देती तो शायद मैं अपने मक़सद में कामयाब न हो सकता.'

'तुम्हारी ज़िंदगी क़ाबिले-रश्क है.' मैंने कहा.

'ज़िंदगी?—शायद ज़िंदगी से तुम्हारा मतलब बीवी है, मेरी बीवी वाक़ई क़ाबिले-रश्क है, अगरचे कई बार उसकी मामूली शक्ल-सूरत से मैं बेज़ार भी हो गया हूं.'

मैं दीवार पर लगी हुई तस्वीरों की तरफ़ देखने लगा. लेनिन... टैगोर...इक़बाल...

'इन तीनों की शक्ल-सूरत के बारे में तुम्हारा क्या ख़याल है.' मैंने मुस्कुराते हुए पूछा.

'इन तीनों का मेरी ज़िंदगी पर गहरा असर है.' सत्यार्थी बोला,और फिर न जाने किन यादों में खो गया.

'जब मैं बिल्कुल नौ-उम्र था—' थोड़ी देर बाद उसने कहा, 'तो मैंने ख़ुदकुशी का इरादा किया था. कुछ दोस्तों को पता चल गया.वे मुझे पकड़ कर डाक्टर इक़बाल के पास ले गये. इक़बाल बहुत देर तक मुझे समझाते रहे... उनकी बातों ने मुझ पर बहुत गहरा असर किया और मैंने ख़ुदकुशी का ख़याल छोड़ दिया.

फिर मैं लेनिन की तालीमात से परिचित हुआ और मेरे दिल में गांव-गांव फिरकर देहाती गीत जमा करने की ख़ाहिश पैदा हुई. टैगोर ने मेरे इस ख़याल को सराहा और मेरी हौसला-अफ़ज़ाई की. मैं गीत जमा करता रहा और अब...जब ये तीनों मर चुके हैं तो रातों की ख़ामोश तन्हाई में, इन गीतों को उर्दू, हिंदी या अंग्रेज़ी में ढालते वक़्त कभी कभी मुझे ऐसा महसूस होता है जैसे किसान औरतें और मर्द मेरे गिर्द हल्क़ा बनाये खड़े हों और कह रहे हों: 'संन्यासी, हमने तुम्हें अपना समझा था, तुम पर भरोसा किया था. तुम हमारी सदियों की पूंजी को हमसे छीन कर शहरों में बेच दोगे, यह हमें भूल कर भी शक नहीं हुआ था, लेकिन तुम हम में से नहीं थे, तुम शहर से आये थे और शहर को लौट गये. अब तुम इन गीतों को जो हमारे दुख-सुख के साथी थे, जिन पर अब तक किसी व्यक्ति के नाम की मुहर नहीं लगी थी, अपने नाम की छाप के साथ बाज़ार में बेच रहे हो और अपना और अपने बीवी बच्चों का पेट पाल रहे हो. तुम बहरूपिये हो, फ़रेबी, दग़ाबाज़... और फिर वे जलती हुई आंखों से मुझे घूरने लगते हैं.'

'यह तुम्हारा जज़्बातीपन है,' मैंने कहा, 'तुमने इन गीतों को गांव के सीमित वातावरण से निकाल कर असीमित कर दिया है, तुमने एक मरती हुई सभ्यता की गोद में महकने वाले फूलों को ख़िज़ां के हाथों मिटने से बचा कर उनकी महक को अमर बना दिया है. यह तुम्हारा कारनामा है, आज़ाद और इश्तिराकी हिंदुस्तान में जब

शिक्षा आम हो जायेगी और औद्योगिक जीवन शबाब पर होगा तो यही किसान जो आज तुम्हारे ख़यालों में तुम्हें जलती हुई आंखों से घूरते हैं, तुम्हें मुहब्बत और प्यार से देखकर मुस्कुरायेंगे.उनके बच्चे तुम्हें श्रद्धा और सम्मान भाव से याद करेंगे और फ़ुर्सत के लम्हों में तुम्हारे इन लेखों और कहानियों को पढ़ेंगे जिनमें तुमने उनके पूर्वजों के दिल की धड़कनें समो दी हैं. और एक बार फिर वे उस सभ्यता की झलकियां देख सकेंगे जो उस वक़्त नापैद हो चुकी होगी.'

वह मुस्कुराने लगा.

अगले दिन मैं लाहौर से चला आया और बंबई में फ़िल्मी गीत लिखने लगा. थोड़े दिनों के बाद मैंने सुना कि सत्यार्थी ने लाहौर छोड़ दिया और दिल्ली के किसी नीम-सरकारी अख़बार में मुलाज़मत कर ली. मुझे यक़ीन है कि अब सत्यार्थी का लिबास पहले की तरह मैला-कुचैला नहीं होता होगा. उस जूते भी अब लाहौर के मशहूर प्रकाशक के जूतों की तरह क़ीमती और चमकीले होंगे, नन्ही-मुन्नी कविता अब बड़ी हो गयी होगी और तांगे में स्कूल जाती होगी, लेकिन किसान?'

शायद अब भी सत्यार्थी उनके बारे में सोचता हो!

अनुवाद:अर्जुमंद आरा

(आभार: त्रैमासिक उर्दू *अदब*,अंजुमन तरक़्क़ी-ए-उर्दू हिंद, दिल्ली, जनवरी-मार्च, 2021, पृ. 14-34)

---

1 उर्दू के लेखक और मॉडर्न पब्लिशिंग हाउस के मालिक

2 उर्दू का सुप्रसिद्ध प्रकाशन जिसकी शाखाएं अनेक शहरों में हैं.

3 उर्दू की एक साहित्यिक अंजुमन जो तरक्क़ीपसंद अदीबों की कट्टरता से बेज़ार कुछ अदीबों ने शुरू की थी और एक मज़बूत संस्था बन गयी. पाकिस्तान में यह हल्क़ा आज भी सक्रिय है.

4 मौत के समय का कंपन

5 दरिद्रता

साक्षात्कार

अजनबी बन जायें हम दोनों

हम कि ठहरे अजनबी

बलवंत सिंह

बलवंत सिंह : आपका जन्म कब हुआ था?

साहिर : मेरा जन्म 08 मार्च 1921 ईस्वी में हुआ था.

बलवंत सिंह : आपने शुरू की ज़िंदगी कहां गुज़ारी?

साहिर : मेरा बचपन लुधियाना में गुज़रा. दसवीं तक मैं ख़ालसा स्कूल में पढ़ा उसके बाद गवर्नमेंट कॉलेज लुधियाना में दाख़िला लिया और चौथे साल में लाहौर चला गया.

बलवंत सिंह : आपकी तालिबे-इल्मी की ज़िंदगी कैसी रही?

साहिर : मैं एक साल तक स्टूडेंट्स फ़ेडरेशन का सेक्रेटरी रहा. और एक साल प्रेसीडेंट भी. सियासत से मुझे लगाव था, इसी वजह से एक बार पिटा भी. मुझे वालिद का प्यार नहीं मिला, अपने मामू के पास रहा. उन्होंने ही मुझे पढ़ाया लिखाया. मेरे वालिद बहुत बड़े जागीरदार थे. लेकिन मुझे शुरू से ही जागीरदारी से नफ़रत थी. मेरे दिल पर उसी वक़्त से यह बात नक्श हो गयी कि किसानों के साथ जागीरदारों का बर्ताव बहुत बुरा है.

बलवंत सिंह : आप अपनी ज़िंदगी के किसी वाक़िये से दोचार हुए थे, या ज्यों-ज्यों अलग अलग वाक़ियात का असर पड़ा वैसे वैसे आपने शे'र लिखे?

साहिर : शुरू में तो कभी ऐसा ख़याल भी नहीं आया कि मैं शायर बनूंगा. बल्कि शुरू में मैंने जो कुछ लिखा उसे किसी रिसाले ने शाय नहीं किया. इसलिए मैंने कुछ अर्से के लिए शायरी बिल्कुल तर्क कर दी. लेकिन फिर अपनी तबीयत से मजबूर होकर लिखना शुरू कर दिया. यूं तो बहुत कुछ देखा भी और पढ़ा भी. लेकिन इसके असर से मैंने लिखना नहीं शुरू किया. अक्सर ऐसा ही हुआ कि जब कभी कोई बड़ा वाक़िया पेश आया तो उससे प्रभावित हो कर मैंने नज़्में लिखीं. बाज़ दफ़ा दूसरों पर गुज़रे वाक़ियात भी मुझ पर लागू हो जाते थे. जैसे 'फ़नकार', 'ताजमहल' वग़ैरह, मेरे पहले मजमूए में बहुत सी ऐसी नज़्में थीं जो किसी रिसाले में शाय नहीं हुईं.

बलवंत सिंह : लिखते वक़्त आपको कैसा माहौल पसंद है?

साहिर : आम तौर पर मुझे तन्हाई की ज़रूरत महसूस होती है. कभी कभी मैं चलते फिरते भी शे'र कह लेता हूं. लेकिन बंबई की सड़कों पर ऐसा मुनासिब नहीं. मैं अपने शहर लुधियाना या लाहौर की सड़कों पर ऐसा किया करता था.

बलवंत सिंह : उर्दू के किन शायरों का आप पर ख़ास असर पड़ा?

साहिर : मुझ पर फ़ैज़, मज़ाज, जोश और इक़बाल का काफ़ी असर पड़ा है. मेरा तरीक़ा भी फ़ैज़ से मिलता जुलता है. फ़ैज़ में शे'र की ख़ूबसूरती बढ़ाने का आर्ट है. मुझ पर गोपाल मित्तल की शख़्सियत का भी

असर पड़ा, उन्होंने पहले मुझे सोशलिज़्म पर पढ़ने को किताब दी.

बलवंत सिंह : जहां तक शायरी का ताल्लुक़ है, आप कम्युनिस्ट और नॉन-कम्युनिस्ट में क्या फ़र्क़ समझते है?

साहिर : मैं नहीं समझता कि कम्युनिस्ट हुए बिना तरक्क़ीपसंद अदब नहीं पैदा किया जा सकता. कोई भी ईमानदार शायर आज के हालात का ईमानदारी से बयान करे तो उसका कलाम आगे बढ़ने से रुक नहीं सकता. मेरे ख़याल में फ़ैसला इसी बात पर होता है कि हर लेखक बिना झिझक आज के हालात को पूरी ईमानदारी से बयान करे.

बलवंत सिंह : हमारी साहित्य एकेडमी के बारे में आपका क्या ख़याल है?

साहिर : शायद यह बात सुनने में अच्छी न लगे, इस एकेडमी में एक तरह से बंदरबांट हो रही है. एकेडमी ने शायद ही भारत के ज़िंदा लोगों की कोई किताब छापी हो.

बलवंत सिंह : आपके ख़याल में फ़िल्मी दुनिया की हवा एक शायर को रास आ सकती है या नहीं?

साहिर : यूं तो शायर फ़िल्मी दुनिया से दूर रह कर अच्छे अच्छे शे'र कह सकता है, मगर मेरे ख़याल में फ़िल्मी दुनिया एक शायर को ख़त्म नहीं कर सकती. एक अच्छा शायर फ़िल्मी गीतों को ज़्यादा शायराना और मायनेदार बना सकता है.

बलवंत सिंह : एक अच्छा शायर जो अदब में अपना मुक़ाम बना लेता है वह अक्सर फ़िल्मी दुनिया में नाकाम क्यों रहता है? इसका एक नतीजा यह भी निकलता है कि फ़िल्म प्रोड्यूसर समझते है कि शायर उनके लिए बिल्कुल बेकार है?

साहिर : फ़िल्म का एक अलग ही मीडियम है और फ़िल्म प्रोड्यूसर की अलग ख़्वाहिश है. उनको समझे बग़ैर कोई अच्छे से अच्छा शायर भी फ़िल्मी दुनिया में कामयाब नहीं हो सकता.

बलवंत सिंह : अदब की दुनिया में अच्छे ख़ासे मशहूर अदीब उम्दा कहानी और डॉयलॉग लिख लेते है लेकिन अपने ढंग की अच्छी कहानी फ़िल्म में पेश नहीं कर सकते?

साहिर : इसकी वजह भी लगभग वही है जो मैंने ऊपर बतायी है. एक फ़िल्मी कहानी से अदबी कहानी ज़रा मुख़्तलिफ़ होती है. मेरे ख़याल में फ़िल्मी तकनीक को हमारे कहानीकार बाक़ायदा समझ कर लिखें तो वे ज़रूर अच्छी कहानी फ़िल्मों में पेश कर सकते हैं.

बलवंत सिंह : हमारी फ़िल्म इंडस्ट्री लेखकों से पूरा पूरा फ़ायदा उठा रही है या नहीं?

साहिर : नहीं, लेकिन मेरे ख़याल से अब धीरे धीरे कुछ तब्दीली आ रही है और आइंदा इसका नतीजा कुछ अच्छा निकलेगा.

बलवंत सिंह : बाज़ फ़िल्म निर्देशक खुल्लम-खुल्ला कहते है कि कहानीकारों की कहानी उनके किसी काम नहीं आ सकती. गोया फ़िल्मों को अदब से कोई फ़ायदा नहीं पहुंच सकता?

साहिर : अदब और फ़िल्मी दुनिया के बीच में एक ऐसी लकीर खींच देना मेरे ख़याल में ठीक नहीं. बाज़ बंगाली अफ़साना-निगारों के अफ़साने बड़ी कामयाबी से फ़िल्माये गये है. आज के लेखकों की कहानियां भी फ़िल्मायी जा सकती है. मेरे ख़याल में जो निर्देशक ऐसा कहते हैं उन्होंने आज के अदब का मुताला किया ही नहीं है. अगर वे आज के अदब का अध्ययन करते रहते तो उन्हें अक्सर उम्दा प्लॉट की कहानियां मिलती रहतीं.

बलवंत सिंह : भारतीय सेंसरबोर्ड के बारे में आपकी क्या राय है?

साहिर : भारतीय सेंसरबोर्ड कामयाब नहीं है. मेरे ख़याल में जिस ज़बान की फ़िल्म हो, उसके बोर्ड में उस ज़बान के कम से कम दो लेखक होने चाहिए. अक्सर फ़िल्म से बड़ी ऊटपटांग काट-छांट कर दी जाती है.

बलवंत सिंह : हमारे लेखकों की ज़िंदगी में अक्सर औरतों की मुहब्बत की कमी की वजह से बड़ी गहरी फ़्रस्ट्रेशन पायी जाती है. आपका इस बारे में क्या ख़याल है?

साहिर : हमारा समाज यक-जिंसी (एक लिंग के वर्चस्व वाला) है , यहां मर्दों का बोलबाला है. इसलिए हमारे

यहां औरतें मर्दों के साथ आज़ादाना मेलजोल न कर सकने की वजह से मुहब्बत के गोरख-धंधे से ही दूर रहती हैं. और अगर कोई औरत भूले भटके से मुहब्बत कर भी ले तो समाज की बंदिशें इतनी मुश्किलें पैदा कर देती हैं कि वह अक्सर बेवफ़ाई करके अपनी जान छुड़ाती है.

बलवंत सिंह : आपका अपनी शायराना ख़ूबियों के बारे में क्या ख़याल है?

साहिर : अगर मेरी सेहत अच्छी रहे तो मेरे ख़याल में मेरे लिए ना-उम्मीदी की कोई बात नहीं. पिछले साल मेरी सेहत काफ़ी बिगड़ गयी थी जिसकी वजह से मेरे इस काम में भी रुकावट पैदा हुई.

बलवंत सिंह : उर्दू का हर कामयाब शायर ग़ज़ल ज़रूर कहता है, या अपनी शायरी की शुरुआत ग़ज़ल ही से करता है. ग़ज़ल के बारे में आपका क्या ख़याल है?

साहिर : एक तरह से ग़ज़ल का लिखना आसान है. उर्दू शायरी में ग़ज़ल का रिवाज ख़ासा पुराना है. जिससे हर नये शायर को मदद मिलती है. शायद इसलिए अक्सर शायर सिर्फ़ ग़ज़ल ही कहते हैं या कम से कम अपनी शायरी ग़ज़ल से शुरू करते हैं. लेकिन इसके ये मायनी नहीं कि अच्छी ग़ज़ल लिखना आसान काम है.

बलवंत सिंह : अदबी मज़मून में लेखक के दिल को जो ख़ुशी नसीब होती है आप उसको अहमियत देते हैं या आपके ख़याल में लेखक का काम समाज की ख़िदमत करना ही है?

साहिर : मैं अदीब की ख़ुशी को बहुत अहमियत देता हूं. और इसके साथ यह भी दुरुस्त है कि कोई हक़ीक़ी अदीब ख़ुद को समाज के मसलों से अलग नहीं रख सकता. उनसे ग़ाफ़िल नहीं रह सकता. अदीब या शायर पर कोई ऐसी पाबंदी लगाना ग़लत होगा कि वह हर बार समाज के किसी मसले का हल अपनी तख़्लीक़ात में पेश करे.

बलवंत सिंह : आपके ख़याल में बंटवारे के बाद उर्दू की तरक़्क़ी पकिस्तान और भारत में कैसी रही?

साहिर : बंटवारे से एक बार तो उर्दू अदब और उर्दू अदीब दोनों को ख़ासा झटका लगा. हो सकता है आगे चल कर हालत दुरुस्त हो जाये.

बलवंत सिंह : आपको अदब के अलावा किसी और चीज़ से भी दिलचस्पी रही?

साहिर : जी हां, म्यूज़िक से कुछ दिलचस्पी रही. मैं स्कूल के दिनों में गाता भी था. लेकिन कॉलेज में पहुंचकर मैंने गाना छोड़ दिया.

बलवंत सिंह : क्या आप एक ग़ज़ल एक ही बैठक में लिख लेते है?

साहिर : जी नहीं, मैं एक ग़ज़ल को एक बैठक में नहीं लिखता. अक्सर कई बैठकों में ग़ज़ल पूरी होती है. हां कभी कभी ऐसा भी हो जाता है कि एक ही बैठक में ग़ज़ल पूरी हो जाती है.

बलवंत सिंह : आपके ख़याल में किसी क़िस्म का नशा एक लेखक के लिए ज़रूरी है? बाज़ लोग उसके बग़ैर तख़्लीक़ (रचना) कर ही नहीं पाते?

साहिर : मेरे ख़याल से किसी भी तख़्लीक़ के लिए नशे की ज़रूरत नहीं है. बल्कि किसी तख़्लीक़ के बाद हल्के फुल्के नशे की ज़रूरत हो सकती है. लेकिन वह ज़रूरी नहीं है.

बलवंत सिंह : आपकी उम्र काफ़ी हो गयी है, लेकिन आपने शादी नहीं की, क्या आप इसके ख़िलाफ़ है?

साहिर : जी नहीं, मैं शादी के ख़िलाफ़ नहीं हूं. लेकिन जहां तक मेरा ताल्लुक़ है, मुझे शादी की कोई ख़ास ज़रूरत महसूस नहीं हुई. मेरे ख़याल में किसी भी मर्द का औरत से ताल्लुक़ बीवी-शौहर का ही होना ज़रूरी नहीं है. मां का प्यार और बहन का प्यार भी तो हो सकता है.

बलवंत सिंह : एक मर्द में बाप का प्यार भी होता है. शादी के बिना उसकी इस ख़्वाहिश की तसल्ली कैसे हो सकती है?

साहिर : मुझे ऐसा कभी महसूस नहीं हुआ. मेरी दो छोटी बहनें हैं जिन्हें मैं बहुत प्यार करता हूं. हो

सकता है मेरे अंदर बाप के प्यार की ख़्वाहिश इसी तरह पूरी हो जाती हो.

बलवंत सिंह : लिबास के बारे में आपका क्या ख़याल है?

साहिर : मुझे सर्दियों में पश्चिमी लिबास अच्छा लगता है और गर्मियों में जो मिल जाये उसी से गुज़ारा हो जाता है.

बलवंत सिंह : शायरी के अलावा आजकल आपको और किन किन चीज़ों में दिलचस्पी है?

साहिर : कॉलेज के ज़माने में क्रिकेट खेला करता था. बाद में तस्वीरें और रिकॉर्ड जमा करने का काफ़ी शौक़ रहा. आजकल लेखकों की आवाज़ रिकॉर्ड किया करता हूं.

बलवंत सिंह : खाने के बारे में आपका क्या ख़याल है?

साहिर : जो भी चीज़ आसानी से मिल जाये वह मैं खा लेता हूं. किसी ख़ास चीज़ का शौक़ नहीं है. पहले गोश्त खाया करता था. लेकिन अब गोश्त खाने से उलझन होती है. अपने पेट की ख़ातिर किसी बेज़ुबान की जान लेना अच्छा नहीं लगता.

अनुवाद: मोहम्मद नौशाद
मो.: 9278296324

साभार : *फ़न और शख़्सियत: साहिर लुधियानवी नंबर*, संपादन: साबिर दत्त, सरवर शफ़ी; बंबई, अंक 17-18, फ़रवरी 1985, पृ. 47-51

साहिर के साथ एक शाम

नरेश कुमार शाद

'मैं कब और कहां पैदा हुआ?'

मेरे इस सवाल को ज़ेरे-लब दुहराकर साहिर ने हंसते हुए कहा, 'ऐ जिद्दत-पसंद[1] नौजवान, यह तो बड़ा रिवायती सवाल है. इस रिवायत को आगे बढ़ाते हुए इसमें इतना इज़ाफ़ा और कर लो—क्यों पैदा हुआ?'

मैंने जान-बूझ कर विवशता ज़ाहिर करते हुए कहा, 'ख़ुश-मज़ाक़ी आपकी अपनी जगह, लेकिन साहिर साहिब इसका सहारा लेकर आप हम ग़रीबों के इंटरव्यू लेने के शौक़ का मज़ाक़ क्यों उड़ा रहे हैं?'

साहिर ने ज़रा सा झेंपते हुए क़हक़हा लगाया और सिगरेट का पैकेट मेरी तरफ़ बढ़ाते हुए कहा, '1921 में लुधियाना में.'

मैंने संतोष की सांस ली और पैकेट से एक सिगरेट निकाल कर सुलगाते हुए पूछा,

'तालीम कहां और कहां तक हासिल की.'

'बी.ए. नहीं कर सका हूं. गर्वनमैंट कॉलेज लुधियाना और दयाल सिंह कॉलेज लाहौर दोनों कॉलिजों से निकाला हुआ हूं.'

और इतना कहने के बाद साहिर के लहजे में जैसे गर्व और आत्मविश्वास की लहर दौड़ गयी,

'लेकिन अब इन दोनों कॉलिजों को नाज़ है कि मैं वहां पढ़ता रहा हूं. और अब इस हादसे का कि मैं वहां से निकाला हुआ हूं, यक़ीनन उन्हें सदमा है.'

और मुझे उस वक़्त अनायास साहिर की नज़्म 'नज़्रे-कॉलेज' का आख़िरी शे'र याद आ गया:

लेकिन हम इन फ़ज़ाओं के पाले हुए तो हैं
गर यां नहीं तो यां के निकाले हुए तो हैं

'अच्छा फ़रमाइए, मिस्टर अब्दुल-हई से आप हज़रत साहिर लुधियानवी कब बने?'

'1937 में मैट्रिक का इम्तिहान देने के बाद और इम्तिहान का नतीजा निकलने से पहले जब मुझे बिलकुल फ़राग़त थी, सबसे पहला शे'र कहा था—अब याद नहीं. शायद याद रखने के क़ाबिल भी न हो.'

'इब्तिदाई शायरी पर इस्लाह किस से ली?'

'किसी से नहीं.'

और फिर यकायक जैसे साहिर साहिब को कुछ याद आ गया और कहने लगे,

'हां, यह ज़रूर हुआ कि मैंने अपनी सबसे पहली नज़्म एक दोस्त के ज़रिये अपने स्कूल के टीचर फ़य्याज़ हरियानवी को उनकी राय जानने के लिए भेजी.'

'तो उन्होंने क्या राय दी?'

'यही कि अशआर मौज़ूं हैं, लेकिन कुल मिलाकर नज़्म बहुत मामूली है.' इतना कह कर साहिर ने अपने विशिष्ट लेकिन बड़े प्यारे और दिलकश अंदाज़ में कहा

'ज़ाहिर है मेरे लिए उस वक़्त यही बहुत था कि अशआर मौज़ूं तो हैं.'

'अपना तख़ल्लुस आपने साहिर ही क्यों रखा?'

कुर्सी से उठ कर साहिर कमरे में टहलने लगे और टहलते टहलते कहने लगे,

'चूंकि कोई न कोई तख़ल्लुस रखने का रिवाज था, तख़ल्लुस के लिए कोई अच्छा सा लफ़्ज़ मिल जाये, इस तलाश में था कि इक़बाल ने दाग़ का जो मर्सिया लिखा है उसमें इस शे'र पर नज़र पड़ी:

इस चमन में होंगे पैदा बुलबुले-शीराज़ भी
सैंकड़ों साहिर भी होंगे, साहिबे-एजाज़ भी

अपनी शायरी से बारे में मुझे कोई ख़ुश-फ़हमी या ग़लतफ़हमी नहीं थी और चूंकि मैं भी अपने आपको सैंकड़ों में एक शुमार करता था, इसलिए अपने तख़ल्लुस के लिए मुझे साहिर मुनासिब मालूम हुआ.'

'शुरू में आप उर्दू के किस-किस शायर से ख़ासतौर पर प्रभावित थे?'

'इक़बाल और जोश मलीहाबादी से.'

'और अब अगर मैं यह पूछूं कि आप शे'र क्यों कहते हैं?'

साहिर ने हैरान होकर मेरी तरफ़ देखा तो न जाने क्यों मुझे ऐसा महसूस होने लगा जैसे वे देख नहीं रहे हैं, बल्कि मुझे अपनी लंबी नुकीली नाक से सूंघ रहे हैं. और एक बार फिर कुर्सी पर बैठते हुए बोले,

'मेरी राय में हर आदमी का जो पेशा है उसमें उसका शौक़ और ज़रूरत दोनों शामिल होते हैं. कभी शौक़ पहले और कभी ज़रूरत. समाजी और सियासी नज़रिये के प्रचार का सवाल उसके बाद पैदा होता है. देश के बंटवारे के बाद ज़िंदगी की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए अपने वक़्त का एक हिस्सा मुझे फ़िल्मी शायरी की नज़्र करना पड़ा. इसके अलावा अपनी ज़िंदगी की कुछ घटनाओं की याद को सुरक्षित रखने के लिए भी मेरा ज़हन शे'र कहने पर मजबूर था.'

यह सुनकर मुझे उनका ये शे'र याद आ गया :

दुनिया ने तजुर्बात-ओ-हवादिस की शक्ल में
जो कुछ मुझे दिया है, वो लौटा रहा हूं मैं

'और आप शे'र कहते क्यों-कर हैं?'

इसके जवाब में साहिर अपने चेचक-ज़दा चेहरे को सहलाते हुए बतलाने लगे,

'कभी कभी कोई निजी वाक़िया या सामूहिक मसला ज़हन पर इस तरह छा जाता है कि अशआर के बग़ैर उसका अवलोकन करना मुमकिन ही नहीं होता. उस वक़्त किसी ख़ास माहौल की भी ज़रूरत नहीं होती. उस स्थिति में कोई चीज़ बाधा बनती भी है तो बाधा डालती हुई महसूस नहीं होती. अलबत्ता फ़िल्मी गाना लिखने के लिए दरवाज़ा बंद करके कमरे में टहल टहल कर और शऊरी तौर पर अपने आपको गीत से संबंधित माहौल और पात्र की मानसिकता के सांचे में ढाल कर अशआर कहता हूं या गीत लिखता हूं.'

'अच्छे शे'र की आपके ख़याल में संक्षिप्त परिभाषा क्या है?'

'ख़ूबसूरत हो, सच्चा हो और मुफ़ीद हो.'

'क्या आप अरूज़[2] से वाक़िफ़ हैं? और क्या अरूज़ का जानना शायर के लिए ज़रूरी समझते हैं?'

'मैं ख़ुद अरूज़ से बिलकुल अनजान हूं. इस सूरत में अरूज़ का जानना शायर के लिए ज़रूरी क्यों-कर समझ सकता हूं? लेकिन यह ज़रूर कहूंगा कि अगर एक अच्छा शायर अरूज़ से वाक़िफ़ हो तो उसके हक़ में ज़्यादा अच्छा है.'

'आपकी ज़िंदगी का कोई ऐसा वाक़िया जिसने आपकी शायरी पर असाधारण असर डाला हो?'

'कई छोटे और बड़े वाक़ियात हैं. किसी ख़ास घटना को चुनना ना-मुमकिन है.'

‘आप इस सदी का सबसे बड़ा शायर किसे मानते हैं?’

‘वैचारिक मतभेद के बावजूद इक़बाल को.’

‘उर्दू के मौजूदा शायरों में आपको ख़ास तौर पर कौन सा शायर पसंद है?’

‘मुश्किल यह है कि समकालीन शायरों के बारे में निजी पसंद फ़नकार के अलावा उसकी शख़्सियत पर भी टिकी होती है. लेकिन फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ मुझे सबसे ज़्यादा पसंद हैं.’

‘और उर्दू के जदीद शायरों में कोई क़ाबिले-ज़िक्र शायर भी आपकी नज़र में है?’

‘नरेश कुमार शाद.’ साहिर ने संजीदगी से जवाब दिया.

मैंने हंसते हुए कहा, ‘हौसला-अफ़ज़ाई का शुक्रिया, लेकिन ज़रा और संजीदगी से बताइए. मेरा मतलब है हक़-गोई से काम लीजिए ताकि किसी की हक़-तलफ़ी न हो.’

‘हौसला-अफ़ज़ाई या तुम्हें ख़ुश करने का सवाल नहीं.’ साहिर ने अपनी लंबी लंबी उंगलियों को लहराते हुए कहा.

‘अपनी इस राय का इज़हार मैं पहले भी कर चुका हूं. तसदीक़ दरकार हो तो कुंवर महेंद्र सिंह बेदी से पूछ लेना.’

अपने ज़िक्र के सिलसिले को जानबूझ कर छोड़ते हुए मैंने दूसरा सवाल किया,

‘आपकी नज़र में अब तक आपकी बहतरीन नज़्म कौन सी है?’

साहिर ने सिगरेट का एक लंबा कश लगाते हुए कहा, ‘मुख़्तलिफ़ वक़्तों में मुख़्तलिफ़ नज़्में बहतरीन मालूम होती रही हैं.’

‘जैसे? इस वक़्त कौन सी नज़्म?’

‘परछाईयां.’ साहिर ने कुछ सोचते हुए जवाब दिया.

‘क्या शे’र और शराब लाज़िम-ओ-मल्ज़ूम हैं?’

‘हरगिज़ नहीं, शे’र कहने के लिए नशे की क़तई ज़रूरत नहीं है. नशे की हालत में आम तौर पर अच्छा शे’र कहा ही नहीं जा सकता.’

‘तो फिर आप शराब क्यों पीते हैं?’

‘मैं तो बुशशर्ट भी पहनता हूं. हालांकि बुश-शर्ट पहनना शायर के लिए ज़रूरी नहीं है.’

‘शायरी से क़ता नज़र वैसे आपके शराब पीने की वजह क्या है?’

‘मैं शराब नहीं पीता था. जब बंबई में शराबबंदी हुई थी उस वक़्त भी मैं शराब नहीं पीता था. बाद में लो-ब्लड प्रेशर की वजह से तिब्बी तौर पर मैंने तीन चार साल तक शराब का इस्तेमाल किया और इससे काफ़ी इफ़ाक़ा हुआ. अब अलबत्ता इसका आदी हो गया हूं. रात को शराब पिये बग़ैर अच्छी तरह नींद नहीं आती.

‘शायरी के अलावा आपको साहित्य की दूसरी विधाओं से किस हद तक दिलचस्पी है?’

‘पढ़ने की हद तक हर विधा से दिलचस्पी है, लेकिन...’ साहिर ने उंगलियों को अपने बालों में उलझाते हुए कहा, ‘शुरू शुरू में कुछ कहानियां भी मैंने लिखी हैं, और बाद में चंद समीक्षात्मक लेख भी.’

‘क्या हमारा मौजूदा अदब वाक़ई जमूद (जड़ता) का शिकार है?’

‘जमूद हरकत की ज़िद है. अदब में हरकत तो है, लिखा भी बहुत कुछ जा रहा है. यह दूसरी बात है कि वह ज़्यादा आला दर्जे का न हो.’

'आपका सियासी नज़रिया क्या है?'

'मैं कभी किसी सियासी पार्टी का मेम्बर नहीं रहा. ग़ुलाम हिंदुस्तान में आज़ादी के सकारात्मक पहलू ढूंढ़ना और उनका प्रचार करना मेरा उद्देश्य ज़रूर रहा है. और अब ज़हनी तौर पर आर्थिक आज़ादी का पक्षधर हूं जिसका स्पष्ट रूप मेरे नज़दीक सोशलिज़्म है.'

'आपके ख़याल में हिंदुस्तान में उर्दू का मुस्तक़बिल क्या है?'

साहिर ने डिप्लोमैटिक अंदाज़ अपनाते हुए जवाब दिया, 'उर्दू ज़बान के मुस्तक़बिल को हिंदुस्तान के मुस्तक़बिल से अलग नहीं किया जा सकता. हिंदुस्तान में उर्दू का वही मुस्तक़बिल है जो ख़ुद हिंदुस्तान का है, यानी जिस रफ़्तार से वैमनस्य और तंगनज़री में कमी पैदा होगी उसी रफ़्तार से मुल्क और उर्दू दोनों आगे बढ़ेंगे.'

'अब ज़रा तरक़्क़ीपसंद अदब की तहरीक के बारे में फ़रमाइए?'

'मैं समझता हूं तरक़्क़ीपसंद तहरीक ने अदब और मुल्क की बड़ी ख़िदमत की है. अगरचे इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि इससे कुछ ग़लतियां भी ज़रूर हुई हैं, लेकिन जो लोग सिर्फ़ इसकी ख़ामियां गिनते हैं मैं उनसे मुतमइन नहीं हूं.'

'लेकिन यह तो आप मानते हैं कि उसका शीराज़ा बिखर चुका है?'

'जी हां, संगठित रूप अब बाक़ी नहीं है.'

'और कुछ लोग जो यह कहते हैं कि यह तहरीक महज़ चंद लोगों के लिए शोहरत पाने और एक दूसरे की प्रशंसा करने की तहरीक थी, इससे उन्होंने अपना उल्लू सीधा किया और तहरीक का बोलो राम हो गया. इसके बारे में आपका क्या ख़याल है?'

मुझे उम्मीद थी कि मेरी बात के जवाब में साहिर अपना मिसरा, 'लोग कहते हैं तो फिर ठीक ही कहते होंगे', पढ़ कर पीछा छुड़ाने की कोशिश करेंगे. लेकिन उन्होंने आशा के विपरीत बहुत धैर्य के साथ कहना शुरू किया :

'नहीं, ऐसी बात नहीं है. इस तहरीक के लोगों ने काफ़ी क़ुर्बानियां दी हैं. कठिनाइयां झेली हैं. यह ठीक है कि वे एक दूसरे की शोहरत में इज़ाफ़े का कारण बने हैं. इसकी वजह समाज और अदब के नकारात्मक रुझानों के ख़िलाफ़ उनकी वैचारिक एकता थी. अब अगर तहरीक में क्राइसिस पैदा हुआ तो इसका सबब यह है कि हमारे ज़हनों में सरमायादारी के तोड़ के लिए साम्यवाद की जो शानदार कल्पना थी उसमें भी व्यक्तिगत आज़ादी और कुछ दूसरे मामलों से संबंधित कुछ व्यवहारिक ख़राबियां महसूस हुईं.'

मैंने मौज़ू बदलते हुए कहा 'फ़िल्मी शायरी और ख़ास तौर पर अपनी फ़िल्मी शायरी के बारे में आपकी क्या राय है?'

'साहित्यिक शायरी के लिए भी शुरू में पारंपरिक शायरी करनी पड़ती है. इसके बाद शायर अपने दिलपसंद स्टाइल से काम लेता है. मैंने भी इब्तिदा में फ़िल्मी दुनिया की रिवायत से मिलती जुलती शायरी की और बाद में अपनी जगह बनाने के बाद मैं इस क़ाबिल हुआ कि बहुत सी फिल्मों में अपनी पसंद की फिल्में चुन सकूं. इस तरह मैं आसानी और ख़ूबी से अपने ख़यालात और जज़्बात का प्रचार कर सका.'

अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए साहिर ने कहा, 'फ़िल्म के इस पहलू को नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता कि अपने ख़यालात और जज़्बात का प्रचार करने के लिए यह एक पावरफुल मीडियम है.'

'यह बताइए कि पुराने फ़िल्मी शायरों में कौन सा शायर आपको पसंद है?'

'आरज़ू लखनवी.'

'और आपके ज़माने के फ़िल्मी शायरों में?'

साहिर के भरे हुए चेहरे पर हल्की सी परेशानी का रंग दौड़ा लेकिन जल्द ही उन्होंने संतुलित होते हुए मुस्कराकर कहा, 'बात यह है कि मैं फ़िल्म राइटर एसोसीएशन का सदर हूं, इसलिए इस सवाल का जवाब देना मुनासिब नहीं है. अब सब फ़िल्मी शायरों को एक नज़र से देखना मेरा फ़र्ज़ है.'अचानक मुझे साहिर की किसी पुरानी नज़्म का शे'र याद आ गया:

तुम में हिम्मत है तो दुनिया से बग़ावत कर दो
वर्ना मां बाप जहां कहते हैं शादी कर लो

'इसका जवाब देना तो शायद आप अनुचित नहीं समझेंगे'', मैंने कुछ झिझकते हुए पूछा, 'कि आपने अभी तक शादी क्यों नहीं की?'

साहिर जैसे आशा के विरुद्ध इस सवाल को सुनकर चौंक से गये और फिर अपनी आदत के अनुसार इस सवाल को हंसी में उड़ाते हुए जवाब दिया, 'क्योंकि कुछ लड़कियां मुझ तक देर से पहुंचीं और कुछ लड़कियों तक मैं देर से पहुंचा.' साझे क़हक़हे के बाद मैंने कहा, 'अच्छा साहिर साहिब, मुझे अब इजाज़त दीजिए, क्योंकि मैं बंबई में अपनी क़यामगाह तक वक़्त से पहुंचना चाहता हूं.'

अनुवाद: मोहम्मद नौशाद

साभार: *फ़न और शख़्सियत: साहिर लुधियानवी नंबर*, संपादन: साबिर दत्त, सरवर शफ़ी; बंबई, अंक 17-18, फ़रवरी 1985, पृ. 52-57

1 आधुनिकतावादी
2 वह इल्म जिससे शायरी के नियमों का ज्ञान हो

देवेंद्र सत्यार्थी की नज़र में साहिर

(उर्दू-हिंदी-पंजाबी लेखक, कहानीकार और कवि)

साहिर लुधियानवी हमारे नौजवान तबक़े के सबसे महबूब शायर हैं. परंपरा और आधुनिकता का जो मेल उनके यहां मिलता है, लय और सुर की छाया जिस तरह मुश्किल से मुश्किल घड़ी में भी उनका साथ देती है, उसी ने उनके अंदाज़े-बयान को इतनी गहराई बख्शी है कि उनकी आवाज़ उर्दू शायरी में सदियों तक गूंजती रहेगी. उनकी शायरी के पहले संकलन 'तल्ख़ियां' के अब तक कई एडिशन छप चुके हैं.

'परछाइयां' साहिर की पहली लंबी कविता है. इसमें उन्होंने हमारे दौर के सबसे अहम मसले पर क़लम उठाया है. विश्व-शांति के विषय पर देस-बिदेस के शायरों ने अपनी-अपनी ज़बान में बहुत कुछ लिखा है लेकिन आतंरिक प्रभाव और बाहरी कैफ़ियतों का जो ख़ूबसूरत तालमेल 'परछाइयां' में मिलता है उसकी मिसाल बहुत कम नज़्मों में नज़र आएगी. पूरी नज़्म एक नया तजुर्बा पेश करती है. क़दम-क़दम पर शायर एक चित्रकार का रूप धारण कर लेता है, हस्बे-हाल नज़्म के आंगन में गीत का दामन फैलने लगता है और यूं मालूम होता है कि एक उपन्यास की अनेक झांकियां गले मिल रही हैं.

(प्रकाश पंडित की पुस्तक *साहिर और उसकी शायरी*, पंजाबी पुस्तक भंडार, दरीबा कलां, दिल्ली, अगस्त 1962, पृ. 66. आभार: https://www.rekhta.org)

पहले भी कहीं देखा है

(साहिर तस्वीरों में)

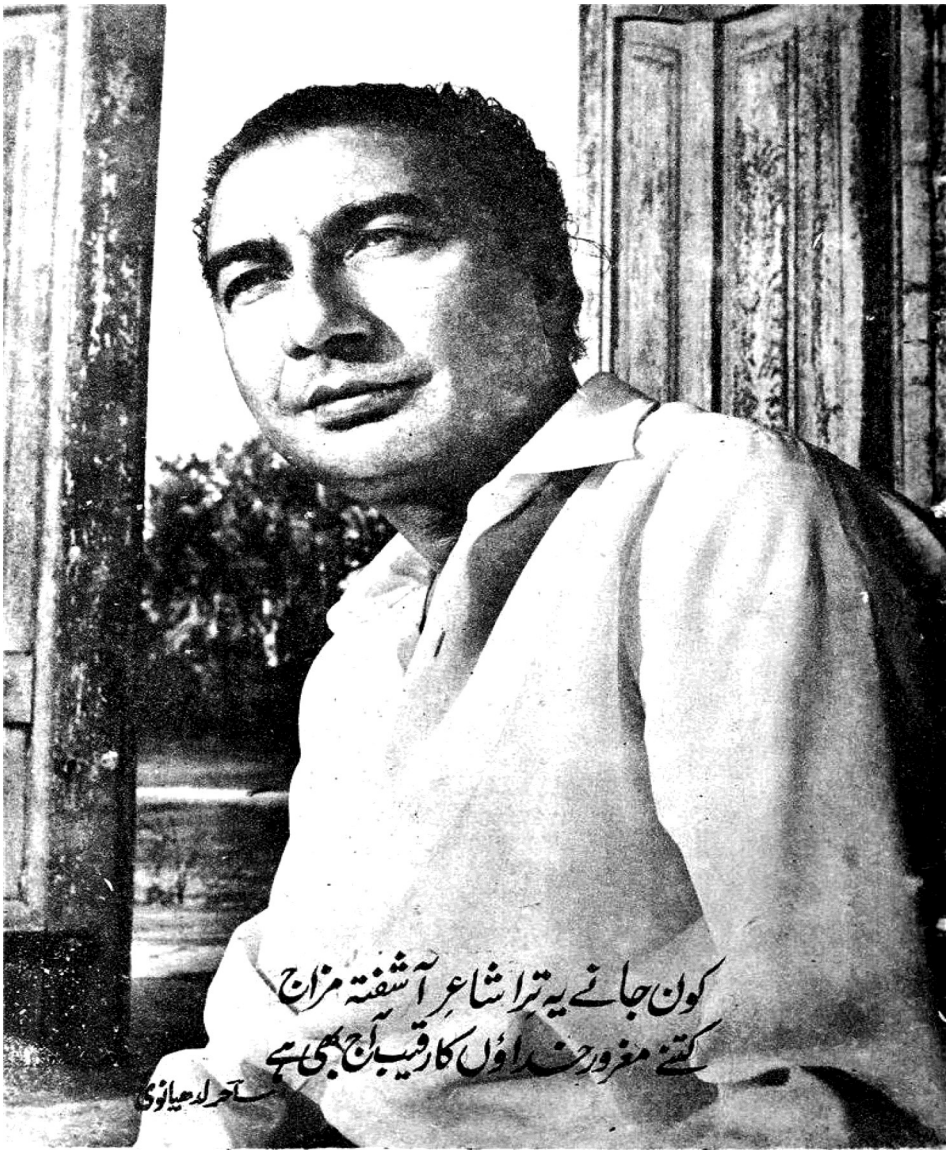

कौन जाने ये तेरा शायरे-आशुफ़्ता-मिज़ाज
कितने मग़रूर ख़ुदाओं का रक़ीब आज भी है!

—साहिर लुधियानवी

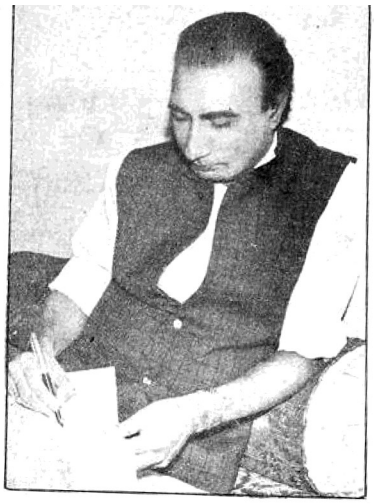

فرصت کے

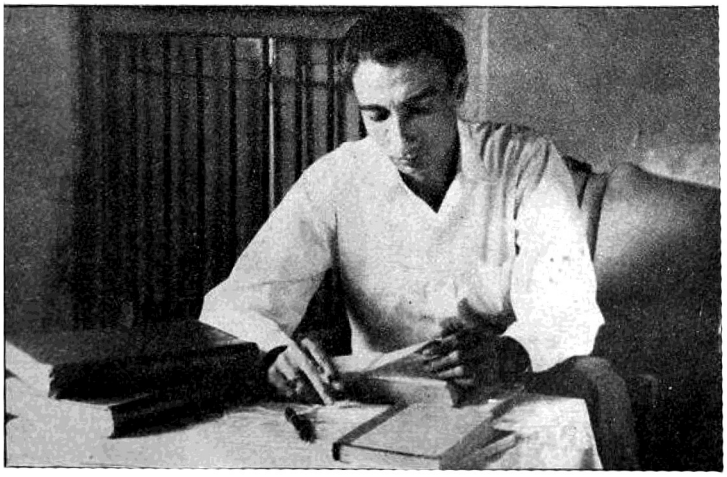

फ़ुर्सत के लम्हात

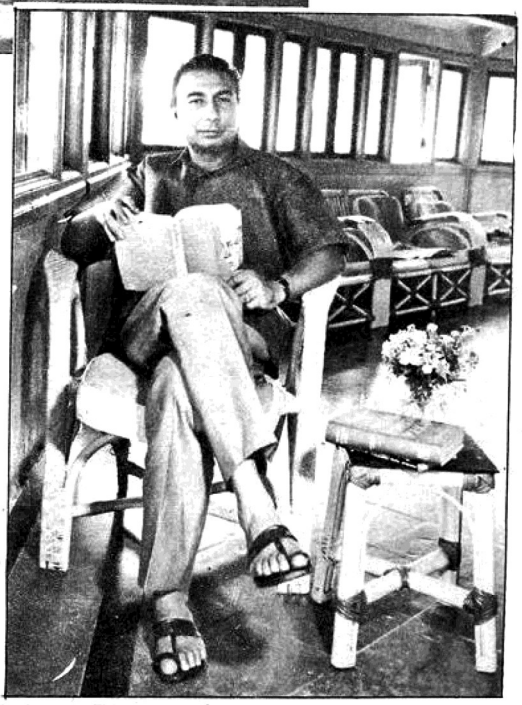

لمحات

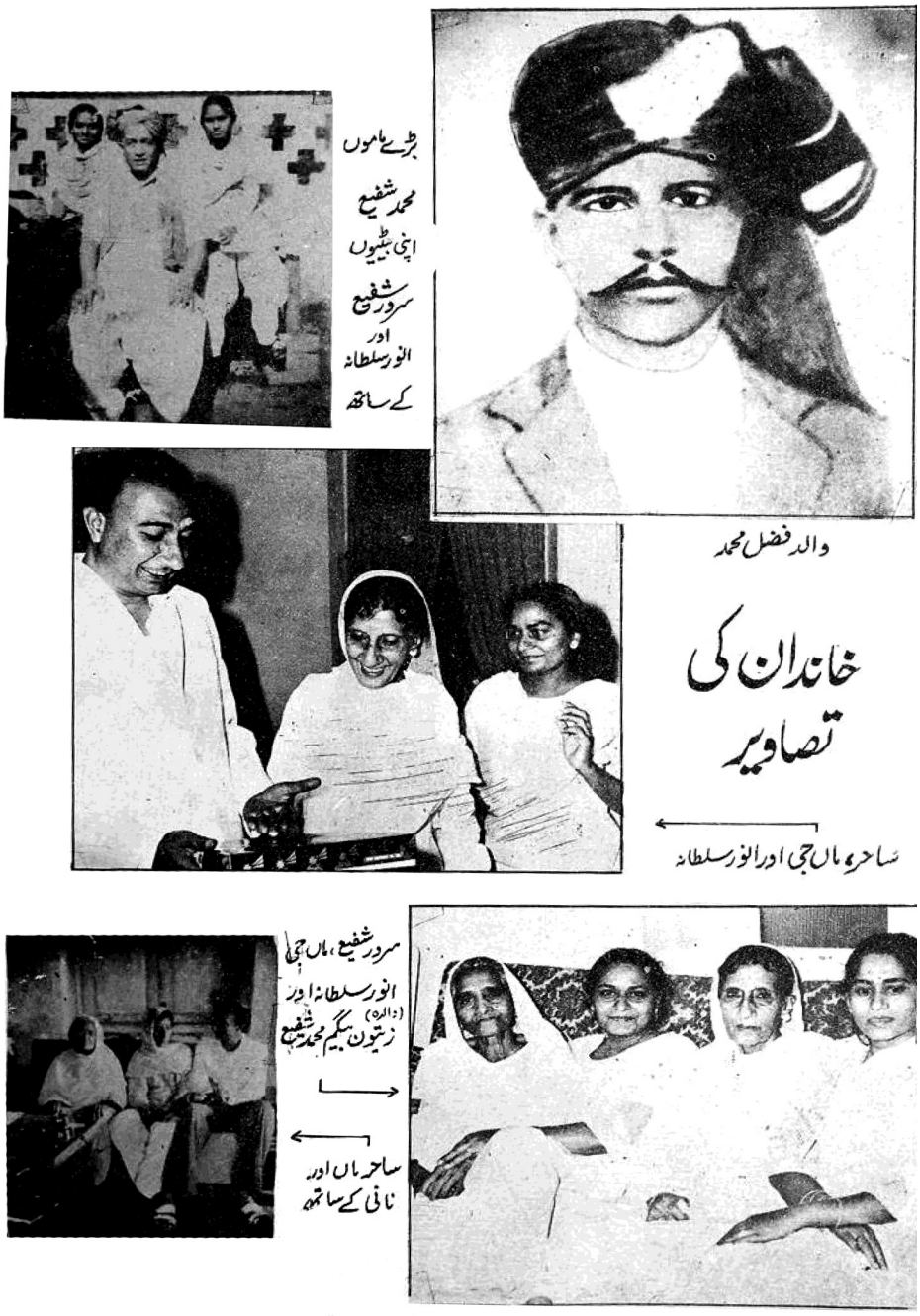

चित्र 1: बड़े मामूं मुहम्मद शफ़ी अपनी बेटियों सरवर शफ़ी और अनवर सुल्ताना के साथ
चित्र 2: साहिर के वालिद मुहम्मद फ़ज़ल
चित्र 3: साहिर, उनकी मां सरदार बेगम (मांजी) और मामूंज़ाद बहन अनवर सुल्ताना
चित्र 4: साहिर अपनी मां और नानी के साथ
चित्र 5: साहिर की मामी ज़ैतून बेगम मुहम्मद शफ़ी, उनकी बेटी अनवर सुल्ताना, मांजी और सरवर शफ़ी

ساحر، ماں جی اور سرور شفیع (بہن) کے ساتھ

ایک فلم کے پریمیئر میں جاتے ہوئے بہن انور سلطانہ اور ماں جی کے ساتھ

صابر دت اور ماں جی ساحر سے آٹوگراف لیتے ہوئے

चित्र 1: एक फ़िल्म के प्रीमियर में जाते हुए, बहन अनवर सुल्ताना और मांजी के साथ साहिर
चित्र 2: साहिर, मांजी और बहन सरवर शफ़ी
चित्र 3: मांजी, साहिर और साबिर दत्त (*फ़न और शख़्सियत* के संपादक)

اوپر:
صدر جمہوریۂ ہند وی۔ وی گری پلم شری
کے اعزاز سے نوازتے ہوئے۔

سابق وزیر اعلیٰ پنجاب، حال کے صدر جمہوریہ
ہند گیانی ذیل سنگھ جی ایک تقریب میں
گلپوشی کرتے ہوئے۔

चित्र 1: राष्ट्रपति श्री वी.वी.गिरि साहिर को पद्मश्री सम्मान से नवाज़ते हुए
चित्र 2: राष्ट्रपति ज्ञानी ज़ैल सिंह किसी समारोह में साहिर को माला पहनाते हुए

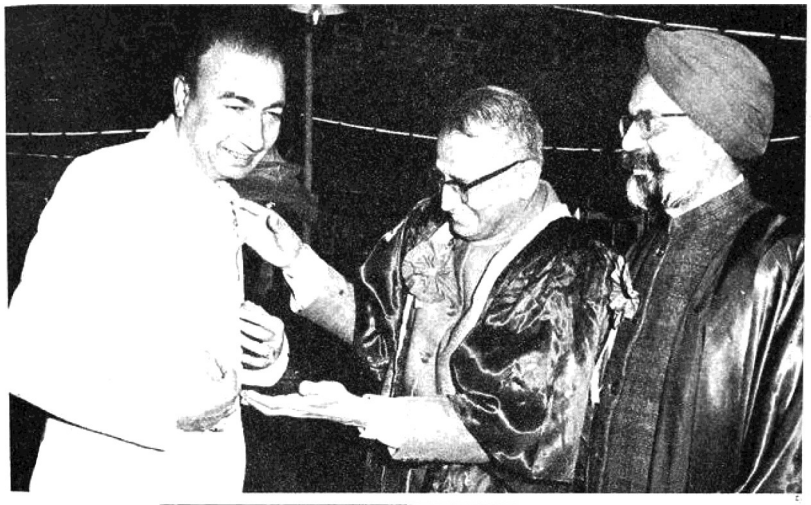

مرکزی وزیر تعلیم ڈاکٹر وی. کے
آر. وی راؤ، گورنمنٹ کالج
لدھیانہ کی سلور جوبلی کے موقع
پر گولڈ میڈل پیش کرتے ہوئے

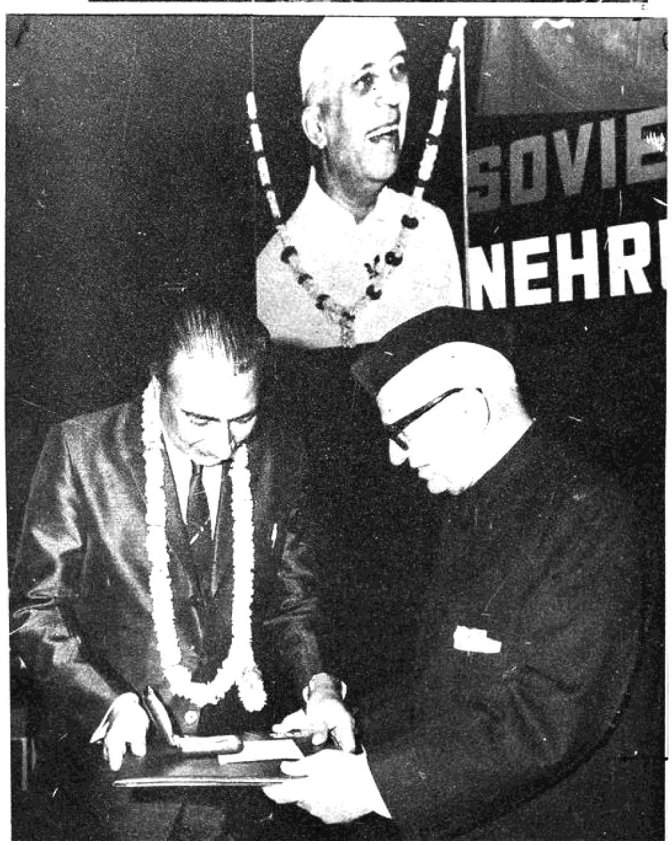

نائب صدر جمہوریہ مسٹر جی۔
ایس پاٹھک سوویت لینڈ
نہرو ایوارڈ پیش کرتے ہوئے

चित्र 1: केंद्रीय शिक्षामंत्री डॉ. वी.के.आर.वी. राव, गवर्नमेंट कॉलेज लुधियाना के सिल्वर जुबली पर साहिर को गोल्ड मैडल पेश करते हुए

चित्र 2: उपराष्ट्रपति श्री जी.एस. पाठक साहिर को सोवियतलैंड नेहरू अवार्ड पेश करते हुए.

جشنِ کرشن چندر کے موقع پر کرشن چندر کو خراج عقیدت پیش کرتے ہوئے نظم "کرشن پھر آئیں گے"۔ ڈائس پر درمیان میں وزیراعظم شریمتی اندرا گاندھی بڑے غور سے نظم سن رہی ہیں۔

دہلی کے ایک مشاعرہ میں اپنی مشہور نظم "پرچھائیاں" سناتے ہوئے۔ ڈائس پر (دائیں سے) فیض احمد فیض، ساغر نظامی (مرحوم) جگر مرادآبادی مرحوم

चित्र 1: 'जश्ने-कृष्ण चंदर' के मौक़े पर साहिर अपनी नज़्म 'कृष्ण फिर आयेंगे' पेश करते हुए. मंच पर प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी और कृष्ण चंदर नज़्म को ध्यान से सुनते हुए.

चित्र 2: देहली के एक मुशायरे में साहिर अपनी नज़्म 'परछाइयां' सुनाते हुए. मंच पर जिगर मुरादाबादी, साग़र निज़ामी और फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ आसीन है.

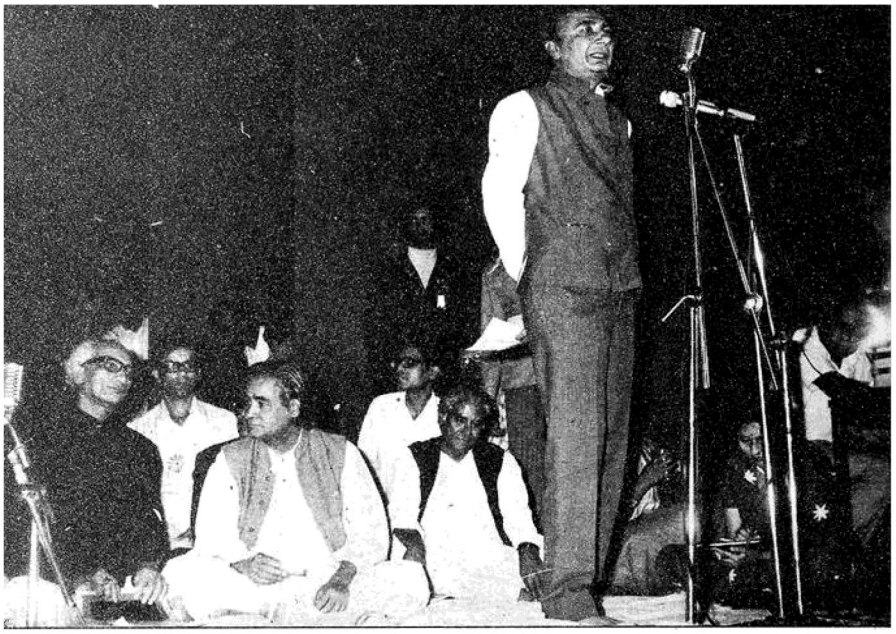

شامِ بہاراں کے مشاعرے میں ساحر نظم سناتے ہوئے۔ ڈائس پر (بائیں سے) سکندر علی وجد (مرحوم)، سردار جعفری اور اختر الایمان

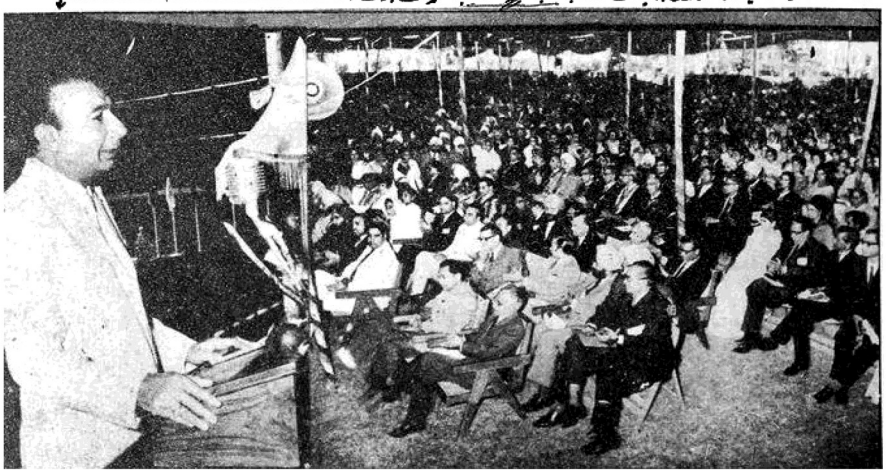

گورنمنٹ کالج لدھیانہ کی گولڈن جوبلی کے موقع پر طلبا کو خطاب کرتے ہوئے۔

चित्र 1: 'शामे-बहारां' के मुशायरे में साहिर नज़्म सुनाते हुए. मंच पर (पहली पंक्ति में बायें से) सिकंदर अली 'वज्द', सरदार जाफ़री और अख़्तरुल-ईमान.

P-2. गवर्नमेंट कॉलेज लुधियाना के सिल्वर जुबली पर साहिर छात्रों को संबोधित करते हुए.

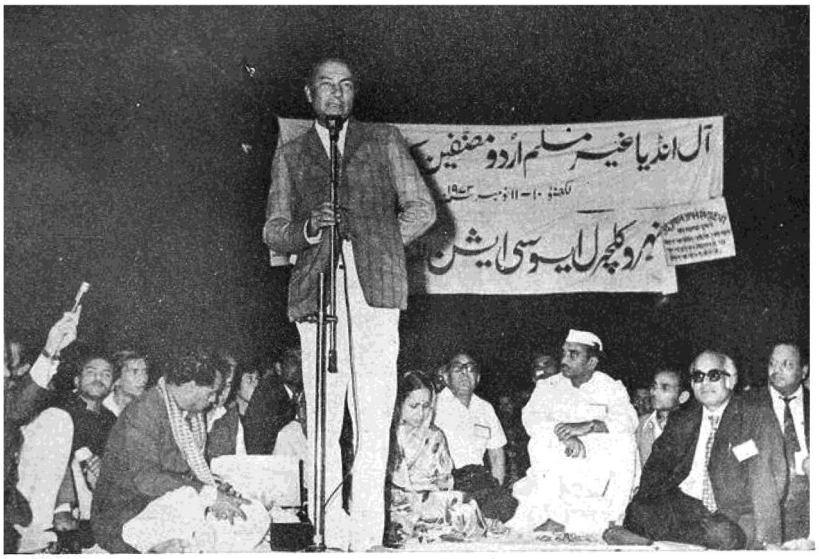

اوپر: آل انڈیا غیر مسلم اردو مصنفین کانفرنس کے مشاعرے میں مائک پر ساحر، ڈائس پر (دائیں سے) رام لال، بہوگنا جی، خمار بارہ بنکوی۔

نیچے: جالندھر میں نریش کمار شاد (مرحوم) کی بیوہ کی امداد کے مشاعرے میں نظم سناتے ہوئے

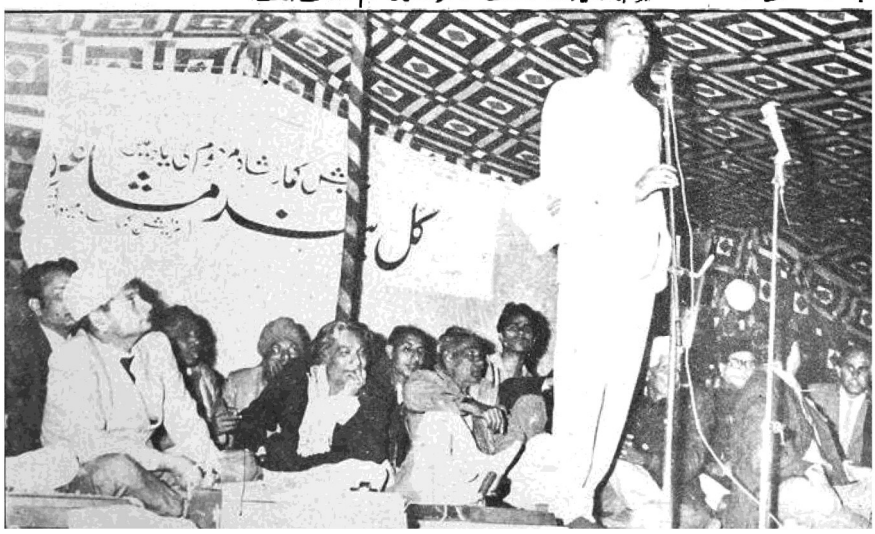

चित्र 1: आल-इंडिया ग़ैर-मुस्लिम उर्दू मुसन्निफ़ीन कांफ्रेंस (लखनऊ, 10-11 नवम्बर 1973) के मुशायरे में माइक पर साहिर.मंच पर दायें से कहानीकार रामलाल, बहुगुणा जी और ख़ुमार बाराबंकवी.
चित्र 2: जालंधर में नरेश कुमार 'शाद' (मरहूम) की विधवा की मदद के लिए आयोजित आल-इंडिया मुशायरे में अपना कलाम सुनाते हुए साहिर. मंच पर बीच में जांनिसार अख़्तर हैं.

روس کے ہردل عزیز تاجکستانی شاعر جناب ترسون زادے کے ساتھ ـــــــــ↑

مشہور افسانہ نگار جناب کرشن چندر اور ساحر

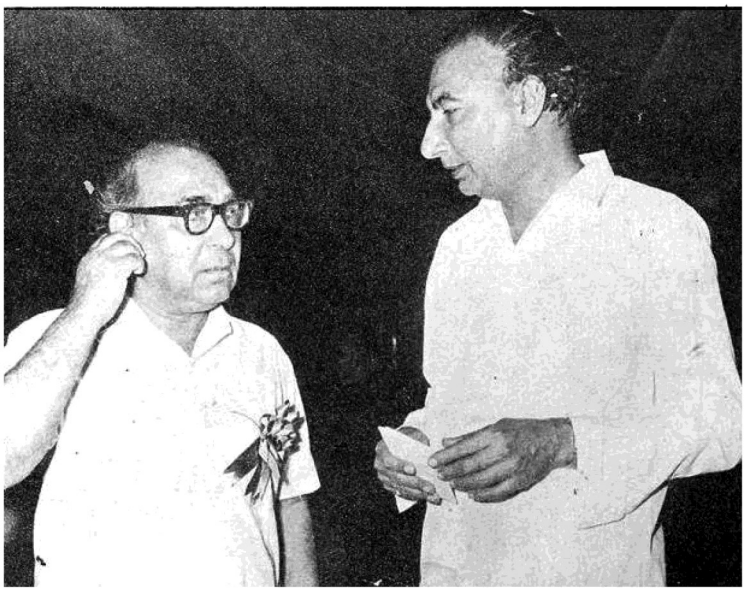

चित्र 1: रूस के लोकप्रिय ताजिकिस्तानी शायर तुरसूनज़ादे के साथ साहिर
चित्र 2: कहानीकार कृष्ण चंदर और साहिर

ماہنامہ "آج کل" دہلی کے دفتر میں

کھڑے ہوئے:۔ بلونت سنگھ ۔ جگن ناتھ آزاد ۔ ساحر لدھیانوی
کرسیوں پر بیٹھے ہوئے:۔ بسمل سعیدی، جوش ملیح آبادی، جاں نثار اختر، دیوندر ستیارتھی ۔ مجاز لکھنوی،
سامنے:۔ عرش ملسیانی

चित्र 1: माहनामा 'आजकल' देहली के दफ़्तर में खड़े हुए हैं साहिर, जगन्नाथ आज़ाद, बलवंत सिंह. तिपाइयों पर बैठे हैं मजाज़, देवेंद्र सत्यार्थी, जांनिसार अख़्तर, जोश मलीहाबादी, बिस्मिल सईदी और नीचे फ़र्श पर अर्श मलसियानी.

ساحر
اور
قرۃ العین حیدر

ساحر اپنے دوست ڈاکٹر
ملک راج آنند کی
سگریٹ جلاتے ہوئے
مجروح سلطان پوری
اور
ڈاکٹر ظ انصاری

चित्र 1: साहिर और क़ुर्रतुल-ऐन हैदर
चित्र 2: साहिर अपने दोस्त मुल्कराज आनंद की सिगरेट जलाते हुए; और ज़ोय अंसारी मजरूह सुलतानपुरी की.

ایک یادگار تصویر

بائیں سے : مہندر ناتھ، حبیب تنویر ، کرشن چندر ، سردار جعفری، عصمت چغتائی ۔ راجندر سنگھ بیدی ، ممتاز حسین
سلطانہ جعفری ، دشوامترعادل اور ساحر (سمندر کے کنارے)

चित्र : समुंदर के किनारे एक यादगार तस्वीर (बायें से) महेंद्रनाथ, हबीब तनवीर, कृष्ण चंदर, सरदार जाफ़री, इस्मत चुग़ताई, राजेंद्र सिंह बेदी, मुमताज़ हुसैन, सुल्ताना जाफ़री, विश्वामित्र आदिल और साहिर

یوپی اردو کنونشن کی ایک یادگار تصویر ۴ دسمبر ۱۹۵۵ء لکھنؤ

بائیں سے کرسیوں پر:۔ تیسرے نمبر پر مہدی۔ ساحر۔ سردار جعفری۔ ایک خاتون۔ ڈاکٹر علیم۔ عصمت چغتائی۔ سجاد ظہیر۔ باقر مہدی۔ مجاز لکھنوی۔ احتشام حسین
بیٹھے ہوئے بائیں سے چوتھے نمبر پر مشہور افسانہ نگار زہرہ جمال۔

चित्र: यूपी उर्दू कन्वेंशन की एक यादगार तस्वीर (4 दिसंबर 1955, लखनऊ) में कुर्सियों पर बायें से: तीसरे नंबर पर मेहदी, साहिर, सरदार जाफ़री, नामालूम महिला, डॉ. अब्दुल अलीम, इस्मत चुग़ताई, सज्जाद ज़हीर, बाक़र मेहदी, मजाज़ लखनवी, एहतशाम हुसैन.

ساحر، اپنے دوست
قتیل شفائی کے ساتھ

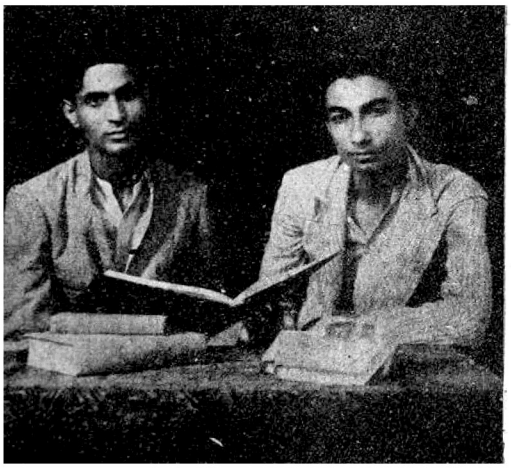

کالج کے ایّام میں
ساحر، شورش کاشمیری
کے ساتھ

चित्र 1: साहिर अपने दोस्त क़तील शिफ़ाई के साथ
चित्र 2: कॉलेज के दिनों में अपने दोस्त शोरिश काश्मीरी के साथ साहिर

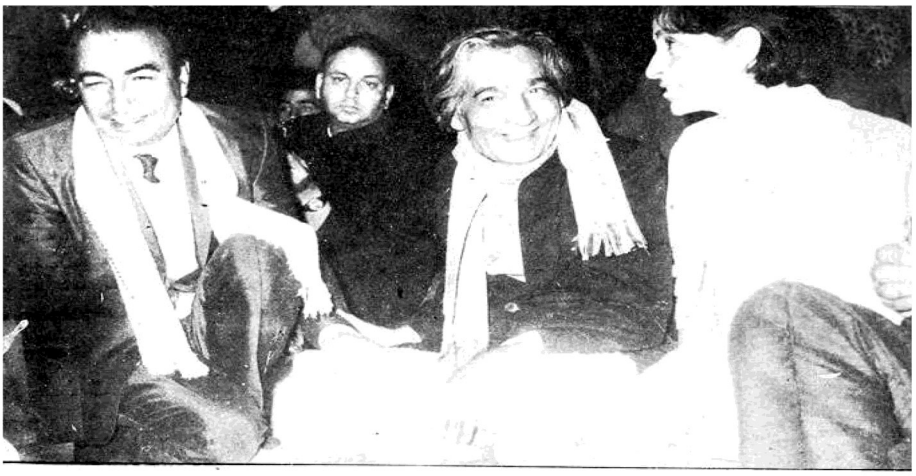

اسٹیج پر بائیں سے امرتا پریتم ۔ جاں نثار اختر اور آخر میں ساحر

ساحر اور سلام مچھلی شہری

चित्र 1: साहिर, जांनिसार अख़्तर और अमृता प्रीतम
चित्र 2: सलाम मछलीशहरी के साथ साहिर

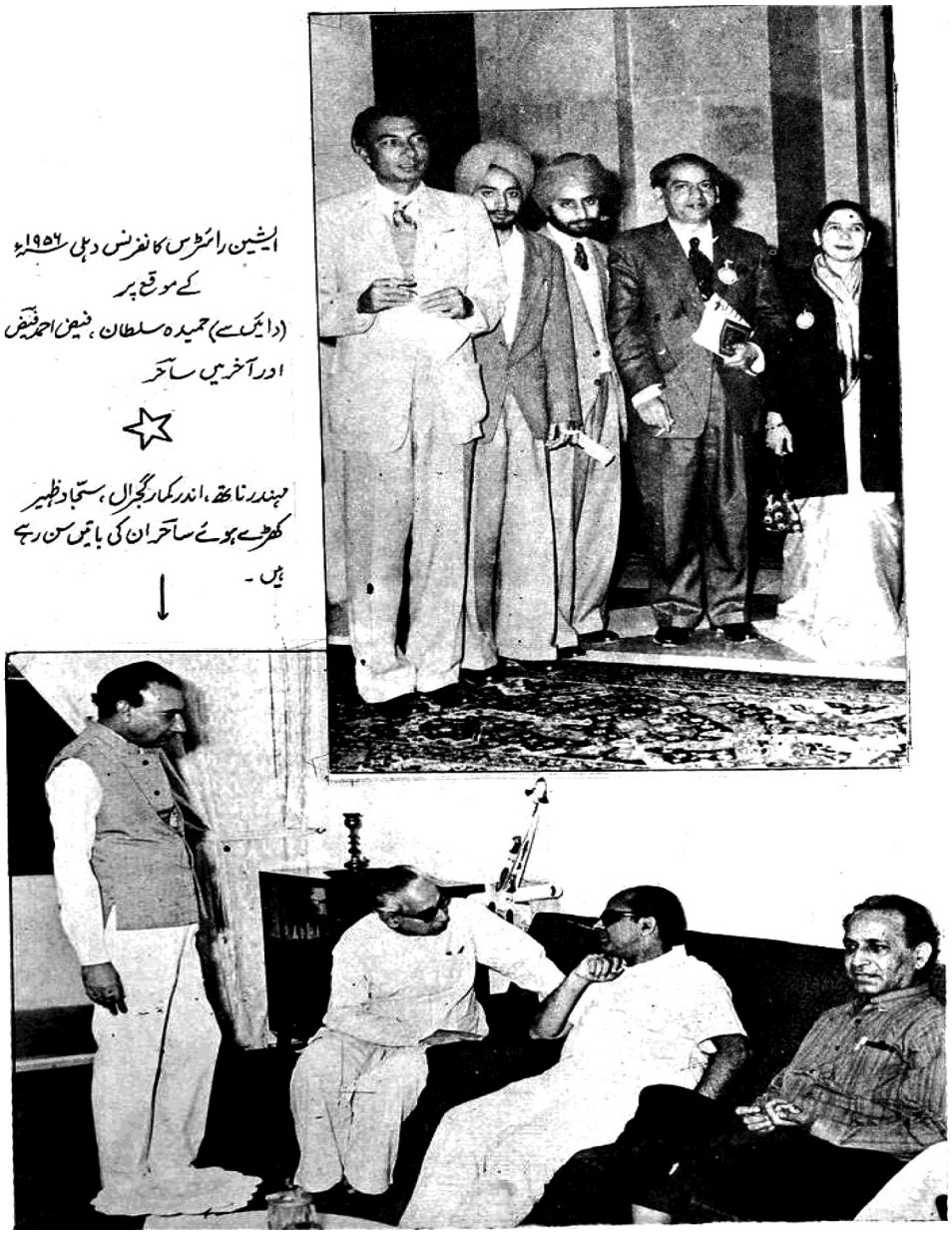

चित्र 1: एशियन रायटर्स कांफ्रेंस, देहली 1956 के मौक़े पर साहिर, फ़ैज़ और हमीदा सुलतान
चित्र 2: साहिर, सज्जाद ज़हीर, इंद्रकुमार गुजराल और महेंद्रनाथ

ساحر کے
گھر پر
(دائیں سے)
ساحر (تیسرے نمبر
پر) اور سب سے
آخر میں فراق گورکھپوری

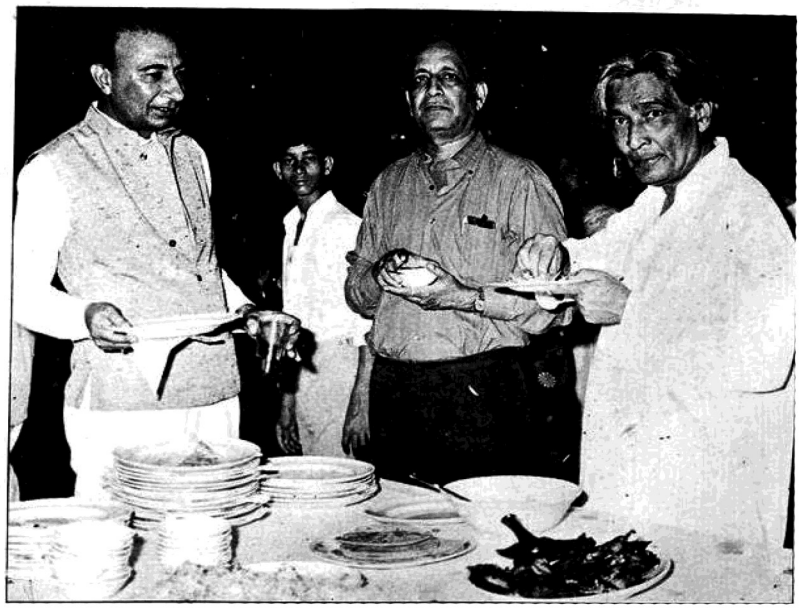

(دائیں سے)
جاں نثار اختر
مہندر ناتھ
اور
ساحر

चित्र 1: साहिर के घर पर फ़िराक गोरखपुरी (बायें किनारे पर)
चित्र 2: साहिर, महेंद्रनाथ और जांनिसार अख़्तर

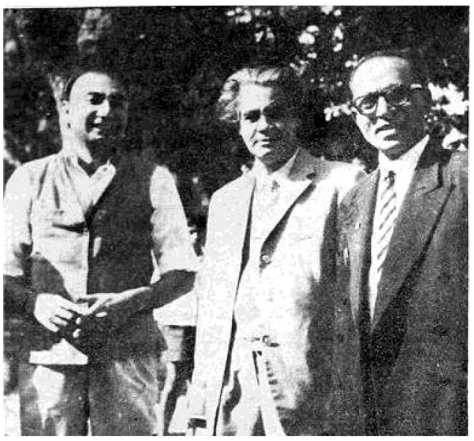

(دائیں سے) مخدوم محی الدین، سردار جعفری اور
ساحر (حیدرآباد میں) ←

ساحر اور واجدہ تبسم ↑

(دائیں سے) انور سلطانہ، عادل رشید
اور ساحر ←

चित्र 1: हैदराबाद में साहिर, सरदार जाफ़री और मख़्दूम मुहीयुद्दीन
चित्र 2: साहिर और उर्दू की एक लोकप्रिय उपन्यासकार वाजिदा तबस्सुम
चित्र 3: साहिर, आदिल रशीद और अनवर सुल्ताना

سلمیٰ صدیقی، ساحر اور مہندر ناتھ۔ ساحر کے جنم دن پر

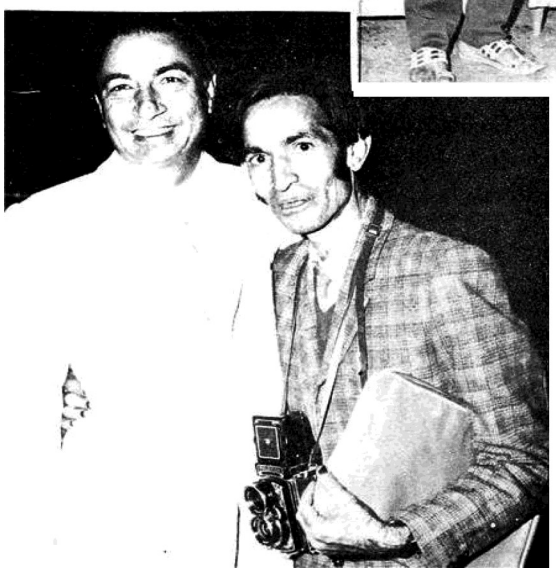

کرشن ادیب اور ساحر لدھیانوی

चित्र 1: साहिर के जन्मदिन पर महेंद्रनाथ और सलमा सिद्दीक़ी
चित्र 2: कृष्ण अदीब और साहिर

(دائیں سے) ساحر ۔ جاں نثار اختر۔ چوتھے نمبر پر کرشن چندر (بائیں سے) مجروح سلطانپوری، خواجہ احمد عباس، سلمیٰ صدیقی سلطانہ جعفری روسی ادیبوں کے ساتھ۔

(بائیں سے) پہلی صف میں۔ عصمت چغتائی، واجدہ تبسم، ساحر، پرکاش پنڈت، جاں نثار اختر، پرکاش کے پیچھے دوسری صف میں راجہ مہدی علی خاں

चित्र 1: रूसी अदीबों के साथ (बायें से) मजरूह सुल्तानपुरी, ख़्वाजा अहमद अब्बास (अंतिम पंक्ति में), सलमा सिद्दीक़ी, सुल्ताना जाफ़री को पहचाना जा सकता है. एक रूसी लेखिका के बाद कृष्ण चंदर हैं और बिलकुल दायें जांनिसार अख़्तर और साहिर

चित्र 2: पहली पंक्ति में बायें से : इस्मत चुग़ताई, वाजिदा तबस्सुम, साहिर, प्रकाश पंडित, जांनिसार अख़्तर. दूसरी पंक्ति में प्रकाश पंडित के पीछे गीतकार राजा मेहदी अली ख़ान.

بائیں سے : پنجابی کے مشہور شاعر شیو کمار بٹالوی، تیسرے نمبر پر ساحر

بائیں سے : مخدوم محی الدین، اندیور، احتشام حسین، سجاد ظہیر، رام لال، امرت رائے، سمترانندن پنت اور ساحر

चित्र 1: बायें किनारे पर पंजाबी के मशहूर शायर शिवकुमार बटालवी और तीसरे नंबर पर साहिर
चित्र 2: मख़्दूम मुहीयुद्दीन, इंदीवर, एहतशाम हुसैन, सज्जाद ज़हीर, रामलाल, अमृत राय, सुमित्रानंदन पंत, और साहिर

بائیں سے:
ساحر۔ درمیان میں
پنڈت میلارام وفا
←

(بائیں سے) ساحر، مجروح سلطانپوری، حبیب جالب اور کرشن چندر ←

चित्र 1: साहिर और पंडित मेलाराम 'वफ़ा'
चित्र 2: साहिर, मजरूह सुल्तानपुरी, हबीब जालिब और कृष्ण चंदर

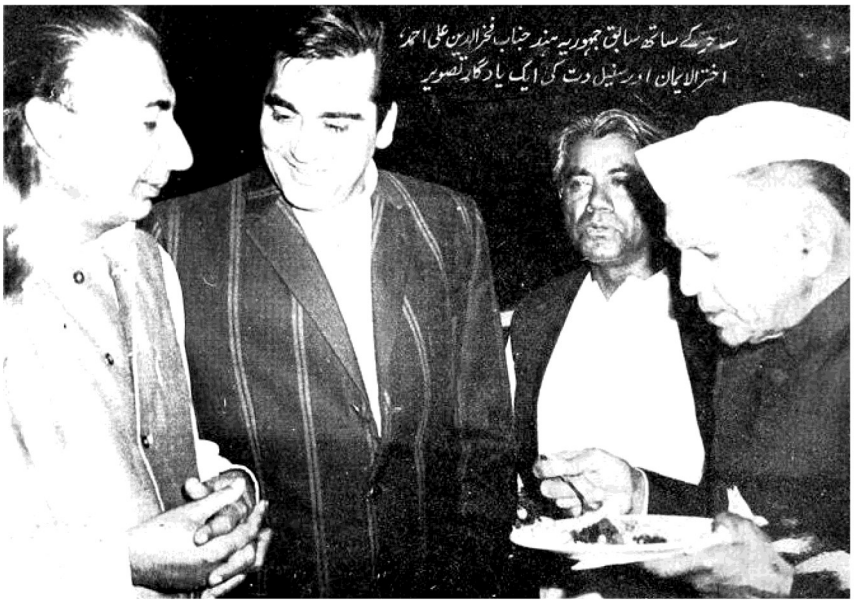

دو خالق — دو فنکار : دلیپ کمار اور ساحر لدھیانوی

चित्र 1: साहिर, सुनील दत्त, अख़्तरुल- ईमान देखे जा सकते हैं पूर्व राष्ट्रपति श्री फ़ख़रुद्दीन अली अहमद के साथ

चित्र 2: दो फ़नकार—साहिर और दिलीप कुमार

ساحر اور بلراج ساہنی

(بائیں سے) آر ایس تارا، گرودت، شوبھا کھوٹے، ساحر، راج شری، وحیدہ رحمٰن اور موسیقار این دتّہ

चित्र 1: बलराज साहनी और साहिर. बीच में सज्जाद ज़हीर
चित्र 2: आर.एस. तारा, गुरु दत्त, शोभा खोटे, साहिर, राजश्री, वहीदा रहमान और संगीतकार एन. दत्ता

ایک تقریب میں: ساحر، خواجہ احمد
عباس کی گلپوشی کرتے ہوئے

صابر دت مدیر فن اور شخصیت
ساحر کے ساتھ مصروفِ گفتگو

चित्र 1: साहिर और ख़्वाजा अहमद अब्बास
चित्र 2: साहिर और साबिर दत्त

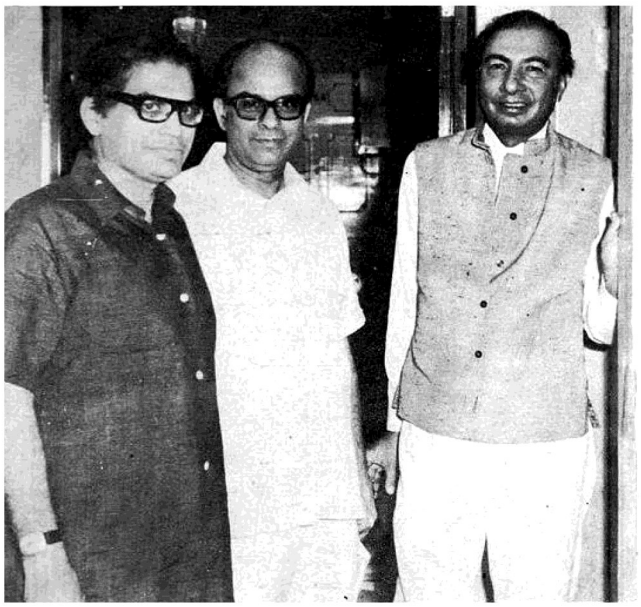

ساحر، اندر کمار گجرال
اور
ڈاکٹر رفیق زکریا

ساحر
اور
ڈاکٹر اسحٰق جمخانہ والا

चित्र 1: डॉ. रफ़ीक़ ज़करिया, इंद्रकुमार गुजराल और साहिर
चित्र 2: साहिर और डॉ. इस्हाक़ जिमख़ाना-वाला

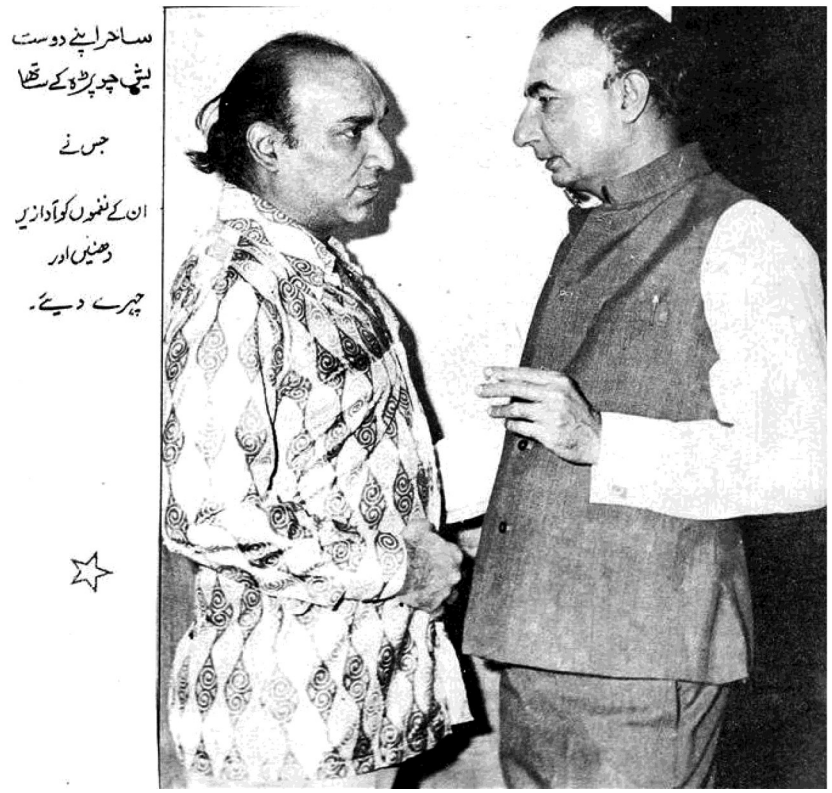
ساحر اپنے دوست
یش چوپڑہ کے ساتھ
جس نے
ان کے نغموں کو آواز یں
دھنیں اور
چہرے دیئے۔

साहिर और यश चोपड़ा

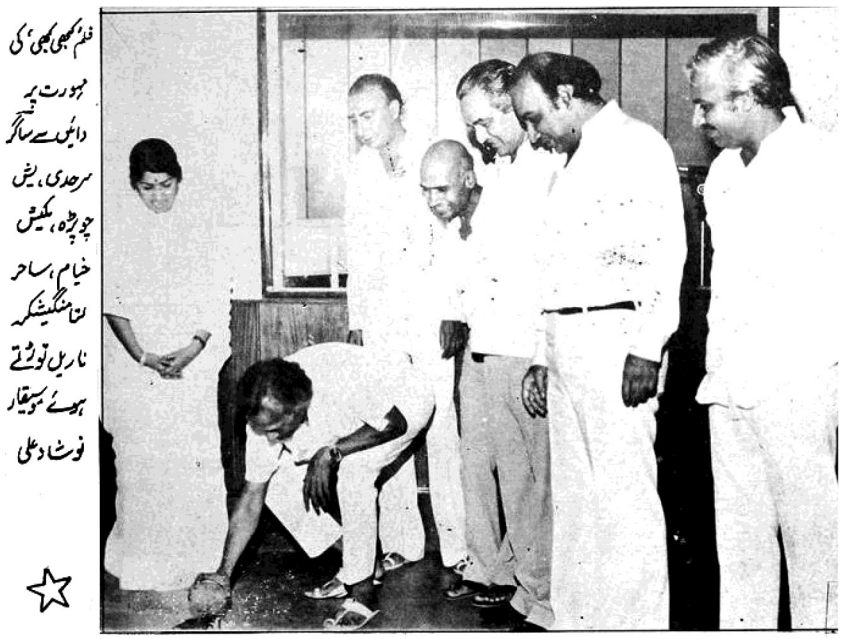

دائیں سے:

موسیقار روی، ساحر، نگمو کار مہندر کپور، سجاد ظہیر، رام مہیشوری، اے۔ کے ناڈیاڈوالا، پنالال مہیشوری۔

चित्र 1: फ़िल्म 'कभी कभी' के महूर्त पर लता मंगेशकर, संगीतकार नौशाद (नारियल तोड़ते हुए) साहिर, ख़य्याम, मुकेश, यश चोपड़ा और सागर सरहदी.
चित्र 2: पन्नालाल महेश्वरी, ए.के. नाडियाडवाला, राम महेश्वरी, सज्जाद ज़हीर, महेंद्र कपूर, साहिर और संगीतकार रवि.

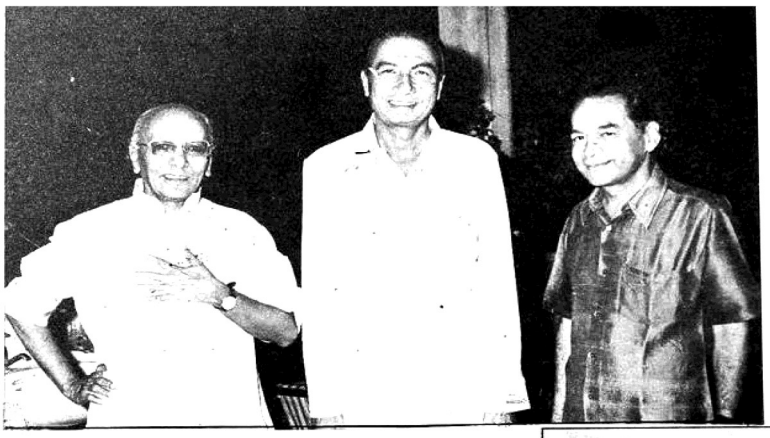

اوپر : دائیں سے : آرٹسٹ ہرکشن ، ساحر اور موسیقار جے دیو۔

★

نیچے : دائیں سے : موسیقار نوشاد علی، خیام اور ساحر لدھیانوی

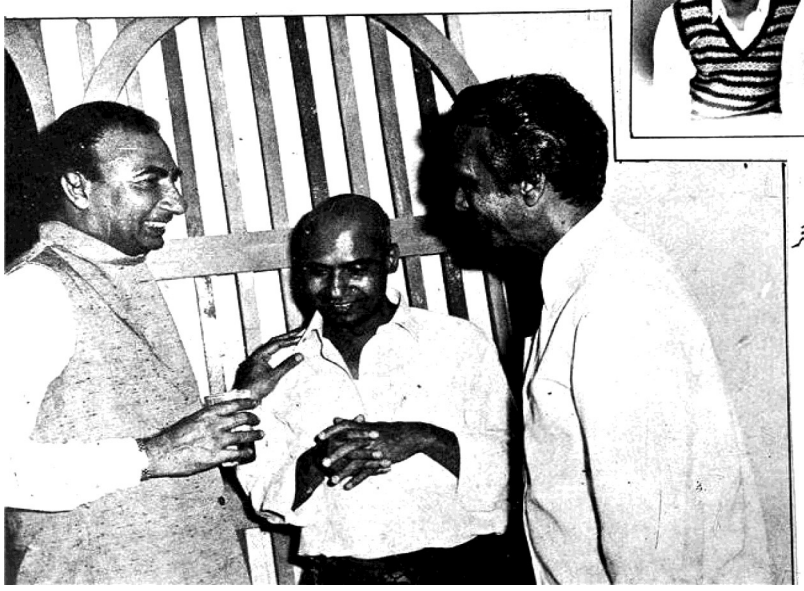

اوپر :۔
ایس۔ڈی برمن اور ساحر

☆

चित्र 1: संगीतकार जयदेव, साहिर और आर्टिस्ट हरिकिशन
चित्र 2: एस. डी. बर्मन और साहिर.
चित्र 3: (नीचे) साहिर, ख़य्याम और नौशाद

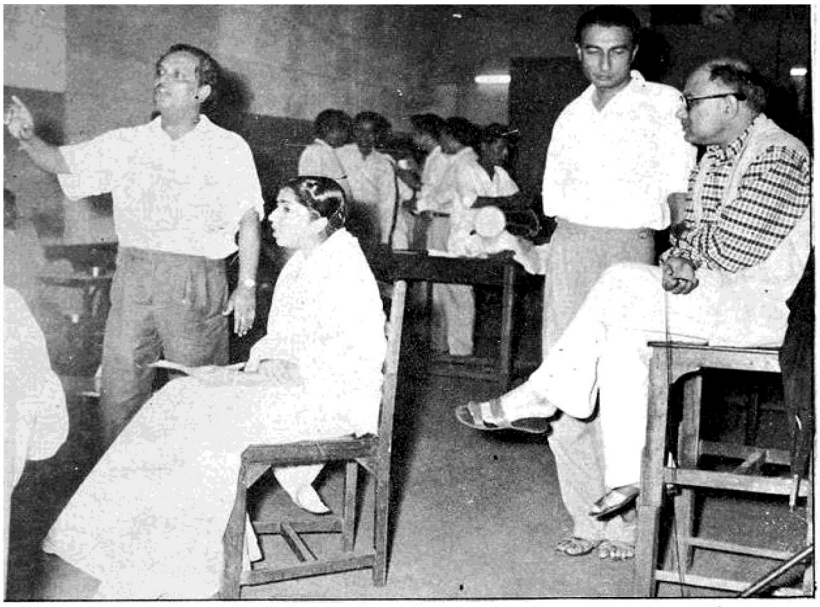

گیت کی ریکارڈنگ

اوپر: دائیں سے خواجہ احمد عباس، ساحر لدھیانوی، کرسی پر لتا منگیشکر
موسیقار انیل بسواس

بازو میں: دائیں سے: ساحر
آشا بھونسلے،
آر۔ ایس تارا
اور
موسیقار آر این دتہ

चित्र 1: गीत की रिकॉर्डिंग—लता मंगेशकर, संगीतकार अनिल बिसवास, साहिर और ख़्वाजा अहमद अब्बास

चित्र 2: संगीतकार आर. एन. दत्ता, आर.एस. तारा, आशा भोंसले और साहिर

دائیں سے: رامانند ساگر۔ ڈاکٹر ظ انصاری۔ شوکت اعظمی اور ساحر لدھیانوی

ساحر کے تخلیق کردہ آرمی سروس کور کا مارچنگ ترانہ کی ریکارڈنگ کے موقع پر دائیں سے موسیقار خیام، تیسرے نمبر پر ساحر، نگور کا رہنے والا کیپٹن لیفٹیننٹ جنرل ایچ ایس چوپڑہ اور ہدایتکار یش چوپڑہ۔

चित्र 1: साहिर, शौकत आज़मी, ज़ोय अंसारी और रामानंद सागर

चित्र 2: साहिर द्वारा रचित आर्मी सर्विस कोर के मार्चिंग तराने की रिकॉर्डिंग के मौक़े पर निर्देशक यश चोपड़ा लेफ्टिनेंट जनरल एच. एस. चोपड़ा, गुलूकार महेंद्र कपूर, साहिर और अंत में मूसीक़ार ख़य्याम

فلم "کبھی کبھی" کے پریمیئر کے موقع پر
بائیں سے: امیتابھ بچن۔ گلشن رائے۔ ساحر۔ خیام۔ یش چوپڑہ اور ڈاکٹر کپور

☆

گلوکار
محمد رفیع، ساحر سے ہاتھ ملاتے
ہوئے
درمیان میں موسیقار روشن

चित्र 1: फ़िल्म, *कभी कभी* के प्रीमियर के मौक़े पर अमिताभ बच्चन, गुलशन राय, साहिर, ख़य्याम, यश चोपड़ा और डॉ. कपूर
चित्र 2: मुहम्मद रफ़ी और साहिर. बीच में संगीतकार रोशन

बीते दिन याद दिलाते हो...

सुनो बच्चो
भूमिका—*बच्चे मन के सच्चे*

सरवर शफ़ी

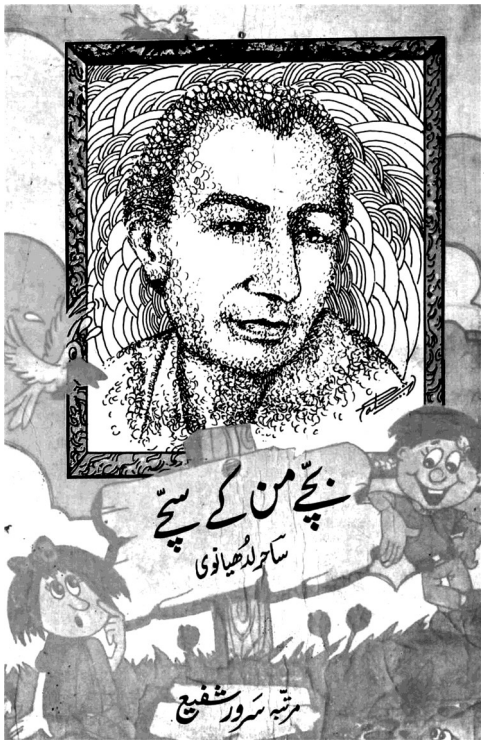

प्यारे बच्चो! सुनो, मैं तुम्हारी बाजी सरवर शफ़ी तुम्हें अपने मरहूम भाई साहिर लुधियानवी की ज़िंदगी की कहानी सुना रही हूं. हां...तुम ठीक समझे, वही साहिर लुधियानवी जो बहुत मक़बूल शायर थे. और जिनके लिखे हुए फ़िल्मी गीत तुम आये दिन टी.वी और रेडियो पर सुनते रहते हो.

सबसे पहले तो मैं तुम्हें वह बात बताऊंगी जो तुम शायद बिल्कुल नहीं जानते. और वह बात यह कि मेरे भाई का असली नाम साहिर लुधियानवी नहीं था बल्कि अब्दुल-हई था. जब उन्होंने शायरी शुरू की तो दूसरे शायरों की तरह अपने लिए एक तख़ल्लुस (उपनाम) चुन लिया—साहिर. चूंकि उनकी पैदाइश लुधियाना में हुई थी, और यही शहर उनका आबाई वतन था, इसलिए साहिर के साथ अपने वतन का नाम भी जोड़ लिया और सारी दुनिया में साहिर लुधियानवी के नाम से मशहूर हुए.

तुम इतना तो जानते हो कि पंजाब पूरे हिंदुस्तान का ज़रखेज़ तरीन (सबसे उर्वर) इलाक़ा है. इसी ज़रखेज़ रियासत में लुधियाना शहर स्थित है. हमारे मुल्क की आज़ादी से पहले पंजाब में भी दूसरी रियासतों की तरह बड़े-बड़े ज़मीनदार हुआ करते थे. फ़ज़ल मुहम्मद साहब भी लुधियाना के एक बड़े ज़मीनदार थे. 8 मार्च 1921 ई. को फ़ज़ल मुहम्मद साहब के घर में एक बेटे की विलादत (पैदाइश) हुई जिसका नाम अब्दुल-हई रखा गया और जैसा कि मैं तुम्हें बता चुकी हूं, यही अब्दुल-हई बड़े होकर साहिर लुधियानवी के नाम से मशहूर

हुए. साहिर लुधियानवी की वालिदा का नाम सरदार बेगम था. वह अपने नन्हे-मुन्ने बेटे अब्दुल्हई को बहुत प्यार करती थीं. उन्होंने उनकी तालीम और तरबीयत में कोई कसर न उठा रखी. अपनी वालिदा की निगरानी और ममता की छांवमें साहिर साहब ने मालवा ख़ालसा हाई स्कूल लुधियाना से मैट्रिक किया और गवर्नमेंट कॉलेज, लुधियाना में दाख़िला लिया.

कॉलेज में साहिर साहब ने शायरी शुरू की. शुरू-शुरू में तो अपने दोस्तों को अपनी नज़्में और ग़ज़ले सुनाते रहे. फिर एक बार कॉलेज में एक बड़ा मुशायरा हुआ जिसमें तमाम मुल्क के बड़े-बड़े नामवर शायरों ने शिरकत की. साहिर साहब चूंकि कॉलेज के तालिबे-इल्म थे और शायर भी थे, इसलिए उन्हें भी इस मुशायरे में अपनी नज़्म सुनाने का मौक़ा दिया गया. बच्चो! जानते हो, उन्होंने अपने पहले मुशायरे में कौन सी नज़्म सुनायी थी. 'ताजमहल' जो आज भी न सिर्फ़ साहिर की, बल्कि उर्दू की मशहूर तरीन नज़्मों में से एक है. फिर क्या था, नज़्म सुनते ही मुशायरा-गाह में हंगामा हो गया. हर एक की ज़बान पर साहिर साहब का नाम था. इस तरह रातों-रात मुल्क भर में मशहूर हो गये. शोहरत मिली तो शायरी में दिलचस्पी और ज़्यादा बढ़ गयी. अब वे दिन रात शायरी और अदबी कामों में मसरूफ़ रहने लगे. कभी मुशायरे पढ़ने किसी दूर-दराज़ मुक़ाम को जा रहे हैं, कभी मुशायरे के इंतज़ामात में लगे हुए है. उस ज़माने में, यानी जब हमारा मुल्क तक़सीम नहीं हुआ था, लाहौर पंजाब का सबसे बड़ा शहर था. इसलिए वहां शायरों, अदीबों की तादाद भी बहुत थी. वहां से उर्दू के कई अच्छे और मशहूर रिसाले भी छपते थे. इसलिए साहिर साहब लुधियाना से लाहौर गये. वहां दो रिसालों, *अदबे-लतीफ़* और *सवेरा* के मुदीर रहे. इस दौरान साहिर साहब की शायरी की वजह से इनकी शोहरत आसमान की बुलंदियां छूने लगी थी. बच्चो, तुम जानते हो साहिर साहब इतने मशहूर शायर क्यों थे? बात सिर्फ़ इतनी है कि वे अपनी शायरी में सिर्फ़ सच बोला करते थे. उन्होंने ज़मीनदार को ग़रीब किसानों पर ज़ुल्म करते देखा था इसलिए उन्हें ज़मीनदारों, सरमायादारों, ग़रज़ हर उस शख़्स से नफ़रत हो गयी जो दूसरे इंसानों पर ज़ोर-ज़बरदस्ती करता हो, जो दूसरों का हक़ छीनता हो. उन्होंने अपनी नज़्मों और ग़ज़लों में ज़ालिमों, धनवानों और ज़मीनदारों के ख़िलाफ़ आवाज़ बुलंद की और यह आवाज़ आम इंसानों को बहुत भायी. इसलिए वे साहिर लुधियानवी से प्यार करने लगे.

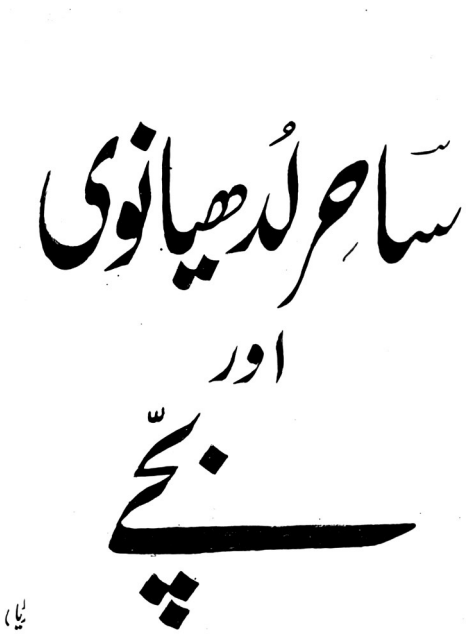

साहिर साहब की शायरी की पहली किताब, *तल्ख़ियां* 1944 ईस्वी में शाय हुई थी. वह हाथों-हाथ ली गयी और आज भी यह किताब उर्दू की सबसे ज़्यादा बिकने वाली किताबों में से एक है. इसके बाद उनकी एक लंबी नज़्म शाय हुई 'परछाइयां'. यह नज़्म सारी दुनिया के इंसानों को यह सबक़ देती है कि आपस में मिलजुल कर रहना चाहिए. इसी में इंसानियत की भलाई है. जंग बहुत बुरी चीज़ होती है जिसकी वजह से सिवाय तबाही-ओ-बर्बादी के कुछ हासिल नहीं होता. जब मुल्क की तक़सीम हुई तो साहिर साहब बंबई में आ बसे और यहां फ़िल्मों के लिए गीत लिखने लगे. उन्होंने फ़िल्मी गीतकार की हैसियत से भी बहुत नाम कमाया, बल्कि वे अपने ज़माने के सबसे मशहूर और सबसे बुलंद गीतकार थे. उनके फ़िल्मी गीतों की एक किताब, *गाता जाये बंजारा* के नाम से छपी है और आज भी बहुत बिकती है. साहिर साहब की शायरी की दूसरी किताब का नाम, *आओ कि कोई ख़्वाब बुनें* है.

साहिर साहब को अपने मुल्क से बेहद मुहब्बत थी. उन्होंने अपनी धरती की शान बयान करने के लिए

कई नज़्में और गीत लिखे. देशवासियों ने भी उनकी बड़ी क़द्र की. उन्हें 1971 ई. में हुकूमते-हिंद की तरफ़ से पद्मश्री का एज़ाज़ अता किया गया. हिंद-पाक जंग के दौरान हमारे फ़ौजी जवानों ने अपनी चौकियों के नाम साहिर लुधियानवी के नाम पर रखे, पंडित नेहरू की वफ़ात (मृत्यु) पर साहिर साहब ने एक ख़ूबसूरत नज़्म कही थी जिसे करनाल के सिटी पार्क में नेहरू जी के मुजस्सिमे (मूर्ति) के नीचे उनकी वसीयत के साथ अंकित किया गया. हमारी फ़ौज का मार्चिंग नग़्मा भी साहिर साहब का लिखा हुआ है. लुधियाना (जोकि साहिर साहब का वतन था) में एक सड़क और एक जल्सागाह का नाम भी साहिर साहब के नाम पर रखा गया है. सबसे अच्छी बात तो यह कि लुधियाना की ज़राअती यूनिवर्सिटी (कृषि विश्वविद्यालय) ने एक नया फूल ईजाद किया और उसका नाम 'गुले-साहिर' रखा, बंबई शहर में भी एक चौक का नाम 'पद्मश्री साहिर लुधियानवी चौक' रखा गया है. प्यारे बच्चो, साहिर साहब बच्चों से बे-इंतेहा प्यार करते थे. जैसा कि इस किताब के नाम से ज़ाहिर है, यानी बच्चे मन के सच्चे. यह साहिर साहब के गीत का मुखड़ा है और इस किताब का पहला गीत भी. तुम जब यह किताब ख़ूब अच्छी तरह पढ़ लोगे तो तुम्हें समझ में आयेगा कि साहिर लुधियानवी ने बच्चो के लिए कितनी प्यारी-प्यारी नज़्में लिखी हैं. यह नज़्में सिर्फ़ मज़ा लेने के लिए नहीं हैं. मज़ा तो ख़ैर बहुत आयेगा लेकिन इन नज़्मों में साहिर साहब ने तुम्हें सबक़ देने के लिए बहुत सच्ची और बहुत अच्छी बातें कही हैं: यानी हर इंसान से मुहब्बत करो, क्योंकि इंसान हिंदू या मुसलमान होने की वजह से छोटा या बड़ा नहीं होता बल्कि सब इंसान बराबर हैं. ग़रीबों और पिछड़े हुए लोगों का साथ देना चाहिए क्योंकि धनवान और ताक़तवर लोगों के ज़ुल्म की वजह से ये लोग मुफ़लिस और बदहाल हुए हैं. पैसा यानी दौलत, इंसान की बनायी हुई चीज़ है और जिस शख़्स ने यह चीज़ ज़्यादा तादाद में हथिया ली, वह धनवान हो गया और बाक़ी लोग मुफ़लिस बन गये. इस तरह की कई बातें तुम्हें इन नज़्मों और गीतों में नज़र आयेंगी. इसलिए प्यारे बच्चो, इन नज़्मों और गीतों को दिल लगा कर पढ़ो, समझो और इनसे सबक़ हासिल करो.

तुम्हारी बाजी
सरवर शफ़ी

साहिर, लुधियानवी, *बच्चे मन के सच्चे*, संपादक सरवर शफ़ी, 1998, साहिर पब्लिशिंग हाउस, ए.बी. नायर रोड जुहू चर्च, मुंबई-400049

अनुवाद : मोहम्मद नौशाद

अम्मी कहती थीं...

सरवर शफ़ी

हमारे भाईजान कितने मक़बूल और किस दर्जे के शायर थे यह तो शायरी और साहित्य के समीक्षक ही बता सकते हैं, मैं इस मज़मून में ख़ानदानी पसमंज़र में भाईजान के बचपन की शरारतों को या उनके बारे में जो कुछ अम्मी बताया करती थीं, आपको सुनाने की कोशिश करूंगी.

अम्मी बताती थीं कि भाईजान के वालिद (यानी हमारे फूफा मरहूम) बड़े मेहमान-नवाज़ थे. ज़्यादातर वक़्त दोस्तों में ख़र्च करते. लोगों को ख़ूब दावतें देते. हर वक़्त अपने इर्द-गिर्द चार-छ: लोगों को बिठाये रखते. फूफी अम्मी को यह सब बर्दाश्त न होता और कभी-कभी शौहर से झगड़ पड़तीं. फूफा साहब अपनी आदतों से बाज़ न आते, बल्कि अपनी आदतों में इज़ाफ़ा करते जाते. जब भाईजान ने दुनिया में आंखें खोलीं तो फूफी अम्मी को ख़याल आया कि मेरा बेटा बड़ा होकर बाप की आदतें अपनायेगा. मैं तो अपने बेटे को एक क़ाबिल इंसान बनाना चाहती हूं.

फूफा साहब यह नहीं चाहते थे कि एक जागीरदार का बेटा ज़्यादा तालीम हासिल करके किसी दूसरे की नौकरी करे. वे कहा करते थे—मेरे पास बेशुमार दौलत है. वह मेरा सारा कामकाज संभालेगा. लेकिन फूफी अम्मी इस पर राज़ी न हुईं और शौहर से झगड़ा कर वे अपने मायके चली आयीं. भाईजान की परवरिश नानी के घर हुई—दोनों मामूओं के साये में.

भाईजान जब पैदा हुए थे तो उनको एक बड़े आलिम की गोद में डाला गया. उन्होंने ही उनके कान में अज़ान दी थी और उन बुज़ुर्ग ने भाईजान को देख कर कहा था कि यह लड़का बड़ा क़ाबिल और होनहार निकलेगा. यह सुनकर फूफी अम्मी के दिल में अरमान जागे. वे कहती थीं कि मैं अपने बेटे को जज या सिविल सर्जन बनाऊंगी. लेकिन उनकी ये दोनों बाते पूरी न हुईं. वे जानती न थीं कि उनका बेटा इससे भी आला मक़ाम हासिल करेगा.

जब भाईजान आठ साल के हुए तो उनके अक़ीक़े[1] का बड़ा जश्न मनाया गया. लोगों को शानदार दावत दी गयी उनको दूल्हा बनाया गया. सुर्ख़ बनारसी शेरवानी और पाजामा पहनाया गया और दूल्हा बनाकर घोड़ी पर सवार करके मस्जिद में ले जाया गया. दोनों मामुओं ने और नानी ने चांदी का सिक्का उन पर से वारा. भाईजान बचपन से बहुत सादा मिज़ाज वाक़े हुए थे. पहने हुए लिबास को देख कर बहुत परेशान हुए. बड़ी मुश्किल से पहना भी था. मस्जिद से आते ही उन्होंने सेहरा उतारकर एक तरफ़ डाल दिया और शेरवानी भी उतार कर फेंक दी. किसी के सामने कपड़े नहीं उतारते थे. कमरे में जाकर क़मीज़ और शलवार पहना और रोकर कहने लगे, 'ये कपड़े मैं कभी नहीं पहनूंगा. ये पागलों वाले कपड़े हैं. मैं तो चिट्टे कपड़े पहनूंगा.' (यानी सफ़ेद. पंजाबी ज़बान में चिट्टे बोलते हैं.)

भाईजान बचपन ही से बड़े ज़िद्दी थे. जिस बात को कहते उसको मनवा कर छोड़ते. बड़ी अजीब-अजीब ज़िदें करते. नहाते वक़्त ख़ुद बदन में साबुन लगाते और तौलिया बांध कर नहाते थे. फूफी अम्मी से कहते आप चली जायें तो मैं नहाऊंगा... दूध पीते वक़्त भी ज़िद करते. कहते, इसमें पानी मिलाओ. जब पानी मिला दिया जाता तो कहते पानी निकालो फिर पियूंगा. फूफी अम्मी हैरान-परेशान हो जातीं. कभी-कभी वे रो पड़तीं. बहन को परेशान देख कर भाईजान के बड़े मामू, यानी मेरे वालिद कहते, 'मेरे पास आ जा, मैं पानी निकालता हूं. पहले अपनी आंखें बंद करो फिर तमाशा देखो.' भाईजान आंखें बंद कर लेते. मामू दो ग्लास लेते और एक में पानी डाल देते और दूसरे में दूध. फिर मामू कहते आंखें खोलो, पानी निकाल दिया. भाईजान बड़ी ख़ुशी-ख़ुशी दूध पी लेते.

पड़ोस में एक सिख फ़ैमिली रहती थी. उनका क्लासफ़ेलो लड़का गुरचरण सिंह था. और भी सिख बच्चों से भाईजान की दोस्ती थी. जब फूफी अम्मी पिन्नियां बनातीं तो भाई को खाने को देती थीं. तो भाईजान कहते, पहले गुरचरण को दीजिए फिर मैं खाऊंगा. फूफी अम्मी कहतीं बाद में दे दूंगी. मगर ज़िद्दी भाईजान जब तक गुरचरण और दूसरे बच्चों को दिलवा न देते उस वक़्त तक ख़ुद न खाते. जब उन बच्चों को मिल जाता तो बड़े ख़ुश हो जाते. जो

भी कुछ खाते पहले अपने दोस्तों को बुलाते और फूफी अम्मी से कहते इन सबको दीजिए. देने के बाद कहते—खा लो और पानी पियो. किसी बच्चे के कपड़े फटे हुए होते तो फूफी अम्मी से कहते, इसके कपड़े फटे हुए है. यह बहुत गंदा है, मेरे साफ़ कपड़े दो. यह नहा कर पहनेगा. फूफी अम्मी कहतीं कि दे दूंगी. जहां देने में देर हुई ख़ुद दौड़े-दौड़े जाते, अपने बक्स से अपनी क़मीज़ और शलवार निकाल कर लाते और दे देते, और कहते ये कपड़े नहा कर पहन लो फिर तुमको गुड्डी का तमाशा दिखाऊंगा.

भाईजान का खेल भी बहुत अनोखा था. वे जब भी खेलते तो माचिस की डिब्बियां और सिगरेट के डिब्बे और टॉर्च लेकर खेलते. दो-चार लड़कों को हमेशा साथ लेकर खेलते. उन डिब्बों की दीवार बनाते और इर्द-गिर्द लकड़ियां लगाकर रूमाल बांधते और रूमाल पर टॉर्च दिखाते और अपने दोस्तों से पंजाबी में कहते, 'मैंने मंडवा बनाया है.' (यानी सिनेमा हॉल बनाया है). टॉर्च से जो साया आता उसको कहते गुड्डी नाच रही है. यह उनका खेल था. बहुत कम हंसते और बहुत कम बोलते... ख़ुलूस और प्यार बहुत था.

भाईजान को पढ़ने-लिखने का बड़ा शौक़ था. बाज़ार जाते तो हर तरह की किताबें ख़रीद लेते. फूफी अम्मी कहतीं कि जब आप बड़े हो जायेंगे और अच्छी तरह से पढ़ने लगेंगे तो ख़रीद लेना. कहते, नहीं मैं तो मामू से पढ़कर सुनूंगा. किताबों को जमा करते और ख़ुश होते. जब चौथी क्लास में पहुंचे तो मामू के साथ बाज़ार गये. किताब की दुकान पर पहुंचे तो सामने *बाले-जिब्रील* (अल्लामा इक़बाल का दूसरा काव्य संग्रह) रखी नज़र आयी. कहने लगे, यह किताब लूंगा. मामू ने कहा जब बड़े क्लास में पहुंचना तो दिला दूंगा. बस रोने लगे और ज़िद करने लगे कि मैं इसी को लूंगा और आप मुझे पढ़ कर सुनायेंगे. मैं समझ लूंगा. मामू को *बाले-जिब्रील* ख़रीदना पड़ा. रोज़ रात को मामू से कहते आप मुझे पढ़कर सुनायें, मैं याद करूंगा. और पेंसिल-काग़ज़ लेकर बैठते और उसे देख कर लिखते. अम्मी बताती थीं कि बहुत अच्छी तहरीर थी. जिस तरह लिखा होता था उसी तरह लिखने की कोशिश करते. जब मैट्रिक में पहुंचे तो ख़ुद शे'र कहना शुरू कर दिया. रात-रात भर अपनी हवेली की छत पर मंज़रकशी करते, खाने पीने का होश न रहता. फूफी-अम्मी खाने पर इंतज़ार करतीं. वे इस बात पर भी परेशान हो जातीं कि इम्तिहान अनक़रीब है, पढ़ाई करते नहीं. किस तरह कामयाबी होगी? दोस्तों के साथ घूमना और बहस करना—इसके सिवा पढ़ाई पर ग़ौर नहीं करते. यह तो मेरे अरमानों पर पानी फेर देगा. क्या बाप की तरह यह भी निकलेगा? उनको यह नहीं मालूम था कि उनका बेटा इस दुनिया का कितना बड़ा शायर होगा.

इधर फूफी अम्मी शौहर की तरफ़ से दुखी थीं. शौहर से झगड़ा और ज़्यादा बढ़ता गया. बाप की नज़र बेटे पर थी. वे अपने पास रखना चाहते थे. लेकिन फूफी अम्मी भाईजान को एक पल के लिए जुदा नहीं करना चाहती थीं. शौहर-बीवी में कशीदगी बढ़ गयी. नौबत मुक़दमेबाज़ी की आ गयी. बीवी ने हक़ का दावा कर दिया. भाईजान की जानिब से फूफी अम्मी बहुत परेशान थीं कि कहीं बाप बेटे को उठवा न ले. मुक़दमा सालों-साल चला. कामयाबी फूफी अम्मी को होती रही.

जैसे-जैसे वक़्त गुज़रता गया और भाईजान में समझ आती गयी. वालिदा की परेशानी को मद्देनज़र रखते हुए वालिद से नफ़रत करने लगे. जागीरदारी और सरमायादारी पर नज़्में लिखनी शुरू कर दीं और मुशायरों में हिस्सा लेने लगे. बाहर भाईजान की बड़ी तारीफ़ होती मगर फूफी अम्मी उदास रहती थीं. उनको बेटे की कामयाबी का यक़ीन न था.

एक बार कॉलेज के मुशायरे में फूफी अम्मी भी गयीं. लेकिन भाईजान को मालूम नहीं हुआ कि उनकी वालिदा भी मेरे कलाम को सुनने आयी हैं. जिस वक़्त भाईजान ने नज़्म पढ़ी, लोगों की तालियों से हॉल गूंज उठा. वाह-वाह की आवाज़ें आने लगीं. फूफी अम्मी यह देख कर बहुत ख़ुश हुईं कि मेरे बेटे से ज़माना ख़ुश है, इसने कोई ग़लत रास्ता नहीं अपनाया. बेटे की कामयाबी पर फूले न समायीं. बेटे की तारीफ़ सुन कर उनके वालिद साहब भी बहुत ख़ुश हुए और चाहा कि उनका बेटा उनके पास आया करे. मगर भाईजान ने देखा कि वालिद ने मेरी मां को बहुत सताया और झगड़ कर मां को घर भेज दिया... मां को अदालत का मुंह दिखाया. ऐसे बाप के पास जाना मेरी मां की तौहीन होगी. जिस मां ने और मामू ने मुझे पढ़ा-लिखा कर इस क़ाबिल बनाया, आज उसको

छोड़कर बाप की दौलत का वारिस बनूं, ऐसा हरगिज़ नहीं करूंगा. मैं ख़ुद अपने बाज़ू की ताक़त से अपनी मां को दौलत के तख़्त पर बिठा दूंगा. मुझे अपने बाप का एक हब्बा[2] नहीं चाहिए. उस दौलत का मैं मालिक बनूं जो ग़रीबों और मज़दूरों का ख़ून पीकर, हक़ मार कर जमा की गयी है? जिसने मेरी मां को ख़ून के आंसू रुलाये हैं, जवानी बर्बाद की है? वालिद के तौर तरीक़े देखते हुए उनको उनसे नफ़रत पैदा हो गयी. मां को अपना सब कुछ समझा. दोनों मामुओं को अपना सरपरस्त जाना.

भाईजान कभी किसी से कुछ मांगते न थे. वे मांगना बुरी बात समझते थे. यहां तक कि खाना मांगने से भी गुरेज़ करते. जब भूख लगती पलंग पर आकर लेट जाते और दोनों घुटनों को पेट से लगा लेते और आंखें बंद कर लेते. और दूसरा तरीक़ा यह था कि वे आंगन के नल से हाथ धोते. यह खाना मांगने का तरीक़ा था. बस फूफी अम्मी समझ जातीं कि भाईजान को भूख लगी है. खाने के बड़े शौक़ीन थे. बेहतरीन खाना पसंद करते.

नाश्ते में बेहतरीन नाश्ता होता था—पूरी, पराठा, हलवा, अंडे का ऑमलेट. ऑमलेट बहुत पसंद करते थे. नमकीन चीज़ें पसंद थीं. बाक़ी चीज़ें दोस्तों के लिए. रोज़ दोस्तों की दावत करते. ख़ुद कम खाते, दोस्तों को ख़ूब खिलाते और दोस्तों के बग़ैर तो खाना न खाते. अगर कोई दोस्त खाने के वक़्त न आता तो फ़ोन करके बुलाया जाता था. तन्हा खाना खाना पसंद नहीं था. खाने के वक़्त बहस ज़रूर होती. सच्चाई को मनवा कर रहते. कभी-कभी तो खाना छोड़ देते और रात के खाने पर जो बहस शुरू होती तो सुबह कर देते. खाना अपनी जगह पर वैसे ही रखा रह जाता. उनको झूठ से बड़ी नफ़रत थी. धोखेबाज़ों पर बहुत नाराज़ होते थे, सच्चाई के दिलबर थे.

मिज़ाज में सफ़ाई, नफ़ासत जो बचपन में थी, वह बड़ेपन में मौजूद रही. कपड़े सादे होते मगर साफ़, कलफ़-इस्त्री वाले पहनते. ज़रा-सा दाग़ धब्बा लग जाता तो फ़ौरन उतार देते. बटन टूट जाता तो यह कभी न कहते की बटन टूट गया है. कपड़ा पहनते वक़्त अपने इर्दगिर्द कपड़ों को फैला लेते और यह देखते कि किस पैंट के साथ कौन सी क़मीज़ पहनूं. समझ में नहीं आता कि क्या करें तो फिर फूफी अम्मी उनके कपड़े निकाल कर देतीं. ख़ुश्बू वग़ैरह के बड़े शौक़ीन थे. बड़ा शाहाना मिज़ाज था.

भाईजान का मिज़ाज शाहाना होने के अलावा शायराना भी था. शायरी के अलावा उन्हें गाने का भी बहुत शौक़ था. वे सिंगर बनना चाहते थे मगर क़ुदरत ने उनको शायर बना दिया. 1950 ई. में बंबई आये और फ़िल्मों के गाने लिखने लगे. गाने मशहूर हुए और शोहरत पायी. ख़ुदा ने भाईजान को इज़्ज़त-शोहरत सब कुछ अता किया. उन्होंने जो कहा था कि अपनी क़ुव्वते-बाज़ू से हासिल करूंगा, हासिल किया.

1954 की बात है कि अचानक हमारे वालिद साहब बीमार हो गये. इत्तला मिली, तीसरे दिन इलाहाबाद पहुंच गये. मामू की बड़ी ख़िदमत की. रुपयों-पैसों का कोई ख़याल नहीं किया. भाई दिल के बड़े नर्म वाक़े हुए थे. किसी की बीमारी और तकलीफ़ बर्दाश्त न कर सकते थे. मामू को देख कर बेचैन-से रहते. बार-बार डॉक्टर से पूछते कितने दिनों में ठीक हो जायेंगे. कोई ख़तरे की बात तो नहीं है. मैं बंबई जाना चाहता हूं. डॉक्टर के तसल्ली-भरे जवाब से बहुत ख़ुश हो जाते. वालिद साहब ठीक हो गये. भाईजान अपने साथ वालिद साहब को और छोटी बहन अनवर सुल्ताना को बंबई ले आये. मैं इलाहाबाद में थी. अम्मी के साथ एक साल तक वालिद साहब बेहतर रहे. लेकिन मौत ने पीछा न छोड़ा और 1955 में मौत ने अपनी आग़ोश में ले लिया. वालिद की जुदाई का असर हम लोगों के अलावा भाईजान पर बहुत पड़ा.

भाईजान ने हम दोनों बहनों की यतीमी पर रहम खाया. मुमानी के सुहाग उजड़ने का बहुत ख़याल किया. हम दोनों बहनों के सर पर हाथ रख कर कहा, 'तुम दोनों का बड़ा भाई हूं. मैं किसी तरह का फ़र्क़ नहीं रखूंगा. तुम्हें बाप -जैसा प्यार मिलेगा. तुम दोनों की ख़्वाहिश पूरी करूंगा. मुमानी जान आपको भी मेरी तरफ़ से कोई तकलीफ़ न होगी. हर कमी पूरा करूंगा, मगर मामू साहब को हाज़िर न कर सकूंगा.' भाईजान ने हम दोनो को बहनों की तरह नहीं बल्कि बेटी की तरह रखा. मरते दम तक क़ौल को निभाया.

मैं इलाहाबाद में तालीम के सिलसिले में रहती थी. छोटी बहन भाईजान और फूफी अम्मी के साथ रहने लगी.

मेरी तालीम और घर का ख़र्च भाईजान ने बर्दाश्त किया. बराबर इलाहाबाद मुझे ख़र्च भेजते रहे. यह रवैया वालिद साहब की ज़िंदगी में भी था. हम दोनों को भाईजान और फूफी अम्मी बहुत चाहती थीं. मुहब्बत की बात तो यह है कि मैं गोद में थी. भाईजान साइकल चलाना सीख रहे थे. अम्मी से कहने लगे मैं बीबी को घुमा कर लाता हूं. अम्मी ने मुझे दे दिया. एक हाथ से मुझे पकड़ा और दूसरे हाथ से साइकल मगर संभाल न पाये. लेकर गिर पड़े. मैं नीचे साइकल मेरे ऊपर. मैंने रो-रो कर सड़क वालों को जमा कर लिया. बस भाईजान हक्की-बक्की भूल गये. मुझे चुप कराने के लिए लाख जतन किया मगर मैं कहां चुप होने वाली. घर पर आकर अम्मी से कहने लगे कि बीबी को चोट लग गयी है, मैं लेकर गिर पड़ा हूं. बड़े परेशान—कभी केला मेरे मुंह में डालते तो कभी मिठाई. जब रोते-रोते मैं चुप हो गयी तो भी परेशान हो गये और अम्मी से कहने लगे, यह तो रोती नहीं. कभी अपने कमरे में जाते, कभी मुझे आकर देखते. उनकी मुहब्बत का यह आलम था.

बड़े होने पर भी वही मुहब्बत हम दोनों के साथ रही. मेरे लिए इलाहाबाद में हर तरह की चीज़ें भेजते—ज़ेवर, कपड़ा. हर माह मनीआर्डर करते. वालिद मरहूम का ख़याल न आने दिया. बाप-जैसा ख़ुलूस दिया. अम्मी की बहुत इज़्ज़त करते. वे रिश्तेदारों के साथ ही ख़ुलूस-हमदर्दी न करते थे, बल्कि ग़ैरों के साथ हमदर्दी करते. दूसरों के ग़म में शरीक़ होते. लड़कियों और औरतों की बहुत इज़्ज़त करते. हर एक को अच्छी राय देते. किसी की मदद भी करते तो दूसरे पर ज़ाहिर न होने देते. किसी बूढ़ी औरत को काम करते देखते तो बहुत दुखी होते. जो कुछ रुपया देना होता तो छुपा कर देते. अपनी नज़्मों में औरतों को बहुत बड़ा मक़ाम दिया है. उनका फ़िल्मी गाना है – 'औरत ने जन्म दिया मर्दों को.'

भाईजान ने फ़िल्मी लाइन में होने के बावजूद बहुत सादी ज़िंदगी गुज़ारी. इसी तरह से हम दोनों को भी सादगी में देखना पसंद करते थे और कहते थे, सादी ज़िंदगी गुज़ारो. और नेक काम करो, जिससे दुनिया में नाम हो. हर ग़लती को अपनी नज़र से रोकते थे. कभी-कभी नाराज़ हो जाते, जब दोस्तों की ख़ातिर में कमी हो जाती. जब मैं छुट्टियों में इलाहाबाद से बंबई आती तो दोस्तों को ख़ूब पार्टी देते. नौकर के अलावा हम दोनों बहनें मिलकर तरह-तरह के खाने तैयार करते. फूफी अम्मी कहतीं, जब से सरवर आयी है इसको खाना पकाने में लगा दिया, इसको फ़ुर्सत से कभी नहीं रहने दिया. मेरी छुट्टियां इन मसरूफ़ियतों में बड़ी जल्दी से गुज़र जातीं. कभी फूफी अम्मी नाराज़ हो जातीं तो भाईजान हंस कर मेरे सर पर हाथ रखते और कहते, 'तुम थक जाती हो. कल किसी को खाने पर नहीं बुलाऊंगा. अच्छा सरवर बीबी कल तुमको बंबई ले चलूंगा फ़लां पिक्चर की ट्रायल पर, और रिकॉर्डिंग पर.' बात को पूरी भी करते. जब छुट्टियां पूरी हो जातीं, मैं इलाहाबाद जाने की तैयारी करने लगती कि कॉलेज खुल गया है तो मायूस हो जाते. टिकट आ जाता फिर वापस कर देते. मैं परेशान हो जाती कि मेरी कितनी ग़ैर-हाज़री लगेगी. पंद्रह दिन और रोक लेते. सहेलियों का ख़त आना शुरू हो जाता. सरवर कब आ रही हो, इलाहाबाद कॉलेज खुल गया है. बंबई छोड़ने का दिल नहीं चाहता? मैं उनको लिख कर भेज देती कि भाईजान आने नहीं देते, क्या करूं? फिर मैं फूफी अम्मी की ख़ुशामद करती कि भाईजान से सिफ़ारिश कीजिए. फूफी अम्मी मेरी तरफ़ से सिफ़ारिश करतीं कि सरवर का कॉलेज खुल गया है उसको इलाहाबाद जाना है. इसकी पढ़ाई का नुक़सान होगा. भाईजान यह सुनते और कहते, 'क्या करेगी ज़्यादा पढ़ कर? क्या इसको मुलाज़मत करनी है? किसके लिए मैं कमाता हूं? इन्हीं लोगों के लिए. अपनी शायरी को बाज़ार में बिठा दिया है. किस चीज़ की कमी है?' मैं यह सुनकर ख़ौफ़ज़दा हो जाती. बड़ी मिन्नत और समाजत के बाद टिकट आता. फिर मुझको भाईजान बंबई ले जाते कुछ साड़ियां और कुछ सूट का कपड़ा दिलाते. जिस दिन चार बजे शाम को मेरी रवानगी इलाहाबाद के लिए होती, कार में सब लोग ख़ामोश—कोई बात नहीं. भाईजान का मूड ख़राब रहता और मैं भी दिल ही दिल में कहती, इस बार अम्मी से कहूंगी कि अब हम लोग बंबई में आकर रहेंगे. भाईजान चाहते थे सब लोग साथ में आकर रहें, यह सोचते-सोचते रास्ता तय हो जाता. सामान क़ुली उतारता और प्लेटफ़ॉर्म के अंदर ले जाता जहां इलाहाबाद की ट्रेन खड़ी मुसाफ़िरों का इंतज़ार कर रही होती. सब लोग डिब्बे के अंदर जाने के लिए सीटों को ग़ौर से देखने लगते. कौन-सा डिब्बा है, भाईजान भी जल्दी-जल्दी अपनी लंबी-लंबी टांगों से क़दम बढ़ाते हुए लिस्टों में मेरा नाम देखने

लगते और अपनी घड़ी भी देखते कि ट्रेन छूटने का वक़्त तो नहीं हो गया है. ख़ुदा-ख़ुदा करके नाम ज़ाहिर होता. फ़र्स्ट क्लास कंपार्टमेंट में भाईजान दाख़िल होते, अंदर इधर उधर देखते, फिर इशारे से क़ुली को सामान रखने के लिए कहते. सामान रखवाने के बाद अम्मी को हाथ पकड़ कर बिठाते और मुझसे कहते घबराने की बात नहीं, नाश्ता वग़ैरह मंगवा लेना, मैं टी.टी. से कह देता हूं. टी.टी. से मिलते और मेरा भी तआरुफ़ कराते. उससे कहते मेरी बहन इलाहबाद जा रही है, ख़याल रखिएगा. टी.टी. हाथ मिलाते हुए कहता, साहिर साहब चिंता की कोई बात नहीं है. बात ही बात में इंजन एक धक्का मारता, डिब्बा अपनी जगह से दूसरी जगह जा खड़ा हो जाता.

भाईजान मुझसे कहते, सरवर बीबी चलो बैठ जाओ. ट्रेन छूटने वाली है, चल पड़ी तो बंबई में रह जाओगी. परेशान न होना, अगले माह आऊंगा फिर तुम मेरे साथ आना. इन प्यार भरे अल्फ़ाज़ से मुझे तसल्ली देते और सर पर हाथ रखते. अनवर और भाईजान हाथ मिलाते, फूफी अम्मी प्यार देतीं. अम्मी भी सबको प्यार देतीं, गार्ड की सीटी की आवाज़ से गाड़ी चल पड़ती. मैं खिड़की से भाईजान के हिलते हुए हाथों को देखती रहती. आख़िर वह हाथ भी छुप जाता. गाड़ी की रफ़्तार तेज़ हो जाती. दूसरे दिन नौ बजे रात को ट्रेन इलाहाबाद स्टेशन पर रुक जाती. घर आते-आते दस बज जाते. मगर मूड मेरा ख़राब रहता. दूसरे दिन कॉलेज जाती. सहेलियों के गिले सुनने में आते, बंबई छोड़ने का जी नहीं चाह रहा था? उन लोगों को वही क़िस्सा सुनाने लगती कि भाईजान आने ही नहीं दे रहे थे. दो बार टिकट वापस किया. वे कहते हैं कि तुम लोग बंबई में आकर रहो. मगर अम्मी का जी नहीं लगता, मैं क्या करूं. मैंने भी सोच लिया है कि पढ़ाई ख़त्म करने के बाद बंबई में ही रहूंगी. भाईजान के ख़ुलूस की क्या तारीफ़ करूं. एक हफ़्ते के बाद ख़त लिखा था –

'सरवर बी दुआये! मैं अगले माह इलाहाबाद आ रहा हूं तुम सिविल लाइन में प्लॉट देखो. या जहां तुमको पसंद हो. मैं तुम्हारे लिए एक छोटा सा बंगला बनवाना चाहता हूं. तुम्हारा और मुमानी-जान का क्या ख़याल है?'

अम्मी सुनकर कहने लगीं, लो कभी तो कहते हैं बंबई में आकर रहो. अब इलाहाबाद में बंगला बनवाने लगे. क्या बच्चों जैसी बातें करते हैं. तुम ख़ामोश रहो, मैं समझाऊंगी कि यहां बंगला बनवाने की कोई ज़रूरत नहीं. अकेली जान पर इतना बड़ा बोझ उठाने नहीं दूंगी. जिसमें रहती हूं क्या बुरा है. सब कुछ तो मौजूद है. रुपये ख़र्च करने की आदत पड़ गयी है. अम्मी की बातों को ग़ौर से सुन लिया मगर भाईजान को ख़त में क्या लिखूं, समझ नहीं आ रहा था. अम्मी ने कहा कि लिख दो जब आप आयेंगे तो बाते होंगी. ख़त का सिलसिला जारी रहता.

भाईजान अपने लिखने के मुताबिक़ इलाहाबाद आते तो मेरे लिए ईद हो जाती. घर भर जाता. लोगों का आना-जाना शुरू हो जाता. इस क़दर चहल-पहल रहती कि कॉलेज से छुट्टियां लेकर घर बैठ जाती. भाईजान के परस्तारों का तांता लगा रहता. जब तक रहते हमारी उनकी बातचीत न होती. लड़कियां ऑटोग्राफ़ लेने आतीं. (भाईजान) कभी ज़नानख़ाने में आते, कभी मर्दाने में आते. थोड़े से वक़्फ़े में मिलकर चले जाते. पंद्रह-बीस दिन रहते. जब वापसी होती तो कहते, मैं तो अपनी बहन से मिल भी नहीं पाया. बीस दिन बड़ी जल्दी गुज़र जाते. जब भाईजान कहते मुझे फ़लां तारीख़ को पहुंचना है तो मुझे एहसास होता. फिर मैं कहती, भाईजान इतनी जल्दी जा रहे हैं, एक हफ़्ता और रह जाइए. भाईजान मुझ से कहते मुझे गाना देना है. अगर गाना न दिया तो पैसे नहीं मिलेंगे. अच्छा भाई उदास न हो, दो दिन ठहर जाता हूं. फूफी अम्मी (मां जी) से कहते, 'सरवर बीबी कहती हैं कि दो दिन और ठहर जाओ. तो ठहर जाता हूं. हमें तो कार से जाना है.' हमेशा बाई-कार इलाहाबाद आते थे. जो मिलने आते उनसे भी कहते, मैं दो दिन और ठहर रहा हूं, मेरी बहन कह रही है. कल इसे कुछ दिलाने जाऊंगा. जबकि बंबई से कपड़े वग़ैरह आते थे. दो दिन फिर वैसे ही मजमा रहता. माफ़ी मांग कर मुझे मार्केट ले जाते और कपड़े वग़ैरह दिला लाते. कार ही में बैठे हुए बातें करते, मैंने यहां पर कई लोगों से कह दिया है प्लॉट के बारे में. वे लोग मुझे लिखेंगे. अम्मी कहतीं, बेटा आप ख़र्च बहुत करते हैं. भाईजान कहते, मुमानी-जान, ख़र्च नहीं करूंगा तो ख़ुदा देगा नहीं. अच्छा-अच्छा, अब ज़्यादा ख़र्च नहीं करूंगा, हंस कर कहते और चले जाते. परसों का दिन आ जाता. भाईजान बंबई के लिए रवाना हो जाते, भरा हुआ घर ख़ाली हो जाता, कई दिन तक अजीब-सा लगता. आने जाने का सिलसिला जारी रहा. मैं बंबई जाती भाईजान इलाहाबाद आते. भाईजान को इलाहाबाद बहुत पसंद था. उनकी ख़ाहिश थी कि इलाहाबाद में बंगला बनवायें—छः

माह इलाहाबाद में रहें और छः माह बंबई में. मैंने भी दिल लगा कर पढ़ना शुरू किया कि कामयाबी मेरे लिए लाज़मी है. ख़ुदा का शुक्र है कामयाब होती रही और ट्रेनिंग भी पास कर लिया, और सर्विस के लिए अप्लाय भी कर लिया. तक़दीर मेरी अच्छी थी कि दो माह के बाद मुझे सर्विस मिल गयी. मैंने फूफी अम्मी को ख़त लिख कर भेजा कि मुझे सर्विस मिल गयी है. भाईजान को ख़त लिखा. वे पढ़ कर ख़फ़ा हुए और वालिदा को कहने लगे कि सरवर ने मेरी तौहीन की है. लोग क्या कहेंगे कि भाई बहनों का ख़याल नहीं करता. फूफी अम्मी ने समझाया कि उसने कोई ग़लत काम नहीं किया है. हर लड़की को अपने पैरों पर खड़ा होना चाहिए. नाराज़ होने की क्या बात है, बस भाईजान मान गये और फूफी अम्मी से कहने लगे कि सरवर को कुछ रुपये भेज दीजिए ताकि वह अपनी सहेलियों को पार्टी दे दे. मनीऑर्डर आया और साथ ही साथ फूफी अम्मी का ख़त भी आया कि ये रुपये आपके भाईजान ने भेजे हैं कि अपनी सहेलियों को पार्टी दो. लेकिन नाराज़ भी हैं कि तुमने सर्विस कर ली है. सारी ख़ुशियों पर पानी पड़ गया. मैंने पार्टी दी, मगर दिल बुझा बुझा सा रहा, चेहरे से ख़ुशी नुमायां न थी. मुझसे मेरी सहेलियों ने पूछा कि सरवर तुम ख़ुश नज़र नहीं आ रही हो. क्या बात है? मैंने सारा क़िस्सा सुना दिया. भाईजान ने ख़त का जवाब भी देना बंद कर दिया. मेरा ख़त माज़रत का बराबर जाता रहा, मगर जवाब से महरूम रहती. फूफी अम्मी के पास लिख कर भेजती कि मुझसे क्या ग़लती हुई? सिर्फ़ मुलाज़मत ही तो की है. फूफी अम्मी का तसल्लीबख़्श ख़त आता कि परेशान न हो. तुम कुछ दिनों के लिए बंबई आ जाओ. साहिर तुमको देख कर ख़ुश हो जायेगा. और नाराज़गी भी ख़त्म हो जायेगी. मैंने ऐसा ही किया. बंबई पहुंच गयी, भाईजान स्टेशन पर लेने आये. मैंने सलाम किया. सर पर हाथ रखा और कहने लगे, तुम आ गयीं टीचर साहिबा. मैंने कहा, आप मुझसे नाराज़ हैं? भाईजान ने कहा, तुम्हें किस चीज़ की कमी थी जो तुमने मुलाज़मत की? मैं चुप. फूफी अम्मी कहने लगीं, बीबी घर चल कर बातें करना. क्या हुआ हर ख़ुशी तुम पूरी करते हो. इसकी ख़ुशी यह थी कि वह मुलाज़मत करे. करने दो. कोई ग़लत काम नहीं किया. घर पर आये. नहाया. कुछ नाश्ता वग़ैरह हुआ. मेरा मुंह बना हुआ था. मैं चुप चाप बैठी हुई थी. मुझे आवाज़ दी, सरवर बीबी यहां आना. मैं डर गयी, अब और कुछ सुनने में आयेगा. ख़ुदा ख़ैर करे. 'रिकॉर्डिंग पर चलना है लता मंगेशकर को देखना है. बस तैयार हो जाओ.' अब मैं समझ गयी भाईजान सब कुछ भूल गये. रिकॉर्डिंग पर ले गये. लता जी से त'आरुफ़ कराया. संजीदगी ख़ुशी में बदल गयी. भाईजान दिल के बड़े नर्म थे. वे इंसानों के अलावा जानवरों और परिंदों से भी प्यार करते थे. उन्होंने घर में आयी हुई चिड़ियों को भी प्यार दिया. जब भी नाश्ता करते उनको मक्खन लगी हुई डबल रोटी खिलाते. वे चिड़ियां इस क़दर मानूस हो गयीं कि उनके कांधे पर आके बैठ जाती थीं. अगर कभी देर से उठते तो वे चिड़ियां उन पर जाकर बैठ जातीं और चूं चूं करके उठाती थीं. भाईजान ने उन पर गाना भी लिखा है. बंद यह है :

छुन-छुन करती आयी चिड़िया
दाल का दाना लायी चिड़िया

एक बार का ज़िक्र है कि कुछ चिड़ियां खाते हुए आपस में लड़ने लगीं. उनमें से एक चिड़िया पानी के 'जग' में गिर पड़ी. बस भाईजान परेशान हो गये. हम दोनों को बुलाना शुरू कर दिया, 'चिड़िया पानी में गिर गयी है, चिड़िया पानी में गिर गयी है. जल्दी आओ.' चिड़िया पानी में फड़फड़ा रही थी. अनवर ने आकर जल्दी से चिड़िया को निकाला और कपड़े में लपेट कर उसको गर्म करने के लिए रख दिया. आदत के मुताबिक़ भाईजान थोड़ी-थोड़ी देर के बाद चिड़िया को जाकर देखते. वह सुस्त पड़ी रही. तीन घंटे के बाद भाईजान ने चिड़िया को फिर देखा. वह होश में आ चुकी थी. तौलिये का पल्लू हटाते ही चिड़िया फुर्र से उड़ गयी. भाईजान क़हक़हा लगाकर हंसने लगे. भाईजान की हंसने की आवाज़ सुनकर हम सब लोग उनके क़रीब पहुंच गये. भाईजान कहने लगे चिड़िया उड़ गयी. हमलोग भी हंस पड़े. उस रोज़ भाईजान बहुत ख़ुश नज़र आये. मैं बाद में सोचने लगी कि भाईजान हर जानदार शय के साथ किस क़दर हमदर्दी करते हैं. ऐसी आदत सब में होनी चाहिए. उनके ख़ुलूस और हमदर्दियों को किस तरह बयान करूं. मैं तो इस पर ही ज़्यादा नज़र रखती थी.

1964 की बात है कि भाईजान अप्रैल के महीने में इलाहाबाद बाई ट्रेन आये. गर्मी की शुरुआत थी. मुझे कोई इत्तला न मिली कि भाईजान फूफी अम्मी और अनवर, सब लोग आ रहे हैं. न ख़त में लिखा कि हम लोग आने वाले

है. इतवार का दिन था. मैं घर में थी. अचानक घंटी बजी. मैंने दरवाज़ा खोला तो भाईजान पसीने में तर सामने नज़र आये. मैं हैरान हो गयी. भाईजान मुस्कुराये. मेरे सर पर प्यार दिया. मैंने पूछा, बाई कार आये हैं? कहने लगे, नहीं ट्रेन से आया हूं. पसीने में तर होने का मतलब यह था कि स्टेशन से पैदल चल कर आये थे. उस ज़माने में रिक्शा चलता था और उसको आदमी खींचते थे. भाईजान उस रिक्शे पर नहीं बैठे. लाख कहा गया, फूफी अम्मी की बात न मानी और कहने लगे, 'आदमी को आदमी खींचे. इस पर नहीं बैठूंगा. सब लोग पैदल चलो. सामान रिक्शे पर रखो. घर क़रीब है.' सब लोग पैदल चल कर आये. रिक्शे वाले को दस रुपये दिया. जबकि दो रुपया भाड़ा होता है. रिक्शे वाले ने घर के अंदर आकर सलाम किया और हाथ मिलाया और कहने लगा, 'साहब आप बड़े दयालु हैं. भगवान आपको बहुत देगा.' भाईजान ने उसकी पीठ पर हाथ रखा और कहा, अच्छा अच्छा... मैं तो भाईजान को देख रही थी. ख़ुशी की लहर उनके चेहरे पर दौड़ रही थी और चेहरा सुर्ख़ हो रहा था. स्टेशन पर ही कुछ लोग मिल गये थे, वे साथ आ गये. मुझ से कहने लगे, सरवर बीबी कुछ लोग रास्ते में मिल गये, उनके लिए चाय वग़ैरह भेज दो. मैंने जल्दी-जल्दी चाय तैयार की और नौकर के हाथ भेज दी. भाईजान उसी हाल में दोस्तों के पास जा बैठे. कुछ देर बातें करने के बाद दोस्त ने कहा, 'साहिर साहब इजाज़त चाहता हूं. आराम कीजिए.' कुछ देर आराम किया. शाम को पांच बजे मुझसे कहने लगे, 'सरवर बीबी तैयार हो जाओ, ज़मीन देखने चलना है.' मैं मुंह देखने लगी. कहने के मुताबिक़ मैंने अमल किया, क्योंकि नाराज़गी का मुझे बड़ा ख़ौफ़ था. कहीं फिर न नाराज़ हो जायें. मैं तैयार हो गयी. किसी की कार आकर नीचे खड़ी थी. मैं, फूफी अम्मी और अनवर भाईजान के साथ में. घर से बाहर देखा कि लोग खड़े है भाईजान से मिलने के लिए. लोगों ने हाथ मिलाया. उनमें कुछ ऐसे मामूली लोग भी थे जो हाथ मिलाते हुए कहने लगे, साहब क्या गाने लिखते है! आप कैसे लिखते है? भाईजान ने कहा, ख़ुदा की मेहरबानी है.

उसी वक़्त एक फ़क़ीर पास आकर खड़ा हुआ, जिसका जिस्म रोग की वजह से सूजा हुआ था. कपड़े फटे. बुरा हाल. उसको देख कर एक पांच रुपये का नोट निकाल कर दिया और कहने लगे, जाओ खाना खा लेना. वह फ़क़ीर कभी नोट को देखता कभी भाईजान का मुंह देखता. राह चलने वाले भी खड़े हो गये. फ़क़ीर क़दमों पर गिर पड़ा. भाईजान परेशान हो गये और कहने लगे, उठिए उठिए... ये और रुपये लो. एक पांच का नोट और निकाल कर दिया. फूफी अम्मी से कहने लगे कि मेरी क़मीज़ लाकर दे दो. क़मीज़ देनी पड़ी.

बाद में हम सब प्लॉट देखने चले गये करेला बाग़. सिविल लाइन, राजापुर देखा. मगर मुझे जगह पसंद न आयी. मैंने तो टाला क्योंकि अम्मी नहीं चाहती थीं कि इतना बड़ा बोझ भाईजान को दिया जाये. सारा दिन चक्कर काटा. जहां भी भाईजान उतरते, लोग जमा हो जाते और ऑटोग्राफ़ लेने लगते. कोई सिगरेट के डब्बे पर तो कोई कॉपी पर. यह देखकर मुझे हैरानी हुई. मैंने भी सोचा कि मैं भाईजान से ऑटोग्राफ़ लूंगी तो वे मुझे क्या लिख कर देंगे. घर पर आकर भाईजान के सामने अपनी ऑटोग्राफ़ बुक पेश की. भाईजान बोले, बेवकूफ़ मैं तुम्हारा भाई हूं. तुमको इसकी क्या ज़रूरत! मैं अपना-सा मुंह लेकर अपने कमरे में चली गयी और सोच लिया कि मैं ज़रूर ऑटोग्राफ़ लेकर रहूंगी.

भाईजान से मिलने मेरे स्टाफ़ की टीचर आयी. उन्होंने अपना ऑटोग्राफ़ बुक पेश किया. उसी में मैंने भी पेश कर दिया. मेरी आरज़ू पूरी हो गयी. भाईजान ने लिखा:

हज़ार बर्क़ गिरे, लाख आंधियां उट्ठें
वो फूल खिल के रहेंगे जो खिलने वाले हैं

भाईजान को यह बात मालूम भी न हुई कि मैंने भी बुक दिया है. उनकी तहरीर आज तक मौजूद है. अर्सा पंद्रह दिन भाईजान इलाहाबाद में रहे, फिर बंबई चले आये. आने जाने का वही सिलसिला रहा. कभी मैं और कभी भाईजान आते.

सन 1976 में एक मनहूस ख़बर सुनने में आयी कि फूफी अम्मी, जो तसल्ली मुझे देती थीं, अपना प्यार साथ लेती हुई हम लोगों से रूठकर कर हमेशा-हमेशा के लिए चली गयीं. टेलीग्राम मिलते ही मैं बंबई के लिए रवाना हो गयी. अर्सा एक साल तक मैं और अम्मीजान भाईजान के साथ रहे. वालिदा के इंतेक़ाल के बाद भाईजान कुछ

बदल गये थे. मुस्कुराता चेहरा उदास नज़र आने लगा. वालिदा की जुदाई परेशान करती रही. लोगों से कम मिलते. अपने आपको तन्हा महसूस करते. चार साल तक मां के ग़म को सीने में छुपाये रहे. मुशायरा वग़ैरह भी जाना छोड़ दिया. मेरी मुलाज़मत भी ख़त्म हो गयी. लेकिन इलाहाबाद जाना ज़रूरी था. भाईजान से इजाज़त लेकर इलाहाबाद रवाना हुई. सफ़र कुछ अजीब कशमकश में तय कर रही थी. अब मेरा बंबई में रहना ज़रूरी है. भाईजान और अनवर अकेले होंगे. उसी उधेड़-बुन में लगी रही कि क्या करूं, कहां रहूं, समझ में नहीं आ रहा था. ज़हन को बदलने के लिए भाईजान की दी हुई किताब, *आओ कि कोई ख़्वाब बुनें* निकाली और पढ़ने लगी. लेकिन बार-बार भाईजान की वे बातें ज़हन घूम जायें. दोनों बहनों से कहते—'बोलो तुम लोगों को और क्या चाहिए, मैं पूरा कर दूं. मैं अब फ़िल्म लाइन छोड़ने वाला हूं. मेरा ख़याल है छः माह इलाहाबाद में रहूं, छः माह बंबई में.' मैं क्या कहती कि मुझे क्या चाहिए. सिवाय ख़ामोशी के मैं कुछ न बोली. कभी किताब को बंद करती, कभी खोलती और पढ़ने लगती. ट्रेन तेज़ी के साथ चल रही थी. बराबर की सीट पर एक सांवले रंग की लड़की बैठी हुई मुझे बड़े ग़ौर से देख रही थी कि मैं बहुत परेशान नज़र आ रही हूं. उससे रहा नहीं गया. मुझसे पूछा, आप कहां जा रही हैं. मैंने कहा, इलाहाबाद. उसने फ़ौरन कहा मैं भी इलाहाबाद जा रही हूं, मैं सिविल लाइन में रहती हूं. आप मेरे घर कभी आइए. उसने मुझसे पूछा, आप इतनी परेशान क्यों हैं? कौन सी किताब पढ़ रही हैं? मैंने कहा, मेरे भाई की दी हुई है. इसमें उनका कलाम है. उसने कहा आपके भाई का नाम क्या है? मैंने कहा, साहिर लुधियानवी. वह उछल पड़ी और कहने लगी, मैं तो उनकी बहुत बड़ी फ़ैन हूं. उनकी फ़िल्में मैं बहुत देखती हूं. उनके गाने बहुत गाती हूं. साहिर साहब इलाहाबाद आते हैं? मैं उनसे मिलना चाहती हूं. जब वे आयें तो आप मिलवायेंगी? यह मेरा पता है. आप अपना पता दीजिए. हम लोगों ने एक दूसरे को अपना पता दिया. उसका नाम माधुरी था. 24 घंटे का सफ़र तय किया. इलाहाबाद स्टेशन आया. दोनों ने काफ़ी देर तक स्टेशन पर बातें की. घर पहुंचे, दिमाग़ घूमा जा रहा था. भाईजान और छोटी बहन अनवर का ख़याल आ रहा था. इलाहाबाद आकर मुलाज़मत का ख़याल आता रहा कि किस तरह मुलाज़मत हासिल की थी. भाईजान ख़फ़ा हो गये थे. मुलाज़मत भी चली गयी. फूफी अम्मी भी दुनिया से चली गयीं. घर में बेकार कामकाज में वक़्त गुज़ारती. सहेलियां आतीं, थोड़ा सा-वक़्त गुज़र जाता. एक माह के बाद माधुरी भी आयी और मुझे समझाती रही. उसका आना जाना बराबर होता. मगर मेरा दिल कहीं आने जाने को न चाहता. भाईजान बराबर आते रहे. मेरा जाना नहीं होता था क्योंकि अम्मीजान की भी सेहत ख़राब हो गयी थी. सफ़र की इजाज़त डॉक्टर नहीं देता था. भाईजान अम्मी को देखने आते. और कुछ दिन रहते और चले जाते. मुश्किल से एक हफ़्ता. मैं माधुरी को इत्तला भी न दे पाती. न उसे मालूम होता कि भाईजान आये हैं. वह भाईजान से बहुत मिलना चाहती थी.

1980 में भाईजान इलाहाबाद मुशायरे में आये. पंद्रह दिन रहने के बाद चले गये. उस वक़्त भी अम्मी की सेहत ख़राब थी. उनके लिए सफ़र मुनासिब न था. भाईजान ने बंबई पहुंचने के बाद मुझे एक ख़त सितंबर में लिखा कि सरवर बीबी मैं अक्टूबर में आ रहा हूं. ईदुल-अज़हा इलाहाबाद में मनाऊंगा. फ़िल्म, *इंसाफ़ का तराज़ू* का गाना पूरा करके आऊंगा. ख़त पढ़कर बड़ी ख़ुशी हुई. मैंने माधुरी को एक ख़त लिखा कि भाईजान अक्टूबर में आ रहे हैं. तुम ज़रूर मिलने आना. वे मार्च में मुशायरे में आये थे, तुमको मालूम नहीं. माधुरी का जवाब जल्द ही आ गया. उसने लिखा था कि मार्च में हस्पताल में थी, मुशायरे में भी शामिल न हो पायी. मुझे मालूम हुआ कि साहिर साहब आये हैं. अक्टूबर में ज़रूर आऊंगी. मैं उस घड़ी का इंतज़ार करने लगी जिस दिन भाईजान आने वाले थे. अक्टूबर का महीना शुरू हो गया. भाईजान की आमद का इंतज़ार होने लगा. दिन तेज़ी से गुज़रने लगे. ईदुल-अज़हा आयी भी और चली भी गयी. दिल परेशान हो गया क्या बात हुई? भाईजान नहीं आये. बड़ी मायूसी हुई. मैं और अम्मीजान दोनों उदास हो गये. ईद भी अच्छी नहीं गुज़री. माधुरी भी भाईजान का पता लगाने ईद के दिन आयी थी. पूछ रही थी साहिर साहब कब तक आयेंगे? मैंने बड़ी बेदिली से जवाब दिया, मालूम नहीं. शायद गाना पूरा नहीं हुआ होगा.

29 अक्टूबर 1980 को माधुरी एक मनहूस ख़बर के साथ, हाथ में अख़बार लिये मेरे पास आयी. मुझे रोता हुआ देखकर कहने लगी, 'सरवर जी यह क्या अख़बार में लिखा है. साहिर साहब को दिल का दौड़ा पड़ा. ऐ ख़ुदा तूने यह क्या किया, मेरी मुलाक़ात भी न हो सकी. मैं बड़ी बदनसीब हूं.' मैंने रोती हुई आंखों से माधुरी को देखा. ये आंखें बहुत पहले से रो रही थीं. बहुत पहले ख़बर मिल चुकी थी. लोगों का मजमा घर में लगा हुआ था. ऐसा लग रहा था कि भाईजान आये हुए हैं. उनके परस्तार मिलने आये हैं. मैं सबको हैरत से देख रही थी. अम्मी की हालत ग़ैर हो रही थी. लोगों ने मेरे आंसू पोंछे और समझाया और कहा, सफ़र की तैयारी करो. मैं सफ़र के लिए तैयार हो गयी. अपने मोहसिन भाईजान के आख़िरी दीदार के लिए. भाईजान की तस्वीर आंखों में घूम रही थी. ग़मों का बोझ लिये सफ़र कर रही थी. दो दिन का लंबा सफ़र तय नहीं हो रहा था. दूसरे दिन घर पहुंची तो बहुत-सी औरतों के बीच अनवर ख़ामोश बैठी थी. मुझे और अम्मी को देख कर रोने लगी. आपा, भाईजान ने भी साथ छोड़ दिया. मैंने हर तरफ़ नज़र दौड़ायी. सारी चीज़ें अपनी जगह पर थीं, मगर भाईजान किसी गोशे में नज़र न आये. उनके दीवान की दो मस्नदें भी हसरत से उनके आने का इंतज़ार कर रही थीं. भाईजान हम लोगों को भी इंतज़ार में छोड़ गये. उनको क़ब्र की आग़ोश पसंद आयी. मां के पहलू में सुकून लिया. सब के लिए अपनी यादें छोड़ गये.

अनुवाद: मोहम्मद नौशाद

साभार : *फ़न और शख़्सियत:* साहिर लुधियानवी नंबर, संपादन : साबिर दत्त, सरवर शफ़ी; बंबई, अंक 17-18, फ़रवरी 1985,
पृ. 65-75

---

1 मुंडन की रस्म जिसमें बकरे/भेड़ आदि की क़ुर्बानी दी जाती है.
2 रत्ती, दाना

साहिर, मेरा बचपन का दोस्त

हमीद अख़्तर

साहिर लुधियानवी अब हमारे बीच नहीं है, बहुत से प्यारे दोस्तों, रफ़ीक़ों और हमसफ़रों के साथ वह भी नश्वरता के देश का यात्री हो गया. साहिर से मेरी दोस्ती की इब्तिदा 1941-42 में हुई. 1947 तक हम एक साथ रहे. उसके बाद तीस-बत्तीस वर्ष दो अलग अलग देशों के शहरी होने के बावजूद यह दोस्ती क़ायम रही. उठते शबाब के वे दिन जो हमने एक साथ गुज़ारे, वे रातें जो आंखों में कटीं, और ज़िंदगी के वे मुश्किल लम्हे जो एक दूसरे की मदद से बिताये, भुलाये नहीं जा सकते. यह सभी कुछ दिल पर नक़्श है और जब तक सांस चलती है नक़्श रहेगा.

ज़िंदगी के कुछ वर्ष हमने इस तरह गुज़ारे कि कोई एक दिन या एक रात भी एक दूसरे के बग़ैर नहीं गुज़री. 1942 से 1945 तक का वक़्त जब साहिर ने लुधियाना गवर्नमेंट कॉलेज से निकाले जाने के बाद इस्लामिया कॉलेज लाहौर में दाख़िला लिया, लुधियाना शहर की कूचा-गर्दी करते रहे. उसके बाद हमने लाहौर के गली कूचों में बहुत वक़्त गुज़ारा. वह कॉलेज में तो हफ़्ते में एक आध बार ही जाता था मगर ये उसके शायर के तौर उभरने और बनने के दिन थे. इसी ज़माने में *अदबे-लतीफ़* का संपादन संभाला.

लाहौर उन दिनों एक ख़ामोश, शांत और सुंदर शहर था. यह दूसरे विश्वयुद्ध का ज़माना था और ग़ैर-मुल्की हुकूमत के अधीन होने के बावजूद पूरी हिंदुस्तानी क़ौम जोश और वलवले से आज़ादी की जंग लड़ रही थी. यह क़ौमी उभार का ज़माना था और लाहौर तहज़ीबी, अदबी और सियासी सरगर्मियों का गहवारा बना हुआ था. राजिंदर सिंह बेदी, देवेंद्र सत्यार्थी, बारी अलीग, अख़्तर शीरानी, ताजवर नजीबाबादी, आबिद अली आबिद, अमृता प्रीतम, इम्तियाज़ अली ताज मरहूम और कितने ही अदबी 'जिन्नात' लाहौर की अदबी महफ़िलों की रौनक़ थे. नौजवान छात्र मुल्क की आज़ादी के लिए सक्रिय थे, शहर की आबादी तीन-सवा-तीन लाख थी. हम कुछ दिनों पैसा अख़बार स्ट्रीट में रहे. एक साल पूरा सर्दियों का मौसम *अदबे-लतीफ़* की परछती हमारा ठिकाना रही. सुबह हम अनारकली के निज़ाम होटल में नाश्ता करते थे. दोपहर को दिल्ली मुस्लिम होटल में खाना खाते, और शाम को निसबत रोड की क्रिस्टल बैकरी के चायख़ाने में बैठते. उसके बाद कॉफ़ी हाउस और नगीना बेकरी में महफ़िलें जमाते. साहिर इब्तिदा ही से तरक़्क़ीपसंद साम्यवादी ख़यालात रखता था और मुझे यह मानने में कोई झिझक नहीं कि अदब की तरक़्क़ीपसंद तहरीक को अपनाने के सिलसिले में मैं उसी से प्रभावित हुआ.उन दिनों हमारी तरह ज़्यादातर नौजवान नयी ज़िंदगी और नयी दुनिया के ख़्वाब देखा करते थे. हम भी रातों को जागते, घूमते फिरते, आवरागर्दी करते, यही सब कुछ सोचा करते. भारतीय उपमहाद्वीप में बेकारी की वजह से लाखों बेरोज़गार नौजवान इंकलाब की रूमानी कल्पना में जकड़े हुए थे. यह दौर असल में तीस के दशक की मंदी के साथ शुरू हुआ और उसके बाद के ज़माने में अनेक शायरों ने उस समय की प्रचलित व्यवस्था से बेज़ारी व्यक्त की. यह बेज़ारी सियासी ही नहीं, सामाजिक मूल्यों के विरुद्ध भी थी. मगर चंद लोगों को छोड़कर अधिकतर नौजवान शायर और अदीब बदलाव की कोई स्पष्ट परिकल्पना नहीं रखते थे. इसी दौर में मजाज़ ने अपनी मशहूर नज़्म, 'आवारा' (ऐ ग़मे-दिल क्या करूं ऐ वहशते-दिल क्या करूं) लिखी. साहिर ने भी कहीं यह मिसरा लिखा है : 'मेरा क्या है, मुझे तो खांसने में ख़ून आता है।'

एक क़िस्म की बेबसी का एहसास उस ज़माने की तहरीरों में आमतौर से मिलता है, मगर 1936 में तरक़्क़ीपसंद तहरीक की बुनियाद पड़ने के बाद आहिस्ता-आहिस्ता उस दौर के लेखकों और शायरों को रचना-

प्रक्रिया के संदर्भ में एक स्पष्ट दिशा मिल गयी. साहिर भी उन्हीं में से एक था. अगरचे उसका ज़माना मजाज़, फ़ैज़, सरदार जाफ़री, जज़बी और कैफ़ी के लेखन के क्षेत्र में आने के बाद का है.

प्रारंभिक जीवन

साहिर की इब्तिदाई ज़िंदगी और ख़ानदानी हालात से बहुत कम लोग वाक़िफ़ हैं. कुछ लोग उसे बहुत बड़े ज़मींदार का बेटा और अमीर-कबीर ख़ानदान का फ़र्द क़रार देते हैं. कुछ लोग उसे ग़रीब ख़ानदान का चश्मो-चिराग़ बताते हैं. ये दोनों बातें दुरुस्त नहीं हैं. उसके वालिद फ़ज़लदीन लुधियाना के क़रीब एक गांव के ज़ैलदार भी थे और ज़मींदार भी, लेकिन पश्चिमी पंजाब में डेढ़-दो सौ एकड़ का मालिक भी बड़ा ज़मींदार समझा जाता था. यह दुरुस्त है कि उसके वालिद अपने इलाक़े के बड़े ज़मींदारों में शुमार किये जाते थे, मगर हमारे यहां पाकिस्तान में ज़मींदार और वडेरे की जो कल्पना है उसके मुक़ाबले में वे एक छोटे ज़मींदार थे. मगर यह परिवार ज़रा ख़ुशहाल था. फ़ज़लदीन बड़े ज़मींदार भले ही न थे, उनमें ज़मींदारों वाली तमाम धर्मजनित बुराइयां मौजूद थीं. मसलन उन्होंने बारह तेरह शादियां कीं, किसी एक बीवी से उनके दो बच्चियां पैदा हुईं. साहिर अपनी वालिदा का इकलौता बेटा था और फ़ज़लदीन साहिर के सिवा कोई और पुत्र न था. तलाक़ उन्होंने दूसरी बीवियों की तरह साहिर की वालिदा को भी दे दी. साहिर उस वक़्त बहुत छोटा था. उसे अपने वालिद के ख़ुशहाल घराने में गुज़ारे हुए ज़िंदगी के प्रारंभिक दो तीन वर्ष महज़ ख़्वाब की तरह याद थे. उसकी मां निस्संदेह एक महान औरत थी और उसने फ़ज़लदीन का घर और गांव छोड़कर लुधियाना में रेलवे लाइन के पास एक बहुत छोटे और मामूली से मकान को अपना मस्कन बना लिया और साहिर की परवरिश को अपनी ज़िंदगी का मक़सद. उस ज़माने में बच्चे को पाने के लिए उसके वालिद ने मुक़दमा भी किया मगर मेहरबान जज ने फ़ैसला मां के हक़ में दिया. मां का कहना था कि बच्चा बाप के पास रहा तो पढ़ लिख नहीं सकेगा. वालिद की दलील यह थी कि मेरी ज़मीन जागीर सब इस लड़के की मिल्कियत है, उसे पढ़ने की क्या ज़रूरत है. इस दलील को बुनियाद बनाकर जज ने फ़ैसला मां के हक़ में दिया और यह नन्हा बच्चा अपनी मां के साथ कोयला चुनने वालियों की कोठरियों के मध्य स्थित, लुधियाना के जगरांव पुल के पास एक छोटे से मकान में मुंतक़िल हो गया.

एक संवेदनशील बच्चे की हैसियत में साहिर अपनी मां की और अपनी महरूमियों को बचपन ही से महसूस करने लगा था. अपने कठिन और तकलीफ़-देह हालात से वह बचपन में भयभीत रहता था और यह ख़ौफ़ आख़िरी उम्र तक उसके साथ रहा. उसके बाग़ियाना ख़यालात भी शायद उसी की प्रतिक्रिया थे.

फ़ज़लदीन, उसका बाप एक रिवायती ज़मींदार था. वह अपनी ज़मीनों के टुकड़े बेच बेच कर शादियां करता रहा था. रंडीबाज़ी, शराबनोशी और मुक़दमेबाज़ी रोज़ का मामूल थी. जब साहिर पैदा हुआ तो साहिर के वालिद और पड़ोसी मियां अब्दुलहई (जो बाद में अविभाजित पंजाब के वज़ीरे-तालीम बने) के दरमियान मुक़दमेबाज़ी ज़ोरों पर थी. मगर वालिद ने साहिर का नाम अब्दुलहई रखा.उसके बाद उसका यह दस्तूर था कि शाम को अपने घर के सामने कुर्सी बिछाकर नौकरों और पड़ोसियों की मौजूदगी में अब्दुलहई को बुलंद आवाज़ में गंदी-गंदी गालियां देता था. मियां अब्दुलहई और उनके चेले एतराज़ करते तो वह बड़े इत्मीनान से जवाब देता, 'मैं तो अपने लाड़ले इकलौते बेटे से प्यार की बातें कर रहा हूं.' इस तरह साहिर की पैदाइश के बाद चंद ही महीने में उसने मियां अब्दुलहई की ज़िंदगी अजीरन कर दी.

साहिर और उसकी मां की देखभाल उसके दो मामूं करते थे. उनमें से एक इलाहाबाद में रहता था और दूसरा कटक (उड़ीसा) में. मालूम नहीं उन्होंने क्या सोच कर साहिर को ख़ालिसा स्कूल, लुधियाना में दाख़िल करा दिया. मैट्रिक तक वह उसी स्कूल में रहा. उसे सारी गुरुबानियां ज़बानी याद थीं. इस स्कूल के सिख हैडमास्टर के बारे में वह हमेशा मज़े मज़े से कहानियां बयान करता था. उसे अपने मज़हब के बारे में इब्तिदाई मालूमात भी हासिल न

थीं. अगरचे बाद में उसने अपने तौर पर मज़हबे-इस्लाम का मुताला भी किया, मगर उसकी घुट्टी में सिख मज़हब की तालीमात ही पड़ी थीं. कॉलेज के ज़माने में भी उसकी दोस्ती हिंदू सिख लड़के लड़कियों से ज़्यादा रही. उसका मिज़ाज कुछ ऐसा बन गया था कि मसलन वह कहता था उसे लड़कियां 'अस्सलामु-अलैकुम' कहती हुई अच्छी मालूम नहीं होतीं. लड़कियों के मुंह से नमस्ते या आदाब अर्ज़ ही ठीक मालूम होता है. पाकिस्तान आकर यहां से वापस जाने में दूसरे कारणों के अलावा उसकी इसी फ़ितरत का भी बहुत दख़ल था.

एक संवेदनशील और ख़ुद्दार आदमी की हैसियत से उसने अच्छे हालात देखने के बाद दोनों मामुओं की बहुत सेवा की और आख़िर वक़्त तक करता रहा. नहीं मालूम कि बचपन में उनकी मदद मिलने पर उसके एहसासात क्या होंगे. उसकी वालिदा ने उसे शाहज़ादों की तरह पाला था. अपना ज़ेवर सामान, यानी जो कुछ भी था, वह सब बेचती रही. फिर उसे अपने भाइयों के आगे हाथ फैलाना पड़ा. यह सब साहिर को पसंद नहीं था. मगर इसके सिवा कोई चारा भी नहीं था, इसलिए वह इब्तिदाई ज़िंदगी ही से समाज का बाग़ी बन गया. उसकी इब्तिदाई नज़्में मेरठ से *ज़ेरे-ज़मीन* शाय होने वाले पर्चे, *कीर्तिलहर* में छपीं, जिनमें ग़ैर-मुल्की हुकूमत और मौजूदा समाजी ढांचे से नफ़रत का इज़हार होता था. फिर उसने पहला इश्क़ भी एक सियासी कार्यकर्ता की बेटी मिस प्रेम चौधरी से किया, जो ख़ुद भी एक साफ़-दिल सियासी कार्यकर्ता थी. बदक़िस्मती से यह लड़की तपेदिक से मर गयी. साहिर उसके लिए बहुत रोया, कई हफ़्ते उदास रहा. यह उसकी कॉलेज की ज़िंदगी के बिल्कुल इब्तिदाई दिनों की बात है. थोड़े अर्से के बाद कॉलेज की दिलचस्पियों ने उसका ग़म भुला दिया.उस ज़माने में कॉलेज के प्रिंसिपल एक बहुत संतुलित ज़हन के मालिक अंग्रेज़, मिस्टर हार्वे थे. वे रिवायती क़िस्म के ऐसे माहिरे-तालीम थे और अपने छात्रों से बच्चों की तरह बेहद प्यार करते थे. यही वजह है कि लुधियाना गवर्नमेंट कॉलेज इंतिहाई तरक़्क़ी-पसंदाना सियासी सरगर्मियों का केंद्र बना रहा. दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान देश में सख़्त क़ानूनों के बावजूद साहिर कॉलेज में अपनी बाग़ियाना और इंकलाबी नज़्मों की वजह से मक़बूल होता गया. उसके ग्रुप में तीन चार ऐसे ही और लड़के भी मौजूद थे. चौधरी ग़ुलाम मुर्तज़ा, फ़ैज़ुल-हसन चौधरी, सिराजुल-हक़ हाफ़िज़, मिस इक़बाल डार और कई दूसरे छात्र यूनियन लिट्रेरी सोसाइटी पर क़ाबिज़ थे, इसलिए उनकी बाग़ियाना सरगर्मियां कॉलेज बल्कि शहरों की हदों में भी गूंजने लगीं. कॉलेज से बाहर के दोस्तों में मेरे बड़े भाई सफ़दर अली शामिल थे जिनकी साहित्य में बड़ी अच्छी रुचि थी.

उसी ज़माने में एक ऐसी घटना हुई जिसने साहिर की ज़िंदगी का रुख़ बदल दिया. साहिर के कुछ दुश्मनों ने एक सिख लड़की से उसके प्रेम को बुनियाद बनाकर उसे कॉलेज से निकलवा दिया. यह लड़की ईशर कौर, दुबली पतली, ख़ामोश-तबीयत, बल्कि इंतिहाई शर्मीली थी.उसकी आंखें बहुत ख़ूबसूरत थीं, बड़ी-बड़ी बोलती हुईं, मगर उदासी और निराशा से भरी हुईं. वह किसी से बात नहीं करती थी. यार लोगों ने उसका नाम 'निस्वानियत' (स्त्रीत्व) रखा हुआ था. होस्टल में रहती थी. साहिर उस पर फ़िदा था. मगर काफ़ी अर्से तक उसने उसकी हौसला-अफ़ज़ाई नहीं की, लेकिन आख़िरकार वह भी उसमें दिलचस्पी लेने लगी. छुट्टी के दिन तन्हाई में उन दोनों को साथ देखकर शोर मचा दिया गया. एक स्कैंडल बन गया जो लुधियाना जैसे छोटे से शहर के लिए बहुत बड़ी बात थी. किसी ने कहा साहिर ईशर को भगा कर ले जा रहा था. किसी ने कहा, 'कुछ लड़कों और प्रोफ़ेसरों ने साहिर को उस लड़की के साथ रंगे हाथों पकड़ लिया है'. बहरहाल नौबत यहां तक पहुंची कि कॉलेज इंतिज़ामिया ने उन दोनों को कॉलेज से निकाल दिया. दिलचस्प बात यह है कि ये अफ़वाहें जब साहिर के वालिद तक पहुंचीं तो वह अपने गांव से घोड़े पर बैठ कर साहिर के घर आया और उससे कहा, 'तुमने यह क्या ग़ज़ब किया? सिख लड़की पर हाथ डाला. कोई मुसलमान लड़की पसंद करते तो मैं ख़ुद उसे उठाकर तुम्हारे पास ले आता.' साहिर बहुत कमज़ोर और दुबला-पतला नौजवान था, जब कि उसका वालिद इस उम्र में भी मज़बूत काठी का मालिक था. उसने बजा तौर पर सोचा कि उठाकर लाने का काम यह नौजवान तो नहीं कर सकता. साहिर यह वाक़िया हमेशा अपने दोस्तों को मज़े ले ले कर सुनाता था.

मगर ये बहुत बाद की बातें हैं. बचपन में साहिर का एक ही शौक़ था. शहर में रोशनी के मेले, दशहरे या किसी भी त्यौहार पर कोई थिएटर आता तो वह रोज़ाना उसे देखने जाता. इसके लिए मां से ज़बरदस्ती पैसे वसूल करता, अपना जेब ख़र्च बचाता. मगर थिएटर देखने ज़रूर जाता.ये ड्रामे आमतौर से आग़ा हश्र के लिखे हुए होते थे, इसलिए उसे ये पूरे के पूरे ज़बानी याद थे. मास्टर रहमत का शायरी का दीवान भी उसके हाथ लग गया था जो ऐसे मिसरों से भरा पड़ा था: 'लिख के रहमत 'र' पे नुक़्ता दे दिया'[1] वग़ैरह.

इस क़िस्म की शायरी और ड्रामों के संवाद उसे कंठस्थ थे. इस इल्म ने उसे बाद की फ़िल्मी ज़िंदगी में बहुत फ़ायदा पहुंचाया. मास्टर रहमत से उसने ज़बान सीखी और आग़ा हश्र से ज़ोरदार संवादों का राज़ पाया, वर्ना इसे रिवायती तौर पर ज़बान पर महारत नहीं थी. न ही वह शायरी की कला वग़ैरह से वाक़िफ़ था, अलबत्ता शे'र उसकी घुट्टी में पड़ा था.

साहिर जब अठारह बरस का हुआ तो उसकी वालिदा और मामूओं ने एक क़ानून (हक़-ए-इस्तिक़रार) का सहारा लेकर उसके वालिद पर एक सौ से ज़्यादा मुक़दमे दायर कर दिये. इस क़ानून के मुताबिक़ नौजवान बालिग़ बेटा अय्याश बाप की बेची हुई पैतृक संपत्ति वापस ले सकता था. जब मेरी उसकी दोस्ती हुई तो ये मुक़दमे चल रहे थे. उनका ताल्लुक़ ज़मीन के विभिन्न टुकड़ों के विक्रय से था. दो तीन बरस में इन सब मुक़दमों का फ़ैसला साहिर के हक़ में हो गया. क़ानूनी तौर पर वह नये मालिकों से क़ीमत अदा करके ज़मीनें वापस ले सकता था, मगर उसके पास न तो पैसे थे और न इसे ज़मींदारी या ज़मीन से कोई दिलचस्पी थी. चुनांचे बरसों यह सिलसिला इस तरह चला कि उसके ख़ानदान के पास पैसे ख़त्म हो जाते तो उनका एक वफ़ादार मुंशी किसी ख़रीदार को पकड़ लाता. अगर उसने कोई भूभाग फ़ज़लदीन से दस हज़ार रुपये में ख़रीदा होता तो साहिर भी इतने ही या इससे कुछ कम पैसे लेकर अपने हुक़ूक़े-मिल्कियत से दस्तबरदार होने की तहरीर लिख देता. उस ज़माने में आठ दस हज़ार की रक़म काफ़ी बड़ी रक़म समझी जाती थी. मगर साहिर दो-चार माह में उसे उड़ा देता तो मुंशी फिर किसी ख़रीदार को पकड़ लाता. यह सिलसिला 1942 से देश के विभाजन के वक़्त तक चला. उसके लिए एक क़िस्म की सुरक्षा भी यही थी, जिससे वह अगस्त 1947 के बाद वंचित हो गया.

साहिर प्रारंभिक जीवन में अत्यंत असुरक्षा की भावना से ग्रस्त रहा और इस भावना ने अंतिम क्षणों तक उसका पीछा नहीं छोड़ा. वह बज़ाहिर बड़ी बहादुरी और जुर्रत की बातें करता रहता था. बाग़ियाना ख़यालात के प्रचार में भी आगे आगे नज़र आता लेकिन अंदर ही अंदर कोई ख़ौफ़ उसे खाये जाता. अपनी मौत से बीस-बाईस वर्ष पहले से उसने कोई हवाई सफ़र नहीं किया, मुल्क से बाहर जाने को तैयार नहीं था. इब्तिदाई ज़माने में भी वह तन्हा कहीं नहीं जाता था. पाकिस्तान बनने से पहले लुधियाना से लाहौर, अमृतसर, बंबई, दिल्ली, शिमला जहां कहीं भी किसी काम से या मुशायरा पढ़ने के लिए जाना होता तो वह मिन्नत-समाजत, धौंस-धमकी, ग़रज़ कि हर मुमकिन तरीक़े से किसी दोस्त को अपने ख़र्च पर साथ लेकर जाता. मैं चूंकि फ़ारिग़ था इसलिए ज़्यादातर यह फ़र्ज़ मुझे ही अंजाम देना पड़ता था. 1945 के आख़िरी महीनों में जब उसकी पुरानी आरज़ू पूरी हुई और उसे एक फ़िल्म के गाने लिखने के लिए बंबई जाने की पेशकश हुई तो उसने तक़रीबन तीन हफ़्तों तक बंबई का सफ़र नहीं किया. अंतत: उसने उस फ़िल्मी यूनिट से जहां वह मुलाज़िम हो कर जा रहा था, मेरे लिए भी बतौर संवाद लेखक पेशकश हासिल की और यूं हम दोनों जनवरी 1946 में बंबई पहुंचे.

इस सफ़र से पहले दो-तीन वर्ष तक उसकी एक ही आरज़ू थी कि किसी तरह उसे फ़िल्मी गाने लिखने का मौक़ा मिले और वह ऐसे गाने लिखे कि उसके नाम का डंका बज जाये. मगर यह फ़िल्म जिसके उसने गाने लिखे, और जलीस, हाजिरा मसरूर और मैंने संवाद लिखे, फ़ेल हो गयी. यह फ़िल्म कांग्रेस की तारीख़ के बारे में थी और इसमें ख़िलाफ़त तहरीक से लेकर 1947 की तहरीके-आज़ादी तक की घटनाओं को कहानी की शक्ल में पेश करने की कोशिश की गयी थी. इसमें पैसा भी कांग्रेसी पूंजीपतियों ने लगाया था, और उसका पैग़ाम यह था कि हिंदुस्तान का बटवारा नहीं होना चाहिए. फ़िल्म कुछ कारणों से लेट हो गयी और उस वक़्त रिलीज़ हुई जब पाकिस्तान बन

चुका था. ज़ाहिर है उसे फ़ेल ही होना था. इस फ़िल्म में जिसका नाम 'आज़ादी की राह पर' था, पृथ्वी राज, जयराज, वनमाला और ख़ुद मैंने अहम किरदार अदा किये थे.

बंबई के पौने-दो साल हमारी ज़िंदगी के भरपूर दिन थे. साहिर ने सेठ से बात करके इब्राहीम जलीस को हैदराबाद दक्कन से बुला लिया था. चुनांचे कंपनी की तरफ़ से मिले हुए फ़्लैट में हम तीनों ने बड़ा यादगार वक़्त गुज़ारा. बंबई उस ज़माने में तरक़्क़ी-पसंद अदीबों का गढ़ था. सय्यद सज्जाद ज़हीर, कृष्ण चंदर, सआदत हसन मंटो, अली सरदार जाफ़री, कैफ़ी आज़मी, मजरूह सुलतानपुरी, राजा महदी अली ख़ां, मीराजी, प्रेमनाथ, विश्वामित्र आदिल, सरला देवी, सफ़दर मीर, नियाज़ हैदर, मुमताज़ मुफ़्ती, अहमद बशीर और बहुत से दूसरे अदीब और शायर बंबई में रहते थे. उनमें से अधिकांश का संबंध फ़िल्मों से था, मगर सभी उस उभार और लहर में बराबर के शरीक थे जो पूरे मुल्क में रवां-दवां थी. बहुत से लोगों को यह सुनकर ताज्जुब होगा कि बंबई की एक महफ़िल में मीराजी ने यह ऐलान किया था कि वह या तो दुनिया छोड़कर जंगल में जा बसेगा या फिर कम्युनिस्ट पार्टी का होल -टाइम-वर्कर बन जायेगा. तरक़्क़ी-पसंद मुसन्निफ़ीन के हफ़्तावार इजलास होते, बहसें होतीं, कांफ्रेंस की जातीं, पार्टियां होतीं. मुल्क की आज़ादी की आरज़ू हर शख़्स के दिल में थी. तब दौलत की तलब इतनी नहीं बढ़ी थी. ज़िंदगी का मेयार बुलंद करने की दौड़ इतनी तेज़ नहीं हुई थी बल्कि इंसान की सामूहिक तरक़्क़ी, ख़ुशहाली और बेहतरी की बातें ज़्यादा होतीं. व्यापक स्तर पर लालच की होड़ ने अभी रंग नहीं जमाया था, इश्क़ो-मुहब्बत की बातों में पाकीज़गी और पवित्रता मिलती थी.

इस अजनबी और इतने बड़े शहर में हम तीनों एक दूसरे से जुड़े रहते, फिर उस फ़्लैट में एक चौथा दोस्त आ शामिल हुआ. यह था वीरेंद्र देव व्यास. यह लाहौर के एफ़.एस.सी. से नया नया एम.ए. करके बंबई पहुंचा था और कंपनी का जनरल मैनेजर था. बाद में यह इंडियन सिवल सर्विस में चला गया और कई वर्ष तक सेंसर बोर्ड का चेयरमैन रहा. दिसंबर 1978 में, जब वह ग़ालिबन लखनऊ का कमिशनर था, उसका इंतिक़ाल हो गया. 1947 के बाद उससे मिलने की हसरत ही रही. वीरेंद्र देव व्यास एक ख़ूबसूरत, हँसमुख और बहुत अच्छी आदतों का इंसान था. हम चारों डेढ़ बरस के क़रीब एक साथ रहे. किसी से किसी का कोई राज़ पोशीदा नहीं था. कोई इश्क़, कोई साज़िश, कोई दोस्ती व्यक्तिगत नहीं थी. अलग भी होते तो शाम को दिन भर की वारदातों से संबंधित मालूमात का तबादला ज़रूर होता. माली लिहाज़ से ये कोई अच्छे दिन नहीं थे. तनख़्वाह दस तारीख़ तक इस तर्तीब से ख़त्म हो जाती कि सबसे पहले खाने पीने और सफ़र के तमाम ख़र्चे साहिर अदा करता था, उसके बाद मैं सब के नान-नफ़्के का ज़िम्मेदार होता और फिर जलीस की बारी आती. और जब सबकी जेबें ख़ाली हो जातीं तो एडवांस के लिए जद्दोजहद शुरू हो जाती. उस ज़माने में फ़ाक़े भी आये, झगड़े भी हुए, बुरा वक़्त भी देखा, मगर दोस्ती में फ़र्क़ नहीं आया.

पैसे ख़त्म हो जाते तो हम सब बारी बारी एडवांस लेते. जनरल मैनेजर अपना ही था, इसलिए इसमें कुछ ज़्यादा मुश्किल पेश न आती. लेकिन हर चीज़ की हद होती है. हमारा ख़राब रिकार्ड देखकर एक दिन सेठ ने तीनों को बुलाया और एक फ़ालतू तनख़्वाह देने का ऐलान किया बशर्ते कि हम उसके बाद एडवांस न मांगें. हमने वादा तो कर लिया मगर बहुत तंग हुए. उस ज़माने में अफ़साना-निगार सय्यद अनवर, जो हिंदुस्तानी नेवी का आला अफ़्सर था और लुधियाना का रहने वाला था, बंबई में रहता था. चुनांचे वह हमारी लपेट में आ गया. जब फ़ाक़े तक नौबत पहुंचती, हम कुलाबा में उसके घर चले जाते. रात का खाना उसके यहां खाते, फिर दस से तीस रुपये तक की रक़म हमेशा चैक की सूरत में मिलती. अनवर नक़द पैसे घर में रखता ही नहीं था. हम उससे बीस-तीस रुपये का चैक लेकर निकलते और सारा रास्ता उसे गालियां देते रहते क्योंकि सुबह उठकर पैसे लेने के लिए उसके बैंक जाना पड़ता. बहरहाल यह सिलसिला बहुत दिनों तक जारी रहा.

अनवर से हमारी दोस्ती बंबई ही में हुई. बंबई जाने से पहले वह कभी-कभार छुट्टी पर लुधियाना आता तो उसके साथ महफ़िलें जमतीं. अहमद रियाज़, ज़हूर नज़र, भाई सफ़दर, फ़ैज़ुल-हसन चौधरी, ग़ुलाम मुर्तज़ा साक़ी पर

आधारित इस पूरे ग्रुप के लिए अनवर की आमद हमेशा ख़ुशी का पैग़ाम लाती. वह एक खरा, मुंहफट, बल्कि तक़रीरो-तहरीर दोनों में बेरहमी की हद तक साफ़-गो आदमी है. लुधियाना में उसकी आमद के बाद उसका सबसे पहला शिकार मुहसिन लतीफ़ी होते थे. वह हमें जमा करके उनके यहां ले जाता और घंटों उनसे बक-बक करता रहता. इस ज़माने में उसके कई अफ़साने, *निगार* और *साक़ी* वग़ैरह में छप चुके थे. यह सच्ची बात है कि साहिर ने जो ख़याल अपनी नज़्म, 'ताजमहल' में बांधा है वह अनवर दो बरस पहले अपनी एक कहानी में बयान कर चुका था. इस कहानी का उनवान शायद 'उफ़ुक़ के ज़ीने पर' था और शहंशाह शाहजहां को इसमें पहली बार ग़रीबों की मुहब्बत का मज़ाक़ उड़ाने के सिलसिले में अपराधी ठहराया गया था. लेकिन बेचारे गद्य-लेखक शायरों के मुक़ाबले में चूंकि हमेशा घाटे में रहते हैं, इसलिए इस ख़याल की दाद हमेशा साहिर को मिली. अनवर बहुत चीख़ता चिल्लाता रहा, मगर किसी दोस्त या किसी आलोचक ने उसकी बात पर ध्यान नहीं दिया. साहिर ने जब इस ख़याल को बड़े ख़ूबसूरत अंदाज़ में अपनी नज़्म, 'ताजमहल' में पेश किया तो उसके नाम के डंके बजने लगे. हक़ीक़त यह है कि इस नज़्म के बाद ही उसे बाक़ायदा और बड़ा तरक़्क़ी-पसंद शायर माना जाने लगा. बंबई में अनवर से हमारी दोस्ती का नवीनीकरण हुआ. जलीस और उसके दरमियान अक्सर बड़ी दिलचस्प नोक झोंक होती.

जलीस मरहूम इंतिहाई बाग़-ओ-बहार शख़्सियत का मालिक था. बात से बात पैदा करने और गप लगाने में उसका जवाब नहीं था. फब्ती कसना और जुमलेबाज़ी करना उस पर ख़त्म था. कितनी ही संजीदा महफ़िल हो, उसके आते ही रंग बदल जाता. किसी महफ़िल में कोई साहिब बहुत ही ख़तरनाक क़िस्सा बयान कर रहे हैं और कह रहे हैं कि यह मंज़र देखकर उनके रौंगटे खड़े हो गये, तो 'फिर कैसे बिठाये रौंगटे आपने!' जलीस फ़ौरन कहते और क़िस्सा बयान करने वाले की बात ख़त्म हो जाती. लतीफ़ेबाज़ी में भी उसका जवाब नहीं था, मगर वह निहायत भावुक और तुनक-मिज़ाज आदमी था. साहिर और उसके दरमियान बहुत झगड़े होते. कई बार उनमें हाथापाई भी हुई, मगर चंद मिनट बाद दोनों शीरो-शकर हो जाते. दोनों में एक क़िस्म की दुश्मनी सी थी और लड़ाई में आमतौर से साहिर,जलीस को यह ताना देता कि कृष्ण चंदर न होता तो जलीस भी कहीं न होता. इसके जवाब में जलीस कहता, फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ न होता तो साहिर भी न होता. साहिर भी कुछ कम जुमलेबाज़ नहीं था, इसलिए दोनों में हमेशा पहले प्यार की बातों में जुमलों का तबादला होता, बाद में तल्ख़ी पैदा हो जाती. जनवरी 1979 में, मैं बंबई गया तो साहिर ने इस क़िस्म की जुमलेबाज़ी की एक और दास्तान सुनायी. कहने लगा कि चंद बरस पहले जलीस बंबई आया था और साहिर के यहां ही ठहरा था. सुबह दोनों साहिर की कार में घर से निकले तो बाहर चौक में खड़े ट्रैफ़िक कांस्टेबल ने साहिर को सेल्यूट किया.अगले चौक में दूसरे सिपाही ने भी सेल्यूट मारा तो जलीस ने हैरत से पूछा, 'सिपाही तुम्हें सेल्यूट क्यों कर रहे हैं?'

'तुम्हें पता नहीं है' साहिर ने कहा, 'हिंदुस्तान की हुकूमत ने यह हुक्म जारी किया हुआ है कि शायरों और अदीबों को जहां भी वे नज़र आयें पुलिस वाले बाक़ायदा सेल्यूट करें.'

इब्राहीम जलीस बहुत प्रभावित हुआ, लेकिन जब गाड़ी साहिर के रिहायशी इलाक़े से दूर दूसरी जगहों से गुज़री तो किसी पुलिस वाले ने सलाम तक न किया. वह समझ गया कि उसे साहिर ने बेवक़ूफ़ बनाया है. चुनांचे उसने फ़ौरन कहा कि हुकूमते-पाकिस्तान ने भी शायरों, अदीबों और सहाफ़ियों को हवाई जहाज़ और रेल के सफ़र में आधे किराये की रियायत दे रखी है.

'वो तो हमारे यहां भी है,' साहिर ने कहा. 'हिंदुस्तान में नाबालिगों का आधा टिकट लगता है.' जलीस चुप हो गया क्योंकि उस वक़्त वह साहिर का मेहमान था. मगर जिस ज़माने में हम लोग एक कमरे में रहते थे, उस वक़्त इस क़िस्म की जुमलेबाज़ी का नतीजा तल्ख़-कलामी पर ख़त्म होता था.

पाकिस्तान बनने के बाद मैं मुहाजिर कैंप के ज़रिये और साहिर हवाई जहाज़ से लाहौर पहुंचा. वह जून 1948 तक लाहौर रहा. ऐबट रोड पर हमने एक मकान अलाट कराया और साहिर, अम्मी और मैं एक साथ रहने लगे, मैं

कैंप में तक़रीबन तीन माह रहा और नवंबर में लाहौर पहुंचा था. साहिर सितंबर 1947 में आ गया था. वह इस सारे अर्से में उखड़ा-उखड़ा रहा. मेरे आने से उसे ताक़त तो बहुत मिली, मगर वह असुरक्षा का शिकार पहले से भी ज़्यादा नज़र आता था. अब ज़मीन से पैसे नहीं मिल सकते. मामूं हिंदुस्तान में रह गये थे. *सवेरा* के संपादन से चालीस-पचास रुपये माहवार मिल जाते थे, लेकिन ये काफ़ी नहीं थे. बज़ाहिर बेहतरी के लक्षण भी नज़र नहीं आते थे. दुर्भाग्यवश जून 1948 में मुझे एक कठिन सियासी काम से एक हफ़्ते के लिए कराची जाना पड़ा. साहिर को काम की नौइयत का अंदाज़ा था. मुझे वहां एक महीना रुकना पड़ा. उन्हीं कारणों से ख़त भी नहीं लिख सका. टेलीफ़ोन उस ज़माने में आम नहीं थे, फिर उसे किसी ने कह दिया कि मैं कराची में गिरफ़्तार हो गया हूं, सिंध पुलिस ने मुझे किसी काल कोठरी में डाल दिया है और यह कि मेरे अब वहां से बच निकलने की बहुत कम संभावना है. एक रिवायत यह भी है कि खुफ़िया पुलिस वाले उसे इंतिहाई ख़तरनाक आदमी (हाए ये कम-फ़हम खुफ़िया पुलिस वाले!) समझते थे, इसलिए उन्होंने उसे यहां से भगाने के लिए एक सियासी मुख़्बिर की, जो उसका दोस्त था, सेवाएं प्राप्त कीं. वह रोज़ाना आकर साहिर को डराता और कहता कि पुलिस उसे गिरफ़्तार करके शाही क़िले में ले जायेगी. वहां बड़े-बड़े सांप और बिच्छू हैं. यातना देने के निराले तरीक़े हैं वग़ैरह. यह चाल काम कर गयी. मैं अगर मौजूद होता तो शायद उसको ढाढ़स रहती, मगर यारों ने मुझे तो पहले ही पुलिस के हवाले कर दिया था. साहिर इस क़दर घबराया कि एक दिन उसने अचानक दिल्ली जाने का फ़ैसला कर लिया. उस ज़माने में पासपोर्ट वीज़ा वग़ैरह की पाबंदी नहीं थी,इसलिए वह फ़र्ज़ी नाम से टिकट ख़रीदकर जहाज़ में सवार हो गया. अपने हिसाब से यह सफ़र उसने खुफ़िया तौर से किया. जून की एक गर्म दोपहर को एक लंबा कोट और हैट पहन कर वह एयरपोर्ट पहुंचा. कहा जाता है कि जिन लोगों से छुपकर वह घर से एयरपोर्ट गया था वे वहां तक पीछे-पीछे गये और वापस आकर रिपोर्ट लिखी: 'मुसम्मा साहिर लुधियानवी मुल्क छोड़कर चला गया.'

शायद इस कारकर्दगी पर कुछ लोगों के दर्जे भी बढ़े हों, मगर मैं कराची से वापस आया तो मकान ख़ाली था. दिल्ली जाकर उसने प्रकाश पंडित को लाहौर भेजा. वह वालिदा को साथ ले गया. घर का सामान कुछ मेहरबान उठाकर ले गये. हमने तिनके चुन-चुन कर जो आशियाना बनाया था, उसमें तकिया कहीं से मांगा था तो दरी कहीं से उठा कर लाये थे, एक मेज़ दो कुर्सियां किसी मेहरबान दोस्त ने भिजवा दी थीं, मगर जब मैंने कराची से वापसी पर घर खोल कर देखा तो वहां कुछ नहीं था. मैं नये सिरे से मुहाजिर हो गया. एक दफ़ा फिर मां के प्यार से महरूम हुआ. कोई ठिकाना नहीं था. सर छिपाने की कोई जगह मौजूद नहीं थी. इस घर में न रह सकता था, न सो सकता था. चुनांचे मैंने उसे यूंही खुला छोड़ा और बाहर निकल आया. अगले रोज़ किसी और ने इस पर क़ब्ज़ा कर लिया.

उस वक़्त मुझे साहिर पर बहुत ग़ुस्सा था. मुझे याद है मैंने कुछ साझे दोस्तों को गिले-शिकवे के ख़त भी लिखे, मगर ज्यों-ज्यों वक़्त गुज़रता गया दिल को क़रार आता गया. उसको जितने और जैसे मौक़े मिले, यहां नहीं मिल सकते थे. अगरचे शुरू में उसे वहां भी काफ़ी अर्से तक सख़्त परेशानियों और मुश्किलों का सामना करना पड़ा. इब्तिदा में वह दिल्ली रहा. यहां से उसने माहनामा, *शाहराह* का इजरा कराया. हमारे साझे दोस्त और मशहूर शायर कृष्ण अदीब का कहना है कि उन दिनों उसके हालात अच्छे नहीं थे. *शाहराह* के प्रकाशक यूसुफ़ देहलवी थे, जिनका निजी पेशा मछली का कारोबार था और वे अदब को भी ऐसे ही कारोबारी उसूलों में जकड़कर चलाना चाहते थे. उनसे बार बार पैसे मांगने पड़ते और इसमें साहिर को ख़ासी पीड़ा झेलनी पड़ती. लिहाज़ा उसने *शाहराह* के दो ही अंक संपादित किये. उसके बाद वह हैदराबाद दकन गया जहां से आख़िरकार अपनी मंज़िले-मक़सूद बंबई पहुंच गया.

बंबई में भी उसको बहुत जद्दोजहद करनी पड़ी, रिहायश के लिए तो कृष्ण चंदर का घर मौजूद था जहां हिंदुस्तान और पाकिस्तान का हर अदीब और शायर बग़ैर इत्तिला दिये जाकर क़याम कर सकता था, लेकिन रोज़गार की कोई सूरत न थी. वह फ़िल्म स्टूडियोज़ के चक्कर लगाता. प्रोड्यूसर,डायरेक्टर सम्मान में कुर्सी से उठकर उसका स्वागत करते. उसको बड़ा शायर मानते, लेकिन फ़िल्म में गीत लिखने का चांस देने को कोई तैयार

न होता. यहां तक कि कई प्रसिद्ध तरक़्क़ी-पसंद अदीबों ने भी जो फ़िल्म में जमे हुए थे, उसे इस क़ाबिल न समझा कि उससे फ़िल्म के लिए गीत लिखवायें. कृष्ण अदीब के बयान के मुताबिक़, उस मुश्किल दौर में पहले उसने अम्मी की सोने की चूड़ियां बेचीं, फिर कृष्ण चंदर के मसौदों को साफ़ करने का काम किया जिसका मुआवज़ा उसे डेढ़ सौ रुपये माहवार मिलता था. यह काम शायद कृष्ण जी ने साहिर की मदद के लिए ही निकाला होगा, वर्ना उन्हें अपनी कहानियों के मसौदों को ख़ुश-ख़त लिखवाने की ज़रूरत नहीं थी. साहिर दस-ग्यारह बजे से पहले नहीं जागता था. हमेशा से उसकी हालत यह थी कि सुबह जब तक वह चाय की दो तीन प्यालियां न पी लेता उसकी आंखों और नाक से पानी बहता रहता, जिसे वह ऐतिहासिक शक्तियों की चेतना का नाम देता था, मगर सुना है कि बंबई में उसने सुबह सात बजे उठना शुरू कर दिया और आठ नौ बजे तक निगार-ख़ानों (फ़िल्म स्टूडियोज़) के चक्कर लगाने लगता. तक़रीबन डेढ़ बरस तक हालात ऐसे ही रहे ,मगर उसे पूरा यक़ीन था कि जब भी मौक़ा मिला फ़िल्मी शायरी में सबको पीछे छोड़ जायेगा. चुनांचे ऐसा ही हुआ. जब उसे मालूम हुआ कि मशहूर म्यूज़िक डायरेक्टर एस.डी. बर्मन नये टैलेंट की तलाश में हैं तो वह वहां पहुंचा और बर्मन साहिब से गाने की धुन सुनी. दूसरी बार सुनते ही उसने मुखड़ा लिख कर दे दिया : 'ठंडी हवाएं लहराके आये..'.

बर्मन को मिसरा बहुत पसंद आया और यह गाना आख़िरकार फ़िल्म, *नौजवान* में हिट हुआ. इसके बाद साहिर और बर्मन की जोड़ी ने बड़े यादगार गाने दिये जिनमें से कुछ ये हैं :

तदबीर से बिगड़ी हुई तक़दीर बना ले
अपने पे भरोसा है तो ये दाव लगाले (*बाज़ी*)
सुनो गजर क्या गाये (*बाज़ी*)
ये रात ये चांदनी फिर कहां (*जाल*)
जीवन के सफ़र में राही मिलते हैं, बिछड़ जाने को
और दे जाते हैं यादें तन्हाई में तड़पाने को (*मुनीम जी*)
जाने वो कैसे लोग थे जिनके प्यार को प्यार मिला
हमने तो जब कलियां मांगीं, कांटों का हार मिला (*प्यासा*)
आज सजन मोहे अंग लगालो, जनम सफल हो जाये
हृदय की पीड़ा, देह की अग्नि, सब शीतल हो जाये (*प्यासा*)
जाने क्या तूने कही,जाने क्या मैंने सुनी
बात कुछ बन ही गयी (*प्यासा*)

इन इब्तिदाई फ़िल्मों के बाद ही से उसकी बुलंदी का दौर शुरू हुआ. उसने गाड़ी भी ख़रीद ली और कृष्ण जी के बंगले को छोड़कर चिनाय निवास चला गया. अब प्रोड्यूसर उसके पीछे थे] मगर वह इब्तिदाई डेढ़-दो बरसों की ज़िल्लतों को भूला नहीं था, इसलिए ज्यों-ज्यों वह कामयाब होता गया, उसका रवैया प्रोडयूसरों से सख़्त होता गया. उसे मालूम था कि वे उसके पास अपने फ़ायदे के लिए आते हैं, इसलिए वह हर काम अपनी शर्तों पर करता. अपनी मर्ज़ी के म्यूज़िक डायरेक्टर लेता और किसी से किसी क़िस्म की रियायत न करता.

हमारे एक प्रिय दोस्त जयदेव वर्मा थे,जिनका इसी साल (जनवरी 1987) में इंतिक़ाल हुआ. जयदेव ही ने सबसे पहले साहिर की ग़ज़लें लुधियाना से लखनऊ रेडियो पर तलत महमूद को भिजवायीं. चुनांचे ग़ालिबन 1944 में तलत ने लखनऊ रेडियो से साहिर की ग़ज़ल 'मुहब्बत तर्क की मैंने/ गिरेबां सी लिया मैंने' गायी. दूसरी ग़ज़लें भी गायीं. फिर बंबई में फ़िल्म, *हम दोनों* में ये दोनों इकट्ठे हुए.यह फ़िल्म हिट हो गयी,मगर उसके बाद साहिर ने जयदेव के लिए भी गाने लिखने से इनकार कर दिया. वजह सिर्फ़ यह थी कि प्रोड्यूसर ने साहिर से पूछे बिना उसे साइन कर लिया था. बहरहाल, लगभग तीस बरस तक वह बंबई की फ़िल्म इंडस्ट्री पर छाया रहा. उसने फ़िल्मी गानों को नयी बुलंदी बख़्शी. यह कोई मामूली कारनामा नहीं है, इसलिए कि बंबई की फ़िल्मी इंडस्ट्री बड़ी निष्ठुर और बेमुरव्वत है. वहां कोई किसी को पूछता नहीं है. एक कामयाब आदमी के पीछे उसे धक्का देकर उसकी जगह लेने वालों की

पूरी क़तार मुंतज़िर होती है. वहां अपने ज़ोरे-बाज़ू के अलावा कोई सहारा काम नहीं देता.

लाहौर से जाने के बाद साहिर की निजी ज़िंदगी के बारे में यहां के दोस्तों को ज़्यादा मालूमात नहीं रहीं. अलबत्ता जाने के चंद ही बरसों बाद फ़िल्मी दुनिया में उसकी कामयाबियों की ख़बरें ज़रूर मिलती रहीं. मैं जब 1979 में 31 बरस बाद पहली बार बंबई में उससे मिला तो ख़ुद उसकी ज़बानी चंद दिलचस्प वाक़ियात सुनने में आये. उनमें से एक दिलचस्प घटना डाकुओं के बारे में है. बहुत पहले सुनील दत्त ने, *मुझे जीने दो* के नाम से एक फ़िल्म बनायी थी,उसके गाने साहिर ने लिखे थे. जयदेव उसके म्यूज़िक डायरेक्टर थे, कहानी चंबल के डाकुओं के बारे में थी. इस फ़िल्म के लिए साहिर ने एक लोरी भी लिखी थी जो उस मासूम बच्चे को सुलाने के लिए उसकी मां गाती है जिसका बाप मशहूर और ख़तरनाक डाकू है. लोरी के बोल ये हैं :

तेरे बचपन को जवानी की दुआ देती हूं
और दुआ दे के परेशान सी हो जाती हूं
मेरे मुन्ने, मेरे गुलज़ार के नन्हे पौदे
तुझको हालात की आंधी से बचाने के लिए
आज मैं प्यार के आंचल में छुपा लेती हूं
कल ये कमज़ोर सहारा भी न हासिल होगा
कल तूझे कांटों-भरी राह पे चलना होगा
ज़िंदगानी की कड़ी धूप में जलना होगा
तेरे बचपन को जवानी की दुआ देती हूं
और दुआ दे के परेशान सी हो जाती हूं
तेरे माथे पे शराफ़त की कोई मुहर नहीं
चंद बोसे हैं मुहब्बत के, सो वो भी क्या हैं
मुझ सी मांओं की मुहब्बत का कोई मोल नहीं
मेरे मासूम फ़रिश्ते तू अभी क्या जाने
तुझको किस-किस के गुनाहों की सज़ा मिलनी है
दीन और धर्म के मारे हुए इंसानों की
जो नज़र मिलनी है तुझको वो ख़फ़ा मिलनी है
तेरे बचपन को जवानी की दुआ देती हूं
और दुआ दे के परेशान सी हो जाती हूं
बेड़ियां ले के लपकता हुआ क़ानून का हाथ
तेरे मां बाप से जब तुझको मिली ये सौग़ात
कौन लायेगा तेरे वास्ते ख़ुशियों की बरात
मेरे बच्चे तेरे अंजाम से जी डरता है
तेरी दुश्मन ही न साबित हो जवानी तेरी
कांप जाती है जिसे सोच के ममता मेरी
इसी अंजाम को पहुंचे न कहानी तेरी
तेरे बचपन को जवानी की दुआ देती हूं
और दुआ दे के परेशान सी हो जाती हूं

मुझे जीने दो रिलीज़ हुई तो कामयाब फ़िल्म क़रार दी गयी. दूसरे शहरियों की तरह उसे डाकुओं ने भी देखा और पसंद किया और वे इस फ़िल्म के शायर को तलाश करने लगे. उन्ही दिनों जब साहिर अपनी वालिदा और मामूंज़ाद बहन अनवर के साथ कार से बंबई से लुधियाना जा रहा था तो ग्वालियर और शिवपुरी के क़रीब उनकी कार रोक ली गयी.रोकने वाला इलाक़े का नामवर डाकू था. उसने साहिर को देखते ही अपना परिचय कराया

(साहिर को जानने वाले अंदाज़ा कर सकते हैं कि डाकू को अपने सामने पाकर उसकी हालत क्या हुई होगी). फिर उसने विस्तृत परिचय में यह भी बताया कि उसके नाम से बड़े-बड़े सेठ ही नहीं, पुलिस भी कांपती है और यह कि वह मुद्दत से साहिर की तलाश में था. बहरहाल डाकू ने बताया कि आपके आने की इत्तिला हमारे आदमियों ने दे दी थी. अब आपको हमारे साथ चलना होगा. हम, *मुझे जीने दो* के गाने ख़ासतौर से लोरी सुनने के बाद आपसे मिलना चाहते थे. बेफ़िक्र हो कर एक रात हमारे अड्डे पर गुजारिए. साहिर के बयान के मुताबिक़ वह शख़्स डाकू बिलकुल नहीं लगता था. बहुत ख़ूबसूरत, स्मार्ट और पढ़ा लिखा नौजवान आदमी था. वह इस क़ाफ़िले को लेकर अड्डे पर पहुंचा जहां बहुत से दूसरे डाकू भी थे. उनसे तआरुफ़ कराया गया. वहां की फ़ज़ा तो मुजरिमाना थी, मगर ये डाकू रातभर उन लोगों की ख़ातिर करते रहे. बेहतरीन शराब पिलायी गयी, खाना खिलाया गया, और रात भर महफ़िले-रक़्स जारी रही. बाद में उन्होंने साहिर से इसकी नज़्में सुनीं. सुबह होते ही उन्होंने इन लोगों को बड़े सम्मान के साथ रुख़्सत कर दिया.

कृष्ण अदीब ने, जो बहुत समय साहिर के साथ रहा, उन दिनों में साहिर के रोज़ो-शब का विस्तार से वर्णन किया है और कुछ दिलचस्प क़िस्से भी बयान किये हैं. एक क़िस्सा प्रकाश पंडित की बीवी की शिकायत के बारे में है. वाक़िया यह है कि साहिर बंबई से दिल्ली गया तो प्रकाश पंडित से मिलने उसके घर गया. उसे देखते ही पंडित की बीवी ने शिकायत की कि आपके दोस्त प्रकाश अजीब आदमी हैं. साहिर ने वजह पूछी तो उसने बताया, 'देखिए हमारा लड़का जवान हो गया है. उसके रिश्ते की बात चल रही थी. मैंने प्रकाश से कहा कि बात पक्की करने से पहले आप ज़रा लड़की देख आइए. घर से लड़की देखने गये और आधी रात के वक़्त नशे में धुत वापस आये, और लड़की के बारे में भी कुछ नहीं बताते.'

साहिर ने प्रकाश से पूछा तो उसने कहा, 'यार मैं लड़की देखने ज़रूर गया था, मगर वह कमबख़्त इतनी ख़ूबसूरत निकली कि मैं अपने बेटे से हसद में जलने लगा और सीधा शराबख़ाने पहुंच गया. मैं क्या, उसे देखकर कोई भी शराबख़ाने पहुंच सकता था.'

दोस्तों ने प्रकाश पंडित को बहुत फटकारा, कृष्ण अदीब ने तो यह भी कह दिया कि पंडित तुम्हें अपने बेटे से नहीं जलना चाहिए. ख़ास तौर पर इसलिए भी कि हम सब जानते हैं तुम्हारी बीवी बहुत ख़ूबसूरत है. साहिर ने क़हक़हा लगाते हुए कहा, 'ठीक है, इसकी बीवी ख़ूबसूरत है, सुघड़ है और शायद इसको उससे बेहतर बीवी नहीं मिल सकती थी, मगर इस बात का क्या सबूत है कि जब इसका बाप रिश्ते के लिए इसकी बीवी को देखने गया था उस वक़्त वह वहां से सीधा शराबख़ाने न गया हो.'

साहिर फ़िक़रेबाज़ी बहुत करता था. महफ़िलों में वह आमतौर से ख़ामोश रहता लेकिन चंद क़रीबी दोस्तों में बहुत चहकता था. मालूम नहीं उसे अपने बारे में बदसूरत होने का कम्पलैक्स क्यों हो गया था. हमें तो वह हमेशा बहुत ख़ूबसूरत लगा. उसके मआशक़ों का शुमार किया जाये तो यह फ़ैसला करना मुश्किल नहीं है कि विपरीत जिन्स के लिए भी उसमें बड़ी कशिश थी.

साहिर ने बंबई की फ़िल्मी दुनिया में पच्चीस-तीस बरस तक इज़्ज़त-आबरू के साथ काम किया. वह फ़िल्मी शायरों में हर लिहाज़ से सबसे आगे रहा. उसने गानों के सबसे ज़्यादा पैसे वसूल किये. पद्मश्री का सम्मान हासिल किया, दौलत-शोहरत-इज़्ज़त सब कुछ पाया, जिन चीज़ों की आरज़ू थी और जो चाहा था सब पा लिया. इस लिहाज़ से वह सबसे ख़ुशक़िस्मत आदमी था, लेकिन बचपन ही से उस पर जो ख़ौफ़ छा गया था, उससे आख़िरी वक़्त तक छुटकारा हासिल न कर सका. शायद उसे ख़ुद भी इतनी कामयाबियों की उम्मीद नहीं थी, इसलिए उसने गोश्त-पोस्त के बने हुए दूसरे आम इंसानों की तरह अपनी ज़िंदगी बनाने की कभी कोशिश नहीं की. उसने शादी नहीं की, इसलिए कि एक तो इब्तिदाई ज़िंदगी में उसे औरतों के बारे में कुछ तल्ख़ तजुर्बात हुए. दूसरे वह किसी मुक़ाम, किसी मंज़िल पर पराजय से दोचार होने का ख़तरा मोल नहीं लेता था. औरतों के बारे में एक बेमायनी ख़ौफ़ उसके दिल में बस गया था. चुनांचे उसने कई इश्क़ किये, मगर एक ख़ास मंज़िल तक पहुंच कर वह हमेशा

भाग जाता. ग़ालिबन एक ही इश्क़ में वह संजीदा था. वह था ईशर कौर से इश्क़. इसमें नाकामी के बाद वह दो तीन बरस उसे याद करता और नज़्में लिखता रहा. उन दिनों उसका यह दस्तूर था कि वह रात को आठ-नौ बजे दोस्तों को साथ लेकर कॉलेज की उस दीवार पर जा बैठता जहां वह ईशर कौर से मुलाक़ातें किया करता था. यह दीवार उसकी नहीं, हम सबकी ज़िंदगियों में बड़ी महत्वपूर्ण हो गयी थी. उसके घर से कॉलेज का फ़ासला डेढ़ मील के क़रीब था. सर्दी, गर्मी, आंधी, बारिश, तूफ़ान, कुछ भी क्यों न हो, उस दीवार तक रोज़ाना हमारा पहुंचना ज़रूरी था. यहां उसकी बहुत सी नज़्मों की बुनियाद पड़ी. तारों भरी रातों में जब हवा सीटियां बजाती हुई गुज़रती और ख़ामोशी अपनी ज़बान खोलती, वह हमारे साथ पहरों इस दीवार पर बैठा रहता. हर शख़्स अपने अपने ख़यालात में गुम होता, मगर साहिर हफ़्ते दो हफ़्ते में किसी नज़्म का ख़याल यहीं से लेकर उठता. कभी-कभी मैं सोचता हूं यह दीवार उसकी ज़िंदगी में न आती तो शायद वह इतनी ख़ूबसूरत नज़्में न लिख सकता. कभी-कभी तो यूं लगता है कि उसे ईशर कौर की नहीं, इस दीवार की ज़रूरत थी. उस ज़माने में, फिर उसके बाद भी, वह बहुत बेचैन रहता. ख़ासतौर से रात उसके लिए बेचैनियों का पैग़ाम लाती. लुधियाना और लाहौर में हमने अधिकांश रातें आंखों में गुज़ारीं, मगर उस वक़्त लहू गर्म था. रातें ठंडी, प्यारी और दर्द-आश्ना मालूम होती थीं. ये रातें हमारे साथ-साथ चलतीं, सरों पर साया किये, ठंडी हवा देती हुई ये ग़मनाक रातें फिर नहीं आयीं. आयीं भी तो ज़माने ने हमारे और उनके दरमियान दीवारें खड़ी कर दी थीं.

बंबई जाने से पहले लाहौर में तक़रीबन छ: माह के क़याम का ज़माना बहुत अच्छा था. होटलों में अदीबों की यादगार महफ़िलें जमती थीं, बारी अलीग, अबदुल्लाह बट, गोपाल मित्तल, राम प्रकाश अश्क, अब्दुलमजीद भट्टी, देवेंद्र सत्यार्थी और बहुत से दूसरे अदीब इन महफ़िलों की रौनक़ होते. यहां इंकलाब के नक़्शे बनते, अदबी मोर्चे जीते जाते और हर शाम चाय की प्यालियों में तूफ़ान उठते, मगर इन महफ़िलों में कभी किसी ने छोटेपन का प्रदर्शन नहीं किया. असहमति भी होती मगर झगड़ा कभी नहीं होता था. इसी ज़माने में मंटो और इस्मत एक मुक़दमे के सिलसिले में बंबई से लाहौर आये तो शहर की अदबी महफ़िलों की रौनक़ दोबाला हो गयी. इन दोनों की जिन कहानियों पर मुक़दमा चला था वे *अदबे-लतीफ़* में शाय हुई थीं, चौधरी बरकत अली मरहूम ने यह मुक़दमा किस तरह लड़ा, वह एक अलग दास्तान है और अदब के इतिहासकारों के लिए उसे रिकार्ड पर लाना ज़रूरी है.

साहिर लाहौर की इन अदबी महफ़िलों में बहुत कम बोलता, मगर फ़िक़रा चुस्त करने का कोई मौक़ा हाथ से जाने नहीं देता था. एक दिन ऐसी ही महफ़िल में किसी शरीके-महफ़िल ने एक ख़बर पर एतराज़ किया. ख़बर यह थी कि एक तक़रीब में जेल से रिहा होने वाले एक तरक़्क़ी-पसंद सियासी कारकुन के गले में एक हसीन लड़की ने फूलों का हार डाल कर उसका स्वागत किया. एतराज़ करने वाले बुज़ुर्ग इस बे-राह-रवी पर नाराज़ हो रहे थे. उनकी बदक़िस्मती कि उन्होंने इस बारे में साहिर की राय भी पूछी. साहिर ने कहा, 'जी हां, उस साले के गले में तो फांसी का फंदा होना चाहिए था.' दोस्तों की महफ़िल में वह ख़ूब चहकता. उसकी याददाश्त बला की थी. फ़ैज़ साहिब की तरह उसने भी किसी मुशायरे में कभी बयाज़ या किताब देखकर शे'र नहीं सुनाये. उसे अपना पूरा कलाम ज़बानी याद था. 1954-55 में वह बंबई की फ़िल्मी इंडस्ट्री में मुक़ाम पैदा कर चुका था. उस वक़्त उसे लाहौर और यहां के दोस्त भी याद आते थे. फ़ैज़ुल-हसन के नाम 1954 का लिखा हुआ उसका ख़त यह ज़ाहिर करता है कि उसकी ख़ुशहाली के दिन शुरू हो चुके थे और वह पुराने दोस्तों को याद कर रहा था.

इसके बाद आहिस्ता-आहिस्ता शोहरत, दौलत और इज़्ज़त में इज़ाफ़े के साथ साथ वह माज़ी को भूलने लगा, सख़्त चिड़ाचिड़ा हो गया. वह एक अप्रकृतिक ज़िंदगी गुज़ार रहा था जिसका रद्दे-अमल यही हो सकता था. चुनांचे उसने शराब को सहारा बना लिया. हर क़िस्म के लोग उसकी महफ़िलों में आते थे, मगर वह हर महफ़िल में तन्हा होता था. जो लोग हर शाम आते वह उन्हें ख़ुश-आमदीद कहता, मगर अंदर कहीं उसके दिल में यह बात बैठी हुई थी कि उसका दोस्त, उसका ग़म-गुसार कोई नहीं. वह दोस्तों को बेहतरीन शराब पिलाता, बेहतरीन खाना खिलाता, उसके बाद सबको गालियां देता. यह सिलसिला बरसों जारी रहा. यहां तक कि लोग उससे मिलने से कतराने लगे और वह और तन्हा हो गया.

सबसे बड़ा सदमा

उसी ज़माने में उसे अपनी ज़िंदगी के सबसे बड़े सदमे से दोचार होना पड़ा. यानी उसकी वालिदा वफ़ात पा गयीं. उसके लिए तो यही एक शरण थी, मां के बग़ैर ज़िंदा रहने के बारे में उसने कभी सोचा तक नहीं था. हैदराबाद, दिल्ली, इलाहाबाद, लुधियाना—जहां कहीं भी वह मुशायरों के लिए जाता मां साथ होती थीं. उनके जाने के बाद उसके लिए इस दुनिया में कुछ बाक़ी नहीं रहा. चुनांचे उस ज़माने में उसे पहला हार्ट-अटैक हुआ. उचित, सामयिक और बेहतरीन इलाज से वह जल्द ही स्वस्थ हो गया, मगर ख़ौफ़ और तन्हाई के साये कुछ और बढ़ गये. शराब छूट गयी. ज़िंदगी की पीड़ा में कुछ और इज़ाफ़ा हो गया. रातें कुछ और बोझल और भारी हो गयीं कामयाबी और कामरानी की अंतिम सीमाओं पर पहुंच कर उसे सामने कुछ दिखायी न देता था. वह चलते-चलते बंद गली के आख़िरी सिरे पर आ गया था, और समझ नहीं पा रहा था कि उसके आगे क्या है. बेमिसाल कामयाबी ने उस पर ज़िंदगी के ख़ुशी के दरवाज़े खोले नहीं थे,बंद कर दिये थे. दोस्त उससे बचने लगे, मजलिसी ज़िंदगी नापैद हो गयी. उसका ज़्यादा वक़्त घर ही पर गुज़रता और इस तरह कि वह टेलीफ़ोन उठा कर बात सुनने का रवादार भी न रहा.

तीस साल बाद

1948 के बाद दिसंबर 1978 में मुझे पहली बार हिंदुस्तान जाने का मौक़ा मिला. वालिदा की ज़िंदगी में, मैं एक दफ़ा उसी मां को देखना चाहता था जिसकी उम्र-भर की तपस्या काम आयी थी और उसका बेटा दौलत, शोहरत और इज़्ज़त के मज़े ले रहा था. मगर बदक़िस्मती से मुझे हिंदुस्तान जाने की इजाज़त न मिल सकी. फिर वालिदा की वफ़ात और साहिर की बीमारी की ख़बर पढ़ कर मैंने बहुत कोशिश करके हिंदुस्तान जाने की इजाज़त हासिल की और दिसंबर 1978 के अंत में मेरी बीवी और मैं हिंदुस्तान पहुंचे. हम एक हफ़्ता दिल्ली में रुके. हमारे ज़्यादातर दोस्तों ने मुझे साहिर के यहां ठहरने से मना किया, बल्कि ख़बरदार किया. बंबई से कैफ़ी आज़मी का पैग़ाम मिला कि हम लोग उसके यहां ठहरें. अली सरदार जाफ़री ने फ़ोन किया कि साहिर के यहां ठहरोगे तो तकलीफ़ में रहोगे, क्योंकि साहिर वह नहीं रहा जो 1948 में तुम लोगों को छोड़कर आया था. मगर मैं तो गया ही उससे मिलने के लिए था. हुकूमते-पाकिस्तान से हिंदुस्तान जाने की इजाज़त भी इसी बुनियाद पर हासिल की थी. मैंने किसी के मश्वरे पर अमल नहीं किया और 31 दिसंबर 1978 की सुबह को फ्रंटियर मेल से उतर कर टैक्सी पकड़ी और आठ बजे सुबह हम मियां बीवी उसके घर में थे.

वह बदला हुआ हरगिज़ नहीं था, अलबत्ता टूटा हुआ ज़रूर था. उसे देखकर, उससे मिलकर उसके साथ रह कर ख़ुशी नहीं हुई. ख़ुशी सिर्फ़ इस बात की थी कि पुराने दोस्त से तीस साल बाद मुलाक़ात हो गयी है और यह कि वह ख़ुशहाल और फ़िक्रों से आज़ाद है. वह बातें भी बिल्कुल वैसी ही करता रहा था जैसे पहले किया करता था. दोस्तों के डर के विपरीत मेरे साथ उसने कोई ज़्यादती भी नहीं की. रोज़ाना सुबह हम तैयार हो कर निकलते तो वह कहता, 'मेरी गाड़ी ले जाओ, मुझे कहीं नहीं जाना. बातें भी बहुत हुईं—पुराने दोस्तों, शनासाओं की, गुज़रे हुए दिनों की, गली-कूचों की, उन रातों की जो 'इक दर्दे-मुश्तरक आवारगी,हम में कैसी दोस्ती?' के दौर की रातें थीं. चढ़ती जवानी के क़िस्सों की, बीते दिनों की, भेदभरी लज़्ज़तों की. लेकिन मुझे हर वक़्त यही महसूस होता रहा कि सामने बैठे हुए इस शख़्स के वजूद में से कुछ निकल कर ग़ायब हो चुका है.

मैंने कई बार सोचा, क्या ऐसा होता है कामयाब आदमी? ज़िंदगी में कामयाबी, शोहरत, इज़्ज़त और दौलत हासिल करने की आरज़ू क्या वह इसी दिन के लिए कर रहा था? बीमारी ने उसके ख़ौफ़ में और भी इज़ाफ़ा कर दिया था. वह घर से निकलता ही नहीं था, रात को बेडरूम में जाकर सोता लेकिन सुब्ह-सवेरे ड्राइंगरूम में सोफ़े पर लेटा नज़र आता. पहले-पहल तो मैंने इसे बस संयोग समझा, लेकिन बाद में बात समझ में आयी. उसका

बेडरूम दूर एक कोने में था. वह सोने के लिए जाता तो उसे यह ख़याल परेशान करता कि रात को दिल का दौरा पड़ा तो यहां से किसी तक उसकी आवाज़ नहीं पहुंचेगी. चुनांचे वह किचन से मिले हुए ड्राइंगरूम में आकर सोता. इलाहाबाद तक, जहां उसके ख़ानदान के लोग आबाद थे, सफ़र करना पड़ता तो यह सफ़र दो गाड़ियों में होता. एक गाड़ी में वह, वालिदा और बहन होते, दूसरी ख़ाली गाड़ी पीछे-पीछे चलती. ताकि गाड़ी ख़राब हो जाये तो दूसरी को इस्तेमाल में लाया जा सके. उसे हफ़्तों कहीं जाना नहीं होता था मगर ड्राइवर को हुक्म था कि वर्दी पहन कर सुबह आठ बजे डयूटी पर आ जाये, शायद डाक्टर को बुलाने की ज़रूरत पड़ जाये. मैंने उससे कहा कि साहिर लाहौर तुम्हारा शहर है, वहां तुम्हारे बहुत चाहने वाले हैं. एक दफ़ा तो वहां आ जाओ. कहने लगा, ज़रूर आऊंगा, मगर सफ़र बहुत लंबा है, सेहत इजाज़त नहीं देती. सबने कहा, 'हवाई जहाज़ से आ जाओ'. मगर यह काम वह कर ही नहीं सकता था. गुर्दे में पथरी थी जो ऑप्रेशन से निकाली जा सकती थी, मगर ऑप्रेशन दिल की बीमारी की वजह से मुमकिन नहीं था, इसलिए ज़िंदगी के आख़िरी तीन चार बरस उसने कुछ बीमारी में मुब्तिला हो कर और कुछ बीमारी को अपने ऊपर ओढ़ कर बसर किये. उसकी हालत पर रहम आता था. वह दिन भर अपनी मोटी मोटी आंखें खोल कर शून्य में तकता रहता, जैसे उसे गुमशुदा कड़ी की तलाश हो. मुझे यक़ीन है कि अगर वह शादी कर लेता, उसके बच्चे होते तो उसे किसी गुमशुदा कड़ी की तलाश की ज़रूरत पेश न आती. वह इस लिहाज़ से ख़ुशनसीब आदमी था कि उसने जो कुछ चाहा, पा लिया. लाखों लोग ज़िंदगी भर संघर्ष करते हैं, भागदौड़ में उम्र गंवा देते हैं, मेहनत करते हैं मगर अभीष्ट हाथ नहीं आता. साहिर ने जो कुछ चाहा था हासिल कर लिया था, मगर सब कुछ पाकर भी वह तन्हा था. उसके दिलोदिमाग़ पर बोझ था. बंबई में उसके घर, उसके साथ रह कर मैं हमेशा यही सोचता कि ये साहिर वह क्यों नहीं है जो कॉलेज की दीवार पर बैठ कर कायनात को जीतने के मंसूबे बनाया करता था, जो भूख, फ़ाक़े और मजबूरी में हंसता था. आज यह किस ख़ौफ़ में मुब्तिला है? किस मंज़िल की तलाश में है?

निजी ज़िंदगी के इस सारे उतार-चढ़ाव में एक चीज़ उससे कोई नहीं छीन सका. अपनी कला के साथ उसकी वफ़ा. उसने साफ़ सीधी भाषा में देश के करोड़ों अवाम से जो संवाद अठारह बरस की उम्र में शुरू किया था वह साठ बरस की उम्र तक उसी जोशो-जज़्बे से जारी रहा. वह लिखता रहा लोगों के लिए, बेहतर भविष्य के लिए, अमन और ख़ुशहाली के लिए. उसने फ़िल्मी शायरी को एक नया हुस्न और नयी दिशा दी मगर वह अपने असल काम, रचना के काम को नहीं भूला और उसने प्रेम, आनंद और अमन के गीत गाने बंद नहीं किये. वह लिखता रहा अपने लाखों पढ़ने वालों के लिए, उनके दिलों को गरमाने और उन्हें नया उत्साह देने के लिए. और इस फ़र्ज़ को निभाने में उसने उस रास्ते को बाल भर भी नहीं छोड़ा जिसे उसने किशोरावस्था में अपनाया था. मुझे याद है जब लखनऊ के मुशायरे में उसने अपनी मशहूर नज़्म, 'परछाइयां' पढ़ी तो सय्यद सज्जाद ज़हीर ने ख़ुश होकर मुझे ख़त लिखा: 'तुम्हारे दोस्त ने ऐसी आला दर्जे की नज़्म लिखी है जो मुद्दतों याद रहेगी. लखनऊ में उसने मुशायरा लूट लिया'. इसका आग़ाज़ कितना ख़ूबसूरत है :

जवान रात के सीने पे दूधिया आंचल
मचल रहा है किसी ख़ाबे-मरमरीं की तरह
हसीन फूल, हसीं पत्तियां, हसीं शाख़ें
लचक रही हैं किसी जिस्मे-नाज़नीं की तरह
फ़ज़ा में घुल से गये हैं उफ़ुक़[2] के नर्म ख़ुतूत[3]
ज़मीं हसीं है ख़्वाब की सरज़मीं की तरह
तसव्वुरात[4] की परछाइयां उभरती हैं
कभी गुमान[5] की सूरत, कभी यक़ीं की तरह
वो पेड़ जिनके तले हम पनाह लेते थे
खड़े हैं आज भी साकित[6] किसी अमीं[7] की तरह

इन्ही के साये में फिर आज दो धड़कते दिल
ख़मोश होंटों से कुछ कहने सुनने आये हैं
न जाने कितनी कशाकश[8] से, कितनी काविश[9] से
ये सोते-जागते लम्हे चुरा के लाये हैं

ये एक काफ़ी लंबी नज़्म है और लखनऊ के मुशायरे में साहिर को उसे पढ़ने में लगभग एक घंटा लगा, मगर हज़ारों का मजमा दम साधे बैठा रहा. इस नज़्म में उसने निहायत ख़ूबसूरती और महारत से विभिन्न बहरों (छंद योजनाओं) का इस्तेमाल किया. मसलन जंग शुरू हुई और उसने मुहब्बतों को फ़ना के घाट उतार दिया, इसका मंज़र खींचने के लिए उसने इस तरह के अशआर लिखे :

इंसां की क़ीमत गिरने लगी, अजनास के भाव बढ़ने लगे
चौपाल की रौनक़ घटने लगी, भर्ती के दफ़ातिर बढ़ने लगे

आख़िर में उसने जंग के ख़िलाफ़ अमन की ज़रूरत का ज़िक्र किया :

कहो कि आज भी हम सब अगर ख़मोश रहे
तो इस दमकते हुए ख़ाक-दां[10] की ख़ैर नहीं
जुनूं की ढाली हुई एटमी बलाओं से
ज़मीं की ख़ैर नहीं आसमां की ख़ैर नहीं
गुज़श्ता जंग में घर ही जले मगर इस बार
अजब नहीं कि ये तन्हाइयां भी जल जायें
गुज़श्ता जंग में पैकर[11] जले मगर इस बार
अजब नहीं कि परछाइयां भी जल जायें
तसव्वुरात की परछाइयां उभरती हैं

फ़िल्मी दुनिया ऐसी है कि उसमें जाकर अच्छे अच्छे शायर उसी के हो रहते हैं. उनका रिश्ता अदब और शे'र की रचना से कट जाता है. कुछेक को छोड़ कर, जिनमें जोश, क़तील, अख़्तरुल-ईमान, कैफ़ी और मजरूह शामिल हैं, बाक़ी सब शायर फ़िल्मी गाने लिखने के बाद साहित्य रचना से दूर हो गये या उनका रचनास्रोत सूख गया, मगर साहिर ने जहां ख़ूबसूरत फ़िल्मी शायरी की, वहां शे'र के हुस्न को भी क़ायम रखा. 1969 में जश्ने-ग़ालिब के मौक़े पर उसने दिल्ली के एक समारोह में जो नज़्म पढ़ी उसके दो बंद ध्यान देने योग्य हैं. वाज़िह रहे कि इस तक़रीब में सरकारी अफ़सर बड़ी संख्या में शरीक थे :

जिन शहरों में गूंजी थी ग़ालिब की नवा[12] बरसों
उन शहरों में अब उर्दू बेनामो-निशां ठहरी
आज़ादी-ए-कामिल[13] का ऐलान हुआ जिस दिन
मातूब[14] ज़बां ठहरी, ग़द्दार ज़बां ठहरी

जिस अहदे-सियासत ने यह ज़िंदा ज़बां कुचली
उस अहदे-सियासत को मरहूमों[15] का ग़म क्यों है?
ग़ालिब जिसे कहते हैं उर्दू ही का शायर था
उर्दू पे सितम ढाकर ग़ालिब पे करम क्यों है?

बंबई जाने से पहले और बंबई जाने के बाद उसने अनेक बार प्रेम किया मगर उन सबका नतीजा साधारण

अर्थों में नाकामी के रूप में ज़ाहिर हुआ. मगर ये नाकामियां वह ख़ुद मोल लेता था. वह आज़ादी,मुहब्बत और ख़ुशियों का उद्घोषक था. वह मुहब्बत करता था, नज़्में लिखता था, इसके सिवा उसका और कोई मक़सद नहीं था. जैसा कि मैं पहले कह चुका हूं, ईशर कौर के बाद उसने किसी औरत से इस हद तक प्यार नहीं किया. ईशर कौर की जुदाई में वह कई माह रोता रहा. एक दिन तो उसने ऐलान कर दिया कि वह अगली सुबह उसके गांव रकबा जायेगा और उसके वालिद से बात करेगा. हम सब दोस्त उसे इस ख़तरनाक मिशन से रोकने की कोशिश करते रहे. आधी रात के क़रीब वह आख़िरकार मान गया कि अगली सुबह वह वहां नहीं जायेगा. हमें शक था कि यह ऐलान उसने हमारी बहस और ज़िद से तंग आकर महज़ टालने के लिए किया है. चुनांचे हमने फ़ैसला करके फ़ैज़ुल-हसन को उसके घर रहने और वहीं सोने पर मजबूर किया ताकि साहिर अपने इरादे को पूरा न कर सके. हमारे आने के बाद साहिर ने फ़ैज़ुल-हसन चौधरी को इतना गर्माया,और मुहब्बत, दोस्ती, ऐतिहासिक कारकों की समझ और दूसरी जज़्बाती बातों से ऐसा क़ायल किया कि वह सुबह की गाड़ी से उसके साथ जाने के लिए तैयार हो गया. चुनांचे ये दोनों सुब्ह-सवेरे उस प्रेयसी के गांव पहुंचे. दिलचस्प बात यह है कि साहिर पीछे था और फ़ैज़ुल-हसन आगे. उसी ने जाकर उसके घर का दरवाज़ा खटखटाया. संयोग से दरवाज़ा ख़ुद माशूक़ा-ए-दिलनवाज़ ने खोला और उसे देखते ही फ़ौरन कहा, 'तुम्हारी क़िस्मत अच्छी है, मेरा बाप घर पर नहीं है. अगर वह आ गया तो तुम्हारे तीन-चार टुकड़े करके यहां आंगन में दफ़न कर देगा और किसी को पता भी नहीं चलेगा, इसलिए फ़ौरन भाग जाओ.' चुनांचे फ़ैज़ुल-हसन के बयान के मुताबिक़, माशूक़ा-ए-दिलनवाज़ के शीरीं लबों से ये बातें सुनकर वह पहली दफ़ा होश में आया और वहां से सर पर पांव रख कर भागा. साहिर भी साथ था. ये लोग बमुशकिल बुढ़ेवल पहुंचे और अगली गाड़ी से लुधियाना के लिए रवाना हो गये.

उस ज़माने में साहिर का ईशर कौर से संपर्क ज़रूर रहा. हमारा एक दोस्त प्रकाश *होज़री वर्कर यूनियन* का जनरल सेक्रेट्री था. 1947 में मुसलमान दोस्तों को बचाता हुआ कट्टर हिंदुओं और सिखों के हाथों मारा गया था. उसकी बीवी रकबा की रहने वाली थी. साहिर उसे पैग़ाम देकर उसके गांव भेज देता, वह वहां एक दो दिन रुक कर जवाबी पैग़ाम लेकर लुधियाना आ जाती. इसी दौरान में एक बार हर तरह की रुकावट और अपने बाप की सख़्तियों के बावजूद ईशर कौर छुप कर घर छोड़ आयी, और साहिर के यहां आ गयी. यहां उसने एक दिन और एक रात गुज़ारी. मालूम नहीं इन दोनों में क्या बातचीत हुई कि अगले दिन चली गयी. घर तो जा नहीं सकती थी, बंबई चली गयी और वहां उसने अपने एक दूर के रिश्तेदार से शादी कर ली. साहिर ने हमें कभी यह नहीं बताया कि वह उसके यहां आकर क्यों चली गयी. शायद इसमें उसका अपना क़सूर था कि वह ज़िंदगीभर साधारण सांसारिक ज़िम्मेदारियों से भागता ही रहा था. ईशर कौर से भी कोई ऐसी ही बात हुई होगी कि वह उसके यहां से चली गयी. उसके जाने के बाद वह बंबई जाने के लिए बरसों बेक़रार रहा. गाने लिखने के अलावा उसका बंबई जाने का एक मक़सद यह भी था कि वहां पर ईशर कौर मौजूद है. लेकिन बंबई में दो साल के दौरान इसने उससे मिलने और उसे ढूंढ़ने की कभी कोशिश नहीं की. अलबत्ता वह यह ज़रूर कहता था कि मैं नाम पैदा कर लूंगा तो वह ख़ुद मिलने आ जायेगी. यह मालूम नहीं हो सका कि दुबारा जब वह बंबई गया और जब उसने नाम भी बहुत पैदा कर लिया तो उनकी मुलाक़ात हुई या नहीं. मैं जब 1979 में उससे मिला, उस वक़्त उससे यह सवाल पूछना निरर्थक लगा. 1983 में साहिर की मृत्यु के बाद मैं दिल्ली गया तो अमृता प्रीतम ने भी मुझसे यही सवाल किया कि साहिर बाद में कभी ईशर कौर से मिला या नहीं. अमृता का ख़याल था कि मुझे इस बात की तहक़ीक़ात करनी चाहिए, बल्कि एक तहक़ीक़ी मक़ाला या किताब लिखनी चाहिए. अफ़सोस कि वादे के बावजूद मैं यह काम नहीं कर सका.

साहिर नौजवानों को अपना समर्थक बनाने की बड़ी सलाहियत रखता था, अगरचे अपनी इस ख़ूबी से उसने कभी ज़्यादा काम नहीं लिया, इसलिए कि वह प्रैक्टिकल आदमी नहीं था. वह आरंभ से अंत तक शायर था, आर्टिस्ट था, फ़नकार था. उसके हम-ख़याल सियासी कार्यकर्ता उसकी इस कमज़ोरी पर हमेशा एतराज़ करते रहे,

मगर मैं समझता हूं यह उनकी भूल थी, इसलिए कि बड़ा शायर या बड़ा अदीब अपनी कला के ज़रिये ही लोगों को प्रेरित कर सकता है और उसकी यह कोशिश अधिकांशत: बड़े-बड़े सियासी कारकुनों की उम्रभर के परिश्रम से ज़्यादा प्रभावी और टिकाऊ होती है. बड़ी बात यह है कि ज़िंदगी के हर दौर में साहिर ने अवाम से मुहब्बत करके उस रिश्ते को क़ायम रखा जो उसने महरूमियों और ग़रीबी के दौर में जोड़ा था. सब कुछ पा लेने और भावनात्मक अतृप्ति के बावजूद उसने अपने दुखों के बारे में कम और दूसरों के बारे में ज़्यादा लिखा. अफ़सोस कि वह हमारे दरमियान मौजूद नहीं है, लेकिन उनसठ वर्ष और कुछ माह की ज़िंदगी में उसने हमें जो कुछ दिया वह उसे हमेशा याद रखने के लिए बहुत है. अपनी मौत से चंद माह पहले एक फ़िल्मी गाने में उसने कहा था कि मैं पल दो पल का शायर हूं, और मुझ से बेहतर कहने और तुम से बेहतर सुनने वाले अभी और बहुत आयेंगे.

उसे अब मैं कैसे और कहां इत्तिला दूं कि तुमसे बेहतर कहने वाले और हमसे बेहतर सुनने वाले अब कभी नहीं आयेंगे, इसलिए कि वह दौर वापस नहीं आयेगा जिसकी हम पैदावार हैं.

अनुवाद: अर्जुमंद आरा

साभार: *फ़न और शख़्सियत:* साहिर लुधियानवी *नंबर*, सं. साबिर दत्त, सरवर शफ़ी; बंबई, अंक 17-18, फ़रवरी 1985, पृ.143-148

---

1 'र' पर नुक़ता या बिंदु लगाने से शब्द 'रहमत' बदल कर 'ज़हमत' हो जाता है, जिसका अर्थ रहमत (कृपा) का विलोम, यानी तकलीफ़/पीड़ा हो जाता है. 2 क्षितिज 3 रेखाएं 4 कल्पनाएं 5 भ्रम 6 निश्चल 7 अमानतदार, संरक्षक 8 संघर्ष 9 प्रयत्न 10 धरती 11 शरीर, मूर्ति, आकार 12 आवाज़ 13 पूर्ण स्वतंत्रता 14 प्रकोप-प्रताड़ना का शिकार 15 दिवंगत

कोरे-काग़ज़ की दास्तान

अमृता प्रीतम

25-26 अक्तूबर 1980 की दरमियानी रात दो बजे के क़रीब एक फ़ोन आया कि साहिर नहीं रहे तो पूरे बीस दिन पहले की वह रात उस रात में मिल गयी जब मैं बल्गारिया में थी. डाक्टरों ने कहा था तुम्हारे दिल की हालत चिंताजनक है. उस रात मैंने नज़्म कही : 'अज्ज आपणे दिल दरिया दे बिच्च मैं आपणे फुल्ल प्रवाहे ...' और अचानक मैं अपने हाथों की तरफ़ देखने लग गयी कि इन हाथों ने अपने दिल के दरिया में तो अपनी हड्डियां बहायी थीं, फिर ये हड्डियां कैसे बदल गयीं? ये फ़रेब हाथों ने खाया था या मौत ने?

वक़्त सामने आ गया जब दिल्ली में पहली एशियन राइटर्ज़ कांफ्रेंस हुई थी. शायरों और अदीबों को उनके नामों के डेलीगेट बैज दिये गये जो सबने अपने कोटों पर लगा रखे थे. साहिर ने अपने कोट पर मेरे नाम वाला बैज लगा लिया था और अपने नाम का बैज अपने कोट से उतार कर मेरे कोट पर लगा दिया था. उस वक़्त किसी की नज़र पड़ी और उसने कहा हमने ग़लत बैज लगा रखे हैं. साहिर हँस दिया था कि बैज देने वालों से ग़लती हुई होगी, लेकिन इस ग़लती को हमने दुरुस्त करना था, न किया. अब बरसों बाद जब रात के दो बजे ख़बर सुनी कि साहिर नहीं रहे तो लगा जैसे मौत ने अपना फ़ैसला उस बैज को पढ़ कर किया जो मेरे नाम वाला था और साहिर के कोट पर लगा हुआ था.

मेरी और साहिर की दोस्ती में कभी भी अल्फ़ाज़ आड़े नहीं आते. ये दो ख़ामोशियों का एक हसीं रिश्ता था. मैंने उसके लिए जो नज़्में कही थीं उनके संकलन को साहित्य अकादमी एवार्ड मिला. प्रेस रिपोर्टर मेरी तस्वीरें लेने लगे. मैंने उस वक़्त महसूस किया कि मैं काग़ज़ पर कुछ लिख रही हूं.

फ़ोटोग्राफ़र जब तस्वीर लेकर चले गये तो काग़ज़ उठाकर देखा. इस पर बार-बार सिर्फ़ एक लफ़्ज़ लिखा गया था: साहिर... साहिर... साहिर...

अपने इस दीवानगी के आलम पर बाद में घबराहट हुई कि सुबह जब अख़बार में तस्वीर छपेगी और तस्वीर वाले काग़ज़ पर से यह नाम भी पढ़ा जायेगा तो कैसी क़यामत आयेगी? लेकिन क़यामत नहीं आयी. तस्वीर छपी तो काग़ज़ बिल्कुल कोरा दिखायी दे रहा था.

यह अलग बात है कि बाद में यह हसरत रही कि ख़ुदाया! यह काग़ज़ जो ख़ाली दिखायी दे रहा था, यह ख़ाली काग़ज़ नहीं था. शायद यही कोरे-काग़ज़ का रिश्ता था कि आज से तीस बरस पहले जब *तल्ख़ियां* का एक नया एडीशन शाय हो रहा था तो साहिर ने मुझे उसका दीबाचा लिखने के लिए कहा था, मगर मेरे एहसासात मेरी तरह ख़ामोश रहे. न जाने कोरे-काग़ज़ की यह कैसी ज़िद थी. मैं *तल्ख़ियां* का दीबाचा नहीं लिख पायी.

कोरे-काग़ज़ की आबरू आज भी उसी तरह है. मैंने अपनी आपबीती, *रसीदी टिकट* में अपने प्रेम-प्रसंग की दास्तान लिखी थी. साहिर ने पढ़ी थी. लेकिन उसके बाद किसी भी मुलाक़ात में *रसीदी टिकट* का ज़िक्र न मेरी ज़बान पर आया, न साहिर की ज़बान पर.

आज जब साहिर दुनिया में नहीं और *तल्ख़ियां* का एक नया एडीशन छप रहा है तो उसके पब्लिशर ने चाहा है कि इसका दीबाचा लिख दूं. नज़्मों के बारे में कुछ नहीं कहूंगी क्योंकि साहिर की शायरी का मुक़ाम लोगों की रूह और तारीख़ की रगों का हिस्सा बन चुका है.

मुझ पर साहिर का क़र्ज़ था—उसी दिन से जब उसने अपने काव्य संकलन पर दीबाचा लिखने को कहा और मुझ से लिखा नहीं गया. आज वही क़र्ज़ उतार रही हूं. उसके जाने के बाद. देर हो गयी... ख़ुदाया बहुत देर हो गयी.

मुझे याद है एक मुशायरे में कुछ लोग साहिर से ऑटोग्राफ़ ले रहे थे, जब लोग चले गये और मैं अकेली उसके पास खड़ी रह गयी तो हंसते हुए मैंने अपनी हथेली उसके सामने बढ़ा दी. कोरे-काग़ज़ की तरह—और

उसने मेरी हथेली पर अपना नाम लिख दिया और कहा, 'यह ब्लेंक चैक पर मेरे दस्तख़त हैं, जो रक़म चाहो लिख लेना और जब चाहो कैश करवा लेना.' चाहे वह काग़ज़ मांस की हथेली थी लेकिन उसने कोरे-काग़ज़ का नसीब पाया था, इसलिए कोई हर्फ़ उस पर नहीं लिखा जा सकता था.

हर्फ़ तो आज भी मेरे पास नहीं. यह तो महज़ कोरे-काग़ज़ की दास्तान है. इस दास्तान की इब्तिदा भी ख़ामोश थी और सारी उम्र इसकी इंतिहा भी ख़ामोश रही. आज से चालीस बरस पहले जब लाहौर में साहिर मुझसे मिलने आता था, आकर चुपचाप सिगरेट पीता रहता. राखदानी जब सिगरेट के टुकड़ों से भर जाती तो वो चला जाता और उसके जाने के बाद मैं अकेली सिगरेट के इन टुकड़ों को जलाकर पीती थी. मेरे और उसके सिगरेट का धुआं सिर्फ़ हवा में मिलता था. सांसें भी हवा में मिलती रहीं और नज़्मों के लफ़्ज़ भी हवा में. सोच रही हूं... हवा कोई भी फ़ासला तय कर सकती है. वह पहले भी शहरों का फ़ासला तय करती थी, अब इस दुनिया और उस दुनिया का फ़ासला भी ज़रूर तय करेगी.

अनुवाद: अर्जुमंद आरा

***तल्ख़ियां* के 23वें उर्दू संस्करण का दीबाचा, त्रैमासिक, *अदबसाज़* (दिल्ली) का साहिर लुधियानवी विशेषांक,**
सितंबर-दिसंबर 2009-जनवरी मार्च 2010

यादों के लम्स

अमृता प्रीतम

जिस चेहरे की रोशनी में सब से पहले दिल की तहों में दर्द जागते देखा वह उस धर्म से था जिस धर्म के मानने वालों के लिए घर में बर्तन भी अलग रखे जाते थे.

यही वह चेहरा था जिसने मेरे अंदर इंसानियत की वह जोत जगायी कि देश के बटवारे के वक़्त, विभाजन के हाथों तबाही से दोचार होकर भी जब मैंने इस हादसे के बारे में क़लम उठाया तो दोनों गिरोहों की ज़ियादतियां बिना किसी रियायत या रिज़र्वेशन के क़लमबंद कर सकी. यह चेहरा न देखा होता तो मेरे उपन्यास, *पिंजर* की तक़दीर न जाने क्या होती!

बीस-इक्कीस बरस की थी जब अपने ख़ाबों में बसा हुआ यह चेहरा इस धरती पर देखा और ज़बान पर बेसाख़्ता किसी का यह शे'र आ गया :

तुम्हारी जैसी शबाहत को ढूंढ़ता था दिल
तुम्हारी शक्ल न देखी थी जिस ज़माने में

काफ़ी बरस बाद उससे पहली मुलाक़ात का विवरण मैंने *आख़िरी ख़त* में बयान किया था. उसके बाद एक *आग का दरिया* था जिससे मैं दिन रात गुज़रती रही—यहां तक कि 1957 में जब मुझे साहित्य अकादमी एवार्ड मिला तो फ़ोन पर यह ख़बर मिलते ही मैं सर से पांव तक तपने लगी—ख़ुदाया! यह 'सुनेहुड़े' मैंने किसी इनाम के लिए तो नहीं लिखे थे. जिसके लिए लिखे थे उसने तो इन्हें पढ़ा ही नहीं. अब सारी दुनिया पढ़े तो मुझे क्या!

उस शाम एक प्रेस रिपोर्टर आया. फ़ोटोग्राफ़र साथ था. वह मेरी तस्वीर लेना चाहता था जिसमें मैं नज़्म लिखती हुई नज़र आऊं. मैंने सामने मेज़ पर काग़ज़ रखा और क़लम हाथ में लेकर काग़ज़ पर कोई नज़्म लिखने के बजाये किसी इरादे के बिना उसका नाम लिखने लगी जिसके लिए मैंने 'सुनेहुड़े' लिखे थे. साहिर साहिर साहिर साहिर... सारा काग़ज़ भर गया.

प्रेस के लोग चले गये तो अकेले बैठे हुए मुझे ख़याल आया—सुबह अख़बारों में यह तस्वीर छपेगी तो मेज़ पर फैले हुए काग़ज़ पर साहिर के नाम की गरदान नज़र आयेगी... ओह ख़ुदाया!

मजनूं के लैला लैला पुकारने वाली कैफ़ियत का तजुर्बा हुआ मुझे उस रोज़. लेकिन कैमरे का फ़ोकस मेरे हाथ पर था—काग़ज़ पर नहीं. इसलिए दूसरे दिन के अख़बारों में काग़ज़ पर कुछ भी नहीं पढ़ा जा सकता था. यह तसल्ली होने के बाद एक कसक, एक चुभन इसमें शामिल हो गयी. काग़ज़ ख़ाली नज़र आ रहा था. मगर ख़ुदा गवाह है, वह ख़ाली नहीं था!

साहिर की मैंने थोड़ी सी अपने उपन्यास, *अश्रु* में तस्वीर खींची है, फिर *एक थी अनीता* में, और फिर *दिल्ली की गलियां* में सागर के रूप में.

नज़्में बहुत सी लिखी हैं. 'सुनेहुड़े' सबसे लंबी नज़्म, और कई नज़्में. और आख़िर में नज़्म 'आज की बात' लिख कर महसूस हुआ कि अब चौदह बरस का वनवास पूरा करके आज़ादी की तरफ़ लौट आयी हूं.

लेकिन बीते हुए माहो-साल बदन के लिबास की तरह नहीं होते. ये दाग़ों के निशान की तरह होते हैं. कहते कुछ नहीं लेकिन जिस्म से अलग नहीं होते. कई बरस बाद, बल्गारिया के दक्षिण में वियाना के एक होटल में ठहरी हुई थी जहां एक तरफ़ समुंदर था, दूसरी तरफ़ जंगल, और तीसरी ओर पहाड़. एक रात वहां ऐसा महसूस हुआ कि समुंदर की तरफ़ से एक नाव आती है और उसमें से उतर कर कोई खिड़की की राह से मेरे कमरे में आ गया है.

ख़ाब और हक़ीक़त एक हो गये थे. उस रात एक नज़्म लिखी—*तेरी यादें*. बहुत दिनों पहले साहिर से मेरी और इमरोज़ की एक साथ मुलाक़ात हो चुकी है. पहली बार वह उदास था. हम तीनों ने एक ही मेज़ पर बैठकर कुछ पिया था. उसके ख़ाली गिलास मेरे और इमरोज़ के वहां से उठकर चले जाने के बाद भी साहिर की मेज़ पर पड़े रहे. उस रात उसने एक नज़्म लिखी थी :

मेरे साथी ख़ाली जाम
तुम आबाद घरों के वासी

और यह नज़्म उसने मुझे उस रात कोई ग्यारह बजे फ़ोन पर सुनायी और बताया कि वह बारी-बारी तीनों गिलासों में व्हिस्की डालकर पी रहा है. लेकिन बंबई में जब दोबारा हमारी मुलाक़ात हुई तो उस वक़्त इमरोज़ को बुख़ार चढ़ा हुआ था. उसने फ़ौरन अपने डॉक्टर को फ़ोन किया और इमरोज़ को दवा दिलवायी. यूं तो मेरे अंदर की औरत हमेशा मेरे अंदर की फ़नकारा से पीछे रही है—दो नंबर पर. ख़ुद अपने को ध्यान दिलाया है केवल. फ़नकारा का रूप हमेशा इतना रोशन रहा कि मेरी अपनी आंखों को भी मेरी पहचान इसी में मिलती है.

लेकिन ज़िंदगी में तीन वक़्त ऐसे आये जब मैंने अपने अंदर की सिर्फ़ औरत को जी भर कर देखा है. उसका रूप इतना भरापूरा था कि मेरे अंदर की फ़नकारा का वजूद मेरे लिए गुम हो गया. वहां कोई शून्य नहीं था जो उसकी याद दिलाता. यह याद सिर्फ़ अब कर सकती हूं—कई बरस की दूरी पर खड़े होकर.

पहली बार अपने अंदर की औरत को मैंने उस वक़्त देखा था जब मेरी उम्र पच्चीस बरस हो गयी थी और मेरी गोद बच्चे से ख़ाली थी. तक़रीबन हर रात मुझे एक बच्चे का ख़ाब आता. एक नन्हा मुन्ना चेहरा, तराशे हुए नयन-नक़्श, टुकुर-टुकुर मेरी ओर देखता हुआ. और बार-बार ख़ाब देखते-देखते मुझे उस बच्चे के चेहरे की पक्की पहचान हो गयी. ख़ाब में वह मुझसे बातें भी करता था. रोज़ाना एक सी बातें. मैं उसकी आवाज़ भी पहचानने लगी थी. ख़ाब में मैं पौधों को पानी दे रही होती थी और अचानक एक गमले में फूल की जगह एक बच्चे का चेहरा खिल उठता था.

मैं चौंक कर पूछती थी, तू कहां था? मैं तुझे ढूंढ़ती रही. और वह मासूम चेहरा हंस पड़ता था—मैं यहां छुपा हुआ था. और मैं जल्दी से गमले में से बच्चे को उठा लेती थी. लेकिन जागने पर मैं वैसी की वैसी ही होती—सूनी वीरान और अकेली. सिर्फ़ एक औरत—जो अगर मां नहीं बन सकती थी तो जीना भी नहीं चाहती थी.

दूसरी बार यह अवलोकन मैंने तब किया जब एक दिन साहिर आया था और उसे हल्का सा बुख़ार था. उसके गले में दर्द भी था और सांस में खिंचाव की सी कैफ़ियत थी. उस दिन उसके गले और छाती पर मैंने विक्स मली थी. कितनी ही देर मलती रही और तब महसूस हुआ था—इसी तरह पैरों पर खड़े-खड़े पोरों से, उंगलियों से और

हथेलियों से उसकी छाती को हौले-हौले मलते हुए मैं अपनी पूरी उम्र गुज़ार सकती हूं. मेरे अंदर की औरत को उस वक़्त दुनिया के किसी काग़ज़ क़लम की ज़रूरत नहीं थी.

और तीसरी बार यह औरत मैंने तब देखी थी जब अपने स्टूडियो में बैठे हुए इमरोज़ ने अपना पतला सा ब्रश अपने कैनवास के ऊपर से उठाकर उसे एक बार लाल रंग में डुबोया था और फिर उस ब्रश से मेरे माथे पर बिंदी लगा दी थी...

विभाजन से पहले मेरे पास एक चीज़ थी जिसे मैं संभाल कर रखती थी. यह साहिर की नज़्म, 'ताजमहल' थी जो उसने फ्रेम कराके मुझे दी थी. आज तक़सीम की बर्बादी के बरसों बाद अपनी अलमारी का अंदरूनी ख़ाना टटोलने लगी तो किसी दबे हुए ख़ज़ाने की तरह कुछ ज़ाहिर हो रहा है.

एक पत्ता है जो मैं टॉलस्टॉय की क़ब्र पर से उठा लायी थी. और एक काग़ज़ का टुकड़ा है जिसके एक तरफ़ छपा हुआ है—एशियन राइटर्ज़ कांफ्रेंस, और दूसरी तरफ़ हाथ से लिखा हुआ है—साहिर लुधियानवी. यह वह बैज है जो कांफ्रेंस के मौक़े पर तमाम प्रतिनिधियों को दिया गया था. मेरे नाम का बैज मेरे अपने कोट पर लगा हुआ था और साहिर के नाम का साहिर के कोट पर लगा था. साहिर ने अपना बैज उतार कर मेरे कोट पर लगा दिया. और आज काग़ज़ का यह टुकड़ा टॉलस्टॉय की क़ब्र से उठाए हुए पत्ते के पास पड़ा हुआ मुझे ऐसा लग रहा है जैसे यह भी मैंने एक पत्ते की तरह अपने हाथ से ख़ुद अपनी क़ब्र पर से उठाया है.

पास ही वियतनाम की बनी हुई एक ऐशट्रे है जो आज़रबाइजान की राजधानी बाकू में वहां की शायरा मिख़ारो ख़ानम ने मुझे दी थी—यह कहते हुए कि जब-जब तुम्हारे इलहाम का धुआं तुम्हारे सिगरेट के धुंए से मिल जाये तो मुझे याद कर लेना.

बरसों इस धुंए में चेहरे उभरते मिटते रहे हैं. सिर्फ़ औरों के नहीं—अपना चेहरा भी अपनी आंखों के सामने. अपना चेहरा भी पिघलता और कांपता हुआ हक़ीक़त में तभी देखा है जब कोई नज़्म लिखी है.

उम्रा दे कागज़ उत्ते इश्क़ तेरे अंगूठा लाया. कौन हिसाब चुकायेगा. इस नज़्म के होने की वजह यह थी कि एक बार एक उर्दू मुशायरे के मौक़े पर लोग साहिर से ऑटोग्राफ़ ले रहे थे. कुछ लोग इधर-उधर हो गये तो मैंने हंस कर अपनी हथेली उसके आगे कर दी और कहा, ऑटोग्राफ़. साहिर ने हाथ में लिए हुए क़लम की स्याही अपने अंगूठे पर लगाकर अंगूठा मेरी हथेली पर रख दिया. जैसे मेरी हथेली—जिस पर अपने दस्तख़त किये उस पर क्या लिखा हुआ था, यह सब हवाओं के हवाले है. उस पर क्या लिखा हुआ था उसे न ख़ुद उसने कभी पढ़ा न ज़िंदगी ने. इसलिए मैं कह सकती हूं साहिर एक ख़याल था. हवा में चमकता हुआ. शायद मेरे अपने ही ख़यालों का एक साहिराना अक्स. लेकिन इमरोज के साथ बितायी हुई ज़िंदगी, शुरू के कुछ वर्षों को छोड़कर, एक बेख़ुदी के आलम तक पहुंच गयी है.

और इमरोज़ जानता है कि मैंने साहिर से मुहब्बत की थी. लेकिन यह जानकारी अपनी जगह कोई बड़ी बात नहीं है. इससे आगे जाकर इमरोज़ की बड़ाई यह है कि इस मुहब्बत में मेरी नाकामी को इमरोज़ अपनी नाकामी समझता है.

यह उन दिनों की बात है जब मेरा बेटा मेरे जिस्म की आस बना था. 1946 के अंतिम दिनों की बात.

अख़बारों और किताबों में कई बार पढ़ा था कि होने वाली मां के कमरे में जिस तरह की तस्वीरें सजी हों, या उसके ख़यालों में जो चेहरा बसा रहे बच्चे की सूरत उसी पर जाती है. और मेरे दिल ने जैसे दुनिया से छुपकर सरगोशी में मुझसे कहा—अगर मैं साहिर के चेहरे को हर लम्हे अपने ख़यालों में रखूं तो मेरे बच्चे की शक्ल में उसकी शबाहत आ जायेगी. जिसे ज़िंदगी में नहीं पा सकी थी उसे ख़ाबों में पा लेने की एक करिश्मा-साज़ कोशिश. ख़ुदा की तरह सूरत बनाने की रचनात्मक कोशिश. जिस्म का एक आज़ाद काम.

सिर्फ़ परंपरा से ही आज़ादी नहीं, ख़ून और नस्ल से भी रिहाई.

दीवानगी के उस आलम में जब 3 जुलाई 1947 को बच्चे का जन्म हुआ और पहली बार उसकी शक्ल देखी तो अपनी रचनात्मकता पर यक़ीन आ गया और बच्चे के स्पष्ट होते हुए ख़द्दो-ख़ाल के साथ अपनी कल्पना वाक़ई मूर्त रूप लेती नज़र आयी. मेरे बेटे की सूरत सचमुच साहिर से मिलती है.

खैर, दीवानगी की अंतिम चोटी पर पांव रखकर हमेशा खड़ा नहीं रहा जा सकता. पांव टिकाने के लिए ज़मीन

का कोई टुकड़ा चाहिए. इसलिए आइंदा बरसों में इस घटना का ज़िक्र इस तरह करने लगी जैसे यह परियों के देश की कोई कहानी हो.

एक बार मैंने यह बात साहिर से भी कही. अपने आप पर हंसते हुए. उस पर क्या रद्दे-अमल हुआ, मुझे इल्म नहीं. मैंने बस इतना देखा कि साहिर हंसने लगा और बोला, 'वेरी पुअर टेस्ट.'

साहिर की ज़िंदगी का एक बड़ा, बल्कि मैं कहूंगी सबसे बड़ा कॉम्प्लेक्स यह है कि वह अपनी नज़र में ख़ूबसूरत नहीं है, इसलिए उसने यह बात कही.

एक और वाक़िया याद आया. एक दिन उसने मेरी लड़की को अपनी गोद में बिठाकर कहा था, 'तुम्हें एक कहानी सुनाऊं?' और जब मेरी लड़की कहानी सुनने के लिए तैयार हो गयी तो साहिर कहने लगा—'एक लकड़हारा था. वह दिन रात जंगल में लकड़ियां काटा करता था. फिर एक दिन उसने जंगल में एक राजकुमारी को देखा. बहुत ख़ूबसूरत. लकड़हारे का जी चाहा कि वह राजकुमारी को लेकर भाग जाये.'

'फिर?' मेरी लड़की की उम्र अभी कहानियों पर हुंकारे भरने की थी. इसलिए वह बड़े ध्यान से कहानी सुन रही थी. मैं पास बैठी सिर्फ़ हंस रही थी. कहानी में दख़ल नहीं दे रही थी. साहिर कह रहा था, 'मगर वह था तो लकड़हारा. वह राजकुमारी को सिर्फ़ देखता रहा. दूर ही से खड़े-खड़े और फिर लकड़ियां काटने लगा. सच्ची कहानी है ना!'

'हां.' मैंने देखा था बच्ची ने न जाने यह क्यों कहा. साहिर हंसते हुए मेरी तरफ़ देखने लगा, 'देख लो यह भी जानती है.' और बच्ची से उसने पूछा, 'तुम वहां थीं, जंगल में?' बच्ची ने 'हां' में सर हिला दिया. साहिर ने फिर गोद में बैठी हुई बच्ची से पूछा, 'तुमने उस लकड़हारे को भी देखा था ना? वह कौन था?' बच्ची को शायद उस वक़्त इलहाम हो रहा था, बोली, 'आप.'

साहिर ने फिर पूछा, 'और वह राजकुमारी कौन थी?'

'मामा,' बच्ची हंसने लगी.

साहिर मुझ से कहने लगा, 'देखा, बच्चे सब कुछ जानते हैं.'

फिर कई बरस गुज़र गये. 1960 में मैं बंबई गयी—राजेंद्र सिंह बेदी बड़े मेहरबान दोस्त थे. अक्सर मिलते थे. एक शाम बैठे बातें कर रहे थे कि अचानक उन्होंने पूछा, 'प्रकाश पंडित की ज़बानी एक बार सुना था कि नवराज साहिर का बेटा है?...' उस शाम मैंने बेदी साहब को अपनी दीवानगी का वह क़िस्सा सुनाया और कहा—यह कल्पना की सच्चाई है, घटना की नहीं.

उन्हीं दिनों एक दिन नवराज ने भी पूछा. उस वक़्त उसकी उम्र 13 बरस के थी. 'मामा, एक बात पूछूं... सच सच बताओगी?'

'पूछो.'

'क्या मैं साहिर अंकल का बेटा हूं?'

'नहीं.'

'लेकिन अगर हूं तो बता दो. मुझे साहिर अंकल अच्छे लगते हैं.'

'हां बेटा मुझे भी वो अच्छे लगते हैं. लेकिन अगर ऐसा होता तो मैंने तुम्हें ज़रूर बता दिया होता.'

सच्चाई की अपनी ताक़त होती है, लिहाज़ा मेरे बच्चे को मेरी बात पर यक़ीन आ गया. सोचती हूं—ख़याल का सच झूठा नहीं था. लेकिन वह सिर्फ़ मेरे लिए था. इतना निजी कि साहिर भी उसमें शरीक नहीं था.

लाहौर में जब कभी साहिर मिलने के लिए आता था तो मेरी ही ख़ामोशी का एक टुकड़ा-सा कुर्सी पर बैठा लगता. कुछ देर बैठ कर चला जाता था. वह चुपचाप बैठा सिर्फ़ सिगरेट पीता रहता था. लगभग आधा सिगरेट पीकर राखदान में बुझा देता था. फिर नया सिगरेट. सिगरेटों के बड़े-बड़े टुकड़े कमरे में रह जाते थे. कभी कभी, बस एक बार उसके हाथ को छूना चाहती थी. लेकिन मेरे सामने रिवाजों की एक दूरी थी जो तय नहीं हो पाती थी.

तब भी तसव्वुर का सहारा लिया था. उसके जाने के बाद उसके छोड़े हुए सिगरेटों के टुकड़ों को संभाल कर अलमारी में रख लेती और फिर एक-एक टुकड़े को अकेली बैठकर जलाती थी और जब उंगलियों में उसे पकड़ती थी तो महसूस होता था जैसे उसका हाथ छू रही हूं. सिगरेट पीने की आदत मुझे तभी पहली बार पड़ी थी. हर

सिगरेट को सुलगाते हुए लगता था कि वह पास है. सिगरेट के धुएं में वह जैसे जिन्न की तरह नमूदार हो जाता है...

फिर बरसों बाद अपने इस तजुर्बे को मैंने अपने उपन्यास, *एक थी अनीता* में काग़ज़ पर उतारा. लेकिन साहिर शायद अभी तक मेरी सिगरेट-नोशी के इस इतिहास से अनभिज्ञ है.

सोचती हूं—ख़याल की यह दुनिया सिर्फ़ उसकी होती है जो उसकी रचना करता है. ख़ुदा जैसा रचनाकार भी अकेला ही है. आख़िर जिस मिट्टी से यह जिस्म बना है उस मिट्टी का इतिहास मेरे लहू की गर्मी में शामिल है. तख़लीक़ के आगाज़ में जो आग का एक गोला सा... हज़ारों बरस पानी में तैरता रहा था, उसमें हर गुनाह को भस्म करके जो जानदार बाहर निकला था, वह अकेला था. उसे न अकेलेपन का खौफ़ था और न अकेलेपन की ख़ुशी. फिर उसने अपने ही बदन को चीरकर आधे को मर्द बना दिया और आधे को औरत. और इसी से उसने दुनिया की रचना की.

दुनिया की यह कल्पना केवल देवमाला नहीं है. यह न सिर्फ़ प्राचीनकाल का इतिहास है, यह हर दौर का इतिहास है. चाहे छोटे-छोटे इंसानों का छोटा-छोटा सा इतिहास ही सही.

मेरी भी.

अनुवाद: अर्जुमंद आरा

साभार : *फ़न और शख़्सियत* : साहिर लुधियानवी नंबर, सं. साबिर दत्त, सरवर शफ़ी; बंबई, अंक 17-18, फ़रवरी 1985, पृ.88-93

साहिर और अमृता प्रीतम

हमीद अख़्तर

अमृता प्रीतम को मैंने 1943 में पहली बार देखा. *प्रीतलड़ी* पत्रिका शाय करने वाले और अमृतसर और लाहौर के दरमियान इंसान-दोस्ती और मुहब्बत के नाम पर 'प्रीतनगर' नाम की बस्ती बसाने वाले सरदार गुरबख़्श सिंह इस बस्ती में हर साल एक अदबी कांफ्रेंस और मुशायरा आयोजित किया करते थे. यह साहिर लुधियानवी के शोहरत हासिल करने का इब्तिदाई ज़माना था. उसे इस सालाना कांफ्रेंस की दावत मिली. वह तन्हा सफ़र करने से हमेशा बचा करता था. किसी भी नयी जगह जाने के लिए उसे बैसाखी की ज़रूरत होती थी. चुनांचे वह बहुत ज़िद, बल्कि मिन्नत करके मुझे भी अपने साथ प्रीतनगर ले गया. यह हमारी दोस्ती का इब्तिदाई ज़माना था.

कांफ्रेंस में हम दिन भर तक़रीरें सुनते रहे मगर हमारी असल दिलचस्पी रात को आयोजित होने वाले मुशायरे में थी. इस मुशायरे में सोलह-सत्रह बरस की अमृता प्रीतम ने एक पंजाबी नज़्म सुनायी. उसे दाद भी बहुत मिली मगर अधिकांश लोग उसकी शक्ल-सूरत के असीर हो गये. हमारा दोस्त भी न सिर्फ़ उनमें शामिल था बल्कि वह तो जैसे उस पर फ़िदा ही हो गया. उसने भी इस मुशायरे में अपनी नयी नज़्म, 'ताजमहल' सुनायी और ख़ूब दाद पायी. यह उन दोनों की पहली तआरुफ़ी मुलाक़ात थी. स्टेज पर बैठे हुए उन दोनों में कुछ बातचीत भी हुई और शायद दोनों ने एक दूसरे की नज़्मों की तारीफ़ भी की. इसके बाद अगले रोज़ हम वापस लुधियाना आ गये, लेकिन साहिर कई रोज़ तक इस नयी शायरा का ज़िक्र करता रहा. हमारे लुधियाना के इस ग्रुप में आर्टिस्ट हरिकिशन, संगीतकार जयदेव वर्मा, पंछी बावरा, चौधरी ग़ुलाम मुर्तज़ा, फ़ैज़ुल-हसन चौधरी, अहमद रियाज़, और मैं और मेरे बड़े भाई सफ़दर अली शामिल थे. साहिर की ज़बानी हफ़्तों अमृता प्रीतम का इतना ज़िक्र हुआ कि हम सब सुन सुनकर थक गये. 1945 में

साहिर लुधियाना गवर्नमेंट कॉलेज से निकाले जाने के बाद लाहौर आ गया. उसने दयाल सिंह कॉलेज में दाख़िला ले लिया, मगर वह कॉलेज कम ही जाता था. 'मकतबा-ए-उर्दू' लाहौर के चौधरी बरकत अली और चौधरी नज़ीर ने उसके सामने पत्रिका *अदबे-लतीफ़* के संपादन का प्रस्ताव रखा जो उसने फ़ौरन क़बूल कर लिया.अब उसकी सरगर्मियों का केंद्र भाटी और लाहौरी दरवाज़ों के दरमियान सर्कुलर रोड पर स्थित *अदबे-लतीफ़* का दफ़्तर था. मैं उन दिनों बेकार था. मैं भी लुधियाना से लाहौर आ गया और तक़रीबन छ: माह इसी शहर में साहिर के साथ रहा. इस दौरान किसी अदबी महफ़िल में अमृता से उसकी दूसरी मुलाक़ात हुई और उसे पता चला कि उसकी शादी हो गयी है और वह अनारकली की दुकान, जिस पर *जगत सिंह कुवात्रा* का बोर्ड लगा हुआ था, के मालिक के बेटे से ब्याही गयी है और शहर के अंदर रहती है. उसने साहिर को अपने घर आने की दावत भी दी.

अगले रोज़ हम उसके घर गये. दो घंटे की इस मुलाक़ात में बातें बहुत कम हुईं, अलबत्ता दोनों एक दूसरे को मुहब्बत और पसंदीदगी की नज़रों से देखते रहे. वहां से वापसी के बाद तो साहिर इस मुलाक़ात की बातें ही दुहराता रहा और दो तीन रोज़ बाद फिर उसके घर जाने के लिए तैयार हो गया. जैसा कि मैंने ऊपर लिखा है, उसे कहीं जाने के लिए हमेशा बैसाखी की ज़रूरत होती थी, मुझसे जब उसने साथ चलने को कहा तो मैंने सख़्ती से इनकार कर दिया. मेरा कहना था कि मुझे इस तरह की अफ़लातूनी मुहब्बत से सख़्त वहशत होती है, और मैं इस बोर मुलाक़ात का फ़ालतू पात्र बनने को तैयार नहीं हूं. *अदबे-लतीफ़* के दफ़्तर में उस समय देवेंद्र सत्यार्थी बैठा था. साहिर बहला-फुसलाकर उसे साथ ले गया. मुझे अच्छी तरह याद है कि वापसी पर जब मैंने सत्यार्थी से पूछा कि मुलाक़ात कैसी रही तो उसका जवाब था, 'हमीद जी, अमृता ने हमें अपने बेडरूम में बुला लिया, वहां दीवार के साथ खूंटी पर उसकी शलवार लटक रही थी, मैंने अपना कोट उसके ऊपर लटका दिया, बड़ा मज़ा आया.'

लाहौर में छ: महीनों के इस क़याम के दौरान साहिर दो-चार बार फिर भी उसके घर गया मगर मैं उन दोनों की इन मुलाक़ातों में दख़ल-अंदाज़ होने से हमेशा बचता रहा. साहिर वहां जाता ज़रूर रहा मगर वह उसके तंदुरुस्त और तवाना शौहर से ख़ौफ़ज़दा भी रहता था. जगत सिंह कुवात्रा की दुकान *अदबे-लतीफ़* के दफ़्तर से अनारकली में दाख़िल होने वाली सड़क के बिलकुल सामने थी. हम सुबह निज़ाम होटल अनारकली में नाश्ते के लिए जाते तो इस दुकान के सामने से गुज़र कर जाना पड़ता था. साहिर इस रास्ते के बजाय एक दूसरा और ज़्यादा लंबा रास्ता अपनाता. उसे हमेशा यह डर लगा रहता कि अमृता का शौहर उसे पकड़कर अपने घर आने से मना कर देगा. चंद माह बाद हम दोनों वापस लुधियाना चले गये, मगर अमृता का ज़िक्र महीनों होता रहा. जनवरी 1946 में साहिर को फ़िल्म *आज़ादी की राह पर* के गाने लिखने की पेशकश हुई. यह फ़िल्म कांग्रेस की आज़ादी की जद्दोजहद के विषय पर थी और इसके प्रोड्यूसर साहिर के एक क्लास फ़ैलो कुलवंत राय थे. कुलवंत कट्टर कांग्रेसी थे. साहिर की ज़िंदगी का तो मक़सद ही फ़िल्मी गाने लिखना था. उसने कभी आलोचकों का स्वीकृत बड़ा शायर बनने की आरज़ू नहीं की, हमेशा यही कहता था कि वह फ़िल्मों के लिए ऐसे नग़मे लिखेगा कि दुनिया उसे याद करेगी. फ़िल्मों के लिए गानों के ज़रिये दौलत और शोहरत हासिल करने की इस आरज़ू का एक और पहलू भी था, उसकी वह महबूबा जिसकी वजह से वह कॉलेज से निकाला गया था, बंबई में रहती थी.

गवर्नमेंट कॉलेज से साहिर ही नहीं, ईशर कौर भी निकाली गयी थी. कॉलेज के ज़माने में इन दोनों की मुलाक़ातें होती रहती थीं. ईशर कौर होस्टल में रहती थी. ये दोनों आम तौर से कॉलेज के बाद मिलते थे और कॉलेज के गेट से लगी दीवार पर बिराजमान होते थे. ईशर कौर का ताल्लुक़ लुधियाना से सात-आठ मील दूर स्थित एक क़स्बे बुढ़ेवल के एक सिख ज़मींदार घराने से था. जब वह कॉलेज से निकाले जाने के बाद अपने गांव चली गयी तो साहिर का हम सब दोस्तों के साथ हर शाम इस दीवार पर जाकर बैठना नियम बन गया. हर शाम इस 'कंद'(दीवार) पर जाना एक तरह से इबादत बन गया और किसी दिन इस फ़र्ज़ की अदायगी में देर हो जाती तो हम में से कोई दोस्त उसे याद कराता : 'आज कंद पर नहीं जाना?'जब साहिर को बंबई जाने और फ़िल्म के गीत लिखने की पेशकश हुई तो उसकी गुफ़्तगू का मौज़ू बंबई में रहने वाली ईशर कौर हो गया. वह बराबर इस यक़ीन का

इज़हार करता कि वह फ़िल्मी गानों के ज़रिये शोहरत और दौलत हासिल कर लेगा तो एक रोज़ उसकी यह महबूबा ज़रूर उससे मिलने आयेगी. यह एक मूर्खतापूर्ण ख़्वाहिश थी. साहिर को ईशर कौर ने रद्द नहीं किया था. वह तो अपना घर छोड़कर उसके पास भी आ गयी थी. जिस रोज़ वह बुढ़ेवल से लुधियाना साहिर के घर आयी, हम सब दोस्तों ने उसकी इस ख़्वाहिश का स्वागत किया कि साहिर उससे शादी कर ले लेकिन साहिर डरा हुआ था, और शायद इसलिए दुरुस्त ही उसे संदेह था कि इस शादी के बाद ईशर कौर के ज़मींदार बाप के हाथों क़त्ल कर दिया जायेगा. वह अपने बाप से पहले ही न सिर्फ़ अलग हो चुका था बल्कि उसके वालिद से उसकी बाक़ायदा मुक़दमेबाज़ी चल रही थी. वे सिख छात्र भी लुधियाना में ही मौजूद थे जिन्होंने उन दोनों की मुलाक़ात का ग़लत नक़्शा पेश करके उन्हें कॉलेज से निकलवा दिया था. इन सबकी मुख़ालिफ़त मोल लेने की हिम्मत उसमें नहीं थी. उसने ईशर कौर से साफ़ कह दिया कि वह उससे शादी नहीं कर सकता. अगरचे वह रात-भर उसके साथ उसके कमरे में रही मगर इसने उससे किसी क़िस्म का जिस्मानी ताल्लुक़ क़ायम करने की कोशिश नहीं की. ईशर कौर वापस घर तो जा नहीं सकती थी, अगली सुबह वह बंबई में रहने वाले अपने एक कज़िन के पास चली गयी जो शायद इससे पहले उसे शादी की पेशकश कर चुका था. वहां उन दोनों की शादी हो गयी.

जनवरी 1946 में हम दोनों बंबई चले गये. साहिर ने मिन्नत-समाजत से फिर मुझे साथ चलने के लिए न केवल मजबूर किया बल्कि कुलवंत राय की कंपनी 'हिंदुस्तान कलामंदिर' से मेरे लिए संवाद-लेखक की हैसियत से तक़र्रुर-नामा भी हासिल कर लिया. हम अगस्त 1947 तक बंबई में रहे. इस अर्से में दो बार चंद दिनों के लिए लुधियाना भी आये. इस सारे ज़माने में अमृता का ज़िक्र उसने शायद ही कभी किया हो.

पाकिस्तान बनने के बाद लाहौर आने और चंद माह रुक कर जून 1948 में वापस हिंदुस्तान जाने के बाद वह सही मायनों में कामयाब फ़िल्मी नग़मानिगार बन कर शोहरत की बुलंदियों पर पहुंचा. अमृता भी इस ज़माने में एक बड़ी शायरा और अदीबा के तौर पर लोकप्रियता की सनद हासिल कर चुकी थी. ख़ासतौर पर उसकी नज़्म 'अज्ज आखां वारिस शाह नूं' ने तो उसे भारतीय उपमहाद्वीप की सबसे प्रसिद्ध शायरा बना दिया था. वहां पर साहिर और उसके दरमियान मुलाक़ातों का जो सिलसिला शुरू हुआ, उसके बारे में मुझे कुछ ज़्यादा इल्म नहीं, अलबत्ता अमृता की किताब, *रसीदी टिकट* के प्रकाशन के बाद मुझे भी यह मालूम हुआ कि न सिर्फ़ उनके बीच दोस्ती और मुहब्बत के रिश्ते क़ायम हो गये थे बल्कि ख़ुद अमृता साहिर को उससे कहीं ज़्यादा चाहने लगी थी. साहिर के पाकिस्तान से जाने के बाद बरसों मेरा उससे संपर्क न हो सका. बीस बरस तक हुकूमते-पाकिस्तान ने मुझे पासपोर्ट ही से वंचित रखा. पासपोर्ट मिलने के बाद हिंदुस्तान जाने के लिए सहाफ़ियों पर गृह मंत्रालय से इजाज़त लेने की पाबंदी थी. मैंने कई बार दरख़ास्त दी मगर हमेशा इनकार किया गया. साहिर की मां के इंतिक़ाल पर मैंने एक दफ़ा फिर दरख़ास्त गृह मंत्रालय को भिजवायी और उसमें यह भी लिखा कि उसकी वालिदा ने मुझे बेटा बनाया हुआ था इसलिए मैं उसकी ताज़ियत के लिए बंबई जाने का ख़्वाहिशमंद हूं. इस दरख़ास्त का भी गढ़ा-गढ़ाया जवाब आया कि चूंकि साहिर से तुम्हारा कोई ख़ूनी रिश्ता नहीं है, इसलिए इजाज़त नहीं मिल सकती.

इसके बाद मैंने इस्लामाबाद जाकर होम सेक्रेट्री जनाब रुएदाद ख़ां से मुलाक़ात की जिसमें बाक़ायदा उनसे सख़्त लड़ाई हुई और अंतत: वे इजाज़त देने पर राज़ी हो गये. दिसंबर 1978 में मेरी बीवी, छ: साल का बेटा और मैं बंबई में साहिर की जहाज़ी साइज़ की बिल्डिंग 'परछाइयां' पहुंच गये. हम पंद्रह रोज़ उसके घर पर उसके साथ रहे. दो दोस्तों की यह मुलाक़ात तीस बरस बाद हुई. दोस्त भी ऐसे जो जून 1948 तक दिन रात एक साथ रहे मगर दौलत, शोहरत और अथाह इज़्ज़त हासिल करने वाला यह साहिर वह नहीं था जो तीस बरस पहले मुझसे जुदा हुआ था. वह न सिर्फ़ दिल की बीमारी में मुब्तला था बल्कि मर्दुम-बेज़ारी का शिकार भी था. वहां न ईशर कौर की बात हुई और न अमृता प्रीतम का ज़िक्र. उसकी ज़हनी हालत कुछ ऐसी थी कि बंबई पहुंचने से पहले हमने जो चार दिन दिल्ली में गुज़ारे उनमें बंबई के दोस्तों ने मुझे पैग़ाम भेजा कि मैं साहिर के यहां क़याम न करूं. वह

दोस्तों को गालियां देता है और उनकी बेइज़्ज़ती करता है. मेरा जवाब था कि मुझे गाली देगा तो मैं भी यही अमल दुहराऊंगा. लेकिन मैं तो मिलने ही उससे आया हूं, इसलिए मैं उसके पास ही ठहरूंगा; रिहाइश की वैकल्पिक व्यवस्था से, जो कैफ़ी आज़मी और शबाना के घर की गयी है, मुझे कोई ग़रज़ नहीं.

इस पंद्रह दिन के क़याम में उसने मेरे साथ किसी क़िस्म की ज़्यादती नहीं की. मेरा और मेरी बीवी बच्चे का हर तरह से ख़याल रखा. मेरे बेटे से प्यार करता रहा और मेरी बीवी के आरामो-आसाइश का हर तरह ख़याल रखा. यही नहीं बल्कि रोज़ाना जब शाम की महफ़िल में, मैंने उसके किसी लफ़्ज़ के ग़लत उच्चारण पर टोका तो मेरी बीवी सख़्त परेशान हुई और बाद में अलग से उसने मुझसे कहा कि साहिर आपकी बात का बुरा मान सकता है और यह कि उसे किसी बात पर टोकने से बचूं. बहरहाल पंद्रह रोज़ बाद 13 जनवरी 1979 को हम बंबई से वापसी के सफ़र पर रवाना हो गये. इसके एक डेढ़ बरस बाद वह यह दुनिया ही छोड़ गया. उसने मुझसे लाहौर आने और पुराने दोस्तों से मिलने का जो वायदा किया था वह भी पूरा न हो सका.

1983 में डिक्टेटर ज़ियाउल-हक़ के ज़माने में मुझे दूसरी बार दिल्ली जाने का मौक़ा मिला. इस दौरे के दौरान दिल्ली में मैंने एक रोज़ अमृता को फ़ोन करके मिलने की ख़्वाहिश ज़ाहिर की. उसे अपने घर या प्रीतनगर में होने वाली मुलाक़ात तो याद नहीं थी, मगर साहिर का क़रीबी दोस्त होने का उसको शक था, चुनांचे उसने मुझे उसी शाम अपने घर आने और वहीं रात का खाना खाने की दावत दी. इस मुलाक़ात में अमृता, इमरोज़ और मैं, तीन लोग ही शामिल थे. यह महफ़िल कोई चार घंटे की थी. मयनोशी भी जारी रही और हिंदुस्तान और पाकिस्तान के ताल्लुक़ात पर बातें भी जारी रहीं लेकिन मुलाक़ात शुरू होने के कोई एक घंटे बाद अमृता ने अचानक मुझसे सवाल किया: '1946-47 में जब साहिर और आप बंबई में एक साथ रहे तो क्या वहां साहिर की ईशर कौर से मुलाक़ात हुई थी?' मेरा जवाब था कि ईशर कौर बंबई में फ़रार थी. साहिर उसका ज़िक्र भी बहुत करता था मगर न तो हमें उसका अता-पता मालूम था और न ही साहिर इतना मशहूर हुआ था कि ईशर कौर को उसके बारे में इल्म होता. फ़िल्म, *आज़ादी की राह पर,* लटक गयी थी और जो फ़िल्म बटवारे के ख़िलाफ़ थी वह पाकिस्तान बनने के बाद रिलीज़ हुई और फ़्लॉप हो गयी. इस डेढ़ साल में उन दोनों की कोई मुलाक़ात नहीं हुई, मगर अमृता की तो जैसे सुई इसी सवाल पर अटक गयी थी. हर फिर यही सवाल दुहराती, 'हमीद साहिब, डेढ़ बरस से ज़्यादा अर्सा बंबई में रहने के बाद यह कैसे मुमकिन है कि साहिर उससे न मिला हो?' मैंने बार बार उसे यक़ीन दिलाया कि हम दोनों दिन रात एक साथ रहते थे. मैं दावे के साथ यह कहता हूं कि वहां उन दोनों के दरमियान मुलाक़ात नहीं हुई. मगर वह बार बार यही सवाल दुहराती रही, यहां तक कि मैंने कहा कि अब तो साहिर इस दुनिया में नहीं है और शायद ईशर कौर भी नहीं, इसलिए यह ज़िक्र छोड़िए और कोई और बात कीजिए. मगर जैसे जैसे उसका नशा बढ़ता रहा वह मुझसे यह सवाल दुहराती रही. औरत आख़िर औरत होती है, वह कितनी ही बड़ी शायरा और अदीबा क्यूं न बन जाये, अपने महबूब के किसी और की ज़ुल्फ़ का असीर होना बर्दाश्त नहीं करती.

बाद में मुझे मालूम हुआ कि साहिर की उम्मीद के मुताबिक़ जब वह फ़िल्मी नग़मानिगार के तौर पर हिंदुस्तान भर में शोहरत की बुलंदियों पर पहुंचा और उसके नाम का डंका बजने लगा तो ईशर कौर ने उसे ढूंढ़ लिया. साहिर का उसके घर आना जाना भी शुरू हो गया और यह सिलसिला उस रोज़ तक जारी रहा जिस रोज़ उसके शौहर ने साहिर से कहा: ईशर कौर मेरी बीवी है, यह तुम्हारे साथ जाना चाहे तो जा सकती है, तुम उसे ले जाना चाहो तो ले जाओ. अगर यह मुमकिन नहीं है तो मेहरबानी करके हमारे यहां आने जाने का मामला ख़त्म करो. इसके बाद साहिर ईशर कौर के घर कभी न गया, न उससे मिला.

अनुवाद: अर्जुमंद आरा

(साहिर के छात्र जीवन के समय के दोस्त, हमीद अख़्तर का यह लेख इस्लामाबाद की त्रैमासिक पत्रिका, *अदबियात*, अंक 85 -86,
अक्तूबर-मार्च, 2009-2010 में प्रकाशित हुआ था. पत्रिका का यह अंक, अमृता प्रीतम विषेशांक था.)

साहिर लुधियानवी

ए. हमीद[1]

साहिर लुधियानवी ने कमरे की ऊंची छत और पुरानी खिड़कियों को देखकर कहा, 'यह तो मुझे कोई भूत घर लगता है'.

इब्ने-इंशा ने अपने मोटे शीशे वाली ऐनक के पीछे आंखें घुमा कर कहा, 'अब भी इसमें भूत ही रहेंगे'.

इब्ने-इंशा और साहिर लुधियानवी के ये रिमार्क्स उस इमारत के बारे में थे जो ऐबट रोड पर निशात सिनेमा के बिल्कुल सामने है. उन दिनों यह एक वीरान उजड़ी हुई सुर्ख़ इमारत थी जिसका ज़िक्र हमें आज भी आर्थर कॉनन डायल और एडगर ऐलन पो की रहस्यमय कहानियों में मिलता है. पाकिस्तान को बने मुश्किल से छह-सात महीने हुए होंगे. जिन इलाक़ों को हिंदू व सिख छोड़कर गये थे वे भायं भायं कर रहे थे कृष्ण नगर, मॉडल टाउन, निसबत रोड, निकल्सन रोड और पुराना क़िला गूजर सिंह. इन आबादियों के सभी मकान ख़ाली थे, अगरचे काफ़ी लूट मार हो चुकी थी लेकिन अब भी कई मकानों में सामान पड़ा था. क़िला गूजर सिंह में अब्दुल करीम रोड की एक गली के दोमंज़िला शानदार मकान को तोड़ कर लोग अंदर दाख़िल हुए तो मैं भी उनके साथ था. दूसरी मंज़िल की गैलरी में लोहे के बड़े बड़े संदूक़ पड़े थे जो क़ीमती रेशमी कपड़ों और ख़ुदा जाने किस तरह की चीज़ों से भरे हुए थे. देखते -देखते उन्हें तोड़ कर लूट लिया गया.

हमें फ़ैज़ बाग़ में जो एक तंग और अंधियारा मकान अलाट हुआ था वहां गर्मी और घुटन बहुत थी. चुनांचे इस जगह से मैंने एक पोर्टेबल जापानी टेबल-फ़ैन उठाया और उसे घर ले आया. अब्दुल करीम रोड पर यह हो रहा था कि लोग कोई मकान पसंद करके वहां अपना आदमी बिठाते और फिर इर्दगिर्द के मकानों से अपनी पसंद की चीज़ें उठा कर इस घर में रखना शुरू कर देते. मसलन क़ालीन, कुर्सियां, तिपाइयां, चारपाइयां, पलंग, अचार और मुरब्बों के मर्तबान, चीनी और चावल की बोरियां, बर्तन और दूसरा सामान.

हिंदू और सिख लाहौर से भरे घर छोड़कर भागे थे. उनके बावर्चीख़ाने आटा, चावल, दाल और अचार मुरब्बों से लदे हुए थे. मैं ख़ुद एक मकान से आम के मुरब्बे का मर्तबान उठा कर ले गया था. वैसा आम का मुरब्बा फिर कहीं खाया नहीं. एक अलमारी में किसी हिंदू या सिख लड़की की छोटी सी टोकरी पड़ी थी जिसमें क्रोशिया का सामान था. धागों के नीचे मुझे पांच रुपये का नोट मिला. एक नन्ही सी कलाई घड़ी भी थी जो मेरा पुलिस कांस्टेबल साथी ले गया.

ग्वाल मंडी में हिंदू सिखों के मकान भी ख़ाली पड़े थे. थाना ग्वाल मंडी के सामने वाले मकान की एक अधेड़ उम्र की हिंदू औरत ने अपना मकान नहीं छोड़ा था. वह खिड़की में बैठी आते-जाते लोगों को संबोधित करके कहती, 'मैं नहीं जाऊंगी, लोग चले गये हैं तो जाते रहें'.

उसके बाक़ी घर वाले हिंदोस्तान जा चुके थे. ख़ुदा जाने उस औरत का बाद में क्या हश्र हुआ. इसी तरह एक अधेड़ उम्र के हिंदू मियां बीवी को मैंने सूत्र मंडी, लाहौर में भी देखा. चौक सूत्र मंडी से जो गली बाज़ार शीशा-मोती को मुड़ती है उसके नुक्कड़ पर इस अधेड़ उम्र हिंदू की दुकान थी. वह सर पर गोल हिंदुवाना टोपी रखे संदूक़ची के आगे बैठा मुसलमान मरीज़ों को दवाई देता. उसकी बीवी दुकान के अंदर सोफ़े पर बैठी होती. यह हिंदू जोड़ा बाद में दिखायी न दिया.

रॉयल पार्क की बिल्डिंगें भी सुनसान थीं. सिर्फ़ लक्ष्मी बिल्डिंग के निचले हिस्से में कुछ मुहाजिर आबाद हुए थे. रॉयल पार्क की गलियां कच्ची थीं और चौक में एक तरफ़ लकड़ी के शहतीरों का ढेर लगा था. कभी-कभी मैं और अहमद राही उन शहतीरों पर बैठ कर बातें किया करते.

फिर अहमद राही आरिफ़ अब्दुल मतीन के साथ फ़िक्र तौंसवी (रामलाल भाटिया) को निकालने तौंसा चले

गये. इस दौरान साहिर लुधियानवी और मैंने रॉयल पार्क की एक बिल्डिंग की पहली मंज़िल पर क़ब्ज़ा कर लिया. बाद में इस मंज़िल में क़तील शिफ़ाई आ गया था. उन दिनों क़तील शिफ़ाई का एक हिंदू औरत चंद्रकांता के साथ स्कैंडल बड़े ज़ोरों पर था. वह हिंदोस्तान नहीं गयी थी और इसी मंज़िल में रहती थी. सआदत हसन मंटो ने इस औरत पर अपना अफ़साना, 'मूचना' लिखा है क्योंकि मशहूर था कि इस औरत के सीने पर बाल हैं जिन्हें वह मूचने से उखेड़ती रहती है.

फ़िक्र तौंसवी आ गया. दुबला-पतला, बारीक आंखों वाला मेधावी नौजवान जिसे तौंसा शरीफ़ से चले आने का अफ़सोस था. *अदबे-लतीफ़* की एडीटरी का ज़माना उसने हमारे साथ इसी मंज़िल में गुज़ारा. बस एक ड्राइंगरूम और एक छोटा सा कमरा था. सामान वहां सिवाय एक सोफ़ा-सेट और पलंग के कोई न था. कार्निस पर कांसे का एक बड़ा सा प्याला पड़ा रह गया था. इस प्याले में हम बारी बारी पानी पिया करते थे. इब्ने-इंशा एक रोज़ वहां आया तो उस प्याले को देखकर कहने लगा, 'अरे यह तो वही प्याला है जिसमें सुकरात ने ज़हर पिया था.' रात को फ़िक्र तौंसवी सोफ़े पर, आरिफ़ अब्दुल मतीन और साहिर लुधियानवी ज़मीन पर, और मैं और अहमद राही पलंग पर सो रहते. हमारी जेबें अक्सर ख़ाली रहती थीं. कभी दो-चार रुपये होते और कभी कुछ भी न होता. ग़ज़ल का मुआवज़ा पांच दस रुपये और कहानी अफ़साने का मुआवज़ा मुझे पंद्रह और पच्चीस रुपये के दरमयान मिलता था. इससे कुछ रोज़ गुज़र बसर होती और फिर वही फ़ाकामस्ती शुरू हो जाती.

हमारे प्रकाशक वे थे जिन्होंने इस मुल्क में उच्चतम कोटि के प्रकाशन और क्लासिकल साहित्यिक परंपरा की बुनियाद रखी, लेकिन पैसे देने के मामले में बेहतरीन टाल मटोल करने वाले थे. अहमद राही और फ़िक्र तौंसवी, *अदबे-लतीफ़* के संपादक थे. बाद में राही *सवेरा* का संपादक बन गया था. साहिर लुधियानवी की *तल्ख़ियां* प्रकाशित हो चुकी थी. प्रकाशक से पैसे उसे तोड़-तोड़ कर मिलते थे. एक रोज़ मैं और साहिर लुधियानवी *सवेरा* के दफ़्तर पहुंच गये. हमारा प्रोग्राम यह था कि पब्लिशर से क़िस्त के पैसे लेकर अनारकली के होटल मुमताज़ में चाय पेस्ट्री उड़ायेंगे.

उन दिनों हमारी सबसे बड़ी अय्याशी यही हुआ करती थी. या ज़्यादा से ज़्यादा कोई फ़िल्म देख ली और कपड़े बनवा लिये. इसी पब्लिशर ने मेरे अफ़सानों का पहला संकलन, *मंज़िल मंज़िल* भी प्रकाशित किया था, और कुछ पैसे मेरे भी निकलते थे. मैंने सोचा कि मैं भी कुछ पैसे वसूल कर लूंगा. *सवेरा* का दफ़्तर उन दिनों भी लोहारी के बाहर ही था, यानी जहां आजकल है.

चौधरी नज़ीर बड़े बाग़ो-बहार और इल्म-दोस्त पब्लिशर थे और हमसे बड़ी मुहब्बत और प्रेम का बरताव करते थे. मैं और साहिर *सवेरा* के दफ़्तर में आये तो चौधरी साहिब मेज़ पर झुके पोस्टकार्ड लिख रहे थे. हमने सलाम किया. उन्होंने सर उठा कर हमें देखा. ज़ेरे-मूंछ मुस्कुराये और कार्ड लिखने में खो गये. चेहरे पर ख़ास मुस्कुराहट अभी तक वैसी ही थी. जिन लेखकों को इसका तजुर्बा हो चुका है वे ख़ूब जानते होंगे कि पब्लिशर से पैसे निकालना कितना मुश्किल काम होता है. चौधरी नज़ीर से हमारी बड़ी दोस्ती थी लेकिन किताब के पैसे मांगते वक़्त हम पत्थर हो जाते थे. एक बार नासिर काज़मी ने कहा था कि पब्लिशर से पैसे वसूल करने का बस एक ही तरीक़ा है कि जाते ही हर्फ़े-मतलब बयान कर दो. वरना ज्यों ज्यों देर होती जायेगी तुम्हारे अंदर की जुर्रत ख़त्म हो जायेगी और तुम्हारा केस कमज़ोर हो जायेगा.

साहिर डरपोक था. उसमें नितांत साहस का अभाव था. अब हम आंखों ही आंखों में एक दूसरे से बातें कर रहे थे. मैंने साहिर से आंखों ही आंखों में कहा, 'चलो मांगो अपनी किताब, *तल्ख़ियां* के बाक़ी पैसे!' उसने आंखों ही आंखों में मुझे जवाब दिया, 'तुम क्यों नहीं मांगते अपने अफ़साने के बक़ाया पैसे?'

मेरे पैसे ज़्यादा नहीं थे क्योंकि चौधरी नज़ीर साहिब ने मेरे पैसे कभी नहीं रखे थे और हमेशा मुझे मेरा मुआवज़ा दो तीन क़िस्तों में अदा कर दिया करते थे. ऐसा कभी-कभार ही होता था कि मेरे कुछ पैसे उनकी तरफ़ रह जायें.

इतना मुझे यक़ीन था कि साहिर लुधियानवी पैसों का तक़ाज़ा नहीं करेगा और पहाड़ काट कर दूध की नहर मुझे ही निकालनी पड़ेगी. मैंने बातों ही बातों में चौधरी साहिब के क़रीब जाकर झट कह दिया, 'चौधरी साहिब!

पैसों की सख़्त ज़रूरत आन पड़ी है'.

'ख़ैर तो है, क्या ज़रूरत पड़ गयी तुम लोगों को?'

कुछ बहाना साहिर लुधियानवी ने बनाया, कुछ मैंने बनाया, जिस पर चौधरी साहिब ने क़लम मेज़ पर रखकर दोनों हथेलियों की उंगलियों को बारी-बारी पूरी तरह चटख़ाया और फिर बोले, 'बरख़ुर्दारो! हालात और फ़सादात ने कहीं का नहीं छोड़ा. पैसा तो देखने को नहीं मिल रहा. तुम्हारे सामने एजेंटों को कार्ड लिख रहा हूं. अभी डाक में कोई मनीआर्डर आ गया तो सारे के सारे पैसे ले लेना'.

हमें अच्छी तरह मालूम था कि पब्लिशरों की दुकान पर मनीआर्डर लाने वाले डाकिये जब देखते हैं कि वहां शायर अदीब बैठे हैं तो आते ही ऐलान कर देते हैं आज तो कोई मनीआर्डर नहीं है जनाब! यह उनको पब्लिशरों की तरफ़ से ख़ास हिदायत थी. अब साहिर को भी होश आ चुका था. उसने बड़ी जुर्रत से काम लेते हुए कहा,

'चौधरी साहिब आज तो हमें कुछ पैसे दे ही दें, बड़ी सख़्त ज़रूरत है'.

'आख़िर मुझे भी तो पता चले कि क्या ज़रूरत है?'

'बस है ज़रूरत. आप कहीं से कुछ पैसों का बंदोबस्त कर दें'.

इस पर चौधरी साहिब उठे. पिछले दरवाज़े से बाहर गये और पंद्रह बीस रुपये किसी से उधार मांग कर हमारे लिए ले आये.

'ये बीस रुपये हैं. प्रेस वालों से उधार मांग कर लाया हूं. इसमें से पांच मुझे दे दो, बाक़ी तुम दोनों रख लो'.

साहिर लुधियानवी ने कहा, 'ये पांच रुपये आप डाक ख़र्च के लिए रख रहे हैं चौधरी साहिब?'

चौधरी साहिब ने मुस्कुराते हुए दोनों हाथ कोट की जेब में डाल कर कहा, 'मेरे अज़ीज़ दोस्तो, अब तुम किस होटल में जाओगे?'

हमारे अक्सर पब्लिशरों को हमारी इस कमज़ोरी का पता था कि हम पैसे मिलते ही किसी न किसी होटल का रुख़ करते हैं. वहां खाना खाते हैं और चाय पेस्ट्री और उम्दा सिगरेटों की अय्याशी करते हैं.

मैंने कहा, 'क्यों भाई साहिर लुधियानवी, क्या इरादे हैं?' मेरा ख़याल था कि साहिर लुधियानवी कुछ और बहाना बना लेगा मगर उसे झूठ बोलना कम आता था. उसने साफ़ ही कह दिया, 'मुमताज़ होटल में चाय पीने जा रहे हैं, आप भी चलें हमारे साथ.' चौधरी साहिब ने व्यस्त होने के कारण इस दावत को क़बूल न किया लेकिन शिष्टाचार का प्रदर्शन करते हुए हमारा दिल रखने की ग़रज़ से अपनी दुकान का एक लड़का हमारे साथ कर दिया. मुमताज़ होटल में रिकार्डिंग बज रही थी. लता मंगेशकर, हेमंत कुमार, जगमोहन, तलत महमूद, रफ़ी और गीता राय के रिकार्ड बज रहे थे. हम दीवार के साथ लगी एक मेज़ के पास कुर्सियों पर जा कर बैठ गये, वह लड़का भी हमारे साथ बैठ गया. बड़े शांत स्वाभाव का लड़का था. ख़ामोश फिल्मों के ज़माने का लगता था. हमने चाय और पेस्ट्रियों का आर्डर किया. इस ख़ामोशी पसंद लड़के ने पेस्ट्रियों पर हाथ साफ़ करना शुरू कर दिया. वह दोनों हाथों से पेस्ट्रियां खा रहा था. क्रीम रोल इस नफ़ासत से खाता कि क्या मजाल जो क्रीम का एक क़तरा भी नीचे गिर जाये.

साहिर कभी मेरी तरफ़ देखता और कभी इस लड़के का मुंह तकता जो कम से कम मुद्दत में ज़्यादा से ज़्यादा पेस्ट्रियां खाने का नया रिकार्ड क़ायम कर रहा था. जब हम पूरे के पूरे पैसे बिल की शक्ल में अदा करने के बाद मुमताज़ होटल से बाहर निकल रहे थे तो उस लड़के का यह आलम था कि एक पेस्ट्री अभी तक उसके हाथ में थी.

साहिर लुधियानवी लंबे क़द का दुबला-पतला नौजवान था. लंबा क़द होने की वजह से वह ज़रा आगे को झुक कर चलता था. लहजा ख़ालिस लुधियानवी था. उर्दू लुधियानवी-पंजाबी अंदाज़ में बोलता. बात नर्मी से करता और खुल कर कभी क़हक़हा नहीं लगाता था. शेर सुनाते वक़्त ज़रा-ज़रा मुस्कुराता रहता था. उन दिनों साहिर की नज़्म 'सना ख़्वाने-तक़्दीसे-मशरिक़ कहां हैं' और 'ताजमहल' का बड़ा चर्चा था. ताजमहल तो कॉलेज के लड़कों और लड़कियों में बेहद पापुलर थी. मुशायरे में ये दोनों नज़्में ख़ासतौर पर लोग फ़र्माइश करके उससे सुनते.

साहिर मुशायरे में अपनी नज़्म पढ़ते हुए झेंप जाया करता था. जब उसके किसी शेर पर लोग दाद देते तो उसका चेहरा शर्म से लाल हो जाता था. खाने पीने में बड़ा सादगीपसंद था. कपड़े ज़्यादातर खद्दर के पहनता. उसका एक गर्म ओवरकोट था जिसे मैं, अहमद राही और आरिफ़ अब्दुल मतीन भी पहना करते थे. इब्ने-इंशा उसको गोगोल का

ओवरकोट कहा करता.

रॉयल पार्क वाली बिल्डिंग के दिन बड़े यादगार दिन थे. इस बे-सरो-सामानी में भी एक दिलकशी और जश्न का पहलू था. हमें कुछ ख़बर न होती थी कि दिन का नाश्ता कर लिया है तो दोपहर का खाना कहां से खायेंगे. नाश्ता यह होता कि चाय के साथ दो स्लाइस खा लेते. रात को जब सिगरेट ख़त्म हो जाते तो आपस में पैसे डाल कर बाज़ार से सिगरेट लाते. बड़े सितारों वाले केपिस्टन का पैकेट उन दिनों शायद तीन चार आने में आता था. ये सिगरेट हम सभी बड़े शौक़ से पिया करते थे. आरिफ़ सिगरेट नहीं पीता था, वह हमें सिगरेट पीते देखा करता था. आरिफ़ अमृतसर से ही नज़्में कहता हुआ लाहौर आया था, और यहां आकर बड़ी अच्छी शायरी कर रहा था.

एक रात ऐसा हुआ कि सिगरेट हमेशा की तरह ख़त्म हो गये तो फ़िक्र तौंसवी ने जेब में हाथ डाल कर दो आने निकाल कर कहा, 'दोस्तो मैं यह नज़राना पेश कर सकता हूं. इस के सिवा इस ख़ाकसार की जेब में ख़ाक नहीं.'

साहिर लुधियानवी कहने लगा, 'चलो ए. हमीद, इसके सिगरेट ले आओ तुम'.

मैंने अहमद राही को साथ लिया तो साहिर ने आवाज़ लगा दी, 'कमीनो! आधे सिगरेट रास्ते में ही न पी आना. यहां आकर हमारे साथ पीना.'

रात काफ़ी गुज़र चुकी थी. सितंबर की ख़ुशगवार रात थी और मामूली सी ठंडक थी. मैकलोड रोड उन दिनों दिन के वक़्त वीरान-वीरान सी होती थी, रात को बिल्कुल ही सुनसान रहती थी. गीता भवन बिल्डिंग के नीचे एक मुरादाबादी बुज़ुर्ग पान सिगरेट का खोखा लगाते थे. वे अपने खोखे में बैठे ऊंघ रहे थे. हमने उनसे केपिस्टन सिगरेटों की आधी डिब्बी ली और रॉयल पार्क में आ गये.

चौक में आकर हम न जाने क्यों शहतीरों पर बैठ कर बातें करने लगे. बातों में ऐसे मगन हुए कि यह ख़याल ही न रहा कि साहिर लुधियानवी और फ़िक्र तौंसवी हमारा इंतज़ार कर रहे हैं. बैठे-बैठे हम दो सिगरेट पी गये. फिर ख़याल आया कि वे लोग तो सिगरेटों का इंतज़ार कर रहे होंगे. जल्दी से उठकर वहां पहुंचे तो हमारा स्वागत बड़ी लच्छेदार गालियों से हुआ. साहिर लुधियानवी का नशा टूटने से बुरा हाल था. फ़िक्र तौंसवी की आंखों से पानी बह रहा था.

'कमीनो! कहां हैं सिगरेट?' हमने झट बाक़ी तीन सिगरेट उनकी तरफ़ फेंक कर कहा,

'हम अपने हिस्से के सिगरेट पी आये हैं.'

साहिर लुधियानवी ने मुस्कुरा कर कहा, 'अब इन सिगरेटों का धुआं भी तुम्हारी तरफ़ नहीं जायेगा. फ़िक्र क़ाबू करके रख ले डिब्बी को.'

फ़िक्र तौंसवी ने डिब्बी खोल कर एक सिगरेट ख़ुद लगाया एक साहिर लुधियानवी को लगा कर दिया. आरिफ़ बोला, 'दोस्तो क्या तुम एक सिगरेट से काम नहीं चला सकते? ख़त्म हो गये तो फिर क्या करोगे, अभी तो सारी रात पड़ी है.'

साहिर लुधियानवी कहने लगा, 'अब तो हम भी पूरा पूरा सिगरेट पियेंगे. ये हमीद और अहमद राही क्यों एक-एक सिगरेट ख़त्म करके यहां आये हैं.'

हमारे लिए बड़ी मुसीबत थी, क्योंकि हमें तो वे सिगरेट का एक कश लगाने की भी इजाज़त नहीं दे रहे थे. हमारे सामने उन्होंने एक एक सिगरेट ख़त्म किया और उसका धुआं भी दूसरी तरफ़ फेंकते रहे. एक सिगरेट बाक़ी रह गया था. आरिफ़ को नींद आ गयी, वह फ़र्श पर बिछी हुई दरी पर सो गया. साहिर लुधियानवी की आंखें भी नींद से लाल हो रही थीं. रात के दो बज चुके थे. उसने जम्हाई लेकर कहा, 'यार मैं तो सोने लगा.'

फ़िक्र ने कहा, 'आज सोफ़े पर मैं सोऊंगा.'

साहिर झट बोला, 'और मैं तुम्हारे सर पर सोऊंगा. मैं ज़मीन पर नहीं सो सकता. मेरी कमर में पहले ही दर्द रहता है.'

अहमद राही ने कहा, 'ओए साहिर फिर तो तुम्हें ज़रूर ज़मीन पर सोना चाहिए, क्योंकि यह हकीमी नुस्ख़ा है

कि जिसकी कमर में दर्द हो उसके लिए फ़र्श पर सोना फ़ायदामंद होता है.'

साहिर लुधियानवी बोला, 'आज तुम क्यों नहीं सो जाते ज़मीन पर?'

'मेरी कमर में दर्द नहीं है'.

फ़िक्र तौंसवी कहने लगा, 'यार क्या फ़ुज़ूल बहस कर रहे हो. मैं तुम लोगों को अपना ताज़ा मज़ाहिया (हास्य) मज़मून सुनाता हूं. ख़ुदा की क़सम तुम लोगों की नींद न उड़ जाये तो फ़िक्र नाम नहीं.'

साहिर लुधियानवी ने हाथ बांध कर कहा, 'ऐ दश्ते-नज्द[2] के आवारा मजनूं! ख़बरदार जो तुमने मज़मून सुनाने का नाम फिर लिया.'

फ़िक्र तौंसवी हंसकर बोला, 'तो फिर चुपके से ज़मीन पर सो जाओ, और मेरे लिए आरामदेह सोफ़ा छोड़ दो.'

साहिर लुधियानवी ने सर झुका कर कहा, 'मैं ज़मीन के अंदर सो सकता हूं मगर तुम्हारा मज़मून नहीं सुन सकता.'

अहमद राही कहने लगा, 'हम भी तो तुम्हारी नज़्में सुनते हैं. कभी तुमसे शिकायत की?'

आरिफ़ अब्दुल मतीन ने लेटे लेटे कहा, 'दोस्तो मेरी नींद तो ग़ारत न करो.'

फ़िक्र तौंसवी ने सर झाड़कर कहा, 'चलो यार अब सो जाओ. ए. हमीद, सहगल का कोई गीत सुनाओ यार. नींद ज़रा जल्दी आ जायेगी.'

मैंने पलंग की पट्टी पर टेक लगाते हुए फ़िल्म 'स्ट्रीट सिंगर' में सहगल का गाया हुआ एक गीत सुनाना शुरू कर दिया: बाबुल मोरा नेहर छूटो जाये...'

साहिर लुधियानवी दरी पर लेटा दीवार की तरफ़ मुंह करके सोने की कोशिश कर रहा था. नींद भरी आवाज़ में बोला, 'ए. हमीद तुम्हारी आवाज़ में बड़ा सोज़ है.'

फ़िक्र तौंसवी बोला, 'तुम रेडियो पर क्यों नहीं गाते!'

आरिफ़ सोते सोते बड़बड़ाया, 'ख़ुदा के लिए सोने दो.'

अहमद राही ने कहा, 'मेरा बुलबुल सो रहा है शोरो-गुल न मचा[3]'

सब सो गये, सिर्फ़ मैं और अहमद राही जाग रहे थे. हम दोनों एक ही पलंग पर चित लेटे छत की हुक को तक रहे थे जिसका पंखा लोग उतार कर ले गये थे. हम नीची आवाज़ में बातें कर रहे थे. साहिर लुधियानवी की नींद भरी आवाज़ आयी, 'ओए... आहिस्ता बातें करो.' मैंने कहा, 'इससे आहिस्ता बात तो आरिफ़ मतीन ही कर सकता है, हम नहीं कर सकते.'

साहिर लुधियानवी हंस पड़ा. आरिफ़ अब्दुल मतीन सो चुका था, नहीं तो वह ज़रूर हम पर कोई न कोई जुमला चुस्त करता. थोड़ी देर बाद हमें भी नींद आ गयी. रात के चार बजे थे कि मेरी आंख अचानक खुल गयी. मैंने फ़ज़ा में सिगरेट के धुएं की ख़ुशबू महसूस की. एक दो बार लंबे-लंबे सांस लिये. कमरे की बंद फ़ज़ा में केपिस्टन के सिगरेट की ख़ुशबू फैली हुई थी. मैं सोचने लगा कि यह छुप छुप कर सिगरेट कौन पी रहा है जबकि रात को हमारे सिगरेट ख़त्म हो चुके थे. बल्कि हमने तो फ़र्श की कोनों खद्दरों से टोटे भी ढूंढ कर पी लिये थे. मैंने अहमद राही को आहिस्ता से हिला कर जगाया और उसके कान में सरगोशी की, 'कोई सिगरेट पी रहा है.' उसने अपनी लाल लाल आंखें खोल कर नाक के चौड़े नथुने फुलाये और सरगोशी में जवाब दिया, 'साहिर के सिवा और कोई नहीं हो सकता.'

फिर वह उछल कर पलंग से उठा और हम दोनों ने फ़र्श पर लेटे साहिर लुधियानवी पर छलांग लगा दी. वह बड़बड़ा कर बोला, 'क्या तूफ़ान आ गया है?'

'सिगरेट कहां है,' अहमद राही ने मांग की. साहिर लुधियानवी मुट्ठी में सिगरेट के टुकड़े को दबाये हुए था.

'कमीने हमसे सिगरेट को छुपा कर पीते हो?'

फ़िक्र तौंसवी भी उठकर बैठ गया. 'यार ये सिगरेट की ख़ुशबू कहां से आ रही है, हमें भी एक कश लगवाओ.'

'साहिर पी रहा है.'

'लाओ यार साहिर, एक घूंट हमें भी इनायत हो!'

'मगर यह हमसे छुपा कर सिगरेट पीता है.'

साहिर बोला, 'आख़िरी टुकड़ा कोने से ढूंढ कर पी रहा था. यह लो कमीनो! तुम भी पियो.' और साहिर लुधियानवी ने टुकड़े का आख़िरी हिस्सा मेरी झोली में फेंक दिया. मैंने झोली को झटका तो जलता हुआ सिगरेट आरिफ़ की गर्दन पर गिरा और वह उछल कर उठ बैठा 'क्या मुसीबत है?'

सिगरेट का टुकड़ा आरिफ़ की गर्दन से उछल कर फ़िक्र तौंसवी के सोफ़े की तरफ़ आया तो उसने दोनों हाथों से कैच करके उसे हथेलियों में दो एक बार उछाला और फिर उसे उंगलियों में दबाकर कश पर कश लगाने शुरू कर दिये. 'सिगरेट के आख़िरी हिस्से में बड़ी निकोटीन होती है. बड़ा नशा आ रहा है.'

फ़िक्र तौंसवी, आरिफ़ और अहमद राही तो फिर सो गये लेकिन मैं और साहिर लुधियानवी जागते और बातें करते रहे. सुबह होने वाली थी. उस वक़्त हमें चाय और सिगरेट की बड़ी तलब हुई. साहिर लुधियानवी ने कहा, 'अगर तुम वायदा करो कि किसी से बात नहीं करोगे तो मैं तुम्हें एक हसीन राज़ बता सकता हूं.'

मैंने कहा, 'वायदा करता हूं. वह हसीन राज़ क्या है?'

साहिर लुधियानवी सरगोशी में बोला, 'मेरी जेब में इस वक़्त पूरे दो रुपये पड़े हैं.' वह आहिस्ता-आहिस्ता हंसने लगा. मैंने अपने सोये हुए दोस्तों की तरफ़ देखकर कहा, 'अगर तुम भी वायदा करो कि किसी से बात नहीं करोगे तो मैं भी तुम्हें एक हसीन राज़ बता सकता हूं.'

साहिर लुधियानवी ने झट से सवाल किया, 'तुम्हारे पास कितने पैसे हैं?'

'डेढ़ रुपया मेरी जेब में है.'

साहिर लुधियानवी कहने लगा, 'चलो फिर बाहर चल कर कहीं चाय पीते हैं.'

'चलो.'

हम दोनों आहिस्ता से दबे-पांव उठकर दरवाज़े के पास ही आये थे कि अहमद राही की भारी भरकम नींद भरी आवाज़ गूंजी, 'तुम दोनों कमीने हो.'

इससे पहले कि अहमद राही हमें गालियां देता, हम भाग कर गली में आ चुके थे और हंस हंसकर हमारा बुरा हाल हो रहा था. साहिर लुधियानवी बोला,

'एक एक सिगरेट उनको भी देकर जायेंगे.'

'ठीक है.'

हम मैकलोड रोड पर आ गये. सितंबर के आसमान पर ठंडक थी और रात ढल रही थी. सड़क सुनसान पड़ी थी. ब्रिस्टल होटल के बाहर एक तांगा खड़ा था जिसका कोचवान अगली सीट पर सो रहा था. मुरादाबादी खोखा बंद था. साहिर लुधियानवी कहने लगा, 'प्यारे इस वक़्त तो सिर्फ़ रेलवे स्टेशन पर ही चाय मिल सकती है. वापसी पर उन लोगों के सिगरेट भी वहीं से लेते आयेंगे. चलो स्टेशन पर ही चलते हैं.'

और हम दोनों रेलवे स्टेशन की तरफ़ रवाना हो गये. रतन सिनेमा वीरान पड़ा था. *चट्टान* का दफ़्तर बंद पड़ा था और बाहर चौकीदार फ़र्श पर ही सो रहा था. लाहौर होटल की इमारत अभी तक पुरानी ही थी और इसके साथ वाली मशहूर पारसी लांड्री और कश्मीरी लांड्री की दुकानें भी बंद थीं. रेलवे स्टेशन जाग रहा था. लोहे की ऊंची छत वाले तांगा-स्टैंड में तांगे खड़े थे. सामने जो छोटा सा प्लाट हुआ करता था वहां मुहाजिर कैंप बना था जहां हिंदोस्तान से आने वाले मुहाजिरीन घड़ी-पल को रुकते थे और फिर उन्हें मुस्लिम लीग के ट्रकों में डाल कर वालटन कैंप पहुंचा दिया जाता था.

हम प्लेटफ़ॉर्म पर आ गये. प्लेटफ़ॉर्म पर टिकट लेने का सवाल ही पैदा न होता था. उन दिनों रेलवे टिकट भी कोई नहीं ख़रीदता था. मुहाजिरीन की स्पेशल ट्रेनें चला करती थीं. मुसाफ़िर मुफ़्त सफ़र करते थे. प्लेटफ़ॉर्म पर जगह-जगह शरणार्थी औरत, मर्द और बच्चे दयनीय स्थिति में बैठे थे. प्लेटफ़ॉर्म नंबर 4 पर लाहौर के विभिन्न इलाक़ों से निकले हुए हिंदू और सिख भी एक जगह जमा होकर बैठे अमृतसर जाने वाली गाड़ी का इंतज़ार कर रहे थे. हिंदोस्तान से आये हुए मुसलमान मुहाजिरीन हिंदू सिखों को अजीब नज़रों से देखते थे.

साहिर लुधियानवी ने कहा, 'इन हिंदुओं सिखों को यहां नहीं आना चाहिए था.'

'तो फिर कहां जाते ये लोग?' मैंने कहा.

साहिर बोला, 'इन्हें डी.ए.वी. कैंप में ही रुके रहना चाहिये था. किसी क़ाफ़िले के साथ वहीं से रवाना होते तो अच्छा था.'

उन दिनों डी.ए.वी. कॉलेज को हिंदू सिख मुहाजिर कैंप में तब्दील कर दिया गया था. ख़ुदा जाने ये हिंदू सिख क्यों और किस तरह रेलवे स्टेशन के प्लेटफ़ॉर्म नंबर 4 पर आकर बैठ गये थे. हम रेलवे कैंटीन के काउंटर पर खड़े हो कर चाय पीने लगे. वहीं से हमने सिगरेट भी ले लिये थे. रेलवे स्टेशन की चाय बड़ी अच्छी होती थी और भरी प्याली दो औंस की हुआ करती थी. प्याली के बाहर लिखा होता था: 'दो औंस'.

इतने में शोर मचा कि प्लेटफ़ॉर्म नंबर 2 पर फ़िरोज़पुर से मुसलमानों की एक कटी हुई रेलगाड़ी आयी है. मैं और साहिर लुधियानवी प्लेटफ़ॉर्म नंबर 2 पर आ गये. थर्ड क्लास के लाल डिब्बों वाली एक रेल अभी अभी प्लेटफ़ॉर्म पर आकर लगी थी और मुस्लिम लीग के कार्यकर्ता और पुलिस के सिपाही डिब्बों में से ज़ख़्मी और शहीद मुसलमान औरतों, बच्चों, बूढ़ों और नौजवानों की लाशें निकाल रहे थे. डिब्बों में ख़ून ही ख़ून था. कटे हुए इंसानी अंग जगह जगह बिखरे पड़े थे. ज़ख़्मी कराह रहे थे और उनकी आंखें दहशत से फटी फटी थीं. लाशों के जिस्म तलवारों और नेज़ों और किरपाणों की मार से छलनी थे. साहिर लुधियानवी ने मेरे कान में कहा, 'अब इन हिंदू सिखों की ख़ैर नहीं जो प्लेटफ़ॉर्म नंबर चार पर बैठे हैं. चलो यहां से निकल चलें.'

मैंने स्पेंसेर्ज़ की ख़ुशबूदार चाय का आख़िरी घूंट याद किया और सिगरेट सुलगा कर साहिर के साथ पुल की सीढ़ियां उतर कर स्टेशन से बाहर आ गया. अब दिन का उजाला चारों तरफ़ फैल चुका था. रेलवे पोस्ट ऑफ़िस की ओर से शरणार्थी मुहाजिर परेशान हाल बाहर निकल रहे थे. हम प्लाट वाले मुस्लिम लीग के छोटे से कैंप में आकर रुक गये. एक बंद शीशों वाली वैगन मैकलोड रोड की ओर से आयी और स्टेशन के पोर्च के सामने रुकने ही लगी थी कि उस पर हमला हो गया.

मालूम हुआ कि यह स्टेशन वैगन हिंदू औरतों और बच्चों से भरी हुई है. हमलावर लाठियों और ख़ंजरों से लेस उसकी तरफ़ बढ़े. वैगन की रफ़्तार हल्की थी. उन्होंने हमला कर दिया और वैगन के शीशों पर लाठियां बरसानी शुरू कर दीं. ड्राइवर ने बड़ी होशियारी का सबूत दिया और वैगन को, ठहरते-ठहरते फिर से पहले गियर में डाल कर जो उठाया तो बड़ी तेज़ी के साथ हमारे कैंप के आगे से भगा कर निकाल कर ले गया. जो हिंदू ख़ानदान वैगन में सवार था, बड़ा ख़ुशक़िस्मत था कि बच कर निकल गया.

रेलवे पोस्ट ऑफ़िस की तरफ़ से कुछ सिपाही और दूसरे नौजवान पाकिस्तान का झंडा लहराते, 'पाकिस्तान ज़िंदाबाद' के नारे लगाते हुए रेलवे के बरामदे की तरफ़ बढ़े. ठीक उसी वक़्त एक बदक़िस्मत सिख नौजवान को मौत घेर कर वहां ले आयी. ख़ुदा जाने उस सिख नौजवान की अक़्ल मारी गयी थी कि हाथ में छोटा सा चमड़े का अटैचीकेस लिये शहीद गंज की ओर से आया और स्टेशन के पोर्च की तरफ़ बढ़ा. निसवारी रंग का सूट पहने, निसवार पगड़ी बांधे वह एक जवान और ख़ुश-शक्ल सिख था. लड़कों ने उसे वहीं पकड़ लिया. मौत को अपने सामने देखकर सिख हमारे कैंप की तरफ़ भागा. एक लड़के ने डबल ईंट उठा कर ज़ोर से उसके माथे पर मारी. सिख की पगड़ी खुल कर सड़क पर गिर पड़ी. उसके बाल बिखर गये. माथे से ख़ून का फ़व्वारा बह निकला और वह चकराता हुआ हमारी तरफ़ आया. पीछे से एक भरपूर वार लाठी का पड़ा. सिख नौजवान के हाथ से अटैची केस गिर कर खुल गया और वह सड़क पर गिर पड़ा. उसके गिरते ही एक नौजवान ख़ंजर लहराता उसके सीने पर चढ़ कर बैठ गया और उसके सीने और पेट पर ख़ंजर के वार करने शुरू कर दिये.

सिख नौजवान ने मौत को क़बूल कर लिया था. वह हमसे कोई दस-बारह क़दम पर सड़क पर चित्त पड़ा था और किसी तरह का प्रतिरोध नहीं कर रहा था. वह ख़ून में नहा गया था. उसका सीना और पेट जगह-जगह से फाड़ कर लड़का उठकर एक तरफ़ भाग गया था. सिख सड़क पर सीधा लेटा था और उसका ख़ून बह रहा था. उसने दो एक बार गर्दन को दायें-बायें हरकत दी और फिर ठंडा हो गया. ख़ुदा जाने वह कौन था, कहां जा रहा था.

अटैचीकेस की चीज़ें लूट ली गयी थीं. हो सकता है वह अपनी बहन के लिए लाहौर से ख़रीदी हुई चूड़ियां ले जा रहा हो. हो सकता है उसकी बहन आज भी हिंदोस्तान के किसी शहर में अपने भाई की राह देख रही हो.

इस तरह के क़त्ल हमने बहुत देखे थे. मैंने अमृतसर में इसी तरह मुसलमानों को सड़कों पर सिखों की किरपाणों से शहीद होते देखा था. साहिर लुधियानवी का जी ख़राब होने लगा. 'यार यहां से भाग चलो.'

हम रेलवे हेडक्वार्टर की तरफ़ को निकले ही थे कि मालूम हुआ कि वहां भी सड़क पर कुछ अर्ध-मृत लोग बुरी तरह ज़ख़्मी हालत में पड़े हैं. एक ज़ख़्मी किसी न किसी तरह उठकर खड़े होने में कामयाब हो गया. वह लड़खड़ाता हुआ अपने पेट की निकली हुई अंतड़ियों को दोनों हाथों से संभालता चंद क़दम ही चला होगा की पीछे से एक सिपाही ने राइफ़ल लोड करके उसकी पीठ का निशाना बांधा और हमारी आंखों के सामने फ़ायर कर दिया. धमाके की आवाज़ के साथ ही गोली उस बदनसीब की पीठ पर लग कर फटे हुए पेट में से निकल गयी और वह थोड़ा सा उछल कर गिरा और फिर न उठ सका.

साहिर लुधियानवी का रंग ज़र्द हो रहा था और हाथ कांप रहे थे. उसने मेरा बाज़ू दबाते हुए कहा, 'मैं ये सब कुछ अब नहीं देख सकता, हमीद, किसी तरह यहां से निकल चलो.' रेलवे स्टेशन के इर्दगिर्द का इलाक़ा इतना आबाद और घना नहीं था. सामने ईंटों पत्थरों से अटा हुआ मैदान सा था. हम उसमें से गुज़र कर मैकलोड रोड की तरफ़ निकल आये. *चट्टान* के दफ़्तर तक हमने ख़ामोश रह कर फ़ासला तय किया. साप्ताहिक *चट्टान* अभी प्रकाशित नहीं हुआ था. इसके पहले पर्चे की तैयारी हो रही थी और शोरिश काश्मीरी ने मुझसे मेरा अफ़साना ले लिया था. शोरिश काश्मीरी साहिब ने मुझे मुआवज़े के तौर पर ब्लैक एंड वाईट सिगरेट का एक डिब्बा और एक माचिस दे दी थी, मैंने उसी पर संतोष किया था, क्योंकि चट्टान तोड़ कर मुआवज़े की रक़म निकालने की हिम्मत मुझमें न थी.

चट्टान के दफ़्तर में अभी तक सिवाय सुलेखकों और चपरासी के कोई भी नहीं था. सुलेखक पहले पर्चे की कापियां लिखने में व्यस्त थे. यहां से निकल कर हम चौक लक्ष्मी होते हुए रीजेंट सिनेमा के सामने वाली एक-मंज़िला पीले रंग की पुरानी कोठी के अहाते में आ गये. यहां फ़िल्मी साप्ताहिक, *अदाकार* का दफ़्तर था जिसका संपादक क़तील शिफ़ाई था. वह अभी नहीं आया था. कार्यकारी संपादक अताउल्लाह हाश्मी साहिब भी अभी नहीं आये थे.

'चलो इब्ने-इंशा के घर चलते हैं.'

सवेरा का नया दफ़्तर लक्ष्मी चौक, गीता भवन की दूसरी मंज़िल पर होता था. नीचे पैराडाइज़ रेस्टोरैंट खुला था. मैंने कहा, 'यहां बैठ कर नाश्ता करते हैं, हो सकता है इब्ने-इंशा भी यहां आ जाये.' पैराडाइज़ रेस्टोरेंट मैकलोड रोड का कॉफ़ी-हाऊस था. सभी तरक़्क़ीपसंद अदीब और शायर उसी जगह बैठते थे. रेस्टोरेंट का मालिक यूपी का एक सुर्ख़-सफ़ेद दुबला-पतला नौजवान था जिसको शायरों और अदीबों में बड़ी श्रद्धा थी. इसी श्रद्धा को अभिव्यक्त करने का एक पहलू था कि जब किसी शायर या अफ़सानानिगार का बिल बढ़ जाता तो वह रेस्टोरेंट के बाहर लगे हुए ब्लेकबोर्ड पर उस शायर या अदीब का नाम लिख कर आगे उस पर उधार की रक़म दर्ज कर देता था.

पैराडाइज़ रेस्टोरेंट ख़ाली था. नौकर फ़र्श धो रहे थे. हम अंदर जाकर कुर्सियों पर बैठ गये. थोड़ी देर बाद क़मर अंबालवी आ गया. ऊंचा लंबा, गहरे घने काले बालों वाला. मुट्ठी में सिगरेट दबाये ज़ोर से कश लगा कर उसने हम दोनों को देखा और हंसता हुआ हमारे पास आकर बैठ गया.

'सुब्हे-दम दरवाज़ा-ए-ख़ावर खुला[4]. चाय तो मैं भी पीउंगा कामरेड!'

इतने में इब्ने-इंशा भी आ गया. 'अरे तुम लोग रात से इसी जगह बैठे लगते हो. कमबख़्तो! इस शहरे-दिल-फ़िगार[5] में सूरज तो निकल लेने दिया करो.' साहिर लुधियानवी उदास था क्योंकि उसने रेलवे स्टेशन पर दो इंसानों को क़त्ल होते देखा था. क़मर अंबालवी ने कहा, 'सारे पूरबी पंजाब में यही कुछ हो रहा है दोस्तो. अब क्या किया जा सकता है!' इब्ने-इंशा नाक पर ऐनक जमाते हुए बोला, 'साहिर इस पर एक नज़्म ज़रूर लिखना.'

उसी रात साहिर लुधियानवी ने एक नज़्म लिखी जिसमें उसका फ़न और अनुभव अपने चरम पर थे. वह नज़्म

उसके दूसरे काव्य-संकलन में शामिल है. यह नज़्म *सवेरा* के शुमारे में छपी और मुल्क भर में बहुत पसंद की गयी.

रॉयल पार्क की बिल्डिंग हमसे छिन गयी. आरिफ़ अब्दुल मतीन ने पुरानी अनारकली और अहमद राही ने ग्वालमंडी में मकान अलाट करवा लिये. फ़िक्र तौंसवी को लाहौर छोड़कर हिंदोस्तान जाना पड़ गया. मेरा ख़याल है कि फ़िक्र तौंसवी और कन्हैयालाल कपूर दो आख़िरी ग़ैर-मुस्लिम अदीब थे जिन्होंने रोते हुए बेदिली से लाहौर को अलविदा कहा.

साहिर लुधियानवी को निशात सिनेमा के सामने वाला 'भूत घर' अलाट हो गया. हमारी फ़ैमिली भी लाहौर आ गयी और फ़ैज़ बाग़ में एक मकान में रहना शुरू कर दिया. साहिर लुधियानवी का कमरा निचली मंज़िल में था. बिल्डिंग ख़स्ताहाल थी. दीवारों का चूना गिर रहा था. ऊंची छत में जाले लटके थे. ग़ुसलख़ाने की खिड़की बंद न होती थी. नलके की टोटी से पानी हर वक़्त गिरता रहता था. इस जगह खिड़की में टूटा हुआ शीशा रखकर साहिर लुधियानवी शेव बनाया करता था. रौशनदान में चिड़ियों ने घोंसला बना रखा था. इस इमारत के आगे एक लॉन था जिसमें झाड़-झंकाड़ उगा हुआ था. आजकल जो यहां कड़ाही-टिक्का के खोखे हैं पहले यहां नहीं थे. सामने *इमरोज़* का दफ़्तर था जिसके एक तरफ़ किसी गुड्ज़ ट्रांसपोर्ट कंपनी ने दफ़्तर बना रखा था.

इब्ने-इंशा ने इसी बिल्डिंग की एक एनेक्सी अलाट करवा ली थी, जिसकी छत लाल और शंकुवाकार थी. यह चीनी तर्ज़ का एक-मंज़िला मकान आज भी वैसा ही है, और इब्राहीम जलीस उसे 'चीनी पगोडा' कहा करता था. साहिर के कमरे में सिर्फ़ एक चारपाई, एक मेज़, दो कुर्सियां और एक पुरानी सी दरी बिछी थी. अंधेरा सा छाया रहता. गर्मियों में यह कमरा बड़ा ठंडा और सर्दियों में बहुत ज़्यादा सर्द होता.

दोपहर के बाद मैं और साहिर साप्ताहिक, *अदाकार* के दफ़्तर में गये. क़तील शिफ़ाई प्रेस में भेजने से पहले पर्चे की कापियां देख रहा था. उसने हमारे लिए चाय मंगवायी और उंगली खड़ी करके बोला, 'सिर्फ़ एक मिनट.' ख़ुश-शक्ल नौजवान, घने स्याह बालों वाला सुर्ख़-सफ़ेद क़तील शिफ़ाई ज़िंदगी और शायरी की सलाहियत से भरपूर था. इश्क़ो-मुहब्बत के साथ-साथ उसकी नज़्मों और ग़ज़लों में वर्ग-अंतर से पैदा होने वाली समस्याओं की भी भरपूर चेतना थी. उसकी ग़ज़ल उस दौर की नयी आवाज़ थी. चमकते खनकते और लय से भरपूर शेर कहता था (और आज भी कहता है), साफ़ और खरी बात करता है, और कभी ऐसी जुगत करता कि हम लोटपोट हो जाते.

साहिर लुधियानवी *अदाकार* का पुराना अंक पढ़ने लगा. चाय आ गयी. क़तील ने कापी प्रेस भिजवा दी और सिगरेट हमारी तरफ़ करके बोला, 'यार तुम लोग बड़े हरजाई हो. वायदा करते हो मगर भाग जाते हो. अगली बार अगर तुम दोनों ने अपनी कोई चीज़ न दी तो मैं वाक़ई नाराज़ हो जाऊंगा.'

क़तील शिफ़ाई की नाराज़गी हमें गवारा नहीं थी. साहिर लुधियानवी ने कहा, 'मैं एक नज़्म ज़रूर दूंगा. ए. हमीद से तुम बात कर लो, क्योंकि इसका कोई एतबार नहीं.'

क़तील ने मेरी तरफ़ देखकर कहा, 'क्यों भई ए. हमीद! अब बात करो मुझ से.'

'अफ़साना तो नहीं, मज़ाहिया मज़मून का पक्का वायदा करता हूं.'

'चलो हो गयी बात. अब लो एक अदद सिगरेट का मुझे नुक़सान पहुंचाओ.'

उसी शाम को तरक़्क़ी-पसंद मुसन्निफ़ीन की गोष्ठी थी जिसमें साहिर पर एक साहिब लेख पढ़ने वाले थे. मैं उनका नाम भूल गया हूं, शक्ल याद है. यह साहिब पक्के रंग के, पुख़्ता उम्र के थे और अलीगढ़ छोड़ कर आये थे. इसी दफ़्तर में चार बज गये. हम तीनों *अदाकार* के दफ़्तर से उठकर सीधे दयालसिंह कॉलेज की लाइब्रेरी में आ गये जहां अंजुमन की साहित्यिक सभा होने वाली थी. सभी दोस्त जमा थे. अलीगढ़ वाले साहिब ने साहिर लुधियानवी पर अपना परचा पढ़ा. बड़ा विचारोत्तेजक लेख था लेकिन उन्होंने साहिर लुधियानवी की रूमानियत की सख़्त आलोचना की थी.

वैसे भी तरक़्क़ीपसंद मुसन्निफ़ीन रूमानियत के जानी दुश्मन थे. मेरे अफ़सानों पर उन्हें सबसे बड़ा एतराज़ यह होता था कि मैं नारियल के दरख़्तों और बौद्ध मंदिर की देवदासियों और पीले गुलाबों और मोतिये के गजरों के बिना एक क़दम आगे नहीं चलता. साहिर लुधियानवी हालांकि इतना अधिक रोमांटिक नहीं था और उसकी शायरी में हमें

यथार्थवाद और समाज से बग़ावत ख़ूब मिलती है लेकिन ख़ुदा जाने इन अलीगढ़ वाले साहिब को साहिर की आटे में नमक के बराबर रूमान-पसंदी भी क्यों गवारा न हुई! साहिर मेरे पास बैठा था. मैंने उस के कान में कहा, 'अगर यह साहिब मेरी कहानियों पर मक़ाला लिखते तो शायद सिर्फ़ इसी जुमले पर मक़ाला शुरू कर के ख़त्म कर देते कि 'ए. हमीद के अफ़सानों में कुछ नहीं है.'

साहिर लुधियानवी ने सिगरेट का हल्का सा कश लगाते हुए कहा, 'अभी हदीसे-दिल की बहुत तफ़सीरें लिखी जायेंगी प्यारे!'[6]

साहिर लुधियानवी को अपनी देशव्यापी लोकप्रियता का भरपूर एहसास था. वह जानता था कि इस दौर की नयी नस्ल का फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ के बाद वही पसंदीदा शायर है. वह फ़ैज़ साहिब का बहुत सम्मान करता था और उनका प्रशंसक था. सैफ़ुद्दीन सैफ़ की शायरी को वह बड़े जज़्बे की शायरी समझता था. ग़ज़ल में क़तील और अब्दुल हमीद 'अदम' का डंका बज रहा था. कॉलिजों में मुशायरे होते तो यही लोग मुशायरा लूट कर ले जाते थे. उन्ही दिनों साहिर ने एक दिन बड़ी राज़दारी के साथ एक लड़की के बारे में बताया कि वह उससे इश्क़ करती है. मैंने साहिर लुधियानवी की तरफ़ देखा. वह कुछ शरमाते हुए मुस्कुरा रहा था और उसके चेहरे के चेचक के हल्के हल्के दाग़ शर्मो-हया की सुर्ख़ी में गुम होते दिखायी देते थे. मैंने पूछा, 'क्या तुम भी उससे इश्क़ करते हो?'

उसके होठों में सिगरेट था. हल्का सा कश लगा कर धुआं छोड़ते हुए बोला, 'कौन काफ़िर उससे इश्क़ नहीं करेगा. वह ख़ूबसूरत लड़की है.' मैं उस लड़की को जानता था. वह वाक़ई ख़ूबसूरत लड़की थी, लेकिन साहिर के मुक़ाबले में बड़ी होशियार थी. वह शेर भी लिखती थी और कभी कभी कॉलेज के मुशायरों में हिस्सा भी लेती थी. साहिर लुधियानवी उसकी ग़ज़लों, नज़्मों को ठीक कर दिया करता था. इस्लाह तो यूं ही एक बहाना था. इब्ने-इंशा ने मुझे बता दिया था कि साहिर उस ख़ातून को ख़ुद शेर लिख कर देता है. मैं उस ख़ातून का यहां नाम नहीं लिखूंगा, वह आज पाकिस्तान में एक ऊंचे ओहदे पर फ़ाइज़ है और बड़ी पुरसुकून ज़िंदगी बसर कर रही है.

एक दिन मैं इब्ने-इंशा के चीनी मंदिर से उठकर साहिर की तरफ़ गया तो वह ग़ुसलख़ाने के टूटे हुए शीशे के आगे खड़ा रगड़ रगड़ कर शेव बना रहा था. मुझे शीशे में से उसकी एक आंख नज़र आयी.

'वह चीनी भिक्षु कहां है?' साहिर लुधियानवी का मक़सद इब्ने-इंशा से था. मैंने साहिर के पलंग पर बैठकर, *न्यू टाइम्स* का ताज़ा शुमारा उठाते हुए कहा, 'वह भी अपने टूटे हुए शीशे के सामने खड़ा रगड़ रगड़ कर शेव बना रहा है.'

साहिर तौलिये से मुंह पोंछता हुआ ग़ुसलख़ाने से बाहर आ गया. वह गुनगुना रहा था. मैंने पूछा, 'आज यह तैयारी किसलिए हो रही है? क्या उससे तो मिलने नहीं जा रहे?'

साहिर लुधियानवी मुस्कुराने लगा, 'मैं पतलून पहन कर अभी आया.'

मैंने कहा, 'तुमने मेरे सवाल का जवाब नहीं दिया?'

'पतलून पहन कर आता हूं. फिर सवाल का जवाब दूंगा.'

थोड़ी देर में वह आ गया. उसने क्रीम-कलर की ठंडी पतलून पहन रखी थी. उसके काले स्याह बाल पीछे को जमे हुए थे और चमक रहे थे. बिस्कुट रंग की पूरी आस्तीन की बुशर्ट ने उसकी पतली बांहों को छुपा रखा था. उसने कार्निस पर रखे टाइम-पीस में वक़्त देखा और झुक कर आईने में अपना चेहरा तकने और बालों में एक बार फिर कंघी फेरने लगा. मैंने रिसाला फेंकते हुए कहा, 'तुम्हारे इरादे क्या हैं आज?'

'आओ मेरे साथ.' और मैं उसके पीछे पीछे कमरे से निकल कर अहाते की पगडंडी पर से होकर दूसरी तरफ़ ऐबट रोड पर आ गया.

'इब्ने-इंशा को भी साथ ले लेते हैं.'

'ओए ख़ुदा का नाम लो ए हमीद.' साहिर ने होंटों पर उंगली रखते हुए कहा. 'उसको तो बिल्कुल ख़बर नहीं करनी.'

'किस बात की?' मैंने पूछा. साहिर ने मेरे कंधे पर हाथ रखकर कहा, 'तुम आओ तो सही.'

चेरिंग-क्रॉस में जहां आजकल वापडा की विशालकाय बिल्डिंग खड़ी है, वहां उन दिनों मशहूरे-ज़माना मेट्रो होटल हुआ करता था. उस होटल के बारे में आपसे फिर कभी बात करूंगा. इस वक़्त मैं साहिर लुधियानवी के साथ इस होटल में दाख़िल हो रहा हूं. गार्डेनिया बेल का हरियाली से भरा छोटा सा महराबी दरवाज़ा पार करके हम मेट्रो होटल के लॉन के रास्ते पर बेद की कुर्सियों पर आकर बैठ गये. दिन के दस बजे थे, यहां शाम को रौनक़ लगती थी. अभी सिवाय हमारे कोई गाहक न आया था. म्यूज़िक-डायस ख़ाली था. एक बैरे ने हमें अंदर दाख़िल होते देख लिया था, वह हमारे पास आ गया था. साहिर लुधियानवी ने कहा, 'चाय लाओ भाई.'

बैरा चाय लेने चला गया, साहिर ने सिगरेट की डिब्बी खोली. एक अदद सिगरेट मुझे दिया, एक ख़ुद सुलगाया और कश लगा कर माचिस की तीली मोतिये की झाड़ियों में फेंकी और बड़े रहस्यमय अंदाज़ में देखकर मेरी तरफ़ मुस्कुराने लगा. मैंने कहा, 'देखो साहिर! इश्क़-मुआशक़ा मेरे लिए कोई भेदभरी चीज़ नहीं है. मैं अमृतसर से इश्क़ करता आया हूं, और यहां भी इश्क़ कर रहा हूं. तुम्हें यह रोग पहली बार नहीं लगा. मुझे हमीद अख़्तर और इब्ने-इंशा ने बता दिया था कि लुधियाना में भी लड़कियां तुम पर मरा करती थीं. यह अलग बात है कि तुम किसी को नहीं मार सके. इसलिए जो कुछ इस वक़्त तुम्हारे दिल में है उसे बयान कर दो. हो सकता है मैं तुम्हें कोई उम्दा मश्विरा दे सकूं.'

साहिर लुधियानवी ने कहा, 'इसीलिए तो मैं तुम्हें साथ लाया हूं. बात यह है कि...'

बात यह थी कि उसी ख़ातून से आज मेट्रो होटल के एक कमरे में मुलाक़ात करने वाला था जिसको शेर लिख कर दिया करता था. वैसे तो साहिर की उससे रोज़ मुलाक़ात होती थी लेकिन तन्हाई में दोनों की शायद पहली मुलाक़ात थी. साहिर अकेले में उस ख़ातून से मिलते हुए कुछ घबरा रहा था.

मैंने उससे पूछा, 'कमरा किसका है?'

'सलीम शाहिद का.'

सलीम शाहिद एक अर्से से बीबीसी लंदन में हैं. हमारे बुज़ुर्ग दोस्त थे और दोस्तों के लिए बड़ी क़ुर्बानियां देते थे. वे मेट्रो होटल के एक कमरे में रहते थे. साहिर लुधियानवी ने उनसे ज़िक्र किया तो उन्होंने अपने कमरे की चाबी साहिर के हवाले कर दी और कहा, 'डुप्लीकेट मेरे पास है. मैं कल सुबह दस बजे से लेकर चार बजे तक अपने कमरे में नहीं हूंगा.'

साहिर लुधियानवी ने पतलून की पिछली जेब से चमकती हुई चाबी निकाल कर मुझे दिखायी, 'चाबी मेरे पास है.'

'वह किस वक़्त आ रही है?' मैंने पूछा.

'ग्यारह बजे.'

'उसे सलीम शाहिद के कमरे का इल्म है?'

'हां.'

'अब तुम क्या चाहते हो? भागना चाहते हो तो मेरे साथ भाग चलो.'

साहिर लुधियानवी सोच में पड़ गया. मैं आज भी यक़ीन से कह सकता हूं कि वह उस वक़्त भाग जाना चाहता था क्योंकि बाद में जब वह बंबई गया तो मुझे पता चला कि वह कई बार मौकों से भाग गया था. लेकिन मैं नहीं चाहता था कि वह भागे. मैंने उसकी हिम्मत बंधायी कि अगर उसने बुज़दिली का प्रदर्शन किया तो एक शरीफ़ ख़ातून का दिल टूट जायेगा. लिहाज़ा उसे हिम्मत से काम लेना चाहिए. बाक़ी मुझे यक़ीन था कि वह ख़ातून साहिर को संभाल लेगी क्योंकि मैं उसे जानता था.

बाद में मुझे मालूम हुआ कि मैं भी उसे नहीं जानता था. साहिर लुधियानवी को सलीम शाहिद के कमरे में छोड़कर मैं नीचे होटल के लॉन में आया तो वह ख़ातून उस ज़माने के क़ीमती सेंट में बसी बेहतरीन लिबास पहने

होटल के बाहर तांगे से उतर रही थी. मुझे देखकर रुक गयी. मैंने आदाब कहा. वह कुछ ठिठकी, फिर मुस्कुराती हुई मेरी तरफ़ बढ़ी, 'लंदन से मेरी एक सहेली आयी हुई है. उससे मिलने आयी हूं. आप कैसे हैं?'

मैं तो ठीक था पर साहिर लुधियानवी की फ़िक्र ज़रूर थी जिसे मैं ऊपर कमरे में अकेला छोड़ आया था. वह मुझसे दो-चार झूठ बोल कर चली गयी. मैंने एहतियात के लिए होटल के पिछवाड़े जाकर तसल्ली कर ली कि कहीं साहिर ने कमरे की खिड़की में से नीचे छलांग तो नहीं लगा दी. साहिर अभी तक कमरे में ही था. बड़ी अच्छी बात थी. कम्बख़्त लाहौर के रुमानवी शायरों के नाम डुबोने पर तुला हुआ था.

दोपहर के बाद पैराडाइज़ होटल ख़ासतौर पर साहिर को देखने और उसके इश्क़ के संग्राम की कहानी सुनने के लिए गया. साहिर लुधियानवी अभी नहीं आया था. ज़हीर काश्मीरी अपनी सुनहरी गंदी-मंदी उंगली उठाये कॉलेज के चंद लड़कों को अपनी नज़्म सुना रहा था. मैं वहां से साहिर के घर आ गया. मालूम हुआ कि अभी अभी आया है.

'क्या हुआ फिर?' मैंने कमरे में दाख़िल होते ही सवाल कर दिया. वह सर को झटक कर बोला, 'यार वह तो कोई आदमी है, औरत नहीं है.'

'क्या मतलब?'

'मेरा मतलब है कि वो तो... वो तो...'

साहिर लुधियानवी ने जो कहानी सुनायी वह यह थी कि जब वह कमरे में दाख़िल हुई, साहिर ने उठकर उसका स्वागत किया, उसके घर वालों का, मां-बाप और बहन-भाइयों का हाल पूछा. वह एक-एक का हाल बताती चली गयी. फिर वह ख़ामोश हो गयी. साहिर लुधियानवी भी चुप हो गया. थोड़ी देर बाद साहिर ने पूछा, 'और क्या हाल है?' ख़ातून ने मुस्कुराकर कुछ और हाल बताया. फिर ख़ामोशी छा गयी. साहिर लुधियानवी ने एक बार फिर पूछा, 'और सुनाएं क्या हाल है?' ख़ातून ने थोड़ा सा और हाल बता दिया. इसके बाद उसका हाल ख़त्म हो गया. इसके बाद ख़ातून ने साहिर लुधियानवी का मज़ीद हाल पूछना शुरू कर दिया, 'और क्या हाल है आपका.'

'बस जी आपकी दुआये हैं.' और जब साहिर लुधियानवी के पास भी अपना हाल बताने के लिए कुछ न रहा तो दोनों ख़ामोश हो गये. ख़ातून बड़ी चालाक थी, उसने साहिर से ताज़ा ग़ज़ल की फ़र्माइश कर दी, 'किनैअर्ड कॉलेज में बज़्मे-ख़वातीन का मुशायरा है. कोई अच्छी सी ग़ज़ल लिख दें ना.'

'क्यों नहीं. अभी लिखे देता हूं.' और साहिर लुधियानवी ने एक ख़ूबसूरत ख़ातून के होते हुए भी काग़ज़-क़लम लेकर फ़िक्रे-सुख़न करना शुरू कर दिया. इससे ज़्यादा बदक़िस्मत शायर और कौन होगा भला!

साहिर लुधियानवी के लिए ग़ज़ल कहना कोई मुश्किल बात न थी. उसने दस पंद्रह मिनट में बड़ी अच्छी ग़ज़ल कह दी और आगे बढ़ा दी. ख़ातून ने पसंद की और कहा, 'एक ग़ज़ल और लिख दीजिए ना. अगर लड़कियों ने दूसरी ग़ज़ल की फ़र्माइश कर दी तो क्या करूंगी. पुरानी ग़ज़ल सुनाने को दिल नहीं चाहता मेरा.'

'अभी लिखे देता हूं दूसरी ग़ज़ल भी' और साहिर लुधियानवी ने दूसरी ग़लती करनी शुरू कर दी. इसके बाद साहिर ने दो-तीन ग़लतियां और कीं, और ख़ातून को दो नज़्में भी लिख कर अता कर दीं. फिर उसने खाना मंगवाया और दोनों ने मिलकर खाया. खाने के बाद ख़ातून ने अंगड़ाई ली और कहा, 'मैं कुछ देर आराम करना चाहती हूं.'

साहिर लुधियानवी ने एक बार फिर ग़लती करते हुए कहा, 'अच्छा तो फिर मैं चलता हूं. आप आराम करें.'

'जैसी आपकी मर्ज़ी!'

अब एक शरीफ़ ख़ातून जो बदमाशी में भी शराफ़त का दामन नहीं छोड़ना चाहती थी, इससे ज़्यादा और क्या कह सकती थी! नतीजा यह निकला कि वह ख़ातून अकेली सो गयी और साहिर लुधियानवी कमरे से निकल कर घर आ गया.

आती दफ़ा कह आया कि चाबी फ़लां बैरे को दे दीजिएगा. मैंने साहिर से कहा, 'इससे यह तो साबित हो गया कि तुम औरत हो, मगर यह कहां साबित होता है कि वह ख़ातून मर्द थी?' साहिर ने झुंझला कर कहा, 'कम्बख़्त मर्दों की तरह रोटी के निवाले को सालन में डुबो कर खाती थी. और बोटी की हड्डी तक कचर-कचर चबाती थी. उसके मुंह से कुरकुर की आवाज़ निकलती थी.'

'तुम क्या चाहते थे कि किस क़िस्म की आवाज़ आनी चाहिए उसके मुंह से?'

साहिर लुधियानवी ने गर्दन को खुजाते हुए कहा, 'बस यार मुझे तो वो खाना खाते हुए ज़हर लग रही थी.'

'जब वो खाना नहीं खा रही थी तो तुम क्या कर रहे थे उस वक़्त?'

'उसके लिए शे'र लिख रहा था.'

मैंने कहा, 'बस प्यारे फिर शेर ही लिखा करोगे सारी उम्र.'

साहिर ने सिगरेट सुलगाया और नाक सुकेड़ कर बोला, 'एक और बड़ी बुरी हरकत की उसने.'

'वो भी बयान कर दो.'

'वो यह कि जब मैं दरवाज़ा बंद करके कमरे से बाहर निकला तो मैंने उसके ख़र्राटों की आवाज़ सुनी'

बहरहाल यह साहिर लुधियानवी की अपनी नाज़ुक-मिज़ाजी थी. शायराना मिज़ाज तो उसका ज़रूर था, अत्यंत संवेदनशील भी था; और ख़ूबसूरत औरत के ख़र्राटे तो बड़े से बड़ा खुर्राट आदमी भी कम ही बर्दाश्त करता होगा. इस मामले में साहिर सच्चा था. वह कई मामलों में सच्चा था.

उन्हीं दिनों इंक़लाबी नज़्में लिखने की वजह से साहिर के पीछे सीआईडी लग गयी. वह डरपोक होने की हद तक अमन-पसंद था, चुनांचे घर से बहुत कम बाहर निकलता. उन्हीं दिनों कैफ़ी आज़मी लाहौर आ गया. कैफ़ी के साथ पाक टी हाउस और पैराडाइज़ में महफ़िलें सजने लगीं. हमीद अख़्तर यहां पहले ही से मौजूद था. लेकिन साहिर घर से बाहर कम निकलता था. हमने उसे बहुतेरा समझाया कि कोई ऐसी बात नहीं है, लेकिन उसे कुछ ज़्यादा ही डराया और धमकाया जा रहा था.

असल में लाहौर की दो मशहूर शख़्सियतें साहिर के ख़िलाफ़ साज़िश कर रही थीं कि किसी तरह वह पाकिस्तान से चला जाये. उन्होंने साहिर के ख़िलाफ़ बाक़ायदा मुहिम शुरू कर रखी थी. अख़बारों और साप्ताहिक रिसालों में साहिर के ख़िलाफ़ उसकी कुछ नज़्मों के हवाले से लेख छप रहे थे, कालम लिखे जा रहे थे. साहिर लुधियानवी ने एक रोज़ घबरा कर बंबई जाने का फ़ैसला कर लिया. मैंने, इब्ने-इंशा और हमीद अख़्तर ने उसे बहुत समझाया कि ऐसी कोई बात नहीं है, उसके ख़िलाफ़ यह मुहिम एक प्लान के तहत चलायी जा रही है, उसका कोई बाल भी बांका नहीं कर सकता. मगर साहिर के पांव लाहौर के मैदान से उखड़ चुके थे. हम उसे बार बार समझाते कि लाहौर से न जाये. वह बार बार यही कहता, 'नहीं, अब मैं यहां नहीं रहूंगा.'

कैफ़ी आज़मी बंबई जा चुका था. उसने बंबई से साहिर लुधियानवी को ख़त लिखा कि प्यारे बस आ जाओ, बंबई की फ़िल्म इंडस्ट्री तुम्हारी राह देख रही है. हमने एक बार फिर साहिर को बंबई जाने से रोका. यह उसकी ज़िंदगी की सबसे बड़ी ख़ुशक़िस्मती थी कि वह हमारी नसीहतों पर अमल नहीं कर रहा था. अगर वह हमारी नसीहतों पर अमल कर लेता और बंबई न जाता तो शायद आजकल उसकी क़ब्र भी मियानी साहिब क़ब्रिस्तान में साग़र सिद्दीक़ी के आसपास ही बनी होती, और यहां तो उसका उर्स मनाने वाला भी कोई न था, क्योंकि अंजुमन तरक़्क़ीपसंद मुसन्निफ़ीन के सदस्य क़ब्रों पर यक़ीन नहीं रखते थे.

एक रोज़ हम साहिर लुधियानवी को अलविदा कहने वालटन एयरपोर्ट जा रहे थे. अभी लाहौर का हवाई अड्डा नहीं बना था, और मसीह के ज़माने से भी पहले के फ़ोकर[7] हवाई जहाज़ वालटन के हवाई अड्डे से उड़ा करते थे, बल्कि यूं कहना चाहिए कि बड़ी मुश्किल से उड़ा करते थे.

साहिर लुधियानवी ने टिंड करवा रखी थी और फ़ेल्ट-हैट खींच कर कानों तक पहन रखी थी. वही पुराना फटा हुआ कोट पहने हुए था जिसको मैं और अहमद राही बारी बारी पहना करते थे. हवाई अड्डे पर भी वह किसी मुल्क के बड़े महत्वपूर्ण जासूस की तरह बार बार गर्दन घुमा कर दायें-बायें देख रहा था कि कोई उसके पीछे तो नहीं

लगा हुआ.

अख़्तर ने कहा, 'ओए कमीने! अगर पीछे लगा भी होगा तो अब तुम्हारा क्या बिगाड़ लेगा.' साहिर लुधियानवी ने सूखा-लंबा जिस्म झुका-झुका कर हम सबसे हाथ मिलाया और मैले-कुचैले ओवरकोट के साथ सबसे बारी बारी बग़लगीर हुआ. हम में से किसी दोस्त ने मज़ाक़ में कहा, 'साहिर अब भी वक़्त है, वापस आ जाओ. मत लाहौर छोड़कर जाओ.' लेकिन साहिर लुधियानवी की क़िस्मत साथ दे रही थी. वह फ़ोकर जहाज़ में सवार हो गया और जहाज़ के दोनों पंखे तूफ़ानी गर्दिश में आ गये. चंद लम्हों के बाद हवाई जहाज़ लाहौर की फ़ज़ा से निकल कर बंबई की तरफ़ परवाज़ कर रहा था.

बंबई जाकर साहिर लुधियानवी की ज़िंदगी का सबसे ज़्यादा रोशन और सुनहरी दौर शुरू होता है. फ़िल्म, *टैक्सी-ड्राइवर* ने उसकी ज़िंदगी को कामयाबी और ऊंचाई की राह पर डाल दिया. देखते देखते साहिर लुधियानवी कहां से कहां पहुंच गया. जिन लोगों ने उसके पतन के सपने देखे थे और उसे ज़लील और रुस्वा करने की कोशिश की थी वे अपना सा मुंह लेकर रह गये.

साहिर लुधियानवी एक बार दिल्ली आया तो हमने सुना कि उसने अपनी नयी कार भी रेलगाड़ी में साथ ही रखवा ली थी ताकि दिल्ली में उसे सवारी की दिक्कत न हो. हमने सुना तो ख़ुश हुए कि साहिर ऐसा है जो दिल्ली के पब्लिशरों के आगे एक शायर की हैसियत को बुलंद किये हुए है. शायर और अदीब के पास कार क्यों नहीं हो सकती?

फिर वक़्त गुज़रता चला गया और साहिर लुधियानवी कामयाबी की मंज़िलें तय करता एक मुक़ाम पर जा कर संतोष के साथ स्थापित हो गया. कभी कभी उसका कोई ख़त लाहौर के दोस्तों के नाम आ जाता, कभी यहां के दोस्त बंबई जाकर उससे मिल आते. वापस आकर बताते कि साहिर ने बंबई में ऐसे फ़्लैट बनवा रखे हैं जहां हिंदोस्तान और पाकिस्तान का कोई भी अदीब-शायर जाकर जब चाहे ठहर सकता है.

पिछले दिनों सुना कि साहिर पर दिल का दौरा पड़ा है. दिल का दौरा तो उसे पड़ना ही था. उसने ज़िंदगी में काम ही ऐसे किये थे. हाल ही में एक दोस्त ने बंबई से आकर बताया, 'वहां सब अदीब अपाहिज हो गये हैं. साहिर चल फिर नहीं सकता, कैफ़ी आज़मी व्हील चेयर पर बैठता है, राजिंदर सिंह बेदी किसी आदमी के कंधे का सहारा लेकर स्टूडियोज़ में आता है. ख़ुदा बचाये बंबई से.

ऐसी बंबई से ख़ुदा साहिर लुधियानवी को महफ़ूज़ रखे जो महेंद्रनाथ और कृष्ण चंदर को भी खा गयी.

अनुवाद: अर्जुमंद आरा

---

1 साहिर के क़रीबी दोस्त ए. हमीद का यह लेख *साहिर लुधियानवी का ग़ैर मतबूआ कलाम* में शामिल है. यह पुस्तक साहिर की ममेरी बहन सरवर शफ़ी ने 1998 में साहिर पब्लिशिंग हाउस, मुंबई से प्रकाशित की थी. पृष्ठ 14-59.

2 अरब रेगिस्तान का एक क्षेत्र.

3 मुस्लिम घरानों में आम रिवाज था कि दुल्हन के दहेज में मिले तकियों पर उर्दू में कोई शेर कढ़ा होता था. ऐसा ही एक प्रसिद्ध शे'र था:

बुलबुलो ग़ुल न करो मेरे सनम सोते हैं/तुम तो उड़ जाती हो वो मुझ पे ख़फ़ा होते हैं.

4 सुबह होते ही सूरज का दरवाज़ा खुल गया. ग़ालिब के इस प्रसिद्ध क़सीदे की पहली पंक्ति है :

सुब्हे-दम दरवाज़ा-ए-ख़ावर खुला
महरे-आलम-ताब का मंज़र खुला

5 ज़ख़्मी-दिल शहर

6 अभी दिल की बात की बहुत सी व्याख्याएं लिखी जायेंगी प्यारे

7 'फ़ोकर एफ़ 27 फ्रेंडशिप' नीदरलैंड की एयरलाइन थी जो दूसरे विश्वयुद्ध के बाद 1955 में शुरू हुई थी.

सफ़र-नसीब रफ़ीक़ों की नज़र

मेरा हमअस्र[1] मेरा साथी

कैफ़ी आज़मी

आजकल फ़िल्मी दुनिया पर जितने ख़तरे मंडरा रहे हैं उनमें साहिर लुधियानवी सबसे बढ़कर हैं. मालूम नहीं गीत लिखते लिखते वे किस वक़्त प्रोड्यूसर और डायरेक्टर हो जायें, उनका यह रुझान ख़ास बंबई की पैदावार है. जब मैं पहली बार उनसे मिला था उस वक़्त वे सिर्फ़ शायर थे और शायद जब आख़िरी बार मिलूंगा उस वक़्त भी वे सिर्फ़ शायर ही रहेंगे—इसलिए नहीं कि उनकी सलाहियतें शायरी तक सीमित हैं. मगर इसको क्या कीजिए कि डायरेक्टरी, प्रोड्यूसरी या इसी तरह के किसी क्षेत्र में इतनी शक्ति नहीं कि वह साहिर को सदा के लिए अपने क़ाबू में रख सके.

मध्यम वर्ग के आम `स्कीम-बाज़' नौजवानों की तरह साहिर भी किसी बिंदु पर ठहर नहीं सकते. चलते रहना, चलते ही रहना उनका मुक़द्दर है—वह भी सीधी लकीर पर नहीं, कावा काटते हुए. छात्र जीवनकाल ही से ज़िंदगी की तल्ख़ हक़ीक़तें उनका पीछा कर रही हैं. वे भागना नहीं चाहते मगर भाग रहे हैं. उनके सामने एक विस्तृत मैदान है, एक रोशन मंज़िल है मगर `दो फ़र्लांग लंबी सड़क' कैसे तय की जाये जिस पर साहिर के जाने-पहचाने हज़ारों नौजवान अपने कंधों पर अपना बोझ लिए टहल रहे हैं, घूम रहे हैं, दौड़ रहे हैं, उनकी रफ़्तार का दायरा दिन-प्रतिदिन सिमट रहा है और वे अपने ही चक्कर में फंसे जा रहे हैं.

कॉलेज में छात्र संगठन से साहिर का जो सक्रिय जुड़ाव था वह कॉलेज से निकलते ही हमदर्दी से बदल गया और ज़िंदगी की उन मजबूरियों ने उनको पूरी तरह दबोच लिया जो किसी को मात दे देती हैं, किसी से मात खा जाती हैं.

ज़िंदगी कैसे गुज़ारी जाये? यह एक बार सभी को सोचना पड़ता है मगर हमारे नौजवान अदीबों और शायरों का मसला इससे ज़्यादा पेचीदा है, उनके सामने एक साथ दो सवाल आते हैं—ज़िंदा कैसे रहा जाये? और अपने रुझानों को परवान कैसे चढ़ाया जाये? बेकारी में जीवन कठिन है, क्लर्की में रुझानों का पनपना असंभव.

साहिर ने अपनी नज़्मों का संग्रह तैयार किया और उसको बेचने निकले. शायद उस मौक़े पर उनके मस्तिष्क में लेखनी के सहारे जी लेने का मंसूबा हो, लेकिन जब एजेंटों को 25 और 33 फ़ीसदी रॉयल्टी मिलती हो तो सोचना पड़ता है कि किताब लिखी जाये या किताब बेची जाये.

साहिर को एक मुश्किल और पेश आयी होगी कि उनकी किताब ख़रीदेगा कौन? छापेगा कौन? वह लाख होनहार शायर सही, मगर इतने मशहूर कहां थे जिससे हमारे प्रकाशक महोदय प्रभावित होते हैं. उनके कलाम की बाज़ार में इतनी मांग कहां थी कि भाषा और साहित्य के सेवक काफ़ी नफ़ा कमा सकें. *प्रीतलड़ी* ने बड़ा हौसला किया कि किताब छाप दी.

यह 1943 का ज़िक्र है, इससे पहले मैं मीम हसन लतीफी के अलावा लुधियाने के किसी शायर को नहीं जानता था. जब *तल्ख़ियां* की एक प्रति *क़ौमी जंग* (नया ज़माना, बंबई में समीक्षा के लिए आयी और मैंने उसको पढ़ा तो ख़ुशी भी हुई, हैरत भी. ख़ुशी इस बात की कि साहिर की शायरी उस उलझाव, पेचीदगी और निर्जीव आस्वादन से पाक थी जिसको जंग के ज़माने में नौजवान शायरों ने अपना फ़न बना लिया था. और हैरत यह हुई कि ऐसा होनहार शायर अब तक कहां छिपा हुआ था.

मैंने इरादा किया कि साहिर को ख़त लिखूंगा और मुबारकबाद दूंगा, लेकिन न ख़त लिख सका न मुबारकबाद दे

मगर अब्दुलहई साहिब बाप की दौलत से लाभान्वित फिर भी न हो सके. उनको तालीम मां और मामूं ने दिलवायीं. तालीम हासिल कर लेने के बाद ज़िंदा रहने के लिए अपने फ़न, अपनी शायरी, अपने एहसास को चांदी के तराज़ू में तुलवाना पड़ा.

साहिर *क़ौमी जंग* के इदारे में बड़ी ख़ुशी से आने को तैयार थे मगर बूढ़ी मां को किस पर छोड़ते, मजबूरन सिर्फ़ बंबई की तफ़रीह का प्रोग्राम बन सका.

यहां तफ़रीह के हज़ारों सामान और हज़ारों मुक़ाम हैं लेकिन वे शहर के किस हिस्से में हैं और वहां पहुंचा कैसे जाये, मैं इसी फ़िक्र में था कि साहिर ने मेरी मुश्किल ऐसी फ़र्माइश से आसान कर दी— `मैं यहां की मज़दूर बस्तियां देखना चाहता हूं.' इन बस्तियों में जाना और साहिर को ले जाना मेरे लिए कोई मुश्किल मरहला नहीं था.

क़ौमी जंग के ज़रिये बंबई के मज़दूर साहिर के नाम से वाक़िफ़ हो चुके थे. जब मदनपुरा के नौजवानों को उनके आने की ख़बर मिली तो उनमें से कुछ साथी पार्टी ऑफ़िस आये और साहिर को अपने यहां आने की दावत दे गये. मदनपुरा बंबई के मेहनतकश मुसलमानों का इलाक़ा है, इस इलाक़े के जंगजू मज़दूरों की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और वर्ग चेतना बहुत जागरूक है. वे लाल झंडे की रहनुमाई में सरमायादारों से बार बार टक्कर ले चुके हैं. इन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन को भी अपना ख़ून दिया, ट्रेड यूनियन आंदोलन को भी, और अब तरक़्क़ीपसंद अदब की तहरीक में भी हिस्सा ले रहे हैं.

वे जान गये हैं कि वर्चस्व रखने वाले वर्ग ने उनसे उत्पादन के साधनों के साथ साथ नज़ीर और प्रेमचंद को भी छीन लिया है, इसीलिए उनकी जद्दोजहद महंगाई भत्ते और बोनस तक सीमित नहीं, वे सभ्यता और संस्कृति का छीना हुआ सरमाया भी वापस मांग रहे हैं. नौजवान पार्टी के नाम से इन्होंने अपनी एक अंजुमन बना ली है, इस अंजुमन की अपनी एक लायब्रेरी, `मुताला-घर' है, हर साल एक बड़ा मुशायरा भी होता है जिसमें मज़दूर शायरों के अलावा मौलाना हसरत मोहानी, जिगर मुरादाबादी, साग़र निज़ामी, मजाज़, मख़दूम, मजरूह, नज़ीर हैदराबादी, शाहिद सिद्दीक़ी और सरदार जाफ़री जैसे नामवर शायर भी बराबर शरीक होते रहे हैं.

मैं साहिर को लेकर मुक़र्ररा वक़्त पर मदनपुरा पहुंचा. बीस पच्चीस नौजवान एक गली में टाट बिछाये बैठे थे, साहिर के लिए इसी टाट पर उन्होंने तोशक और तोशक पर सफ़ेद चादर बिछा रखी थी, साहिर को देखते ही वे ख़ुश हो गये. उनके मुस्कुराते हुए चेहरे कह रहे थे: साहिर साहिब आइए अब तक आप जिन मजलिसों में थे हम वहां आ नहीं सके. हम वहां आना चाहते भी नहीं, इसलिए हमने ख़ुद आपको बुलवा लिया. इस तंगो-तारीक बस्ती में आपका दम तो नहीं घुटता. यहां कारपोरेशन के कारिंदे कभी नहीं आते, लेकिन पुलिस रोज़ आती है, यहां क़ौमी रहनुमा सिर्फ़ इलेक्शन के मौक़े पर आते हैं लेकिन महामारियां हर मौसम में आती हैं. मगर आप न झिझकिए. आप यहां पायेंगे बहुत कुछ, खोयेंगे कुछ नहीं. हम आपको अपनी तफ़रीह का औजार नहीं बनायेंगे, हम मेहनतकश हैं, हम मज़दूर हैं.

और मैंने महसूस किया कि साहिर किसी सोच में पड़ गये. हमारा बड़े से बड़ा अदीब जब मज़दूरों के किसी जलसे में पहुंचता है तो उसको पसीना आ जाता है. जिसने यह न सोचा हो कि मेरे फ़न में वे सच्चाइयां कहां जो ज़िंदगी में हैं, मेरे आर्ट में वह मज़बूती कहां जिसको मेहनत जन्म देती है. मेरे तसव्वुर में वह ख़ुलूस कहां जो जद्दोजहद से पैदा होता है और एक बार सोच विचार और कल्पना की भव्य मगर खोखली तामीर ज़मीन पर आ रहती है. कुछ लोग मज़दूरों को ना-फ़हम कह कर फिर अपने अहंकार को फ़रेब दे देते हैं. कुछ लोग आइंदा अपने फ़न को नया रूप देने की नीयत बांध लेते हैं.

मगर साहिर का मामला कुछ और ही था. शायद उस वक़्त उनको शेरो-सुख़न की वे मजलिसें याद आ रही थीं जो किसी बड़े ख़ूबसूरत ड्राइंगरूम में सजती हैं. आरामदेह सोफ़े, रेशमी क़ालीन, बेदाग़ दीवारों पर लटकी अर्धनग्न तस्वीरें, शीशे की अलमारियों में क़ैद इक़बाल और टैगोर की रूहें, पीने के लिए बेहतरीन शर्बत, बेहतरीन चाय, बेहतरीन सिगरेटें, खाने के लिए बेहतरीन केक, बेहतरीन पेस्ट्री, बेहतरीन फल—मगर ज़िंदगी— हरचंद कहें कि है, नहीं है!

मैंने लोगों से साहिर का परिचय कराया और इन्होंने अपनी नज़्में सुनाना शुरू कीं—*मुझे सोचने दे, चकले, ताजमहल, शुआ-ए-फ़र्दा, बंगाल, तूलू-ए-इश्तिराकीयत, अजनबी मुहाफ़िज़, एहसास-ए-कामरां*—एक के बाद दूसरी नज़्म पढ़ी जा रही थी और नौजवान मज़दूर ख़ुश थे. वे अपनी ज़बान, अपनी नज़र, अपने चेहरे और अपने सारे हाव-भाव से साहिर को दाद दे रहे थे. दो तीन घंटे की बैठक के बाद जब हम लोग वापस हुए तो साहिर गुनगुना रहे थे :

एहसास बढ़ रहा है हुक़ूक़े-हयात[2] का
पैदाइशी हुक़ूक़े-सितम-परवरी की ख़ैर[3]
इंसां उलट रहा है रुख़े-ज़ीस्त[4] से नक़ाब
मज़हब के एहतिमामे-फ़ुसूं-परवरी की ख़ैर[5223]

रात को सोने से पहले मुझको साहिर ने और मैंने साहिर को याद दिलाया कि सुबह परेल चलना है. पहले पार्टी ऑफ़िस में दोस्तों से मिलेंगे और घात लग गयी तो कोई कारख़ाना भी देख लेंगे. मगर साहिर की सुबह हसबे-दस्तूर बारह बजे दिन को हुई और वे ख़ुदा ख़ुदा करके जागे. उनके सो कर उठने की अदा अजीबो-ग़रीब है. एक सीली सी अंगड़ाई लेने के बाद घुटने समेट कर पंजों के बल बिस्तर पर बैठ जाते हैं. उलझे उलझे बाल, सुर्ख़ सुर्ख़ आंखें और आंखों में यह चुनौती कि किसी ने छेड़ा तो फिर सो जाऊंगा.

बीस पच्चीस मिनट तक इसी अंदाज़ से बैठे चुपचाप किसी एक तरफ़ देखते रहते हैं, उसके बाद उठना शुरू करते हैं. पहले कमर से ऊपर का हिस्सा सीधा होता है, फिर घुटनों और घुटनों के बाद पिंडलियों पर दबाव पड़ता है. और इस तरह वे तीन क़िस्तों में उठ जाते हैं.

दूसरे दिन हम लोग कामरेड इम्तियाज़ ख़ां के साथ घाट मज़दूरों से मिलने गये, इत्तिफ़ाक़ से वह भर्ती का दिन था और हज़ारों मज़दूर धूप में क़तार बांधे खड़े थे. उनमें गोवानी भी थे, पंजाबी भी और पठान भी. अक्सर सारा सारा दिन यूं ही गुज़र जाता है और भर्ती नहीं होती. भर्ती हो भी तो काम मिल जाना यक़ीनी नहीं. दलाल आता है, पूरे हुजूम में से चंद मोटे ताज़े और तंदरुस्त नौजवानों को ठोंक बजाकर चुन ले जाता है. उनसे ख़ातिर-ख़्वाह रिश्वत लेता है फिर वे घाट-सारंगों के सामने खड़े किये जाते हैं. जो ख़ुशक़िस्मत वहां भी चुन लिये जाते हैं उनको घाट-सारंगों की मुट्ठियां गर्म करना पड़ती हैं. उसके बाद घाट है, समुंदर है, जहाज़ है और बदन-तोड़ मशक़्क़त— मगर अधिकार कुछ नहीं.

इस अंधेर नगरी में पहली बार इम्तियाज़ मरहूम लाल झंडा लेकर पहुंचे थे और मज़दूरों को संगठित कर रहे थे. हम लोग लगभग चार घंटे मज़दूरों की लाचारी, तबाह-हाली और लूट-खसोट के मंज़र अपनी आंखों से देखते रहे और घाट सारंगों, दलालों की ख़ूनी नज़रें इम्तियाज़ का पीछा करती रहीं. वे इम्तियाज़ के ख़ून के प्यासे थे— उन्होंने एक दिन इम्तियाज़ का ख़ून पी भी लिया.

साहिर उस दिन बहुत भावुक थे. उनकी आंखों से, चेहरे से, ख़ामोशी से, दलालों, घाट-सारंगों और अमानवीय व्यवस्था के लिए नफ़रत बरस रही थी. ऐसे मौक़े पर वे साधारणतया कुछ देर के लिए ख़ामोश हो जाते हैं फिर अचानक सामाजिक पृष्ठभूमि,आर्थिक संबंध और वर्ग चेतना ऐसी शब्दावली का सहारा लेकर बोलने लगते हैं. `कुछ नहीं, ईमान से देखते हो, यहां मज़दूरों की यह हालत है और क़ौमी रहनुमा फ़रमाते हैं, कम्यूनिस्ट हड़ताल करवाते हैं.'

एक गंभीर वातावरण में जहां हर चीज़ का मज़ाक़ उड़ा दिया जाता है, ज़िंदगी के पच्चीस बरस गुज़ारने से साहिर की फ़िक्र ने बचावी अंदाज़ अपना लिया है, वे किसी चीज़ को उसके सकारात्मक कोण से देखने और दिखाने के बजाय उस कोण से देखते हैं और उसको रद्द करने लगते हैं जो भ्रामक हो.

उस नज़्म में, जिसको मैं उनकी शायरी का नया घोषणापत्र समझता हूं, जब वे मज़दूरों से यह वादा करते हैं कि मेरे गीत तुम्हारे हैं तो फ़ौरन उनके सामने मध्यम वर्ग के खोखले आलोचक आ जाते हैं और साहिर को कहना पड़ता है :

सका. ख़त तो काहिली की वजह से नहीं लिखा, मुबारकबाद डर के मारे नहीं दे सका. वास्तविकता यह है कि लखनऊ में एक शायर ने, जो लीडर भी बनना चाहते थे, मुझे इसी हरकत पर बुरी तरह फटकारा था. मैं न तो अच्छी तरह उनके मंसूबों से वाक़िफ़ था न आइडियालोजी से—सिर्फ़ साहब-सलामत थी. एक दिन राह में मुलाक़ात हो गयी. लॉ का नतीजा आ चुका था और इन्होंने कामयाबी हासिल कर ली थी. मैंने मिज़ाज-पुरसी के बाद इस कामयाबी पर मुबारकबाद दे दी और वे भड़क गये, `मुझे आपकी मुबारकबाद नहीं चाहिए.' मैं समझा कि शायद मुझ से ग़लती हो गयी, ये कामयाब नहीं हुए और मेरी मुबारकबाद को व्यंग समझ रहे हैं. उनके बारे में ऐसा सोचना ठीक भी हो सकता था. मैं माज़रत करने लगा कि माफ़ फ़रमाइएगा, मैंने सुना यही था कि आप कामयाब हो गये हैं.

अब इन्होंने सीने से लिपटी हुई चादर की सिलवटें दूर कीं और खद्दर की टोपी माथे पर कुछ और तिरछी करके तक़रीर करने लगे: `सुना आपने सही है, मगर न तो आपकी तारीफ़ में कोई ख़ुलूस है और न मुझे इतनी फ़ुर्सत कि औपचारिक मुबारकबादियां लेता फिरूं. कल ही नागपुर से एक कांफ्रेंस की सदारत करके पलटा हूं, वहां भी हज़ारों आदमी मुबारकबाद देना चाहते थे मगर मैंने सबको रोक दिया. मुझे यक़ीन है कि जब तक हिंदुस्तान आज़ाद नहीं होगा उस वक़्त तक न हम को वक़्त की क़द्र होगी, न हम रिवाज-परस्ती से छुटकारा पायेंगे.'

वे बिना थके बोल रहे थे और मैं दिल ही दिल में कह रहा था, किस मुसीबत में फंस गया. इतने में कंधे पर से उनकी चादर ढलक गयी और मुझे मौक़ा मिल गया. `यह तो सच है कि मेरी नीयत में ख़ुलूस-वुलूस नहीं था, मैं ख़ुलूस का मौक़ा देख कर इस्तिमाल का क़ायल भी नहीं हूं, आपको मुबारकबाद इसलिए दी थी कि शायद हिंदुस्तान की आज़ादी के बाद आपसे कोई काम पड़ जाये. अगर ऐसी दूर-अंदेशी को आप रिवाज-परस्ती समझते हैं तो ख़ुदा-हाफ़िज़.'

उन्हीं दिनों [पहली मुलाक़ात से पहले] किसी पत्रिका में शोरिश काश्मीरी वग़ैरह के साथ साहिर की एक तस्वीर प्रकाशित हुई थी, उसमें ये हज़रत भी काफ़ी तरह-दार मालूम होते थे. मैंने सोचा, मुबारकबाद भेज के कौन ख़तरा मोल ले, लेकिन जब उनकी दो तीन नज़्में, *क़ौमी जंग* में छपने के लिए आयीं तो ज़रा क़ुरबत सी महसूस होने लगी और मिलने का शौक़ पैदा हो गया. मुलाक़ात हो कैसे? मैं बंबई में, वे लाहौर में; मगर यक़ीन था कि किसी न किसी हैसियत से एक दिन उनको बंबई आना ही पड़ेगा.

बंबई हमारे मुल्क का सबसे बड़ा औद्योगिक केंद्र है, इसलिए साहित्य का केंद्र भी है. रोटी और साहित्य का संबंध यहां बहुत स्पष्ट है. याद सलामत रहे, दिल्ली और लखनऊ का केंद्र होना अपनी जगह, मगर हर शख़्स के सामने आज सबसे पहला मसला यही होता है कि :

हमने ये माना कि दिल्ली में रहें, खायेंगे क्या?

इस `खायेंगे क्या' को `क़हते-ग़मे-उल्फ़त' के पर्दे में कब तक छुपाया जा सकता है? आज उर्दू के अक्सर नामवर अदीब और शायर, उत्तर भारत से आकर बंबई में विराजमान हैं. मीर की तरह कुछ लोगों को यहां हर वक़्त अपनी ज़बान के बिगड़ जाने का धड़का लगा रहता है, मगर रोज़ी की ज़ंजीर ढीली नहीं पड़ती. वे अदब और आर्ट की रचना के लिए हर भौतिक ज़रूरत को बुरा समझते हैं मगर फ़िल्म प्रोडयूसरों की आदेशात्मक फ़रमाइशें कौन टाल सकता है!

निगाह मिलते ही चितवन कड़ी नहीं रहती
बड़ों की बात भी इस जा बड़ी नहीं रहती (आरज़ू)

और साहिर को भी बंबई आना पड़ा. साहिर से मेरी पहली मुलाक़ात हैदराबाद के स्टेशन पर हुई. वहां अंजुमन तरक़्क़ी-पसंद मुसन्निफ़ीन की कांफ्रेंस थी और बंबई से एक अच्छा-ख़ासा क़ाफ़िला रवाना हुआ था. इसी क़ाफ़िले में मैं भी था. जब हम लोग हैदराबाद स्टेशन पर उतरे तो कलीमुल्लाह ने ख़बर दी कि दूसरी ट्रेन से, जो पांच मिनट में आने वाली है, साहिर आ रहे हैं. मैं कांफ्रेंस के स्वयंसेवकों के साथ साहिर के स्वागत के लिए वहीं

ठहर गया.

ट्रेन आयी और साहिर लुढ़कते-लचकते हुए अपने डिब्बे में से प्लेटफ़ॉर्म पर आ रहे. साढ़े पांच फ़ुट का क़द, जो किसी तरह सीधा किया जा सके तो छ: फ़ुट हो जाये. लंबी-लंबी लचकीली टांगें, पतली सी कमर, चौड़ा सीना, चेहरे पर चेचक के दाग़, सरकश नाक, ख़ूबसूरत आंखें, आंखों में झेंपा-झेंपा सा चिंतन, बड़े-बड़े बाल, लिजलिजी चाल, जिस्म पर क़मीज़-पतलून मंढी हुई, और हाथ में सिगरेट का टिन.

मैंने बड़ी बेताबी से बढ़कर अपना नाम बताया और साहिर दोनों हाथ फैलाकर मुझ पर ढह पड़े. मैं ख़ुद भी हाथ मिलाने से ज़्यादा बग़लगीरी में आनंद पाता हूं, मगर उस वक़्त कुछ घबरा सा गया कि बेचारे को कहीं चक्कर तो नहीं आ गया है, कुछ तबीयत तो नहीं ख़राब है. मिज़ाज-पुरसी करने ही वाला था कि उन्होंने बिना कुछ कहे सिगरेट का टिन मेरी तरफ़ बढ़ा दिया और मैंने महसूस किया कि अब उनसे कुछ उनके बारे में कहना या पूछना इस बेतहाशा ख़ुलूस का अपमान है. लेकिन ख़ामोशी तो तोड़नी ही थी, मैंने पूछा, `भई क़ासिमी साहिब क्यूं नहीं आये?' और वे दो लफ़्ज़ों में जवाब दे के, मेरे कांधे पर हाथ रखे स्टेशन से बाहर निकल आये.

हम लोग वहां से चल कर झड़ती नाके (चुंगी) पहुंचे. यहां हमारे बक्स खुलवाये गये. बिस्तर टटोले गये, `तख़ल्लुस' रजिस्टर में दर्ज हुए. इस बीच में फ़िराक़ साहिब (जो हमारी ही गाड़ी में आये थे) और साहिर दोनों की घबराहट इतनी दयनीय थी कि ख़ुद झड़ती नाके के एक कारिंदे ने बढ़कर फ़िराक़ साहिब को तसल्ली दी, `मौलवी साहब, यह हमारी रियासत का क़ायदा है, आप घबराओ नहीं.' यहीं मैंने पहली बार साहिर की हंसी देखी. वे न मुस्कुराते हैं, न क़हक़हा लगाते हैं, बल्कि उनको हंसी का उच्छू होता है और इस उच्छू के साथ ही शर्म की भी ऐसी लहर आती है कि आसपास वाले भी ग़र्क़ हो जायें.

ठहरने की जगह पर पहुंच कर फ़िराक़ साहिब अपना कलाम सुनाने में और कुछ लोग नहाने धोने में व्यस्त हो गये. हम दोनों उस कमरे में जाकर फ़र्श पर लेट रहे जहां मेहमानों का सामान रखवाया गया था. उन दिनों *क़ौमी जंग* के इदारे में एक साथी की ज़रूरत थी और मैं वहां साहिर को खींचना चाहता था, मगर अपना इरादा ज़ाहिर करने से पहले उनके मसलों, उनकी व्यस्तताओं और योजनाओं से वाक़िफ़ होना ज़रूरी था, हालांकि दरमियानी तबक़े के किसी नौजवान की ज़िंदगी देख लीजिए, आप उसको अपनी ज़िंदगी से ज़्यादा अलग न पायेंगे.

साहिर की आपबीती भी कुछ बहुत ज़्यादा अलग नहीं निकली. लुधियाने के एक जागीरदार के चशमो-चिराग़ हैं, प्राथमिक शिक्षा के मरहले तय करके जब कॉलेज में पहुंचे तो दूसरा विश्वयुद्ध छिड़ गया. कॉलेज से बाहर निकले तो ज़रूरत की सारी चीज़ें चोर-बाज़ार में पहुंच चुकी थीं और हिंदुस्तान के पूर्वी हिस्से में इतना बड़ा अकाल पड़ा था कि तीस लाख इंसान एड़ियां रगड़ के मर गये और जब लुधियाने, लाहौर और कटक वग़ैरह से मायूस हो कर बंबई आये तो यहां हिंदू मुस्लमान एक दूसरे का ख़ून बहा रहे थे. इन हालात में ज़िंदगी जो शक्ल क़बूल करती है वह हमारे लिए अजनबी नहीं, मगर साहिर की दास्तान में एक नया अध्याय भी है.

इनके वालिदे-बुज़ुर्गवार ने अब तक ग्यारह शादियां की हैं, साहिर अभी कमसिन ही थे कि उनकी मां और वालिद के ताल्लुक़ात ख़राब हो गये और एक नयी तनातनी पैदा हो गयी कि साहिर किस के पास रहें, जागीरदार बाप को एक उत्तराधिकारी की ज़रूरत थी और बदक़िस्मती से साहिर के अलावा उनकी कोई दूसरी औलाद नहीं है, इसलिए उन्होंने घर का झगड़ा कोर्ट में पहुंचा दिया. साहिर मजिस्ट्रेट के सामने पेश हुए और उन्होंने मां के पास रहने की ख़्वाहिश ज़ाहिर की. अब साहिर के वालिद को उनसे क्या दिलचस्पी रह सकती थी, `ख़ून और रूह के रिश्ते' रोज़-बरोज़ झोल खाते चले गये यहां तक कि जब साहिर ने पढ़ना शुरू किया तो उनके वालिद ने अपना बड़ा अपमान महसूस किया कि इतने बड़े जागीरदार का बेटा स्कूल क्यूं जाता है और जब उन्होंने यह सुना कि उनका उत्तराधिकारी, अब्दुलहई से साहिर हो गया है और शे'र कहता है तो ग़ुस्सा नफ़रत में बदल गया. लेकिन जब यह ख़बर मिली कि लुधियाने का मजिस्ट्रेट साहिर की शायरी पसंद करता है और अपनी मोटर भेज के उनको बुलवाता है तो एक बार पितृप्रेम फिर जाग उठा और उन्होंने इधर उधर कहना शुरू किया: `अब्दुलहई बड़ा अच्छा शायर हो गया है, वह मजिस्ट्रेट साहिब के बंगले में चला जाता है.'

मुझको इसका रंज नहीं है लोग मुझे फ़नकार न मानें
फ़िक्रो-सुख़न के ताजिर मेरे शे'रों को अशआर न मानें226

यह नज़्म उन्हीं प्रेरणाओं का निचोड़ है जो साहिर को मज़दूरों की ज़िंदगी से हासिल हुईं. वे जाते जाते मुझसे वादा कर गये कि मैं बहुत जल्द कोई सूरत निकाल कर बंबई आ जाऊंगा और *क़ौमी जंग* के इदारे में काम करूंगा. मुझको यक़ीन था कि वे अपना वादा भूले न होंगे. उनकी याददाश्त बहुत अच्छी है. अपनी सारी नज़्में उनको याद हैं. मजाज़, फ़ैज़, अब्दुलहमीद अदम, अल्ताफ़ मशहदी और दूसरे शायरों के हज़ारों शे'र उनको याद हैं. शोरिश काश्मीरी की तक़रीरें, देवेंद्र सत्यार्थी और मित्तल के लतीफ़े याद हैं. शीरीं फ़र्हाद का पूरा ड्रामा और वे हज़ारों जुमले याद हैं जो अब तक उनकी तारीफ़ या बुराई में कहे या लिखे गये हैं. वे बंबई आने का वादा भी नहीं भूले. हां कम्युनिस्ट हेडक्वार्टर में आने के बजाय हिंदुस्तानी कलामंदिर में आये. घरेलू ज़िंदगी की पाबंदियों ने फिर उनके पैरों में ज़ंजीर डाल दी. `मेरे गीत तुम्हारे हैं', में साहिर ने अवाम से कहा था :

तुम से क़ुव्वत लेकर अब मैं तुमको राह दिखाऊंगा
तुम परचम लहराना साथी, मैं बरबत[6] पर गाऊंगा

साहिर की सारी उलझनों का कारण यही काम का विभाजन है. वे बरबत पर गाना इसलिए चाहते हैं कि परचम लहराने वालों के रग-पुट्ठों में ख़ून तेज़ी से गर्दिश करता रहे, मगर ख़ुद अपने हाथ-पांव में इतनी शक्ति नहीं पाते कि गाते भी रहें, परचम भी लहराते रहें.

इस मामले में तरक़्क़ीपसंद लेखक दो राय रखते हैं. कुछ का ख़याल है कि दुनिया के वर्तमान संघर्ष में तरक़्क़ीपसंद शक्तियों की हिमायत ज़रूर करनी चाहिए मगर किसी प्रकार का व्यावहारिक जुड़ाव उनकी कला के लिए हानिकारक होगा, और कुछ का ख़याल है कि इन तरक़्क़ीपसंद शक्तियों से अलग होना ही कला की मौत है. साहिर पहले गिरोह का साथ नहीं देते, वे जानते हैं कि तन्हाई आर्ट की सबसे बड़ी दुश्मन है, जद्दोजहद, हार-जीत, ज्वार-भाटा, कशमकश, वबाल, शिद्दत, मेहनत, परिश्रम और गति के बिना ज़िंदगी की कल्पना असंभव है और ज़िंदगी के बिना कला-सृजन असंभव. सामूहिक गतिविधियों से भाग कर जो फ़नकार अपनी ज़ात में क़िलाबंद हो जाता है उसका फ़न एक दायरे में, और दायरा बिंदु में विलीन होता रहता है. अपने बोझ के नीचे दबे चीख़ते रहिए कि `तंग नज़रो! मैं प्रोपेगंडा नहीं करूंगा, मैं नारा नहीं लगाऊंगा, मैं सच्चा आर्टिस्ट हूं, मेरे नग़मे सार्वभौमिक, शाश्वत, दिव्य हैं', मगर रवां-दवां क़ाफ़िला आगे बढ़ता जाता है और अपने पीछे एक थकान, उदासी और मायूसी छोड़ जाता है. इस फ़िज़ा में उत्पत्ति नहीं, हरकत नहीं, ताज़गी नहीं, प्रेरणा नहीं, आबो-रंग नहीं; सृजन कैसे मुमकिन है!

साहिर इसी रवां-दवां क़ाफ़िले के साथ हैं लेकिन जब वे बाहर निकलने के लिए अपनी ज़ात का दायरा तोड़ने लगते हैं तो कहीं से एक सुंदर कार आकर उनके सामने खड़ी हो जाती है. यह कार जब तक ख़ुशहालों के मोटरख़ाने से बाहर निकाली नहीं जायेगी मध्यम वर्ग में इसकी उपासना होती रहेगी और हमारे नौजवान अदीब और शायर इसके पीछे दौड़ते रहेंगे. साहिर के ज़हन में इस कार ने गुत्थी डाल दी है. वे कम से कम एक बार यह कार ज़रूर हासिल करना चाहते हैं, ऐश करने के लिए नहीं, बुर्जवा वर्ग को चोट देने के लिए, उन लोगों से बदला लेने के लिए जिन्होंने `मादाम' की मजलिस में उनकी निर्धनता का मज़ाक़ उड़ाया था. उसी दोराहे पर धूल उड़ाने के लिए जहां उनको बार बार क़सम खाना पड़ी है कि :

अब न उन ऊंचे मकानों में क़दम रखूंगा

उस बंगले के सामने हॉर्न बजाने के लिए जहां उनकी महबूबा अपनी नज़रों का हिजाब, अपने लबों की भीगी भीगी सिलवटें, चेहरे का तबस्सुम, और सीने पर मख़रूती उठानें लिये हुए कार पर बैठ कर चली गयी और उनको दिल थाम कर चित्रकार से यह फ़रमाइश करनी पड़ी :

मगर हां बेंच के बदले उसे सोफ़े पे बिठला दे
यहां मेरे बजाय इक चमकती कार दिखला दे

इसीलिए इन्होंने परचम अपने साथी के कंधे पर रख दिया है और बरबत ख़ुद उठा लिया है. परचम तो लहराता रहेगा, काश बरबत भी बजता रहे और साहिर गाते रहें. मगर इस मंज़िल में दिल धड़कता ज़रूर है. ज़िंदगी बड़ी बेदर्द है, उसने इंकलाबी दौर में ऐसे हज़ारों हाथों से बरबत छीन लिया है जिनके कंधों पर परचम नहीं था. विचार और व्यवहार के इसी विरोध ने साहिर के जीवन में अराजकता और कला में उदासी पैदा कर दी है. वह बाप की जागीर हो या किसी और की, साहिर ज़मीन का जायज़ वारिस किसानों को समझते हैं, मगर निजी ज़िंदगी की महरूमियां और बाप की जागीर पाने का क़ानूनी हक़ उनको बार-बार इसी `वादी-ए-शादाब' की तरफ़ लौटने पर मजबूर कर देता है जिसकी हक़ीक़त से साहिर पूरी तरह परिचित हैं :

मैं उन अज्दाद[7] का बेटा हूं जिन्होंने पैहम[8]
अजनबी क़ौम के साये की हिमायत की है
ग़द्र की साअते-नापाक[9] से लेकर अब तक
हर कड़े वक़्त में सरकार की ख़िदमत की है

जिन लोगों ने साहिर को क़रीब से नहीं देखा है शायद उनको यह पता न हो कि अपने माहौल से निराशा और विकासशील शक्तियों से दूरी ने साहिर के मिज़ाज में असीम संशय पैदा कर दिया है. प्रोड्यूसर तनख़्वाह बढ़ा दे तो सोचने लगते हैं—कोई ख़ास बात तो नहीं है; कोई लड़की सलाम कर ले तो फ़िक्र पैदा हो जाती है कि मेरी नाकामियों में कोई इज़ाफ़ा तो नहीं होने वाला है; और कोई लड़की सचमुच मुहब्बत करने लगे तो दिल धड़कने लगता है कि :

तेरी सांसों की थकन, तेरी निगाहों का सुकूत[10]
दर-हक़ीक़त कोई रंगीन शरारत ही न हो
मैं जिसे प्यार का अंदाज़ समझ बैठा हूं
वे तबस्सुम[11] वे तकल्लुम[12], तेरी आदत ही न हो

खाते पीते घरानों में शायरों और आर्टिस्टों को जिस तरह खिला के मारा जाता है, साहिर भी उसके शिकार होते रहे हैं. उन्होंने सच्चाई, मुहब्बत, वफ़ादारी और इश्क़ के अहदो-पैमान को सिक्कों के दबाव से बार बार टूटते देखा है और बार बार यह वादा किया है कि :

किसी चिलमन ने पुकारा भी तो बढ़ जाऊंगा
कोई दरवाज़ा खुला भी तो पलट आऊंगा

मगर ज़िंदगी रहती घूम फिर के उसी दोराहे पर है, इसलिए मानस और कल्पना के बर्फ़ बरसाने के बावजूद :

तेरी चुपचाप निगाहों को सुलगते पाकर
मेरी बेज़ार तबीयत को भी प्यार आ ही गया

लेकिन अब की बदली हुई नज़रों के तक़ाज़े समझने में उनको ज़्यादा देर नहीं लगी :

अपनी बदली हुई नज़रों के तक़ाज़े न छुपा
मैं इस अंदाज़ का मफ़हूम[13] समझ सकता हूं
तेरे ज़रकार-दरीचों[14] की बुलंदी की क़सम
अपने इक़दाम[15] का मक़सूम[16] समझ सकता हूं
अब न उन ऊंचे मकानों में क़दम रखूंगा
मैंने इक बार ये पहले भी क़सम खायी थी
इसी सरमाया-ओ-अफ़लास[17] के दोराहे पर
ज़िंदगी पहले भी शरमायी थी, झुंझलायी थी

इस तरह फ़रेबों और नाकामियों का यह सिलसिला ज़िंदगी को घेरता चला जाता है. मुहब्बत की नाकामी उर्दू शायरी का ख़ास मौज़ू है, जिस समाज में मर्दों, औरतों के मध्य ऊंची ऊंची दीवारें खड़ी कर दी गयी हों वहां शबे-

हिज्र यानी वियोग की रात का ढलना करिश्मा ही होगा, यही शबे-हिज्र उर्दू की पूरी इश्क़िया शायरी पर छायी हुई है.

पुराने शायरों के दीवान के दीवान (काव्य संग्रह) देख डालिए, इस शबे-हिज्र की पृष्ठभूमि में महबूब की बेवफ़ाई के सिवा कोई चीज़ उभरती दिखायी न देगी. इधर कुछ नौजवान शायरों ने, जो महबूबों को अपनी प्रकृति में चंचल नहीं समझते, यह देखने की भी कोशिश की है कि वे क्या कारण हैं जो महबूबों को बेनियाज़ी और निष्ठुरता पर मजबूर कर देते हैं. इस कोशिश में साहिर ने असाधारण सफलता पायी है. वे हर चीज़ को उसकी भौतिक पृष्ठभूमि में देखने के कारण ठीक निष्कर्ष निकाल लेने में बड़ी महारत रखते हैं.

अगर हुस्नो-इश्क़ भी इसी भौतिक दुनिया की चीज़ें हैं—और वे हैं—तो भौतिक परिस्थितियां उन पर प्रभाव भी डाल सकती हैं और वे डालती हैं :

सोचता हूं कि मुहब्बत पे कड़ी शर्तें हैं
इस तमद्दुन[18] में मसर्रत[19] पे बड़ी शर्तें हैं
सोचता हूं कि मुहब्बत है इक अफ़्सुर्दा[20] सी लाश
चादरे-इज़्ज़तो-नामूस[21] में कफ़नायी हुई
दौरे-सरमाया की रौंदी हुई रुस्वा हस्ती
दरगहे-मज़हबो-अख़लाक़[22] से ठुकरायी हुई

इस एहसास का फ़ौरी प्रतिक्रिया यह होती है :

सोचता हूं कि मुहब्बत न बचेगी ज़िंदा
बेश-अज़ां-वक़्त[23] कि सड़ जाये ये गलती हुई लाश
यही बेहतर है कि बेगाना-ए-उलफ़त[24] हो कर
अपने सीने में करूं जज़्बा-ए-नफ़रत की तलाश
और सौदा-ए-मुहब्बत[25] से किनारा कर लूं
दिल को बेगाना-ए-तरग़ीबो-तमन्ना[26] कर लूं

मगर फ़ौरन जीवन के तक़ाज़े उन्हें टोकते हैं :

ज़िंदगी शोला-ए-बेबाक बना लो अपनी
ख़ुद को ख़ाकिस्तरे-ख़ामोश[27] बनाती क्यूं हो
कौन कहता है कि आहें हैं मसाइब[28] का इलाज
जान को अपनी अबस[29] रोग लगाती क्यूं हो
तुम में हिम्मत है तो दुनिया से बग़ावत कर दो
वर्ना मां बाप जहां कहते हैं शादी कर लो

और जब जज़्बात में ठहराव पैदा होता है और यह हक़ीक़त रोशन होती है कि समाज, मज़हब, तहज़ीब, दौलत और तंगी की दीवारें इश्क़ ही नहीं, हुस्न के सामने भी खड़ी हैं, जो सिर्फ़ जज़्बात की प्रेरणा से ढायी नहीं जा सकतीं, तो लहजा बदलने लगता है :

ज़ख़्म-ख़ुर्दा[30] हैं तख़य्युल[31] की उड़ानें तेरी
तेरे गीतों में तिरी रूह के ग़म पलते हैं
सुरमगीं[32] आंखों में यूं हसरतें लौ देती हैं
जैसे वीरान मज़ारों पे दिये जलते हैं
...
दिल की तस्कीं[33] भी है आसाइशे-हस्ती[34] की दलील
ज़िंदगी सिर्फ़ ज़रो-सीम[35] का पैमाना नहीं
ज़ीस्त[36] एहसास भी है, शौक़ भी है, दर्द भी है

सिर्फ़ अन्फ़ास की तर्तीब[37] का अफ़साना नहीं

और जब हुस्नो-इश्क़ की महरूमी पे डबडबायी हुई आंखें गिर्दो-पेश का जायज़ा लेती हैं तो अपना दर्द दुनिया के दर्द का एक हिस्सा नज़र आता है और यहीं से `शुआ-ए-फ़र्दा[38]लचकती हुई दिखायी देने लगती है :

और कुछ रोज़ भटक ले मेरे दरमांदा[39] नदीम[40]
और कुछ दिन अभी ज़हराब[41]के साग़र पी ले
नूर-अफ़शां[42]चली आती है अरूसे-फ़र्दा[43]
हाल[44] तारीको-सम-अफ़्शां[45] सही, लेकिन जी ले

यह साहिर की फ़िक्र और फ़न का ख़ास अंदाज़ है. वे छोटे-छोटे तजुर्बों को इस ढंग से व्यवस्थित करते हैं कि ज़िंदगी के विभिन्न रूप, विभिन्न तक़ाज़े और विभिन्न प्रेरणास्रोत स्पष्ट हो जाते हैं. मुहब्बत उनके पास एक मेयार है जिस पर वे वर्तमान समाज, इसकी नैतिकता, शिष्टाचार, इसकी आचार-संहिता को परखते और उनका खोखलापन साबित करते रहते हैं.

मेरे एक इश्क़-पेशा दोस्त, जो अपनी महबूबाओं को विभिन्न शायरों की नज़्में सुनाने और उनके पर्दे में अपनी दिल-बीती ज़ाहिर करने के आदी हैं, एक दिन मुझ से बड़े निर्णायक अंदाज़ में कहने लगे, `तुम्हारी इस नयी शायरी में कुछ नहीं रखा है. मजमूए के मजमूए पढ़ डालो, किसी रंग की नज़्म नहीं मिलती जो किसी को सुनायी जा सके. ले दे के एक साहिर की किताब है जिसमें कुछ मतलब की चीज़ें मिल जाती हैं. अभी दो तीन दिन हुए मैंने अपनी महबूबा को उनकी एक नज़्म लिख भेजी तो वह रोने लगी. ऐसा मालूम होता है कि साहिर ने वह नज़्म हमारे ही लिए लिखी है.'

मैं इस दावे के पहले हिस्से से सहमत नहीं हूं लेकिन यह बिल्कुल सही है कि साहिर आपबीती को जगबीती बना देने का गुर ख़ूब जानते हैं, या यूं समझिए कि उनके तजर्बे सिर्फ़ उन्हीं के नहीं, एक दौर के, एक पौध के तजर्बे हैं. आज मध्य वर्ग जिन उलझनों का शिकार है साहिर उसकी तर्जुमानी में बहुत कामयाब हैं :

मैं ज़िंदगी के हक़ायक़[46] से भाग आया था
कि मुझको ख़ुद में छुपा ले तेरी फ़ुसूं-ज़ाई[47]
मगर यहां भी तआक़ुब[48] किया हक़ायक़ ने
यहां भी मिल न सकी जन्नते-शिकेबाई[49]
हर एक हाथ में लेकर हज़ार आईने
हयात बंद दरीचों से भी गुज़र आयी

साहिर ने यह सिर्फ़ अपनी कश्मकश, अपनी उलझनों और अपनी घबराहट और भय की कहानी नहीं सुनायी है बल्कि अपने अस्तित्व को उस भीड़ में गुम कर दिया है जिसके सामने न कोई रास्ता है न मंज़िल है.

मैं साहिर को बहुत क़रीब से देख चुका हूं, वे जितने कामयाब शायर हैं उतने ही अच्छे दोस्त भी हैं. जो सच्चाई उनके फ़न में है वही शख़्सियत में है. संवेदना और भावों की जो शिद्दत उनकी नज़्मों में मिलती है वही ज़िंदगी में नज़र आती है. जो भोलापन उनके चेहरे पर है वही लहजे में है.

मुझे अक्सर यह सोचना पड़ा है कि मैं साहिर को उनकी शायरी के रिश्ते से अज़ीज़ रखता हूं या उनकी शायरी को ख़ुद उनके नाते से. और यह स्वीकार करना पड़ता है कि मैं अब तक किसी नतीजे पर नहीं पहुंच सका. कुछ ऐसा महसूस होता है कि साहिर ने अपनी शख़्सियत का सारी नरमी, सारी पिघलाहट शायरी में भर दी है और शायरी का सारा जादू अपने ख़त्तो-ख़ाल में जज़्ब कर लिया है.आईने से आईना बनाने वाले का उभरना लतीफ़ा ही सही, लेकिन `तल्ख़ियां' को पढ़िए तो उसके शायर की रूह बोलती दिखायी देगी, शायर से बातें कीजिए तो मालूम होगा कि आप उसकी नज़्में पढ़ रहे हैं.

सच्चाई उनकी और उनकी शायरी की सबसे बड़ी ख़ूबी है, अगर उन पर निराशा का दौरा पड़ता है तो वे छुपाते नहीं, अगर उनके पैरों में लड़खड़ाहट पैदा होती है तो वे शरमाते नहीं. अभी उन्होंने कोई बड़ी नज़्म नहीं कही है और

शायद जब तक जीवन में अराजकता है वे कह भी नहीं सकेंगे; वे देर तक किसी विषय पर ग़ौर नहीं कर सकते, देर तक किसी मजलिस में बैठ नहीं सकते, घबरा जाना, उकता जाना, साथ चलते-चलते आगे बढ़ जाना, पीछे रह जाना—उनकी विशेषता है.

हर चीज़ के अच्छे और बुरे पहलुओं पर उनकी नज़र फ़ौरन पहुंच जाती है लेकिन कोई फ़ैसला करना—यह साहिर के बस का रोग नहीं. ज़िंदगी के बड़े बड़े मसले तो अलग रहे, वे जल्दी यह नहीं तय कर पाते कि किस पतलून पर कौन सी क़मीज पहनें. यह मंज़र उनके अक्सर दोस्तों ने देखा होगा कि सो के उठने के बाद वे बक्स के पास जाके बैठ जाते हैं और सारे धुले हुए कपड़े बक्स से निकाल कर अपने इर्दगिर्द फैला देते और देर तक इस क़मीज से वह पतलून, इस पतलून से वह क़मीज मिलाकर देखते रहते हैं. उनकी यह कमज़ोरी कांफ्रेंस और मुशायरों में और ज़्यादा नुमायां हो जाती है, माइक्रोफ़ोन के सामने पहुंचने के बाद अगर मजमे में से आवाज़ें आने लगें कि साहिर साहिब `ताजमहल' सुनाइए, साहिर साहिब `फ़नकार' सुनाइए, बस साहिर साहिब के हाथ पैर फूल जाते हैं और अपनी चुनी हुई नज़्म फ़ौरन ज़हन से ग़ायब हो जाती है.न दिनों साहिर लुधियाने से हिंदुस्तान कलामंदिर (बंबई) में आये, मैं लखनऊ में था. नयी नयी कंपनी और उनकी नयी नयी मुलाज़िमत, लेकिन यहां पहुंचते ही उन्होंने अपने हर ऐसे दोस्त को जो फ़िल्मी दुनिया की सैर करना चाहता था, बुलाना शुरू कर दिया. जब मैं लखनऊ से वापस आया और उनसे मिलने गया तो वे कमरा भर दोस्त जमा कर चुके थे.

साहिर की ज़िंदगी में दोस्तों की बड़ा दख़ल है. वे एक दिन भी तन्हा नहीं रह सकते, जहां जाते हैं वहां कुछ लोगों को अपना पता लिखा देते हैं और उनका पता लिख लाते हैं. इस सिलसिले में अगर उनको कुछ खोना पड़े, कुछ क़ुरबान करना पड़े तो कभी पीछे नहीं हटेंगे. जब इस तरह भर्ती की जाये तो बहादुर और बुज़दिल हर तरह के रंगरूट मिलेंगे. फ़िल्मी दुनिया से रिश्ता या दिलचस्पी रखने वालों के पास आजकल काफ़ी वक़्त है और उनमें से अक्सर साहिर के दोस्त बन गये हैं. ये विनम्र दोस्त लगभग हर दिन किसी न किसी तरफ़ से घूमते-फिरते आकर उस वक़्त साहिर का मिज़ाज ज़रूर पूछ लेते हैं जब वे किसी होटल में बैठे ऑमलेट खा रहे हों.

बंबई में रहने के दौरान साहिर ने नज़्में कम पैसे ज़्यादा पैदा किये, मगर अपने लिए नहीं, टैक्सी वाले के लिए. दोस्त, टैक्सी, ऑमलेट— साहिर की ज़िंदगी में तीन सुर्ख़ियां ये भी हैं. कुछ दोस्तों का ख़याल है कि अगर साहिर शादी कर लें तो उनकी ज़िंदगी में बड़ी हद तक अनुशासन पैदा हो जाये. यक़ीनन हो जाये, मगर शादी करने के लिए भी तो अनुशासन की ज़रूरत है. पच्चीस बरस की उम्र में तीन चार हादसे तो ऐसे हो चुके हैं कि शादियां उन पर मंडलायीं, मंडलाती रहीं और मंडला के रह गयीं, मगर साहिर हर बार बच निकले.

हर शै क़रीब आके कशिश अपनी खो गयी
वे भी इलाजे-शौक़े-गुरेज़ां[50] न कर सके

और इस शौक़े-गुरेज़ां ने आख़िर साहिर को इस मंज़िल पर पहुंचा दिया :

तुम मेरी होकर भी बेगाना[51] ही पाओगी मुझे
मैं तुम्हारा होके भी तुम में समा सकता नहीं
गाये हैं मैंने ख़ुलूसे-दिल से भी उलफ़त[52] के गीत
अब रियाकारी[53] से भी चाहूं तो गा सकता नहीं
किस तरह तुमको बना लूं में शरीके-ज़िंदगी
मैं तो अपनी ज़िंदगी का भार उठा सकता नहीं

निजी ज़िंदगी की महरूमियों, शिकस्तों और उलझनों ने साहिर को इस क़दर घुलाया पिघलाया है कि अब उनमें एहसास ही एहसास बाक़ी रह गया है जिसके तार किसी मद्धम सी प्रेरणा से झनझना उठते हैं और उनका एक एक रुवां हर बेइंसाफ़ी के ख़िलाफ़ प्रतिरोध करने लगता है. अपने हम-वतनों के किसी घटियापन का प्रदर्शन देखकर वे तिलमिला उठते हैं, चीख़ उठते हैं. जब अजनबी क़ौम के बेफ़िक्र नौजवानों का गिरोह, हिंदुस्तानी भिखारियों की भूख से खेलता, लुत्फ़ उठाता है, और हिंदुस्तानी भिखारी डबल-रोटी के एक छोटे टुकड़े पर आपस में लड़कर इन

बे-फ़िक्रों के लिए तफ़रीह का सामान मुहय्या करता है तो साहिर का एहसास और उनका लहजा चेतना की गिरफ़्त से बाहर निकल जाता है और वे अपने मुंह की सारी कड़वाहट, अपनी ज़ात सहित अपने हम-वतनों के मुंह पर थूक देते हैं :

काश ये बे-हिसो-बे-वक़अतो-बे-दिल[54] इंसां
रोम के ज़ुल्म की ज़िंदा तस्वीर
अपना माहौल बदल देने के क़ाबिल होते
डेढ़ सौ साल के पाबंदे-सलासिल[55] कुत्ते
अपने आक़ाओं से ले सकते ख़राजे-क़ुव्वत[56]

इस पराधीन, मजबूर और भूखे मुल्क में, जिसकी पवित्रता और रूहानियत के नग़मे आंख बंद करके गाये जाते हैं, क़दम क़दम पर चकले क़ायम हैं. इसलिए हिंदुस्तानी साहित्य में भी चकले हैं.

यहां आपकी इजाज़त से मैं अपनी एक राय ज़ाहिर करना चाहता हूं कि साहिर ने *सना-ख़्वाने-तक़दीसे-मशारिक़*[57] को जिस शिद्दत, जिस नफ़रत और जिस ख़ुलूस से झंझोड़ा है उसकी मिसाल मुझे किसी दूसरी रचना में नहीं मिलती. *चकले* में साहिर का आत्मसम्मान, उसकी रूह, उसके एहसास की तिलमिलाहट बुलंदी के चरम बिंदु पर नज़र आती है.

मैं यह नज़्म पढ़ता हूं तो मेरे रोंगटे खड़े हो जाते हैं. साहिर ने न जाने किस भावना की किस तीव्रता के साथ यह नज़्म लिखी है. उनके लहजे की विशिष्ट उदासी यहां एक निर्बाध धारे में बदल जाती है.

इसको चाहे मेरा स्वार्थ कह लीजिए, लेकिन यह मेरी तमन्ना ज़रूर है कि साहिर एक बार किसी ऐसी चट्टान से टकरा जायें कि उनकी शख़्सियत टुकड़े-टुकड़े हो जाये, उनकी सलाहियतों को जगाने के लिए यह टकराव बहुत ज़रूरी है. यह मेरे और मेरी तरह अक्सर साथियों के देखे हुए मंज़र होंगे कि साहिर आम तौर से सिमटे-सिमटाये बैठे रहते हैं, लेकिन अगर उनके आत्मसम्मान पर कोई बेदर्दी के साथ नश्तर रख दे, तो साहिर देखते-देखते कुछ से कुछ हो जाते हैं.

वे पहली बार जब बंबई आये थे तो कारपोरेशन का इलेक्शन होने वाला था और कांग्रेसी उम्मीदवार का मुक़ाबला मज़दूरों के प्रिय लीडर कामरेड भोगले कर रहे थे, जो ख़ुद भी मज़दूर हैं. हज़ार दिक़्क़तों के बाद साहिर मेरे साथ पोलिंग स्टेशन पर गये, मैं वहां जाकर अपने काम में व्यस्त हो गया और साहिर एक घने दरख़्त के नीचे लेट रहे. उस दिन उनकी तबीयत भी कुछ ख़राब थी. पोलिंग स्टेशन पर गुंडों ने कांग्रेस की आड़ लेकर ऊधम मचा रखा था, कम्युनिस्ट कार्यकर्ताओं पर पत्थर फेंकना, गालियां देना, मज़दूर वोटरों पर तरह तरह का दबाव डालना—साहिर यह तमाशा ख़ामोशी से नहीं देख सके, तुरंत कम्युनिस्ट कार्यकर्ताओं की पंक्ति में शामिल हो गये और शाम के साढ़े छह बजे तक नारे लगाते रहे, दौड़ते रहे, काम करते रहे—और उस दिन इन्होंने न ऑमलेट खाया न टैक्सी पर बैठे.

पिछले दिनों अहमदाबाद में तरक़्क़ीपसंद मुसन्निफ़ीन की कांफ्रेंस थी, और साहिर बदस्तूर इस कांफ्रेंस में बेदिली के साथ हिस्सा ले रहे थे. एक गोष्ठी में कुछ लोगों ने विघ्न डालना चाहा. बार बार शोर मचाना शुरू किया. साहिर जो अब तक सारी दुनिया से रूठे बैठे थे, अचानक जाग उठे और जब माइक्रोफ़ोन पर पहुंचे तो उनकी मुट्ठियां भिंची हुई थीं, आंखें सुर्ख़ होकर और बड़ी हो गयी थीं. उस वक़्त साहिर ने अपनी नज़्म *तुलू-ए-इश्तिराकियत* इतनी आन-बान से सुनायी कि सारा मजमा उनके साथ बह गया :

शोर मचा है बाज़ारों में टूट गए दर[58] ज़िंदानों[59] के
वापस मांग रही है दुनिया ग़सब-शुदा[60] हक़ इंसानों के
रुस्वा बाज़ारी-ख़ातूनें[61] हक़्क़े-निसाई[62] मांग रही हैं
सदियों की ख़ामोश ज़बानें सह्र-नवाई[63] मांग रही हैं
रौंदी कुचली आवाज़ों के शोर से धरती गूंज उठी है

दुनिया के अन्याय नगर में, हक़ की पहली गूंज उठी है
आज पुरानी तदबीरों[64] से आग के शोले थम न सकेंगे
उभरे जज़्बे दब न सकेंगे, उखड़े परचम जम न सकेंगे
इक नया सूरज चमका है, एक नयी ज़ौबारी[65] है
ख़त्म हुई अफ़राद[66] की शाही, अब जम्हूर[67] की सालारी[68] है

...

मैंने यह लेख आठ माह पहले लिखा था और आज हिंदुस्तान बदल चुका है. साहिर बंबई से लाहौर चले गये हैं. हिंदुस्तान और पाकिस्तान की तक़सीम से पैदा होने वाले सांप्रदायिक दंगों ने साहिर की रूह और दिल को बुरी तरह ज़ख़्मी कर दिया है और वे लाहौर में दिन रात काम करने में व्यस्त हैं. उनकी नयी नज़्मों में नया `उबाल' और नयी `शिद्दत' है. साहिर की शायरी पर शबाब आ रहा है.

अनुवाद:
अर्जुमंद आरा

(यह लेख पहली बार 1984 में *नये अदब के मेमार* पुस्तक शृखला में प्रकाशित हुआ था जहां से लेकर *फ़न और शख़्सियत* में शामिल किया गया. सं. साबिर दत्त, सरवर शफ़ी; बंबई, फ़रवरी 1985, पृ. 291-305)

---

1 समकालीन 2 जीवन के अधिकार 3 अत्याचार करने का जन्मसिद्ध अधिकार बचाओ 4 ज़िंदगी के चेहरे से 5 धर्म की जादू जगाने की व्यवस्था बचाओ 6 एक वाद्य-यंत्र का नाम 7 पुरखे 8 निरंतर 9 अपवित्र घड़ी 10 स्थिरता, चुप्पी 11 मुस्कराहट 12 बात करना 13 आशय, अर्थ 14 सोने के काम से सजी हुई खिड़कियां 15 पहल 16 भाग्य 17 दरिद्रता 18 सभ्यता 19 ख़ुशी 20 उदास 21 मान-मर्यादा की चादर 22 धर्म और नैतिकता का आस्ताना 23 ऐसा वक़्त आने से पहले 24 प्रेम से विमुख 25 मुहब्बत का जूनून 26 प्रेरणा और चाहत से दूर 27 बुझी हुई राख 28 कठिनाइयां 29 व्यर्थ 30 घायल 31 कल्पना 32 सुरमई रंग की 33 संतोष, तसल्ली 34 जीवन का आराम 35 सोना-चांदी 36 ज़िंदगी 37 सांसों की व्यवस्था 38 आने वाले कल की किरण 39 थका हुआ 40 दोस्त 41 तरल में घुला हुआ ज़हर 42 रौशनी बिखेरती हुई 43 कल (आने वाला) रुपी दुल्हन 44 वर्तमान 45 अंधेरा और ज़हर बरसाता हुआ 46 यथार्थ, वास्तविकताएं 47 जादू जगाना 48 पीछा 49 सब्र रूपी जन्नत 50 ऐसा शौक़ या इश्क़ जो बच कर निकल जाये 51 अजनबी 52 प्रेम 53 आडंबर, फ़रेब 54 संवेदनहीन, मूल्यहीन, हृदयहीन 55 ज़ंजीरों के क़ैदी 56 शक्ति का महसूल, कर 57 पूरब की पवित्रता का गुणगान करने वाले 58 द्वार 59 बंदीगृह 60 छीने हुए 61 बाज़ारू औरतें, अर्थात वेश्याएं 62 नारी अधिकार 63 सुबह का गीतगान 64 युक्तियों 65 किरणों का बिखरना, रौशनी फैलना 66 व्यक्तिगत, व्यक्तियों की 67 अवाम, जनता 68 लीडरशिप

साहिर का शायराना मिज़ाज

अली सरदार जाफ़री

जिस किसी ने साहिर लुधियानवी को यह कह कर कम दर्जे का शायर प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि वह टीन-एजर्स यानी नौ-उम्र लड़के लड़कियों का शायर है, उसने वास्तव में साहिर की शायरी का ठीक-ठीक आकलन किया है. नौ-उम्र लड़के और लड़कियों के लिए शायरी करना कोई आसान काम नहीं है. उनके दिल में तरोताज़ा उमंगें होती हैं, गंदगी से पाक आरज़ूऐं होती हैं, ज़िंदगी के ख़ूबसूरत सपने होते हैं और कुछ कर गुज़रने का हौसला होता है. इन जज़्बात और कैफ़ियतों को साहिर ने जिस तरह शायराना रूप दिया है वह उसके किसी समकालीन शायर ने नहीं दिया. उससे पहले के शायरों से इस बात की आशा भी नहीं की जा सकती थी. साहिर नौ-उम्र लड़कों और ख़ासतौर से लड़कियों में सिर्फ़ अपने शे'र की वजह से लोकप्रिय था.

हर शायर बहुत सी घटनाओं और दुर्घटनाओं से दोचार होता है जो ज़िंदगी में उसकी शोहरत या बदनामी में इज़ाफ़ा करती हैं. आज का दौर सियासी दौर बन गया है, इसलिए क़ैदो-बंद की मुसीबतें भी शायर की शख़्सियत के गिर्द एक दिव्य घेरा बना देती हैं. देशों के किरदार भी कुछ हक़ अदा करते हैं. एक देश से बाहर चले जाना नेक काम समझा जाता है, दूसरे मुल्क से बाहर चला जाना निंदनीय समझा जाता है. साहिर की ज़िंदगी में इस तरह की कोई चीज़ नहीं मिलेगी. फिर भी नौजवानों में उसकी मक़बूलियत और लोकप्रियता अद्वितीय और क़ाबिले-रश्क थी. लड़कियां पहले साहिर की शायरी की दीवानी होती थीं फिर साहिर से इज़हारे-इश्क़ करती थीं. *इश्क़ अव्वल दर दिले-माशूक़ पैदा मी शवद* (इश्क़ पहले प्रेमिका के दिल में पैदा होता है) की सच्चाई यहां साबित होती थी. कुछ दिन साहिर उनकी नाज़-बर्दारियां करता था, फिर कज-अदाई दिखाता था और आख़िर में तल्ख़-कलामी भी कर लेता था. लेकिन इससे उसकी मक़बूलियत में और इज़ाफ़ा होता था. चुनांचे साहिर ने इश्क़ से बदनामियों का सामान करना अपना तरीक़ा बना लिया था. दरअस्ल यह सब जादू उसकी शायरी का था. और उसकी शायरी की सबसे बड़ी विशेषता अनुभूति की गहराई और हल्का-फुल्का अंदाज़े-बयान है. यही वजह है कि नौजवानों में लोकप्रिय यह शायरी अधिक उम्र के लोगों को भी पसंद आती है. ऐसे लोग भी हैं जिनको साहिर का पूरा कलाम ज़बानी याद है और उन्होंने इस कलाम से इतनी मुहब्बत की है कि साहिर की तुंद और तल्ख़ ज़बान भी निहायत खुले दिल से बर्दाश्त की है.

यह साहिर की शख़्सियत का बड़ा अजीब और दिलचस्प रुख़ है. ख़ानदानी हालात कुछ ऐसे थे कि साहिर की परवरिश उसकी मां ने तन्हा की थी और वह हमेशा उनके ध्यान का केंद्र बना रहा. इश्क़ में भी वह महबूब ज़्यादा रहा है और आशिक़ कम. इसलिए उसकी अपनी ज़ात और अपनी शायरी उसकी सबसे प्रिय विषय-सामग्री थे. यह चीज़ उसकी गौण प्रकृति बन चुकी थी जिसको फ़िल्मी कामयाबी ने और भी चमका दिया. यहीं से साहिर की शायरी में 'वासोख़्त'[1] के अंदाज़े-सुख़न का सुराग़ मिलता है जिसको उसने एक तरक़्क़ीपसंद दृष्टिकोण दिया. पुराने ज़माने के 'वासोख़्त' लिखने वाले शायर महबूब को उसकी बेवफ़ाई का ताना देते थे और उसके हुस्न और जवानी के पतन का भय उसके दिल में पैदा करते थे. साहिर ने इसमें वर्गीय पहलू शामिल कर दिया और शायर की अमीर माशूक़ा को ग़रीब शायर के तंज़ का शिकार बनना पड़ा. यह चीज़ नौजवान को अच्छी लगती थी. हाफ़िज़ की ग़ज़ल के दो शे'र हैं:

सुबह-दम मुर्ग़-ए-चमन बा गुले-नौख़ास्ता गुफ़्त
नाज़ कम कुन कि दरीं बाग़ बसी चूं तू शिगुफ़्त
गुल बेख़न्दीद कि अज़ रास्त न-रंजीम वले
हीच आशिक़ सुख़ने-सख़्त ब-माशूक़ न-गुफ़्त

(तर्जुमा: एक सुबह बुलबुल ने बाग़ में खिलने वाले नये फूल से कहा कि ज़रा नाज़ कम करना क्योंकि तेरी तरह के बहुत से फूल इस बाग़ में खिल के मुरझा चुके हैं. गुल ने हंसकर जवाब दिया कि सच्ची बात से मुझे तकलीफ़ तो नहीं हुई लेकिन आज तक किसी आशिक़ ने अपने माशूक़ से ऐसी सख़्त बात नहीं कही थी.)

लेकिन साहिर ने इस सख़्त बात को हमेशा कहा और बड़ी शायराना मिठास के साथ कहा. इसी का एक अंदाज़ दूसरे तरीक़े से उसकी अत्यंत लोकप्रिय नज़्म, 'ताजमहल' में मिलता है. इस नज़्म पर साहिर का मौज़ू-ए-सुख़न ग़रीब शायर और अमीर महबूब या अमीरों की आग़ोश में चली जाने वाली महबूबा नहीं है, बल्कि अमीर और ग़रीब की आशिक़ी का मुक़ाबला है. इस नज़्म का सारा निचोड़ आख़िरी शे'र में है:

एक शहनशाह ने दौलत का सहारा लेकर
हम-ग़रीबों की मुहब्बत का उड़ाया है मज़ाक़

लुत्फ़ यह है कि साहिर ने ताजमहल देखा नहीं था, अगर देख लिया होता तो ऐसी नज़्म नहीं लिख सकता था. इस नज़्म में ग़लती यह है कि ताजमहल शाहजहां का कारनामा नहीं है, हिंदुस्तानी और ईरानी कलाकारों और कारीगरों के हाथ का जादू है, लेकिन शायरी जो जज़्बे की लहरों पर मचलती है, तर्क और बुद्धि के क़ाबू में नहीं आती.

साहिर लुधियानवी की यह वर्ग-चेतना केवल हुस्न और इश्क़ तक सीमित नहीं है. इसका गहरा एहसास उसकी हर रचना में मिलेगा. उसकी शायराना ज़हानत में तलवार की धार थी और व्यंग का एक पहलू भी रखती थी. इसके साथ साहिर बेबाक भी था और अपनी बेबाकी का इज़हार राजनीति से लेकर अमीरी तक की हर महफ़िल में करता था. उसकी शायरी अपनी सारी बेबाकी के साथ ज़िंदा और ताबिंदा रहेगी.

कभी-कभी सतही नज़र से देखने वाले साहिर की शायरी को फ़ैज़ की शायरी का चरबा समझ लेते हैं. यह ग़लतफ़हमी इस वजह से होती है कि दोनों की शायरी का केंद्र रूमान और प्रतिरोध है, लेकिन फ़ैज़ के यहां महबूबा की वह कल्पना नहीं है जो साहिर के यहां है. मख़दूम और मजाज़ की शायरी का केंद्रबिंदु भी रूमान और प्रतिरोध रहा है मगर इन चारों समकालीन शायरों के मिज़ाज अलग अलग हैं. मजाज़ की शायरी सरफ़रोशी से भीगी हुई है, फ़ैज़ के यहां माशूक़ के हुस्न की परस्तिश है और साहिर के यहां आशिक़ाना अहंकार. इसी अहंकार की झलक ग़ालिब के यहां मिलती है:

वफ़ा कैसी, कहां का इश्क़, जब सर फोड़ना ठहरा
तो फिर ऐ संगदिल तेरा ही संगे-आस्तां क्यूं हो?

आज के दौर में यह अनानियत (अहंकार) सिर्फ़ साहिर के हिस्से में आयी.

रूमान और प्रतिरोध की इस शायरी में क्रांतिकारी चेतना की कमी नहीं थी लेकिन रूमान की भीगी हवाओं ने इस चेतना को उस शोले में तब्दील नहीं होने दिया जो शोला इक़बाल, नेरुदा, लुई आरागों और नाज़िम हिकमत की शायरी की रूह है.

अनुवाद: अर्जुमंद आरा

साभार : *फ़न और शख़्सियत:* साहिर लुधियानवी नंबर, सं. साबिर दत्त, सरवर शफ़ी; बंबई, अंक 17-18, फ़रवरी 1985, पृ. 96-98

---

1 ऐसी शायरी जिसमें कुढ़न, बेज़ारी और शिकायत का इज़हार किया गया हो.

तन्हाई और यख़-बस्ता[1] उदासी का शायर

राही मासूम रज़ा

साहिर लुधियानवी से मेरी पहली मुलाक़ात कब हुई थी, यह तो ठीक से याद नहीं. अगर यह मालूम रहा होता कि उनके मरने के बाद उन पर मज़मून लिखना पड़ेगा तो मिलने का दिन और तारीख़ याद रखता. मगर इतना ज़रूर याद है कि तब वे दिल्ली में एडिटरी कर रहे थे और उनका नाम चार दांग आलम[2] में मशहूर हो चुका था. जिस नज़्म पर उनकी लोकप्रियता टंगी हुई थी, वह नज़्म न मुझे उनकी ज़िंदगी में अच्छी लगी और न ही उनके मरने के बाद. वह नज़्म है, 'ताजमहल'. इस नज़्म में उनकी रूमानी इश्तिराकियत[3] ख़ुद अपनी हदों को पार कर गयी है. लेकिन साहिबो! यह अपनी अपनी नज़र की बात है. और चूंकि साहिर लुधियानवी एक जागीरदार घराने से ताल्लुक़ भी रखते थे और साम्यवादी या अर्ध-साम्यवादी भी थे, इसलिए उनका ज़हन ज़िंदगी भर जागीरदारी को रद्द करता रहा, उनकी शख़्सियत के कंधों पर ज़िंदगी भर जागीरदारी की परछाईं बैठी रही :

मेरा घर, मेरे दोस्त, मेरा इश्क़, मेरी नज़र
ले दे के अपने पास फ़क़त इक नज़र तो है
क्यों देखें ज़िंदगी को किसी की नज़र से हम

यह वैयक्तिकता की तलाश नहीं है, यह साम्यवाद का रास्ता भी नहीं है. यह दुनिया को रद्द करने की बात है और यह कोई बहुत क़ाबिले-क़द्र रवैया नहीं है. हर आदमी को अपनी पसंदीदा या ना-पसंदीदा परछाइयों के साथ जीना पड़ता है और परछाइयों के इस सफ़र से जो सलामत लौट आये वही अच्छा शायर है. तो आइए, साहिर की यात्रा हम यहां से शुरू करें :

न दोस्ती, न तकल्लुफ़, न दिलबरी, न ख़ुलूस
किसी का कोई नहीं , आज सब अकेले हैं

एक यख़-बस्ता उदासी है दिलो-जान पे मुहीत[4]
साया-ए-अब्रे-गुरेज़ां[5] से मुझे क्या लेना

यह तन्हाई का एहसास और यह यख़-बस्ता उदासी बड़ी हौलनाक[6] चीज़ें है, मगर शायद इन्हीं दोनों चीज़ों से इस शायर का ख़मीर उठा, जिसने एक जागीर-ज़ादे को साहिर लुधियानवी बना दिया. अदब के तालिबे-इल्म के लिए ये दोनों चीज़ें क़ाबिले-क़द्र हो जाती हैं क्योंकि एक तरह से साहिर उसी तन्हाई और उसी यख़-बस्ता उदासी के शायर थे.

मजबूर हूं मैं, मजबूर हो तुम, मजबूर ये दुनिया सारी है
इस दौर में जीने की क़ीमत या दारो-रसन[7] या ख़्वारी[8] है
मैं दारो-रसन तक जा न सका, तुम जह्द[9] की हद तक आ न सकीं

यह है वह नीशे-अक़रब[10] जो साहिर की ज़िंदगी में ज़हर घोलता रहा और वह तने-तन्हा ज़हर के इस समुंदर को मथने की कोशिश करता रहा कि ज़माने को अमृत पिला सकें. 'इस दौर में जीने की क़ीमत या दारो-रसन या ख़्वारी है', इस नतीजे पर साहिर के सिवा भी बहुत से लोग पहुंचे. बहुत से दारो-रसन की मंज़िलों को पार कर गये. बहुत से ख़्वारियों के सहरा में भटक गये. लेकिन यह हिम्मत साहिर के सिवा शायद ही किसी ने की हो कि 'मैं दारो-रसन तक जा न सका, तुम जह्द की हद तक आ न सकीं'.

यह जो दारो-रसन तक न जा सकने को स्वीकार करना है, क्या हम इसे बुज़दिली कह सकते हैं? मैं तो इसे बड़ी जीदारी का काम कहता हूं. इस पंक्ति का जो दूसरा टुकड़ा है वह तो तरक़्क़ीपसंद अदब, बल्कि 'अंजुमन तरक़्क़ीपसंद मुसन्निफ़ीने-अदब' की एक रिवायत है जिसे साहिर पर गुफ़्तगू करते वक़्त हम नज़रअंदाज़ कर सकते

हैं. लेकिन दारो-रसन तक न जा सकने के एतिराफ़ का साहस साहिर की रूमानी शख़्सियत और उनके रूमानी मिज़ाज की एक परत खोलता है और साहिर की निजी और कट्टर ईमानदारी की तरफ़ इशारा करता है क्योंकि अपने आपको नापसंद करना बहुत मुश्किल काम है और उनकी 'यख़-बस्ता उदासी' की हथेली पर शब-चराग़ की तरह यह अंगारा दहक रहा है. यह अंगारा हर शख़्स के हाथ नहीं आता. यह अंगारा तो उन फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की हथेली पर भी नहीं जो दारो-रसन तक जाके लौट आये हैं और जब ही से अपनी सरबुलंदी की क़सीदा-ख़्वानी[11] में मसरूफ़ हैं.

फ़ैज़ का ज़िक्र मैंने जानबूझ कर किया है क्योंकि साहिर पर फ़ैज़ का रंग गहरा है. मगर साहिर और फ़ैज़ में एक बुनियादी फ़र्क़ भी है. दोनों का मौज़ू-ए-सुख़न[12] मुहब्बत है. लेकिन फ़ैज़ की शायरी में यह मुहब्बत निस्बतन[13] कम है, और फ़ैज़ निस्बतन ज़्यादा हैं. इसके बिल्कुल विपरीत, साहिर की शायरी में मुहब्बत के सिवा कुछ है ही नहीं और मुहब्बत कई सतहों पर है.

तेरा मिलना ख़ुशी की बात सही
तुझसे मिलकर उदास रहता हूं

यास की तारीकियों[14] में डूब जाने दे मुझे
अब मैं शम्मे-आरज़ू की लौ बढ़ा सकता नहीं
जब तुम्हें मुझसे ज़ियादा है ज़माने का ख़याल
फिर मिरी याद में यूं अश्क बहाती क्यों हो

तुझको ख़बर नहीं , मगर सादा-लौह[15] को
बर्बाद कर दिया तिरे दो दिन के प्यार ने

यह रियाज़ ख़ैराबादी की वह ख़ुमरियाती[16] शायरी नहीं जो शराब चखे बिना की गयी थी. हालांकि उनके शेरों में सरसरी गुज़रें तो ये रिवायत ही का हिस्सा नज़र आते है. मगर साहिर रिवायती शायर नहीं थे. उन्होंने ज़िंदगी को चखा था, चूसा था, और भुगता था. इसलिए उस गली में कुछ और आगे चलिए :

तुममें हिम्मत है तो दुनिया से बग़ावत कर दो
वरना मां-बाप जहां कहते शादी कर लो

यह कड़वाहट साहिर की अपनी है और जिस लड़की से यह बात कही जा रही है वह इस शे'र ही की रौशनी में एक वास्तविक, जीती जागती, डरी हुई, घबरायी हुई लड़की बनकर सामने आ जाती है और मुझे यह लड़की हसरत की ग़ज़ल की उस लड़की की क़रीबी रिश्तेदार मालूम होती है जो कोठे पर नंगे पांव आ जाया करती थी :

ग़ैरो की नज़रों से बचकर, मुझसे मिलने के लिए
वो तेरा कोठे पे नंगे पांव आना याद है

और अब देखिए यही लड़की है जो 'जहद की हद तक' भी नहीं आ सकी और उसी 'हद्-आं-हद' के धुंधलके में इन दोनों के रास्ते अलग हो गये. फिर भी न जाने क्यों यह महसूस करता हूं कि साहिर की ज़िंदगी से यह लड़की कभी नहीं निकली. शायद वे हर लड़की में उसी लड़की की झलक देखते हैं और जब वह पास जाकर उसे अपने असली रूप में देखते हैं तो बिदक जाते हैं और उन्हें ताल्लुक़ रोग दिखायी देने लगता है. इस ताल्लुक़ और रोग के रिश्ते में एक तह और है: 'क़द्र खो देता है हर रोज़ का आना जाना'.

मुलाक़ात अगर टाइम-टेबल का हिस्सा बन जाये. मुलाक़ात अगर आदत बन जाये, रोज़मर्रा की ज़िंदगी का एक हिस्सा बन जाये तो वह मुलाक़ात ठंडी चाय की एक प्याली है. रोज़मर्रा की यकरंग ज़िंदगी की तरह बे-मज़ा. चाहे उसमे दूध और चीनी की मुलाक़ात दुरुस्त ही क्यों न हो. चूंकि साहिर मुहब्बत के मुग़न्नी[17], मुहब्बत के क़सीदा-ख़्वां[18] और रजज़-ख़्वां[19] थे इसलिए उन्हें मुहब्बत का यह अपमान गवारा न था. क्योंकि मुहब्बत तो ज़िंदगी का सबसे ज़्यादा क़ाबिले-एहतराम मूल्य है. जो ऐसा न होता तो हम उसकी बात ही क्यों कर रहे होते. इसलिए हम साहिर की शायरी पर गुफ़्तगू करते वक़्त उस लड़की को नज़रअंदाज़ नहीं कर सकते जिसे उन्होंने

माशविरा दिया था कि 'मां-बाप जहां कहते है शादी कर लो.'

यह लड़की कौन है? मुझे नहीं मालूम. यह हिंदुस्तानी है या पाकिस्तानी? मुझे नहीं मालूम. यह ज़िंदा है या मर गयी? मुझे नहीं मालूम. लेकिन मुझे इतना ज़रूर मालूम है कि यह लड़की यक़ीनन रिश्तेदार ही होगी. जागीरदाराना माहौल की पली बढ़ी. साहिर उससे जुदा हो गये क्योंकि शायद उस लड़की ने जहां मां-बाप ने कह दिया शादी कर ली, लेकिन साहिर की यादों की दुनिया में वह बराबर मौजूद रही. यह उन दिनों की बात है :

जब दिल को मौत आयी न थी, यूं बे-हिसी[20] छायी न थी
वो नाज़नीनाने-वतन[21], ज़ोहरा-जबीनाने वतन[22]
उनमें से इक रंगीं-क़बा[23], करके मुहब्बत आशना
मेरे दिले-नाकाम को, दाग़े-जुदाई दे गयी

यह जो उनमें से इक 'रंगीं-क़बा' है किसी खाते-पीते घर की लड़की है—जो ऐसा न होता तो 'रंगीं-क़बा' न कही गयी होती—और इस 'दाग़े-जुदाई' से कहीं न कहीं एक तहख़ाने में कोई चोर दरवाज़ा खुलता है जहां के अंधेरे में साहिर की आवाज़ गूंज रही है : 'वफ़ा फ़रेब है, तूले-हवस[24] है, कुछ भी नहीं' और नतीजा यह निकला कि :

अभी न छेड़ मुहब्बत के गीत ऐ मुतरिब[25]
अभी हयात का माहौल ख़ुशगवार नहीं

मुहब्बत के लिए माहौल के ख़ुशगवार न होने का यह एहसास भी अब्दुल-हई खां को साहिर लुधियानवी बनाने में काम आया क्योंकि जब उन्होंने माहौल की ना-ख़ुशगवारी की छत से ज़िंदगी की तरफ़ देखा तो उन्हें बहुत सी चीज़ें साफ़ दिखायी देने लगीं :

वो गांव की हमजोलियां
मफ़लूक[26] दहकां-ज़ादियां[27]
जो दस्ते-फ़र्ते-यास[28] से
इस्मत[29] लुटा कर रह गयीं
उनसे कभी गलियों में अब
होता हूं मैं दोचार जब
नज़रें झुका लेता हूं मैं

...

निकली है बंगले के दर से
इक मुफ़लिस दहक़ान की बेटी
अफ़्सुर्दा[30], मुर्झायी हुई सी
जिस्म के दुखते जोड़ दबाती
मुट्ठी में एक नोट छिपाये

यह एक 'मुफ़लिस' और 'मफ़लूक' दहक़ान की बेटी जब इनके साथ बंबई आयी और बंबई की भीड़ का एक हिस्सा बन गयी तो साहिर ने शायद इसी को अपनी पहचान का स्तंभ मान लिया और अपने आपको बंबई में अजनबी नहीं महसूस किया. मगर यह 'दहक़ान ज़ादी' कड़वाहट की एक तह बन कर उनकीं ज़ुबान पर जम भी गयी :

अब इन रंगीन रुख़सारों[31] में थोड़ी ज़र्दियां भर दे...
मगर हां बेंच के बदले इसे सोफ़े पे बिठला दे
यहां मेरे बजाय एक चमकती कार दिखला दे

यह सिर्फ़ दुखे दिल की कड़वाहट नहीं... यह कार का उच्चासन है. यह ज़िंदगी के विरोधों का एहसास है. यह वर्गों में विभाजित इसी समाज की नाइंसाफ़ी का मर्सिया भी है और इसके ख़िलाफ़ जिहाद का एलान भी, क्योंकि जहां 'मेरी जगह' पर 'कार' बैठ सकती है, वह समाज इसी लायक़ है कि उसे तोड़कर एक नये समाज की बुनियाद डाली जाये और उस 'रंगीं-क़बा' को बचा लिया जाये. क्योंकि असल चीज़ तो वह रंगीन-क़बा है जो पिघल कर भविष्य

बन जाती है—मगर सुर मुहब्बत ही के लगे रहे हैं और साहिर अपनी इस 'रंगीं-क़बा' की परछाईं के पीछे दौड़ते-दौड़ते जलसा-गाहों, जुलूसों, लाठी-चार्जों, नारों, हड़तालों की दुनिया में चले गये.

जलसागाहों में ये दहशत-ज़दा, सहमे अंबोह[32]
रहगुज़ारों पे फ़लाकत-ज़दा[33] लोगों के गिरोह
ये फ़लक-बोस[34] मिलें, दिलकशो-सीमीं[35] बाज़ार
दूर साहिल पे वो शफ़्फ़ाफ़[36] मकानों की क़तार
कौन इंसां का ख़ुदा है, मुझे कुछ सोचने दो

और जब मुहब्बत ने सोचना शुरू कर दिया तो सफ़र आसान हो गया, बातें समझ में आने लगीं :

मैं ज़िंदगी के हक़ाइक़[37] से भाग आया था
कि मुझको ख़ुद में छुपा ले तेरी फ़सूं-ज़ाई[38]
मगर यहां भी तआक़ुब[39] किया हक़ाइक़ ने
हर एक हाथ में लेकर हज़ार आईने
हयात[40] बंद दरीचों से भी गुज़र आयी

और जब हयात बंद दरीचों से भी गुज़र आयी तो अब कोई उससे आंख कैसे चुराये? हालांकि जब हयात सामने आयी तो शायर थक सा चला था :

ज़ुल्म सहते हुए इंसानों के इस मक़्तल में
कोई फ़र्दा[41] के तसव्वुर से कहां तक बहले
उम्र भर रेंगते रहने की सज़ा है जीना...
आज लेकिन मिरे दामने-चाक[42] में
गर्दे-राहे-सफ़र[43] के सिवा कुछ नहीं

लेकिन इस मानसिक स्थिति में भी उठकर उस 'रंगीं-क़बा' पर दिल का दरवाज़ा बंद कर देना तो आसान न था. इसलिए साहिर ने उस रंगीं-क़बा को ग़ौर से देखा जो हज़ार आईने लिए बंद दरीचों से गुज़र आयी है. उन्होंने देखा कि :

जो तेरी ज़ात[44] से मंसूब[45] थे, उन गीतों को
मुफ़लिसी[46] जिंस[47] बनाने पे उतर आयी है
भूख तेरे रुख़े-रंगीं[48] के फ़सानों के इवज़
चंद अशिया-ए-ज़रूरी[49] की तमन्नाई है

सब्ज़ खेतों में ये दुबकी हुई दोशीज़ाएं[50]
इनकी शिरयानों[51] में किस-किस का लहू जारी है
और मैं इस तबाही के तूफ़ान में
आग और ख़ून के हैजान[52] में
सर-निगूं[53] और शिकस्ता मकानों के मलबे से पुर रास्तों पर
अपने नग़मों की झोली पसारे हुए
दर-बदर फिर रहा हूं
मुझको अम्न और तहज़ीब की भीक दो

ज़िंदगी के इस मोड़ पर साहिर के लिए कोई फ़ैसला करना ज़रूरी था, कि उनकी मुहब्बत का तक़ाज़ा यही था. और उन्होंने फ़ैसला किया :

आज मेरे फ़न का मक़सद ज़ंजीरें पिघलाना है
लेकिन ऐ अज़मते-इंसां के सुनहरे ख़ाबो!
मैं तुम्हारा हूं, लुटेरों का वफ़ादार नहीं

साज़िशे लाख उढ़ाती रहें ज़ुल्मत की नक़ाब

लेके हर बूंद निकलती है हथेली पे चराग़
ज़ुल्म की बात ही क्या, ज़ुल्म की औक़ात ही क्या
ज़ुल्म बस ज़ुल्म है, आग़ाज़ से अंजाम तलक
ख़ून फिर ख़ून है सौ शक्ल बदल सकता है
ऐसी शक्लें कि मिटाओ तो मिटाये न बने

यह है मुहब्बत के शायर, तन्हाई और यख़-बस्ता उदासी के शायर, अपने ख़यालों की परछाइयों के शायर, साहिर लुधियानवी की मुहब्बत का सफ़रनामा. यह सफ़र 'उनमें से इक रंगीं-क़बा' और 'जिस्मे-यार की ख़ूबी' से शुरू हुआ था. चलते-चलते वहां आ गया जहां 'ख़ून फिर ख़ून है, सौ शक्ल बदल सकता है'.

यह लंबा सफ़र क़ाबिले-एहतराम है और इस लंबे सफ़र पर निकल पड़ने वाला शायर क़ाबिले-एहतराम है. मैं लखनऊ का रहा होता तो साहिर की पंजाबी उर्दू में हज़ारों कीड़े निकालता. मुहावरे की ग़लतियां, रोज़मर्रा के ऐब. मगर शायरी ज़बान के मदकचियों[54] के लिए नहीं है, इसलिए मैं ज़बानो-बयान की ख़ामियों को नज़रअंदाज़ कर रहा हूं. ज़बान की ख़ामियां तो ख़ुद मीर अनीस के यहां भी मिल जाती हैं जिन पर 'अज़ीज़ाने-मिस्रे-लखनऊ'[55] को बड़ा नाज़ है.

मैंने साहिर की बहुत सी मशहूर नज़्मों को भी नज़रअंदाज़ किया है क्योंकि यह मज़मून लिखते वक़्त मैं उनके रोब में आना नहीं चाहता था. मैं साहिर को पढ़ कर किसी नतीजे पर पहुंचना चाहता था. तो मैंने साहित्य के आलोचकों के उन लेखों को भी नज़रअंदाज़ किया जो साहिर पर लिखे गये क्योंकि आलोचकों को अपनी बात मनवाने की धुन होती है. तो मैंने सिर्फ़ साहिर की शायरी पर भरोसा किया कि साहिर के सिलसिले में सबसे ज़्यादा भरोसे के क़ाबिल चीज़ें उनकी शायरी ही है. इस शायरी के सिवा उनके बारे में सब झूठ बोलेंगे. कोई कम, कोई ज़्यादा.

लेकिन तालिबे-इल्म सिर्फ़ कलामे-शायर पर भरोसा कर रहा हो तो ऐसे मुता'ले के लिए यह ज़रूरी है कि कलाम सिलसिलेवार मिले—जो मुझे नहीं मिला. इसलिए पता नहीं मैंने जो सफ़रनामा लिखा है वह कहां तक दुरुस्त है. अगर ना-दुरुस्त निकले तो मुझे दुआ-ए-ख़ैर में याद फ़रमाइए.

अनुवाद: मोहम्मद नौशाद

साभार : *फ़न और शख़्सियत:* साहिर लुधियानवी नंबर, संपादन साबिर दत्त, सरवर शफ़ी; बंबई, अंक 17-18, फ़रवरी 1985, पृ. 486-492

---

1 निहायत सख़्त, बर्फ़ की तरह जमा हुआ 2 हर जगह दुनिया के कोने कोने में 3 साम्यवादी नज़रिया 4 छाया हुआ, व्याप्त 5 गुज़रते हुए बादल की छांव 6 ख़ौफ़नाक 7 फांसी का तख़्ता 8 अपमान, ज़िल्लत 9 संघर्ष 10 बिच्छू का डंक 11 प्रशस्ति गान 12 बातचीत का विषय, तरीक़ा 13 तुलना में या तुलनात्मक 14 निराशा के अंधेरों में 15 भोला भाला 16 शराब से संबंधित 17 गायक 18 प्रशंसा के गीत गाने वाला 19 युद्ध और संघर्ष के गीत गाने वाला 20 संवेदनहीनता 21 वतन की सुंदरियां 22 वतन की सुंदर ललाट वाली लड़कियां 23 रंगीन लिबास वाली 24 वासना का दीर्घ हो जाना 25 गाने वाले, गायक 26 दुर्दशाग्रस्त, दरिद्र 27 किसानों की बेटियां 28 अत्यंत निराशा के हाथों 29 इज़्ज़त 30 बुझी हुई, उदास 31 कपोलों 32 भीड़, हुजूम 33 दरिद्रता और अभावों के मारे हुए लोग 34 आकाश को छूने वाली, गगनचुंबी 35 आकर्षक और चांदी जैसे सुंदर 36 निर्मल, पारदर्शी 37 वास्तविकताएं 38 जादूगरी 39 पीछा करना 40 ज़िंदगी 41 आने वाला कल, भविष्य 42 फटा हुआ दामन 43 यात्रा में रास्ते की धूल 44 अस्तित्व, व्यक्तित्व 45 संबद्ध, जुड़े हुए 46 ग़रीबी 47 उपभोग की वस्तु, सामग्री 48 रंगयुक्त चेहरा 49 अनिवार्य सामग्री 50 नवयौवनाएं 51 नसों 52 कोलाहल, बेचैनी, अशांति 53 सर झुकाए हुए 54 नशे में धुत लोग 55 लखनऊ के उच्चतम वर्ग के लोग (जिन्हें यहां मिस्र के अज़ीज़ या गवर्नर के तुल्य बताया है.)

वह उधार बाक़ी रह गया

ख़्वाजा अहमद अब्बास

एक मौक़े पर सर सैयद अहमद ख़ान ने कहा था 'अगर ख़ुदा ने मुझ से पूछा कि दुनिया में तुमने क्या काम किया तो मैं जवाब दूंगा कि मैंने ख़्वाजा अल्ताफ़ हुसैन हाली से मुसद्दसे-हाली[1] लिखवायी'. उसी तरह मैं कह सकता हूं कि अगर एक तहरीर मैंने लिखी जो ऐतिहासिक तौर से प्रभावी साबित हुई तो वह एक 'खुली चिट्ठी' थी जो मैंने 1948 में साहिर लुधियानवी के नाम लिखी थी. साहिर उस वक़्त पाकिस्तान चले गये थे. यह खुला ख़त साहिर लुधियानवी के नाम था, मगर इसके ज़रिये मैं उन सब तरक़्क़ीपसंदों को आवाज़ दे रहा था जो फ़सादात के दौरान यहां से हिजरत कर गये थे.

तीन महीने बाद मैं हैरान रह गया जब मैंने साहिर लुधियानवी को बंबई में देखा. इस वक़्त तक मैं साहिर से निजी तौर से ज़्यादा वाक़िफ़ न था. लेकिन उनकी नज़्मों (ख़ास तौर से *ताजमहल*) का मैं क़ायल था. और इसीलिए मैंने वह 'खुली चिट्ठी' साहिर के नाम लिखी थी.जब साहिर को मैंने बंबई में देखा तो मैंने कहा 'आप तो पाकिस्तान चले गये थे?' साहिर ने जवाब दिया—'चला तो गया था. आपने बुलाया, सो वापस आ गया'.

उन्होंने बाद में विस्तार से बताया कि जब मेरा 'ख़त' उन्होंने अख़बार में पढ़ा तो वे दुविधा में थे. पचास फ़ीसद हिंदुस्तान आने के हक़ में पचास फ़ीसद पाकिस्तान में रहने के हक़ में. मगर मेरी 'खुली चिट्ठी' ने हिंदुस्तान का पलड़ा भारी कर दिया, और वे हिंदुस्तान वापस आ गये—और ऐसे आये कि फिर कभी पाकिस्तान न गये. हालांकि वहां भी उनके चाहने वालों और उनकी शायरी को पसंद करने वालों की कमी नहीं. उस वक़्त से एक तरह की ज़िम्मेदारी साहिर को हिंदुस्तान बुलाने के बाद मेरे कंधों पर आ पड़ी.

फ़िल्मी दुनिया में इंदर राज आनंद ने उन्हें अपनी कहानी 'नौजवान' के गाने लिखने के लिए कारदार साहब और डायरेक्टर महेश कौल साहब से मिलवाया. और पहली फ़िल्म में ही साहिर ने साहित्यिक शायरी के झंडे फ़िल्म के मैदान में गाड़ दिये. उस दिन से मरते दम तक साहिर ने अपनी राह न बदली, न छोड़ी. जो भी लिखा वह एक शायर के जज़्बात और एहसासात की नुमाइंदगी करता था. कभी उन्होंने अपनी कला का स्तर गिरने न दिया.

बला की लोकप्रियता मिली साहिर को. इसमें उर्दू ज़बान की कोमलता, मिठास, सौंदर्य और प्रभाव का भी दख़ल था और इस ज़बान के कारण से संवेदनशील और नाज़ुक मिज़ाज और रंगीले शायर की सृजन कला का भी दख़ल था जो इस ज़बान का आशिक़ भी था और माशूक़ भी. सच्चा आशिक़ इस लिहाज़ से कि वह इस ज़बान पर रीझे हुए थे. न सिर्फ़ उन्होंने अपनी कई फ़िल्मों को उर्दू सेंसर सर्टिफ़िकेट दिलवाये, बल्कि उर्दू के लिए बहुत से दुख झेलने के लिए और क़ुर्बानियां देने के लिए लड़ते रहे. माशूक़ या प्रियतम इन मायनों में कि इस ज़बान ने जितनी छूट साहिर को दे रखी थी उतनी किसी शायर को कभी नहीं दी.

साहिर ने जितने तजर्बे शायरी में किये हैं उतने दूसरों ने कम ही किये होंगे. उन्होंने सियासी शायरी की है, रूमानी शायरी की है, मनोवैज्ञानिक शायरी की है जिसमें किसानों और मज़दूरों की बग़ावत का ऐलान है. ऐसी भी शायरी की है जो रचनाशीलता के स्तर पर पैग़ंबरी की सरहदों को छू गयी है और ऐसी शायरी भी की है जिसमें मिज़ाज की रंगीनी और चंचलता झलकती है और शायरी की ये सब विधाएं उनके फ़िल्मी गानों में मिलती हैं. फ़िल्मी शायरी को एक साहित्यिक स्तर सबसे पहले साहिर ने ही दिया. बाद में और बहुत शायरों ने भी इनकी पैरवी की. मगर इस जुर्रत का सेहरा साहिर के ही सर है कि उन्होंने फ़िल्म देखने वालों के ज़ौक़ यानी पसंद को न सिर्फ़ ऊंचा उठाया, बल्कि सच्चे शायर की तरह कभी अवामी पसंद को घटिया न समझा, वरना 'मैं पल दो पल का शायर हूं' और 'जैसे तुझको बनाया गया है मेरे लिए' जैसे गीत फ़िल्मों के लिए कैसे लिखे जाते और कैसे लोकप्रियता हासिल करते?

साहिर 'जादूगर' को कहते हैं, इसलिए जब लुधियाना के अब्दुल हई ने 'साहिर' तख़ल्लुस[2] अपनाया तो वाक़ई जादू जगा दिया. उनके यहां साहिरी और शायरी एक दूसरे के विकल्प थे. दोनों एक ही हस्ती के दो भिन्न रूप थे. मैंने साहिर का जादू लोगों के सर पर चढ़ कर बोलते हुए देखा है. शायद बीस वर्ष हुए, हम लोग मरहूम सज्जाद ज़हीर के नेतृत्व में शायरों और अदीबों का एक गिरोह लेकर बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश गये थे. इलाहाबाद के कन्या विद्यालय में सब लड़कियां हिंदी जानने वाली थीं और हमारा ख़याल था कि उर्दू शायरी की समझ बूझ उनमें कहां होगी. इसलिए सबसे पहले हमने साहिर को पढ़ने के लिए खड़ा किया. साहिर ने वहां कोई आसान गीत नहीं सुनाया बल्कि उर्दू शायरी के बेहतरीन नमूने ही सुना कर महिला श्रोताओं का दिल जीत लिया. फ़रमाइश हुई 'ताजमहल' सुनाइए, तो साहिर ने 'मेरी महबूब कहीं और मिला कर मुझसे' से शुरू किया और जब एक शहंशाह ने दौलत का सहारा ले कर, हम ग़रीबों की मोहब्बत का उड़ाया है मज़ाक़' पर ख़त्म किया तो सारा हॉल तालियों से गूंज रहा था. उस दिन मुझे मानना पड़ा कि साहिर की शायरी वाक़ई साहिरी (जादूगरी) के दर्जे पर पहुंच गयी है.

साहिर को एक जुनून था—या इसे इनका ऑब्सेशन समझिए—कि वह शायरों के दर्जे को फ़िल्मी दुनिया के तिजारती माहौल में बेहतर और बरतर बनाना चाहते थे. उनसे पहले फ़िल्मी शायर कितना ही बड़ा हो, उसका नाम न तो पब्लिसिटी में आता था न रेडियो पर. जब उसके गाने बजते थे तो उसके साथ उसका नाम भी नहीं लिया जाता था. गीतों की क़ीमत भी माक़ूल नहीं मिलती थी बल्कि अक्सर हालात में मिलती ही नहीं थी. साहिर ने देखा सुना कि म्यूज़िक डायरेक्टरों और प्लेबैक सिंगरों का हर कोई ज़िक्र करता है लेकिन जिसने गीत के अल्फ़ाज़ लिखे उसका कोई नाम नहीं लेता, और न ही दर्शक उसके नाम से वाक़िफ़ हैं. यह बात साहिर को न सिर्फ़ ज़ाती तौर से खलती थी बल्कि वह इसको शायरों और शायरी की अवमानना समझता था. इसलिए जब फ़िल्म रायटर्स एसोसिएशन का उसको वाइस प्रसीडेंट चुना गया—मैं उस साल प्रेसीडेंट था—तो उसने शर्त रखी कि हम दोनों मिल कर शायरों को उनका हक़ दिलवाने की जद्दोजहद करेंगे. सबसे पहले इस जद्दोजहद के लिए हमने रेडियो का मैदान चुना. रेडियो के डायरेक्टर जनरल से मैं और साहिर मिलने के लिए देहली गये. वहां जाकर उनसे कहा कि आप हर गाने के साथ उसके प्लेबैक सिंगर का नाम अनाउंस करते हैं, मौसीक़ार का नाम अनाउंस होता है, लेकिन शायर को ही क्यों नज़रअंदाज़ किया जाता है? वे बोले कि बात यह है कि हमारे पास वक़्त कम होता है, इसलिए शायर का नाम नहीं दे सकते. इस पर साहिर ने उनसे कहा कि हर रिकॉर्ड के साथ फ़रमाइश करने वालों के नाम कई मिनट तक सुनाये जाते है तो उसमें वक़्त ज़ाया नहीं होता? यहां पर डायरेक्टर जनरल भी क़ायल हो गये और चंद रोज़ बाद उन्होंने हिदायत दे दी कि हर गीत के साथ उसके शायर का नाम भी ब्रॉडकास्ट होना चाहिए. यह काम इतना बड़ा था कि साहिर को अगले साल ही फ़िल्म रायटर्स एसोसिएशन का प्रेज़ीडेंट चुन लिया गया. अब हर गाने के साथ शायर का नाम आता है यह कोई कम कामयाबी नहीं है. मगर साहिर तो हमेशा शायरों और अदीबों के अधिकारों की हिफ़ाज़त के लिए जद्दोजहद करते रहे—चाहे जंग सरकार से हो या प्रोड्यूसरों से.

साहिर की निजी कामयाबी इतनी बढ़ी कि उसे हर चीज़ ख़ुद अपने लिए हासिल हो सकती थी. अगर वह चाहता तो अपना नाम रेडियो पर भी ले आता. फ़िल्म पब्लिसिटी में भी उसका नाम प्रोड्यूसर ख़ुद देना चाहते थे. लेकिन साहिर की सामाजिक चेतना इस निजी सफलता को कोई सफलता नहीं समझती था. उसे वर्ग संघर्ष की मार्क्सवादी समझ थी और इसी लिहाज़ से वह दिमाग़ी काम करने वालों (ब्रेन वर्कर्स) के हुक़ूक़ चाहता था, और जब तक सब शायरों और अदीबों के हुक़ूक़ की गारंटी न मिल जाये वह चैन से बैठने वाला नहीं था. वैसे साहिर हर मायने में एक इंसान था जो इंसान से मुहब्बत करता था. इंसान की इज़्ज़त करता था. और इंसान की सब अच्छाइयां और कमज़ोरियां उसके अंदर मौजूद थी.

'दोस्त' इंसान का बेहतरीन रूप होता है. साहिर वाक़ई 'दोस्त' था. दोस्तों का दोस्त. जब एक टैक्सी ऐक्सीडेंट में मेरी पसलियां टूट गयीं, बाद में प्लास्टर चढ़ाया गया. मगर मैं यह नहीं भूल सकता कि साहिर ने इस चोट और बीमारी में बराबर मेरा साथ दिया. बात कार में ले जाने की नहीं है, टैक्सी में भी जा सकता था. लेकिन बात यह है

कि 'दोस्त आं बाशद कि गीरद दस्ते-दोस्त दर परीशां हाली-ओ-दरमांदगी'[3]. दर्जनों ऐसे वाक़ियात साहिर का हर दोस्त बयान कर सकता है. हमने बिहार यूपी के दौरे के सिलसिले में कोई दो हज़ार किलोमीटर एक ही कार में सफ़र किया. कार साहिर की थी. मगर मजाल है कि किसी मौक़े पर साहिर ने यह ज़ाहिर किया हो कि कार उसकी है. ड्राइवर उसका है. पेट्रोल भी उसका है. और हम सिर्फ़ उसके हमसफ़र हैं.

साहिर से एक ही शिकायत थी मुझे. जब कभी वह अपने घर खाने पर बुलाता तो सब को खाना खिला कर आख़िर में ख़ुद खाता. मुझे एक बार उस पर बड़ा गुस्सा आया. मैं खाना खाये बग़ैर वहां से चला आया. क्योंकि मेरा ख़याल था कि साहिर साहब सबसे आख़िर में खाना खायेंगे. अगले दिन साहिर साहब ख़ुद मेरे यहां आये. दोपहर के खाने से कुछ पहले. कहा, 'आप रात को बिना खाना खाये चले आये मगर शिकायत न थी'. मैंने कहा, 'सच है, हम तो आपके साथ खाना खाने गये थे. जब आप ही दस्तरख़्वान पर नहीं थे तो हम वहां खाना क्यों खाते? कहने लगे 'आपने जो किया अच्छा किया, मैंने भी रात से खाना नहीं खाया.'

'क्यों?' मैंने अचरज से कहा, 'आपने खाना क्यों नहीं खाया?'

'मैं कैसे खा सकता हूं? जब मेरा एक दोस्त और अज़ीज़ साथी भूखा उठ आया हो. खैर, मक़सद तो मिलकर साथ खाना खाने से था. मेरे यहां नहीं तो आपके यहां ही सही.'

'मतलब?'

'मतलब यह कि अब आप के यहां खाना खाने आया हूं, बग़ैर इत्तला के. खाना खिलायेंगे आप?'

'ज़रूर खिलाऊंगा.'

मैंने खाना मंगवाया. जो भी रूखी-सूखी दाल-रोटी हाज़िर थी, उसको हम दोनों भूखों ने निहायत इश्तिहा[4] से खाया.

'रात को आपके यहां दो क़िस्म का पुलाव और बिरयानी थी, कोफ़्ते थे, शामी कबाब थे, मुर्ग़-मुसल्लम था, पराठे थे, शीरीनी और दो क़िस्म के हलवे थे. इस वक़्त मेज़ पर आप के सामने उबली हुई गोभी और मसूर की दाल रखी है.'

'खाना सिर्फ़ खाना होता है. वह सब दिखावट थी ताकि लोग यह न शिकायत करें कि एक शायर खाना नहीं खिला सकता. खाना तो इसी को कहते है.' तीन रोटियां, गोभी और दाल साहिर ने खायी . तीन रोटियां मैंने खा लीं. बाद में साहिर साहब ने उठकर हाथ धोये, फिर मुझसे रुख़्सत होते हुए बहुत-बहुत शुक्रिया अदा किया. मैंने कहा, 'क्यों शर्मिंदा कर रहे हैं मुझे.'

'शर्मिंदगी मिटाने तो मैं आया था आपके यहां.'

'शर्मिंदगी तो मुझे है कि आपको कुछ मीठा नहीं खिलाया. मीठा आप पर उधार रहा.'

मगर जाने वाला चला गया. अब वह उधार कैसे अदा किया जायेगा?

अनुवाद: मोहम्मद नौशाद

साभार : *फ़न और शख़्सियत: साहिर लुधियानवी नंबर*; बंबई, अंक 17-18, फ़रवरी 1985, पृ. 549-552

---

1 छह पंक्तियों के छंद पर आधारित कविता को मुसद्दस कहते हैं. 'हाली' की इस मशहूर लंबी नज़्म का शीर्षक असल में 'मद्दो-जज़रे-इस्लाम' अर्थात इस्लाम का उत्थान और पतन (ज्वार-भाटा) है, लेकिन छह पंक्तियों वाली छंद-योजना के कारण 'मुसद्दसे-हाली' के नाम से ज़्यादा मशहूर है.

2 उपनाम 'साहिर' यानी जादूगर रखा. 3 इस फ़ारसी कहावत का अनुवाद है : दोस्त वह होता है जो बुरी स्थिति और कठिनाइयों के दिनों में अपने दोस्त का हाथ थामता है. 4 भूख

गीतों का रसिया

जांनिसार अख़्तर

साहिर जब एक गीतकार की हैसियत से फ़िल्म इंडस्ट्री में दाख़िल हुआ, उस वक़्त आम तौर पर फ़िल्मी गीतों का स्तर इस हद तक अदना और पस्त हो चुका था कि केवल घटिया क़िस्म की तुकबंदी को गीत लिखने का चरमोत्कर्ष समझा जाने लगा था. बंगाल की हिंदी फ़िल्मों में *आरज़ू* ने गीतों को जो रूप और सिंगार दिया था, वह बंबई के फ़िल्मी शायरों के हाथों लुट चुका था. उन दिनों यह प्रोपेगंडा कि फ़िल्मी गीत कहना बड़े लेखकों और शायरों के बस की चीज़ नहीं है, इतना आम हो चुका था कि बहुत-से पढ़े-लिखे प्रोड्यूसर और डायरेक्टर भी मानसिक रूप से इसका शिकार नज़र आते थे. हद यह है कि इन बकवास गीतों को उचित बताने के लिए यह कहा जाता था कि हम क्या करें, आजकल पब्लिक यही मांगती है; और यह बात वे लोग कहते थे जिन्होंने कभी अवाम से संपर्क नहीं किया था और न कभी उन्होंने पब्लिक प्लेटफ़ॉर्म पर आने की जुर्रत की थी. इन हालात में साहिर के क़लम ने एक बार फिर गीतों के मेयार को उभारने और संवारने की जो कोशिश की. उसने न सिर्फ़ इस ज़हर भरे प्रोपेगंडे को झुठलाया बल्कि फ़िल्मी गीतों को ज़हनी गंदगी और प्रदूषण से निकाल कर सुथरी और निखरी साहित्यिकता से परिचित कराया.

मैं यह नहीं कहता कि फ़िल्मी शायरी साहित्यिक शायरी का किसी तरह भी बदल हो सकती है, लेकिन फ़िल्मी गीतों में साहित्यिक रंग को मैं ज़रूरी समझता हूं. यही अदबी रंग है जो गीतों को एक तरफ़ वर्णन का सौंदर्य देता है तो दूसरी तरफ़ कल्पना की उत्कृष्टता और भावनाओं की पवित्रता देता है. फ़िल्मी शायरी की तकनीक भी अदबी शायरी की तकनीक से अलग होती है. फ़िल्म की हैसियत एक ड्रामे की है और गीत इस ड्रामे के पद्यात्मक टुकड़े होते हैं. फ़िल्मी गीतकार को अलग अलग मौक़ों के अनुसार अलग अलग पात्रों के लिए गीत कहने होते हैं . ये गीत कभी वियोग की दास्तान कहते हैं, तो कभी आपस की छेड़छाड़ को दोहराते हैं, कभी कोई तवाइफ़ या किसी कैफ़े की कोई हसीना विनोद-सामग्री के तौर पर उन्हें गाती है, कभी ये लोरी बनते हैं तो कभी बच्चों के मासूम जज़्बात का इज़हार, कभी ये दुनिया की कठिनाइयों की पुकार हैं तो कभी हंसी-मज़ाक़ की ख़ुश-आहंग झनकार, कभी इनके पर्दे में दुनिया की नश्वरता की बात होती है तो कभी ये इंसानी संघर्ष के जोशीले जज़्बात की तर्जुमानी करते हैं, कभी ये मौत का राग हैं तो कभी ज़िंदगी का भरपूर नग़मा. इस एतबार से फ़िल्मी शायरी का दायरा बहुत विस्तृत है, लेकिन मुख्य प्रश्न तो यह है कि गीत कहनेवाले ने कहां तक कामयाबी के साथ अपने फ़र्ज़ को पूरा किया है. एक तवाइफ़ के गीत में पस्त और तुच्छ जज़्बात भी कहे जा सकते हैं और यही गीत कोमल प्रेम भावनाओं का वाहक भी हो सकता है. इसी तरह कैफ़े में गाने वाली लड़की एक शिष्ट गीत भी गा सकती है और यही गीत इशारों-किनायों में एक ख़ूबसूरत दावतेइश्क़ भी बन सकता है. मज़ाहिया या हास्य गीतों में घटिया क़िस्म की बातें भी कही जा सकती हैं या फिर उनमें व्यंग शामिल करके उन्हें साहित्यिक लालित्य का नमूना भी बनाया जा सकता है. ग़रज़—*क्या कहा गया है?* का सवाल बहुत अहम है और फिर इसी के साथ *कैसा कहा गया है?* का सवाल भी जुड़ा हुआ है जिसमें शायर की वर्णन शक्ति के अतिरिक्त अलंकार योजना के सारे नियमों को जानना आवश्यक हो जाता है. एक बिंदु जो फ़िल्मी शायरी में बहुत महत्त्व रखता है, वह गीतों में लोकप्रियता का ख़याल रखना है, और मैं समझता हूं कि यह चीज़ आसान ज़बान और साधारण लोगों को समझ में आने वाले वर्णन के साथ साथ गीतों में भरपूर भावनाओं की मांग करती है. बग़ैर भावनात्मक पुट के किसी गीत को शोहरत और लोकप्रियता मिलना मुमकिन नहीं होता.

फ़िल्मी गीतों की तकनीक के सिलसिले में यह बात विशेषत: कहने योग्य है कि गीतकार को बनी-बनायी

धुनों पर अवसर के अनुसार अल्फ़ाज़ बिठाने होते हैं. इतिहास को उठाकर देखा जाये तो पता चलता है कि लोक गीतों की संरचना में मौसीक़ी और शायरी की धाराएं एक साथ मिलकर फूटती रहीं. आगे चल कर गीतों और नग़मों की रचना में जो आम स्थिति नज़र आती है, वह यह है कि शायर की कही हुई चीज़ों की धुनें बनायी जाने लगीं. फ़िल्मी दुनिया में मामला उल्टा है. आम दस्तूर यह हो गया है कि म्यूज़िक डायरेक्टर धुन पहले तैयार कर लेता है, बाद में शायर उस पर बोल कहता है. इसकी वजह अगर एक तरफ़ मौजूदा शायरों की संगीत से अनभिज्ञता है तो दूसरी तरफ़ अक्सर म्यूज़िक डायरेक्टरों की अपनी कमज़ोरियां भी हैं जो कहे हुए बोलों की धुनें बनाते हुए घबराते हैं और कतराते हैं. बहरहाल शुरू में शायर को कठिन परिश्रम करना और दिल जलाने से काम लेना होता है, कुछ अर्से में धुनों के पेचो ख़म और सुरों के उतार चढ़ाव को समझने की क़ाबिलियत ख़ुद बख़ुद पैदा हो जाती है. शायद इसका कारण यह हो कि शायरी और मौसीक़ी का जन्मजात रिश्ता है. शायर अगर मौसीक़ी का जानकार न हो तो भी उसे मौसीक़ी से एक मानसिक रिश्ता ज़रूर होता है, चाहे वह कितना ही मामूली क्यों न हो. इस ज़हनी तर्बीयत के बाद उसके लिए किसी धुन पर भी बोल कहना उतना ही आसान हो जाता है जितना काव्य-शास्त्र के तयशुदा मात्रा-ज्ञान के अनुसार ग़ज़ल या नज़्म की रचना करना. लेकिन यह न भूलना चाहिए कि इस बंदिश के साथ ख़ूबसूरत और कामयाब गीत लिखना एक कामयाब शायर ही का काम है.

आइए, साहिर के उन गीतों का जायज़ा लें जो इस समय किताबी शक्ल में हमारे और आपके सामने आये हैं. इस संकलन का एक गीत *चांद मद्धम है आसमां चुप है*, एक साहित्यिक शाहकार की हैसियत रखता है. इंतज़ार की पीड़ा की कैफ़ियत और महबूब को देखने की ललक जिस तरह इन सीधे सादे अल्फ़ाज़ में समोयी हुई है, उसने गीत को ऐसी फ़ज़ा और ऐसा तास्सुर दे दिया है जो दिलों को प्रभावित किये बिना नहीं रहता :

रोज़ की तरह आज भी तारे
सुबह की गर्द में न खो जायें
आ तिरे ग़म में जागती आंखें
कम से कम एक रात सो जायें
चांद मद्धम है आसमां चुप है
नींद की गोद में जहां चुप है

इसी तरह साहिर का यह गीत :

आंख खुलते ही तुम छिप गये हो कहां
तुम अभी थे यहां
अभी सांसों की ख़ुशबू हवाओं में है
अभी क़दमों की आहट फ़ज़ाओं में है
अभी शाख़ों पे हैं उंगलियों के निशां
तुम अभी थे यहां

उन उत्कृष्ट अनुभूतियों की तर्जुमानी करता है जो महबूब के ख़याल या कल्पना को मूर्त रूप देकर ज़िंदगी से भर देती हैं.

फ़िल्मी गीतों का एक आम मौज़ू मुहब्बत का पहला एहसास भी है. साहिर ने इस मौक़े पर एक लड़की के नाज़ुक जज़्बात की तर्जुमानी की है, इस तरह:

नैन झुक-झुक के उठे
पांव रुक-रुक के उठे
आ गयी चाल नयी
बात कुछ बन ही गयी...
ज़ुल्फ़ शाने पे मुड़ी
एक ख़ुशबू सी उड़ी
खुल गये राज़ कई

बात कुछ बन ही गयी

साहिर ने वियोग के मौज़ू पर भी बड़े दिल को छू लेने वाले गीत लिखे हैं: *जाने वो कैसे लोग थे जिनके प्यार को प्यार मिला... मेरी उम्र से लंबी हो गयी बैरन रात जुदाई की..., तुम न जाने किस जहां में खो गये....* और उसका गीत—*सुन जा दिल की दास्तां...* हिंदुस्तान भर में शोहरत हासिल कर चुका है. अल्फ़ाज़ और जज़्बात की ख़ूबसूरती गीतों के लिए बड़ी अहम होती है. जो धुन साहिर को गीत के लिए दी गयी होगी, उस पर *आ जा आ जा बालमा* भी मौज़ूं किया जा सकता था लेकिन यहां एक शायर और तुकबंद का फ़र्क़ सामने आता है. साहिर एक संवेदनशील शायर है और इसलिए उसके उन गीतों में भी, जो प्रेम की व्यक्तिगत हानि पर आधारित हैं, हमें सामूहिक जन हानि की झलकियां मिल जाती हैं:

तुमने कितने सपने देखे, मैंने कितने गीत बुने
इस दुनिया के शोर में लेकिन दिल की धड़कन कौन सुने
हुस्न के खिलते फूल हमेशा बेदर्दों के हाथ बिके
और चाहत के मतवालों को धूल मिली वीराने की
दिल के नाज़ुक जज़्बों पर भी राज है सोने चांदी का
ये दुनिया क्या क़ीमत देगी सादा-दिल इंसानों की

यह हक़ीक़त है कि साहिर के गीतों की सबसे नुमायां विशेषता उसकी प्रगतिशील विषय वस्तु है, उसने बड़ी जुर्रत और ताक़त के साथ अपने गीतों में यह आवाज़ उठायी है. वह एक जागृत और पुख़्ता चेतना के साथ फ़िल्मी दुनिया में दाख़िल हुआ है. उसकी पहली ही फ़िल्म *बाज़ी* में उसका यह नग़मा मस्तिष्क को चौंका देने वाला था:

डरता है ज़माने की निगाहों से भला क्यूं
इंसाफ़ तेरे साथ है इल्ज़ाम उठा ले
टूटे हुए पतवार हैं कश्ती के तो क्या ग़म
हारी हुई बांहों को ही पतवार बना ले

यह आवाज़, यह आहंग फ़िल्मी गीतों की दुनिया के लिए नया था और फिर साहिर अपनी इस आवाज़ को रोज़-ब-रोज़ तेज़ करता गया और आज वह खुल कर अपनी समाजिक चेतना को पूरी कलात्मक बारीक़ियों के साथ अपने गीतों में पेश करता है. वह अपने गीतों में *ये दुनिया जहां आदमी कुछ नहीं है* को ठुकराता हुआ मिलता है. उसके गीतों में उन लावारिस और मजबूर बच्चों की आवाज़ सुनायी देती है जिनके लिए सड़कें ही मां और सड़कें ही पिता का दर्जा रखती हैं. उसके गीतों में उस औरत की चीख़ है जो अवतार, पयंबर जनती है, फिर भी शैतान की बेटी है. उसके गीतों में उन मज़दूरों की बात है जिनकी मेहनत के बल-बूते पर दुनिया के सारे भौतिक सुख, भोग-विलास की सामग्री और सजावटें मुहय्या हैं:

माटी से हम लाल निकालें, मोती लायें जल से

साहिर परिश्रम का शोषण बर्दाश्त नहीं करता और इसीलिए उसके गीत में यह नारा खुल कर गूंज उठता है:

हाथ बढ़ाकर छीन लो अपने सपनों की ताबीरें

वह सरमायादारी पर भरपूर वार करता है. एक गीत में उसने इस फ़र्क़ को बड़े कलात्मक ढंग से पेश किया है जो पूंजीवादी व्यवस्था की पैदावार है, जिसमें हर व्यक्ति को पनपने और परवान चढ़ने के लिए बराबर के भौतिक अवसर हासिल नहीं हैं और जिसके नतीजे में अगर एक का भाग्य सुख है तो दूसरे का दुख:

दो कलियां गुलशन की
इक सहरे के बीच गुंधे और मन ही मन इतराये
इक अर्थी की भेंट चढ़े और धूली में मिल जाये

किस को मुजरिम समझे कोई किस को दोष लगाये
दो सखियां बचपन की
एक सिंघासन पर बैठे और रूपमती कहलाये
दूजी अपने रूप के कारन गलियों में बिक जाये
किस को मुजरिम समझे कोई किस को दोष लगाये

साहिर ऐसे अन्यायपूर्ण और ना बराबरी की व्यवस्था का दुश्मन है. उसकी आशावादी तबीयत इस अंधेरे को छटता हुआ महसूस करती है और वह चिल्ला उठता है:

किसके रोके रुका है सवेरा

वह क्रिया और प्रतिक्रिया के प्राकृतिक और वैज्ञानिक नियम से वाक़िफ़ है:

रात जितनी भी संगीन होगी
सुबह उतनी ही रंगीन होगी
ग़म न कर गर है बादल घनेरा
किस के रोके रुका है सवेरा

अपने गीत *रात के राही* में नयी सुबह की ख़बर इस तरह देता है:

धरती के फैले आंगन में पल दो पल है रात का डेरा
ज़ुल्म का सीना चीर के देखो, झांक रहा है नया सवेरा
ढलता दिन मजबूर सही, ,चढ़ता सूरज मजबूर नहीं
रात के राही थक मत जाना, सुबह की मंज़िल दूर नहीं

और फिर *वो सुबह कभी तो आयेगी* में उन सारी मुसीबतों और कठिनाइयों के अंत का यक़ीन दिलाता है जो आज ज़हर बन कर हमारे समाज की रगों में उतरी हुई हैं:

यह नरक से गंदी दुनिया जब स्वर्ग बनायी जायेगी
वो सुबह कभी तो आयेगी

कोई शक नहीं कि साहिर का यह कारनामा है कि उसने फ़िल्मों को ऐसे गीत दिये जो सियासी और सामाजिक चेतना से भरे हुए हैं. यह एक बड़ा क़दम है जो साहिर ने बड़ी दिलेरी से उठाया है. वह हमारे कई दूसरे शायरों की तरह फ़िल्मी दुनिया की गंदगी में डूब कर नहीं रह गया बल्कि उसने अपने क़लम की ताक़त से फ़िल्मी गीतों को अगर एक तरफ़ हुस्न की उत्कृष्टता और नज़ाकत और इश्क़ का दर्द और कसक दी तो दूसरी तरफ़ सामाजिक, भौतिक और आर्थिक चेतना दी. उसने न ख़ुद को धोखा दिया न अपने फ़न को, न तरक़्क़ीपसंद तहरीक को न अवाम को. उसने वह किया जो एक जागरूक शायर के तौर पर उसका फ़र्ज़ था और उसके इस कारनामे पर मैं उसे मुबारकबाद देता हूं.

अनुवाद : अर्जुमंद आरा

साभार : *फ़न और शख़्सियत: साहिर लुधियानवी नंबर*; बंबई, अंक 17-18, फ़रवरी 1985, पृ. 393-398

साहिर और *प्यासा* के गीत

नरगिस

मैं एक लंबे समय से हिंदुस्तानी फ़िल्मों में बतौर हीरोइन काम कर रही हूं. इतने लंबे समय से कि अब मुझे ठीक से यह भी याद नहीं कि मैंने किस-किस फ़िल्म में कौन-कौन-सा रोल किया है. ऐसी स्थिति में उन गानों को तो याद रखने का सवाल ही पैदा नहीं होता जो मैंने स्क्रीन पर गाये हैं. हर फ़िल्मी हीरोइन की तरह मैंने भी ग़म के गीत, ख़ुशी के गीत, हंसी के गीत, इंक़लाबी गीत, भजन क़व्वालियां, यानी कि हर तरह के गाने फिल्मों में गाये हैं जिनमें से कुछ गाने सचमुच असाधारण महत्व रखते हैं—मुल्क के बेहतरीन संगीतकारों के बनाये हुए और मुल्क के मक़बूल और मशहूर शायरों के लिखे हुए. लेकिन सच बात यह है कि मुझे बहुत कम गानों ने इतना प्रभावित किया है जितना *प्यासा* फ़िल्म के गानों ने. *प्यासा* के गाने इतने ख़ूबसूरत और प्रभावशाली थे कि मुझे सब के सब ज़बानी याद हो गये थे. ये गीत सुनने वाले के दिल की गहराइयों में इस तरह उतर जाते हैं कि उसे पता तक नहीं चलता, और सिर्फ़ उस वक़्त महसूस होता है जब वह तन्हाई के लम्हों में ख़ुद-ब-ख़ुद उन्हें गुनगुनाने लगता है—तन्हाई के लम्हे जो ख़ूबसूरत भी होते हैं और दर्दनाक भी.

साहिर लुधियानवी यक़ीनी तौर पर तारीफ़ के हक़दार हैं जिन्होंने हमारे ज़माने के प्रभावी और सामाजिक चेतना से भरपूर गीतों से फ़िल्म *प्यासा* को आरास्ता किया.

आधुनिक युग के एक महत्वपूर्ण और लोकप्रिय शायर की हैसियत से साहिर लुधियानवी का नाम बरसों से सुनती आ रही थी लेकिन ज़ाती तौर पर उनसे मिलने का संयोग नहीं हुआ था. पहली बार मुझे साहिर को देखने और सुनने का मौक़ा 'फ़िल्म जर्नलिस्ट्स एसोसिएशन', बंबई की तरफ़ से आयोजित एक मुशायरे में मिला, जिसमें उन्होंने अपनी नज़्म 'परछाइयां' सुनायी थी. विश्व शांति के विषय पर लिखी हुई इस रोमांटिक नज़्म को सुनकर, जिसमें जंग की भयानकता का बयान भी था, मैं गुमसुम रह गयी थी—लेकिन साहिर से मेरी मुलाक़ात इस मौक़े पर नहीं हुई.

साहिर से मेरी पहली मुलाक़ात उस दावत में हुई जो आर.के. स्टूडियो में पाकिस्तानी शायर फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ के सम्मान में दी गयी थी. मैं 'तंग आ चुके हैं कशमकशे-ज़िंदगी से हम' गुनगुना रही थी कि साहिर ने, जो मेरे क़रीब ही बैठे थे, चौंक कर मेरी तरफ़ देखा—और यह था हमारा आपसी परिचय जिसमें न हमने एक दूसरे से बात की, न आदाब कहा. फिर भी उस एक पल में एक अदाकारा और एक गीतकार कला के स्तर पर एक दूसरे के क़रीब, बहुत क़रीब आ गये.

फ़िल्मी गीतकारों में साहिर का दर्जा बहुत बुलंद है. उनके अशआर को सुनकर यूं लगता है जैसे वे शायर के दिल की आवाज़ और उनकी निजी ज़िंदगी के गहरे जज़्बाती तजर्बों का इज़हार हों. मुझे कई दूसरे शायरों की रचनाएं भी पसंद है, लेकिन साहिर के यहां कल्पना का रचनात्मक रूप बहुत नुमायां है. उनकी नज़्में सीधे दिल को छूती हैं.

साहिर के गीत आम लोगों को इसलिए याद हो जाते हैं कि वे अपने अशआर में आम इंसानों के दुख-सुख की बात करते हैं, और आम आदमी यह महसूस करता है कि ये शे'र उसके ख़यालात और महसूसात के प्रतिनिधि हैं. साहिर की शायरी की यही विशेषताएं फ़िल्म *प्यासा* के नग़मों की लोकप्रियता का राज़ हैं. *प्यासा* के गीतों में जो अदबी चाशनी है, वह आम फ़िल्मी गीतों में कभी-कभार ही नज़र आती है.

यूं तो एक मूर्तिकार अपनी बनायी हुई सब मूर्तियों को पसंद करता है, चित्रकार को अपनी सभी तस्वीरें प्रिय होती हैं, मां को अपने सभी बच्चे प्यारे होते हैं, और हर रचनाकार अपनी हर रचना को एक-सी शिद्दत से चाहता है, लेकिन मैं इस वक़्त एक अल्पकालिक आलोचक के तौर पर अपनी व्यक्तिगत राय के हिसाब से *प्यासा* के गीतों

का आकलन करूंगी, चाहे साहिर मुझसे सहमत हों या न हों. मुझे 'सर जो तेरा चकराये...' गाना पसंद नहीं आया. इसके बावजूद कि यह बेहद लोकप्रिय हुआ, मेरी राय में यह गाना फ़िल्म *प्यासा* में साहिर के काम पर एक धब्बा है. इस फ़िल्म में साहिर की कई इंतेहाई बुलंद-पाया नज़्में शामिल हैं और कहीं-कहीं तो ऐसा महसूस होता है कि जैसे उन नज़्मों को फ़िल्म में लाने के लिए ख़ास तौर से मौक़े निकाले गये हों.

अब मैं उन गीतों का ज़िक्र करूंगी जो मुझे ख़ास तौर से पसंद आये. उनमें सबसे पहला गीत है—'जाने क्या तूने कही...'. वजह इसके बोलों की सादगी और अर्थ की गहराई है. दूसरा गीत जो मुझे बेहद पसंद आया वह है—'हम आपकी आंखों में इस दिल को बसा दें तो...'. हालांकि यह गीत उतना लोकप्रिय नहीं हुआ जितना कि *प्यासा* के दूसरे गीत हुए, लेकिन इस गीत में नयी उम्र की नयी मुहब्बत के अनमोल लम्हों की अक्कासी की गयी है. मुझे पूरा यक़ीन है कि अगर एक लड़की और एक लड़का मुहब्बत का इज़हार करना चाहें तो साहिर के लिखे हुए इस गीत से अलग कोई गीत नहीं गा सकते. इस फ़िल्म में साहिर की एक नज़्म भी शामिल है जो 'गिरी हुई' औरतों के बारे में है, और जो इस मिसरे से शुरू होती है: 'सना-ख़्वाने-तक़दीसे-मशरिक़ कहां हैं'. फ़िल्म में इस मिसरे को बदलकर 'जिन्हें नाज़ है हिंद पर वो कहां हैं' कर दिया गया है. यह नज़्म अपने अंदाज़े-तहरीर में बेपनाह शक्ति रखती है और इसका एक-एक लफ़्ज़ ऐसा आईना है जिसमें समाज को उसके जिस्म के घिनौने नासूर दिखायी देते हैं. इस नज़्म, और एक दूसरी नज़्म—'ये दुनिया अगर मिल भी जाये तो क्या है' को गुरुदत्त ने जिस ख़ास अंदाज़ से स्क्रीन पर पेश किया है, उसके लिए मैं उन्हें भी मुबारकबाद के क़ाबिल समझती हूं.

यह तो था फ़िल्म *प्यासा* की उन गीतों का ज़िक्र जो जाने पहचाने हैं, लेकिन मेरा पसंदीदा गीत इन सबमें अलग है. मुझे इस फ़िल्म में सबसे अच्छा गीत वह लगा जिसका न ग्रामोफ़ोन रिकॉर्ड है, न गाने के किताबचे में शामिल किया गया है. उसके साथ आर्केस्ट्रा भी नहीं बजा—फिर भी यह एक ऐसी महान रचना है जिसे भुलाया नहीं जा सकता, और जिसने फ़िल्म के ड्रामाई असर में बहुत इज़ाफ़ा किया है. मेरा मतलब उस ग़ज़ल से है जो हीरो उस वक़्त गाता है जब वह अपने पुराने कॉलेज के एक सालाना जलसे में शरीक होने के लिए जाता है: 'तंग आ चुके हैं कशमकशे-ज़िंदगी से हम'. मेरा यह सबसे पसंदीदा नग़मा है. मैं जब भी अकेली होती हूं या अपने ख़यालों की दुनिया में डूबी होती हूं तो हमेशा गुनगुनाती हूं.

फ़िल्म *प्यासा* ने साहिर को हिंदुस्तानी फ़िल्मी गीतकारों की पहली पंक्ति का गीतकार बना दिया है. मेरी तमन्ना है कि अपनी इस कामयाबी को वह तरक़्क़ी के ज़ीने की आख़िरी कड़ी न समझे बल्कि भविष्य में इससे भी ज़्यादा बुलंदियों पर पहुंचे.

साहिर को हर लिहाज़ से सुरक्षित रखना चाहिए—फ़िल्म इंडस्ट्री के लिए भी और उर्दू शायरी के लिए भी.

(नरगिस का यह लेख प्रकाश पंडित द्वारा उर्दू में संपादित पुस्तक *साहिर और उसकी शायरी* [पंजाबी पुस्तक भंडार, दरीबा कलां, दिल्ली, अगस्त 1962, पृ. 127-131] से लिया गया है. लेख के अंत में सिर्फ़ इतना दर्ज है कि इसका अंग्रेज़ी से तर्जुमा किया गया है. अंग्रेज़ी में कहीं छपा था या नहीं, इस विषय में कोई इत्तला नहीं दी गयी.)

अनुवाद: अर्जुमंद आरा

ड्रामाई लम्हों का तन्हा शायर

मुहम्मद हसन

साहिर अब हमारे बीच नहीं है. दिलों में उतरने वाले नग़मे बिखेरने वाला शायर अचानक ख़ामोश हो गया. साहिर ने अपने को पल दो पल का शायर कहा था और अपने अह्द के हसीनों को अपने इश्क़ को पालने-पोसने वाला दौर भेंट कर दिया था. साहिर ख़ामोश हो गये मगर उनके नग़मे मुद्दतों महफ़िल-महफ़िल गूंजा करेंगे.

साहिर के फ़न का तटस्थ अवलोकन करें तो सबसे चौंका देने वाली विशेषता साहिर के मंज़रनामे नज़र आयेंगे. साहिर उन शायरों में हैं जो तस्वीर-ब-तस्वीर मंज़र सजाते हैं. इन मायनों में शायद साहिर सबसे नुमायां तौर पर इमेजिस्ट शायर थे. साहिर तस्वीरों के रूप में सोचते थे, अमूर्त कल्पना को भी स्पर्श और अनुभव का स्वाद देते थे, ठोस आकार दे देते थे. शायद फ़िल्मों में उनकी कामयाबी की बड़ी वजह भी यही थी, मगर यह शुरू ही से साहिर का मिज़ाज था. स्पर्श की यह लज़्ज़त और आकार गढ़ने की यह कला साहिर के फ़न को चित्रकला से ज़्यादा संगतराशी और मूर्तिकला से क़रीब कर देती है, मसलन इन मिसरों और शे'रों में :

हसीं शबनम-आलूद[1] पगडंडियों से
लिपटने लगे सब्ज़ पेड़ों के साये

अगले दिन हाथ हिलाते हैं, पिछली पीतें याद आती हैं
बस अब तो दामने-दिल छोड़ दो बेकार उम्मीदो!

जवां रात के सीने पे दूधिया आंचल
मचल रहा है किसी ख़ाबे-मरमरीं की तरह

अजनबी बांहों के हलक़े में मचलती होंगी
तेरे महके हुए बालों की अदाएं अब तक

तुम्हारा जिस्म हर इक लहर के झकोले से
मिरी खुली हुई बांहों में झूल जाता है

इनमें स्थिर दृश्य नहीं हैं बल्कि हरकत और रफ़्तार और अमल या क्रिया से भरपूर तस्वीरें हैं जो ख़ुद पढ़ने वाले के तजर्बे का हिस्सा बन जाती हैं और उनमें समवेदना या शिरकत का एहसास पैदा करती हैं.

अमल और हरकत की ये तस्वीरें फ़िल्मी मोनताज़ की तर्ज़ पर एकत्रित करके नयी चित्रकला का आधार बनती हैं. साहिर की नज़्म 'परछाइयां' तो ख़ैर फ़िल्मी ढंग के अलग दृश्यों से ही अर्थ पाती है और इस एतबार से शायद इस तकनीक की सबसे कामयाब नज़्म है, लेकिन फ़िल्मी दुनिया से जुड़ने से पहले भी साहिर इसी अंदाज़ का चित्रण करते रहे हैं. इसकी मिसालें 'एक मंज़र', 'एक वाक़िया', 'किसी को उदास देखकर' और विशेषत: 'सुबह -ए-नौरोज़' और 'चकले' जैसी नज़्मों में मिलती हैं.

साहिर चलती-फिरती तस्वीरों का शायर है और यह विशेषता सिर्फ़ साहिर ही की है कि वह स्पर्श को ठोस आकार देकर ये तस्वीरें बनाता है. साहिर की तक़रीबन सभी अहम नज़्मों में तनाव दो मूर्त और स्पर्श्य छवियों की मदद से बनता है. सबसे पहले 'परछाइयां' को लीजिए, जिसके दोनों मूर्त चित्र इस तरह एक दूसरे के सामने होते हैं :

तुम आ रही हो ज़माने की आंख से बच कर
नज़र झुकाये हुए और बदन चुराये हुए

ख़ुद अपने क़दमों की आहट से झेंपती डरती
ख़ुद अपने साये की जुंबिश से ख़ौफ़ खाये हुए

तुम आ रही हो सरे-आम बाल बिखराये
हज़ार गुना मलामत का बार उठाये हुए
हवस-परस्त निगाहों की चीरा-दस्ती से
बदन की झेंपती उर्यानियां छुपाये हुए

इसी तरह 'ताजमहल' का मुख्य संघर्ष शहनशाह और ताजमहल को बनाने वाले मेमारों के दरमियान है. शहनशाह दौलत से मेमार और मज़दूरों की मेहनत ख़रीद सका और उनके ज़रिये उनकी नहीं, अपनी महबूबा की यादगार बनाने में कामयाब हुआ. यही स्थिति 'आज', 'कल और आज' और 'तुलू-ए-इश्तिराकियत' में भी है. 'आज' में सूरते-हाल को साहिर ने तस्वीर की शक्ल दे दी है. इस तस्वीरी तरतीब ने उर्दू नज़्म को विकास और व्यवस्था की नयी दिशा दी. अमूर्त और कभी कभी ग़ैर-दिलचस्प विषयों और दृश्यों को वे अपने चित्रण से इंतिहाई दिलकश और पुरकशिश बना देते हैं, जैसे, 'कल और आज' की दो तस्वीरें:

कल भी बूंदें बरसी थीं
कल भी बादल छाये थे

और कवि ने सोचा था :

बादल ये आकाश के सपने, उन ज़ुल्फ़ों के साये हैं
दोशे-हवा[2] पे मयख़ाने ही मयख़ाने घिर आये हैं
रुत बदलेगी फूल खिलेंगे झोंके मधु बरसायेंगे
उजले-उजले खेतों में रंगीं आंचल लहरायेंगे

(इस मौक़े पर यह कहना बेमौक़ा न होगा कि साहिर ने देहात की ज़िंदगी को जिस हुस्न और कैफ़ीयत के साथ पेश किया है उसकी मिसालें उर्दू शायरी में कम हैं. चरवाहे, बंसी की धुन से गीत बोते हैं. आमों के झुंडों में परदेसी दिल खोते हैं, पेंग बढ़ाती गौरी के माथे से कौंदे लपकते हैं, जोहड़ के ठहरे पानी में तारे आंख झपकते हैं, नदी के साज़ पर मल्लाह गीत गाते हैं)

और कवि इस सोच में है :

बस्ती पर बादल छाये हैं पर यह बस्ती किस की है
धरती पर अमृत बरसेगा लेकिन धरती किस की है
हल जोतेगी खेतों में अल्हड़ टोली दहक़ानों की
धरती से फूटेगी मेहनत फ़ाक़ाकश इंसानों की
फ़सलें काट के मेहनतकश गल्ले के ढेर लगायेंगे
जागीरों के मालिक आकर सब पूंजी ले जायेंगे
आज भी बादल छाये हैं
आज भी बूंदें बरसेंगी
और कवि इस सोच में है

इस संदर्भ में कल्पना को ठोस स्थिति में बदलने के हुनर का ज़िक्र भी ज़रूरी है. साहिर भरपूर लम्हात को ड्रामाई स्थिति में रूपांतरित कर देते हैं, मसलन, आज़ादी के बाद फ़सादात की लहर से प्रभावित होकर वे एक ऐसे चारण की छवि प्रस्तुत करते हैं जो क़ौम के बेटों से अपने नग़मों की झोली पसारे अपना हुनर, अपनी लय, अपने सुर और अपनी बांसुरी की भीख मांगता है. इसी तरह दूसरे विश्वयुद्ध के आरंभ में जब जर्मनी और इंग्लिस्तान में

लड़ाई छिड़ गयी तो उन्होंने उसे फिर किसी जुआख़ाने में दो जुवारियों के झगड़े से उपमा देकर इन जुवारियों के अत्याचार के शिकार अवाम से सीधे ख़िताब का तरीक़ा अपनाया :

मुस्कुरा, ऐ ज़मीने-तीरा-ओ-तार[3]
सर उठा ऐ दबी हुई मख़लूक़[4]
देख वो मग़रिबी उफ़क़[5] के क़रीब
आंधियां पेचो-ताब खाने लगीं
और पुराने क़िमारख़ाने[6] में
कुहना शातिर[7] बहम उलझने लगे
कोई तेरी तरफ़ नहीं निगरां[8]
ये गिरां-बार[9] सर्द ज़ंजीरें
आज मौक़ा है, टूट सकती हैं ('लम्हा-ए-ग़नीमत')

साहिर ख़िताबत या संबोधन, ड्रामाइयत और छाया-चित्रण से काम लेकर कल्पनाओं को गतिमान और सक्रिय स्थिति में ढाल देते हैं और अपने आप में एक तजर्बा बना देते हैं, और यह सब कुछ वे अनावश्यक विस्तार से दामन बचाकर करते हैं. उनकी नज़्मों में विवरणात्मक इशारे हैं मगर विवरणात्मक दृश्य बहुत कम हैं, और इस ऐतबार से वे सरदार जाफ़री से प्रभावित होने के बजाय फ़ैज़ के ज़्यादा क़रीब हैं, यद्यपि उनके यहां सलाम मछलीशहरी ('मादाम', 'शहज़ादे', 'शहकार', 'एक तस्वीर', 'रंग' में), मजाज़ ('नज़्रे-कॉलेज', 'शिकस्त', 'एक शाम', 'तुलू-ए-इश्तिराकियत' में), जांनिसार अख़्तर ('मुझे सोचने दे', 'सोचता हूं'), फ़ैज़ ('आवाज़े-आदम', 'हिरास', 'लम्हा-ए-ग़नीमत'), सरदार जाफ़री ('आज', 'मुफ़ाहमत'), अख़्तर शीरानी ('मता-ए-ग़ैर', 'रद्दे-अमल', 'एक वाक़िया'), कैफ़ी ('ये किस का लहू है', 'फिर वही कुंजे-क़फ़स'), मख़दूम ('बुलावा'), जोश मलीहाबादी ('अशआर', पृष्ठ 65, 'तल्ख़ियां', चौदहवां एडीशन) का असर है. लेकिन इस विस्तृत प्रभाव के बावजूद कम से कम सात नज़्मों में साहिर अपना एक अलग लबो-लहजा पाने में कामयाब हुए हैं—और यह लहजा ठहराव, अनुभूति के मूर्त चित्रण, गीतमयता और नाज़ुक तस्वीरों की छवियां उकेरने से इबारत है. ये विशिष्ट लहजे वाली नज़्में हैं—'ताजमहल', 'कभी कभी', 'मेरे अह्द के हसीनो', 'मेरे गीत तुम्हारे हैं', 'ख़ूबसूरत मोड़', 'परछाइयां' और 'फ़नकार'. इन नज़्मों के अलावा चंद ग़ज़लें भी हैं जिनमें साहिर की अपनी निजी विशेषताएं उभरी हैं.

साहिर की नज़्मों में शे'री तरतीब और संरचना का तीखा अंदाज़ है. एक तरह की नज़्में तो वे हैं जिनमें जोश मलीहाबादी के अंदाज़ में अनुभूतियों का सिलसिला तो है, लेकिन उनका विकास नहीं है. अगर विकास है तो ज़्यादा नुमायां नहीं हुआ है, मसलन 'चकले' में तक़रीबन एक जैसी विषय-वस्तु है या मिलते-जुलते दृश्य हर छंद में दोहराये गये हैं, यद्यपि आख़िर के तीनों छंद क्रिया के विभिन्न टुकड़ों के चित्र पेश करते करते सीनों की ओर बढ़ते हुए हाथ, ज़ीनों की ओर लपकते हुए पांव, उजले दरीचे में पायल की छनछन, तनफ़्फ़ुस (सांसों) की उलझन, मदक़ूक़ (तपेदिक के कारण बीमार) चेहरे, और ढलके बदन के विवरण को एक ललकार, स्वरोत्कर्ष (Crescendo) पर जाकर ख़त्म होते हैं, लेकिन दूसरी क़िस्म की नज़्में वे हैं जो बहुत ज़्यादा गठी हुई, सुगठित और व्यवस्थित हैं. 'कभी कभी' जैसी सुव्यवस्थित और गठी हुई नज़्में उर्दू शायरी में कम हैं. हर मिसरा और हर बंद सिलसिला-ब-सिलसिला विकास की कड़ी है और पूरी नज़्म एक दायरे में ढल जाती है. पहला मिसरा आख़िरी मिसरे से इस तरह हम-आवाज़ है जैसे नज़्म का दायरा ख़त्म होने के बाद फिर से शुरू हो रहा हो और पूरी ज़िंदगी इसी ख़याल के दायरे में गर्दिश कर रही हो.

बीच की कड़ियां छोड़कर सार-गर्भित और प्रभावपूर्ण काव्य-दक्षता के साथ किसी एक ड्रामाई मोड़ को बयान कर देना भी साहिर की तकनीक की ख़ुसूसीयत है. वह बहुत कम विवरण देता है, सिर्फ़ चंद लकीरों से चित्र को पूरा करता है, मगर फ़िल्मी मोनताज़ के तर्ज़ पर बिखरी तस्वीरों की दक्षता से चित्र सजाता है और अनुभूति पैदा करता है. वह तस्वीरों और छवियों में सोचने और महसूस करने वाला शायर है, जिसकी नज़र उर्दू शायरी में कम लोगों में है, इसीलिए इस नग़मे ढालने वाले चित्रकार-शायर को फ़िल्मी दुनिया में इतनी कामयाबी मिली (जो उसे बहुत महंगी

पड़ी), और इसीलिए वह पढ़ने वालों के दिलों को इस तरह छूता है कि उनकी अनुभूतियों का हिस्सा बन जाता है. साहिर उर्दू में ड्रामाई लम्हों का तन्हा शायर है.

साहिर की शायरी के दौर-ब-दौर विकास को सामने रखा जाये तो ऐसा लगेगा कि एक नौजवान ने उठते शबाब के नर्मो-नाज़ुक जज़्बात की रुमानी अंदाज़ में ख़ुद पर तरस खाने से शायरी की इब्तिदा की. महबूबा की बेवफ़ाई या ज़माने के अत्याचार से जब रूमानी ख़्वाब का रंग-महल टूटा तो गिर्दो-पेश के दुख-दर्द पर आंख पड़ी और ख़ुद को सामूहिक दुख-दर्द में गुम कर दिया, परचम लहराने वालों की ख़ातिर बरबत पर ख़ुद गाने लगा, इंकलाब के तराने छेड़े, ख़ुद को ख़ुशी और आनंद की दुखदायी जद्दोजहद का हिस्सा बना लिया और फिर अचानक एक मोड़ आया जिसके बाद वह लिबरलिज़्म की तरफ़ मुड़ा, और इंकलाब की जगह महज़ अमन और सामाजिक न्याय के धुंधले, अस्पष्ट मूल्यों का चारण बन गया. इंकलाब का ज़िक्र कम, क़ौम-परस्ती का आहंग ज़्यादा बुलंद हुआ, लेकिन इन सभी पड़ावों में भी साहिर सामाजिक सहयोग का शायर है, किनारा-कशी का नहीं. बेशक उसकी शायरी में फ़िक्र की सलाहियतें और अनुभूति और बोध की अथाह गहराइयां नहीं हैं लेकिन उसकी पूरी शायरी उसके दौर के *दर्दो-दाग़-ओ-जुस्तजू-ओ-आरज़ू* में बोध और अनुभूति के स्तर पर सीधी शिरकत का मंज़रनामा है और इसी से साहिर की शायरी गीतमय भी हुई और प्रभावोत्पादक भी.

क़ौमी आज़ादी की लड़ाई हो या बहरी-बेड़े की बग़ावत, सांप्रदायिक दंगों की क़यामत हो या युद्ध की तबाही, हिंदो-पाक लड़ाई की लानतें हों या विश्व स्तर पर लुमुम्बा जैसे अवाम-दोस्त रहनुमाओं की शहादत, उर्दू के साथ बे-इंसाफ़ी हो या मज़दूर-किसानों का शोषण, साहिर की आवाज़ नग़मे बरसाती रही है, और उनका दिल अवाम की धड़कनों के साथ धड़का है और यही हम-आहंगी उनकी शायरी में तवानाई, सरमस्ती और नग़मगी बन कर उभरी है. इसीलिए वर्ग-चेतना के जैसे स्पष्ट चित्र साहिर की नज़्म 'ताजमहल' और 'नूरजहां के मज़ार पर' में मिलते हैं, इतने उर्दू शायरी में किसी और जगह शायद ही कहीं मिलें. यह और बात है कि इस क़िस्म की शायरी सामाजिक स्तर पर इंकलाबी तब्दीलियों से ही सम्मान पाती है. जब वे तहरीकें जवान हों जो नये दृष्टिकोण को शक्ति, सार्थकता और प्रामाणिकता दे सकें, उसी वक़्त अदब की यह नयी आवाज़ भी प्रामाणिकता पाती है. बदक़िस्मती से 1950 के बाद से वर्ग-चेतना को हमारे इंकलाबी राजनीतिक दलों ने भी राष्ट्रवाद के अधीन कर दिया है और इसीलिए साहिर की शायरी का यह सशक्त हिस्सा रंगो-नूर से महरूम होता गया और उनकी शायरी बाद में एक नये मोड़ से गुज़री. मगर इन सीमाओं के बावजूद साहिर एक बेमिसाल चित्रकार, नग़मागर और ड्रामाई लम्हों के शायर की हैसियत से उर्दू अदब की तारीख़ में मुद्दतों याद रखे जायेंगे.

अनुवाद: अर्जुमंद आरा

साभार : *फ़न और शख़्सियत*: साहिर लुधियानवी नंबर, सं. साबिर दत्त, सरवर शफ़ी; बंबई, अंक 17-18, फ़रवरी 1985, पृ. 233-237

---

1 ओस में भीगी हुई. 2 हवा के कंधे पर. 3 अंधकार में पूरी तरह डूबी हुई धरती. 4 प्राणी. 5 पश्चिमी क्षितिज. 6 जुआ-घर. 7 पुराने चालबाज़ 8 निगरानी करने वाला. 9 भारी

साहिर से एक मुलाक़ात

निदा फ़ाज़ली

'साहिर साहिब, आज मौसम कुछ ज़्यादा घुटा-घुटा सा है.'
'हां, मौसमों की घुटन का *तल्ख़ियां* में कई जगह ज़िक्र है.'
'आजकल मार्किट में जापानी घड़ी सीको, बहुत सस्ती मिल रही है.'
'जी हां, *तल्ख़ियां* में स्मगलिंग पर काफ़ी गहरे तंज़ मिल जायेंगे.'
'आज़ादी के बाद उर्दू किताबों की मार्किट बहुत कम हो गयी है.'
'नहीं साहिब, *तल्ख़ियां* के इकत्तीस से ज़्यादा एडीशन छप चुके हैं.'
'चीज़ों की क़ीमतें दिन-ब-दिन आसमान को छू रही हैं.'
'सही है, लेकिन जब *तल्ख़ियां* का पहला एडीशन लाहौर में छपा था, उस वक़्त हालात ऐसे नहीं थे.'

तल्ख़ियां... तल्ख़ियां... तल्ख़ियां... साहिर लुधियानवी से बातचीत करने के लिए हेमिंग्वे के बूढ़े मछेरे की ज़रूरत होती है. अगर इत्तिफ़ाक़ से आप उनके फ़्लैट में ही बैठे हों तो यह ज़रूरत मजबूरी की सूरत इख़्तियार कर लेती है. यूं भी साहिर के मिलने-जुलने वाले आम तौर से वही लोग होते हैं जो साहिर से कम, साहिर के बैंक-बैलेंस, फ़्लैट्स और साहिर की शराब से ज़्यादा मुलाक़ात करते हैं. लेकिन एक बार एक ऐसे साहिब भी साहिर से मिलने चले आये जो शायद बंबई में नये-नये आये थे और सिर्फ़ साहिर से मिलना चाहते थे. यह भला कैसे मुमकिन था. वे अभी मुश्किल से चंद मिनट बैठे होंगे कि व्हिस्की के तीन पैग चढ़ाये हुए साहिर की इजाज़त के बग़ैर, साहिर के बैंक बैलंस ने उन्हें धक्के देकर बाहर निकाल दिया. बेचारे नये-नये थे, अगर जानकार होते तो दूसरों की तरह वे भी फ़िल्मी शोहरत और साहित्यिक मूल्य में फ़र्क़ करने की भूल नहीं करते.

साहिर की *तल्ख़ियां* के कई एडीशन छप चुके हैं, लेकिन साहिर पैदाइश से अब तक एक ही एडीशन में चल रहे हैं. साहिर, दरअसल, अपने आपको न बांट सकने की कशमकश के शिकार हैं. वे पैर के अंगूठे से सर के बालों तक, अभी तक पूरे जुड़े हुए हैं. अगर जुड़ा हुआ आदमी ठीक वक़्त पर टूट-फूट कर बिखरना शुरू न हो तो शख़्सियत में नयी-नयी गुत्थियां पड़ जाती हैं. साहिर की सबसे बड़ी त्रासदी उनकी यही अखंडता है जिसने उनके अंदर आत्म-मोह की टेढ़ उभार दी है. साहिर की उम्र भले ही कुछ हो लेकिन ज़हनी तौर पर वे अभी तक पंद्रह-सोलह साल वाले खिलंदड़ेपन ही में सांस ले रहे हैं. वे जिस्म से ज़रूर बढ़ गये हैं लेकिन ज़हन मां की ममता के घेरे को पार नहीं कर सका है. वे अभी तक उसी मां के इकलौते बेटे हैं जो ख़ुद को और दूसरों को अपनी मां की आंखों से देखने के आदी हो चुके हैं. साहिर की गुफ़्तगू का पसंदीदा मौज़ू साहिर लुधियानवी ही है. इस मौज़ू की शुष्कता को वे तरह-तरह के अच्छे-बुरे लतीफ़ों से कम भी करते रहते हैं. ऐसा नहीं कि साहिर को अपनी इस कमज़ोरी का इल्म न हो, लेकिन रात दिन महफ़िलों और सोहबतों में घूमने वाला साहिर अपने अकेलेपन के शदीद एहसास के शिकंजों में इस बुरी तरह फंसा हुआ है कि अब बावजूद कोशिश के भी वह इससे छुटकारा नहीं पा सकता. साहिर प्रकृति के मज़ाक़ का इंतिक़ाम अपने इर्दगिर्द के माहौल से लेना चाहते हैं, लेकिन संघर्ष के व्यावहारिक संसार में जब वे पचपन करोड़ की भीड़ में अपने आपको एक इकाई के रूप में पाते हैं तो सिवाय बेमायनी झल्लाहटों के उनके सामने कोई दूसरा रास्ता नहीं रहता. साहिर की झल्लाहटें साहिर का रोग हैं. साहिर के यार-दोस्त इन कमज़ोरियों के साथ उन्हें गवारा भी करते हैं. होश में तो वे व्यापारिक मामले निभा भी लेते हैं लेकिन जैसे ही दो-तीन पैग अंदर उतरते हैं, ख़ुद साहिर के लिए अपने आपको संभालना मुश्किल हो जाता है. साहिर को फ़िल्मों में काफ़ी संघर्ष करना पड़ा है. कृष्णचंदर के बरामदे में बिस्तर बिछाकर सोना पड़ा है, फ़िल्म निर्माताओं के आगे पीछे फिरना पड़ा है, वर्षों तक म्यूज़िक डायरेक्टरों के घरों के चक्कर लगाने पड़े हैं, तब कहीं जाके रईसाना ठाठ के दिन

देखने को मिले हैं. माज़ी की तल्ख़ यादों ने उन्हें किसी हद तक यातना-पसंद भी बना दिया है. दूसरों के मुंह पर बुरा भला कहकर और ज़रूरतमंदों को बार बार अपने घर के बे-मक़सद चक्कर कटवाकर उन्हें अब सुकून भी मिलता है. साहिर के पास जो भी किसी काम के लिए जाता है, कभी मायूस नहीं लौटता, मगर झूठे वायदे करना और महीनों दूसरों को उनमें उलझाये रखना उनकी ख़ास हॉबी भी है. इन बे-मक़सद चक्कर काटने वालों की मजबूरियों से वे नये नये लतीफ़े तराश कर अपनी शाम की महफ़िलों को रंगीन भी बनाते हैं. साहिर को अपने हाथ से पैसा देने में मज़ा आता है, लेकिन अगर कहीं किसी का रोज़गार लग रहा हो तो उसमें रुकावटें पैदा करने के लुत्फ़ को भी वे कभी हाथ से नहीं जाने देते. लेकिन इन तमाम कजराइयों के बावजूद साहिर इस उल्टे सीधे समाज में ज़िंदगी करने के फ़न से वाक़िफ़ हैं. वे नये नये विवादों में उलझ कर दूसरों को हमेशा अपनी तरफ़ आकर्षित किये रहते हैं. दूसरों के ज़हनों में किस तरह ज़िंदा रहा जाता है, इस कला से वे बख़ूबी वाक़िफ़ हैं.

किसी से बार बार मिलिए और भूल जाइए और फिर अचानक कभी यूं ही उसके बारे में सोचने लगिए. न जाने कहां-कहां ज़हन ले जाता है. टूटी हुई ज़ंग लगी तलवार, बच्चों के गोल-गोल अंगूठे, सरकंडों के सूखे खेत, कच्ची मलमल के हल्के-गहरे दुपट्टे, पीतल की तराज़ू और दूर-दूर तक फैला हुआ अंधेर... अजीब-अजीब रंग फैलते हैं, नयी-नयी तस्वीरें उभर कर आती हैं. हर तस्वीर अपने तौर पर मुकम्मल, मगर दूसरी तस्वीर से अलग. और फिर सब रंग और तस्वीरें घुल-मिलकर एक बिलकुल नयी तस्वीर का रूप धर लेती हैं. मुस्कुराती हुई एक बड़ी-सी तस्वीर. न जिस्म, न हाथ, न पैर, न नाक... लेकिन एक मुकम्मल और ज़्यादा सच्ची तस्वीर.

साहिर से मिलने से पहले मैं भी *तल्खियां* के सर-वरक़ पर फैले चौड़े ललाट, चेचक के दाग़, गंभीर आंखों और ज़रूरत से ज़्यादा लंबी नाक को ही साहिर समझ रहा था... लेकिन कैमरे की आंख भी कितना धोखेबाज़ होती है. साहिर ने अपनी सही तस्वीर कभी किसी कैमरे को नहीं सौंपी. वे जो नहीं थे, वही हमेशा दूसरों को दिखाते रहे हैं.

साहिर साहिब, आप तक पहुंचना बहुत कठिन होता है. मुझे चार-पांच रोज़ परेशान होना पड़ा, तब कहीं जाकर आपसे मुलाक़ात हो पायी है. और इसे भी इत्तिफ़ाक़ कहिए. कमाल स्टूडियो से मैंने यूं ही नंबर लगा दिया था. शायद आपने स्टूडियो का नाम सुनकर अपने होने का ऐलान कर दिया. वैसे आम तौर से तो आप बाथरूम से बाहर ही नहीं निकलते. आज से ऐ मज़दूर किसानो, मेरे गीत तुम्हारे हैं.

'अजी नहीं, ऐसी बात नहीं है. मैं पिछले हफ़्ते से अजीब-अजीब परेशानियों में घिरा हूं. घर में बहुत कम रहा हूं. पहले कृष्णचंदर अचानक बीमार हुए और फिर मेरे एक सहपाठी बीमार हो गये. उन्हें अमरीका इलाज के लिए रवाना करना था. ज़्यादा वक़्त पैसा जुटाने की दौड़-धूप में ज़ाया हुआ. जो कुछ कमाया था, वह मकान की तामीर में लगा दिया था. अब तो माफ़ कीजिए...' साहिर अपनी बात अधूरी छोड़कर टेलीफ़ोन टेबल की तरफ़ उठकर चल दिये. 'हल्लो... जी मैं साहिर बोल रहा हूं... कौन? अच्छा, कहिए कैसे हैं? जी... जी... अरे कब? अस्पताल में दाख़िल कर दिया है. आपकी बीवी...! सौ रुपये... बेहतर है... नीचे खड़े हैं... अच्छा मैं अभी दे देता हूं. फ़ोन रोके रखिए...'

रिसीवर नीचे रख साहिर अंदर कमरे में गये और दो तीन मिनट बाद वापस आकर जैसे ही रिसीवर उठाया, उनका चेहरा जो कुछ लम्हे पहले निहायत गंभीर और चिंतित था, अचानक मुस्कुरा उठा. 'लीजिए, निदा साहिब, मौसूफ़ फ़रमा रहे हैं साहिर को बेवक़ूफ़ बना दिया. क्या ख़ूब, थोड़ी देर बाद इसका इज़हार करते तो क्या बिगड़ जाता. शायद किसी साथ वाले से बात कर रहे हैं. मगर फ़ोन पर आवाज़ बराबर सुनायी दे रही है.'

साहिर काफ़ी दिनों तक फ़िल्मों के कामयाब गीतकार रहे हैं. फ़िल्मों में गीत लिखना तो कोई ज़्यादा कठिन नहीं, हां गीत लिखने के मौक़े हासिल करना निहायत मुश्किल है. तरह-तरह से अपना ढिंढोरा पीटना पड़ता है, तब कहीं जाके फ़िल्म-निर्माताओं को गीतकार की सलाहियतों की इत्तिला मिलती है. साहिर इस राज़ से वाक़िफ़ हैं. उनका ज़हन ऐसी कहानियां गढ़ने में ज़्यादा रचनात्मक है जिसके हीरो वे ख़ुद ही होते हैं.

दुनिया ने तजर्बा तो-हवादिस की शक्ल में

जो कुछ मुझे दिया है, वो लौटा रहा हूं मैं

'हां साहिब, अब फ़रमाइए.' साहिर क़हक़हा लगाते हुए सिगरेट सुलगा रहे थे. वे कहां से बात छोड़ के गये थे, अब उन्हें याद नहीं था. कभी-कभी अधूरी बात भी कितनी मुकम्मल हो जाती है.

साहिर का मकान काफ़ी कुशादा है. बंबई में जिनके पास पैसा होता है, वे पांच-छ: फ़्लैटों की जगह को एक फ़्लैट के लिए इस्तेमाल करते हैं. और फिर साहिर की तो 'परछाइयां' के नाम से पूरी बिल्डिंग ही है. पिछले दिनों सज्जाद ज़हीर ने जब महेंद्रनाथ से तरक़्क़ीपसंद तहरीक को फिर से ज़िंदा करने को कहा तो महेंद्रनाथ ने अत्यंत गंभीरता से कहा था, 'बन्ने भाई, जो लोग तरक़्क़ीपसंद हैं, उनका सोशलिज़्म तो कभी का आ चुका. आपके ज़हन में जो सोशलिज़्म की कल्पना है, वह तो उनके लिए अब हानिकारक साबित होगी. अब भला इस तहरीक से क्या फ़ायदा?' साहिर के काव्य-संग्रह *तल्ख़ियां* के पहले एडीशन में पेशलफ़्ज़ के तौर पर कुछ शे'र दर्ज थे जो बाद के एडिशनों में कांट-छांट का शिकार हो गये, उन्हीं में यह शे'र भी शामिल था:

रजअत-पसंद हूं, न तरक़्क़ी-पसंद हूं
इस बहस को फ़ुज़ूलो-अबस[1] जानता हूं मैं

साहिर बुनियादी तौर से हल्के-फुल्के रूमानवी ज़हन के शायर हैं. उनका लहजा जो विषय-सामग्री के लिहाज़ से फ़ैज़ की पैरवी का रंग लिये हुए है, अधपके ज़हनों के लिए विशेष आकर्षण रखता है. उनके यहां नौजवानी के खिलंदड़ेपन की सीधी-सादी और व्याख्यात्मक अभिव्यक्ति कॉलेज के लड़के-लड़कियों में एक ज़माने में लोकप्रिय रही है. परिश्रम और पूंजी की फ़ार्मूलाबद्ध कशमकश का सीधा बयान और मुहब्बत के अनुभवहीन विवरण ने उनके काव्य में 'कोटेबिलिटी' का हुस्न तो उभार दिया है, मगर यह सिर्फ़ मुशायरों के श्रोताओं और आज़ादी से पहले कमउम्र लड़के-लड़कियों के रूमानी चित्रण तक ही सीमित है. साहिर की पूरी शायरी विशिष्ट ताज़गी के बजाय साधारण बासीपन लिये हुए है जिसमें हर जगह अपने समय के फ़ैशन की छाप नुमायां है. मजाज़ अपनी मौत से कई साल पहले, *आवारा* में जिस मानसिक परिपक्वता तक पहुंच गये थे, साहिर अभी उससे कोसों दूर हैं. और यही उनकी फ़िल्मी और अदबी मक़बूलियत का राज़ भी है. साहिर ने अपनी शायरी को अपनी शख़्सियत की पेचीदगियों से हमेशा दूर रखा.

'साहिर साहिब, तरक़्क़ीपसंदी, आलोचना की एक टर्म के तौर पर पिछले तीस-पैंतीस साल से इस्तेमाल की जा रही है. वे सब शायर जो इस दौर में उभर कर सामने आये हैं, उनको इसी अलामत से पहचाना जाने लगा. हालांकि इन शायरों में समकालीन होने के सिवा शायद ही कोई कलात्मक स्तर पर एकरूपता हो. इन शायरों को अपने अपने अंदाज़, काव्य शैली और व्यक्तिगत रुझानों के लिहाज़ से कई श्रेणियों में बांटा जा सकता है : (1) फ़ैज़ और मख़दूम, (2) सरदार जाफ़री, नियाज़ हैदर और कैफ़ी आज़मी, (3) मजाज़, जज़बी और जांनिसार, (4) सलाम मछलीशहरी, साहिर लुधियानवी और क़तील शिफ़ाई... इनमें से किस ग्रुप पर तरक़्क़ीपसंदी का ज़्यादा इतलाक़ होता है, यह तो आप ही बेहतर बता सकते हैं, लेकिन क्या आप आलोचना के उस मिकनिकी (यांत्रिकीय) वर्गीकरण से सहमत हैं जिसमें अच्छी और बुरी शायरी के फ़र्क़ को नुमायां करने के बजाय काव्य रचनाओं को सिर्फ़ विचारधारा और विषय-वस्तु से पहचाना जाता हो? अपने स्वभाव में आप ख़ुद को इनमें से किस ग्रुप से ज़्यादा क़रीब महसूस करते हैं?'

'जहां तक मेरा ताल्लुक़ है, मैं अपने आपको फ़ैज़ और मजाज़ से ज़्यादा क़रीब पाता हूं. सलाम मछलीशहरी के यहां आधुनिकता है. विषय-वस्तु का फैलाव भी है. उसने फ़ॉर्म और मौज़ू में तजर्बे भी किये हैं. अच्छी शायरी भले ही किसी ख़ास विचारधारा पर पूरी न उतरती हो, लेकिन इससे उसकी महानता पर कोई असर नहीं पड़ता. डॉक्टर इक़बाल से वैचारिक स्तर पर गहरे मतभेद के बावजूद उनकी शायराना अज़मत को मानता हूं. लिखते वक़्त हर अदीब को अपनी शख़्सियत के साथ सच्चा रहना चाहिए. जो कुछ भी कहा जाये, उसमें ज़मीर की शिरकत ज़रूरी है, यानी अंदर से भी कुछ ऐसा लगता हो. नहीं तो अनकही बात अंदर ही अंदर गोला बन जायेगी, जो कष्ट देगी. शे'र कहने के बाद उस पर कौन-सा लेबल चिपकाया जायेगा, यह अदीब की नहीं, लेबल-फ़रोशों के सोचने की बात है. अदब दर-हक़ीक़त शख़्सियत के इज़हार का नाम है. यह एक मानसिक प्रक्रिया है. अगर वह

अपने मिज़ाज के ख़िलाफ़ किसी लेबल के लिए लिखता है तो अंदर से कोई संतुष्टि नहीं होगी. आज़ादी से साढ़े तीन साल पहले एक छोकरे शायर का मजमूआ *तल्ख़ियां* शाया हुआ था. उसमें एक नज़्म 'ख़ुदकुशी से पहले' भी शामिल है. इस मजमुए के बाद कई असली और जाली एडीशन छप कर बिक चुके हैं.'

साहिर बोलते वक़्त हाथ के इशारों और चेहरे की कैफ़ीयतों से भी काम लेते हैं. जब ये काम देते नज़र नहीं आयेंगे तो खड़े होकर ज़रा ऊंची आवाज़ करके बोलेंगे. अगर सामने वाला फिर भी संतुष्ट न हो तो आख़िरी हथियार के तौर पर एक ख़ास तरह के पंजाबी क़हक़हे का इस्तेमाल करेंगे. अब आपकी मर्ज़ी है जो अब भी क़ायल न हों. वे तो अपनी बात पूरी कर चुके. अब आप ही कोई दूसरी बात छेड़ें तो वे बोलें. नहीं तो आधी सिगरेट बुझाने में मशग़ूल हो जायेंगे या सिगरेट का पैकेट आपकी तरफ़ बढ़ा देंगे. लेकिन सिगरेट पेश करते वक़्त अपना कोई शे'र पढ़ते हुए अपनी महानता की चमक आपकी आंखों में ज़रूर देखना चाहेंगे. साहिर हर वक़्त एक अजीब-सी बे-सुकूनी के आलम में रहते हैं जिसे भूलने के लिए वे कुछ न कुछ करते रहने या बोलते रहने का शिकार हो चुके हैं.

'साहिर साहिब, *तल्ख़ियां* की अधिकांश नज़्में पढ़कर ऐसा महसूस होता है कि आप अपने समकालीनों में फ़ैज़ से ज़्यादा प्रभावित हैं. विषय-वस्तु और काव्य-शैली, दोनों में यह तास्सुर नुमायां है, लेकिन यह प्रभाव फ़ैज़ की प्रारंभिक रूमानी नज़्मों तक ही महदूद है. और वह भी मौज़ूआत की हद तक. फ़ैज़ के लहजे की गर्मी और संजीदगी और गहराई उनमें नहीं मिली.

'परछाइयां' (साहिर की तवील नज़्म) से पहले की नज़्मों की कैनवस भी फ़ैज़ की उन नज़्मों की तरह छोटी है. वही एक आशिक़, एक हसीन महबूब और दरमियान में खड़ा हुआ कोई सरमायादार जो दौलत से महबूबा का मोल -तोल करके बेचारे आशिक़ को ख़ुदकुशी करने के लिए छोड़ जाता है. इन्ही तीन किरदारों को बार बार रूमानी अंदाज़ में दुहराया जाता है. कहीं ग़रीबी के कारण मुहब्बत टूटती है, कहीं जिहाद पर जाने की वजह से नाता टूटता है. लेकिन इसके बावजूद आपका लहजा एक ख़ास उम्र में बहुत जाना-पहचाना और आकर्षक लगता है. लहजे में इस प्रकार का रूमानी आकर्षण शब्दों को विषय-वस्तु के परिचित चेहरों तक ही सीमित रखने से पैदा होता है. अच्छी शायरी के लहजे ही में मौज़ू होता है. जबकि आपके यहां यह स्थिति दो परस्परविरोधी रुख़ों को एकत्रित करने की कोशिश से पैदा होती है. लहजा शायर की शख़्सियत की मानिंद कहीं गहरा, कहीं तहदार और कहीं इकहरा होता है. इसमें शब्द-सज्जा से नहीं, उस शख़्सियत की सज्जा से काम चलता है जो स्वत: शब्दों के विशिष्ट चयन और शायरी की लय और वज़न के बर्ताव में शामिल हो जाती है. आपकी नज़्में—'शहकार', 'ताजमहल', 'नूरजहां' और 'परछाइयां', आपकी अन्य नज़्मों से अलग लगती हैं. उनमें फ़ैज़ की इब्तिदाई नज़्मों के असरात भी कम-कम नज़र आते हैं. इन नज़्मों को पसंद करने वालों में शायद उम्र की भी कोई क़ैद नहीं. लेकिन ये नज़्में भी रिवायती अंदाज़ लिये हुए हैं. ऐसा मालूम होता है जैसे मौज़ू को अलफ़ाज़ की छोटी-छोटी कीलों से व्यवस्थित ढंग से जड़ दिया गया है. कोई लफ़्ज़ भी दायें बायें नहीं झांकता.'

'मैं उम्र के लिहाज़ से सिर्फ़ कैफ़ी को छोड़कर अपने समकालीनों में सबसे छोटा हूं. फ़ैज़, सरदार, नियाज़ सब मुझसे सीनियर हैं. मजाज़ का *आहंग* जब शाया हुआ था, उस वक़्त मैं मैट्रिक का तालिबे-इल्म था. और फ़ैज़ के मजमुए की इशाअत के वक़्त मैं बीए में पढ़ रहा था. मेरी कुछ नज़्मों में फ़ैज़ के असरात ज़रूर हैं. मजाज़ के यहां क्लासिकी रचाव है, वे मुझे पसंद हैं. शायद 'चकले' में उनका असर हो. हर शायर अपने सीनियर शायरों से प्रभावित होता है, लेकिन चोरी करने और प्रभावित होने में फ़र्क़ है. मेरी कई नज़्मों के मौज़ू 'ताजमहल', 'चकले', 'गुरेज़', 'ख़ूबसूरत मोड़' वग़ैरा मुख़्तलिफ़ हैं. सौ फ़ीसदी ओरीजिनल तो कोई नहीं होता.'

'फ़ैज़ के यहां उपमाएं ज़्यादा होती हैं, मेरी नज़्मों में विशेषणों से फ़ज़ा पैदा होती है. शायर की ख़ुद की शख़्सियत उसकी कला और शैली पर असर डालती है. एक अपना हलक़ा होता है, उसी के अनुसार मौज़ू और काव्य-शैली कोई रूप अपना लेता है. मैं स्वभाव से मध्यम वर्ग का फ़र्द हूं. शायद मैं अब तक डि-क्लास नहीं हो पाया. बरसों पहले मेरी नज़्में मज़दूरों में ख़ामोशी से सुन ली जाती थीं लेकिन तालियां कैफ़ी को ज़्यादा मिलती थीं. कुछ लोगों की राय है कि साहिर कॉलेज के लड़के-लड़कियों में ज़्यादा पसंद किया जाता है. यह नीम-पुख़्ता (अर्ध-परिपक्व) ज़हन की शायरी है. लेकिन मुझे ऐसा सोचने वालों के ज़हन की परिपक्वता पर शक ज़रूर होता है. मैं इसी

माहौल से निकला हूं. इससे प्रभावित होना स्वाभाविक है, लेकिन शायर की उम्र के साथ शायरी के मौज़ूआत और उनका बर्ताव भी बदलता है. हमारे ज़माने में हफ़ीज़ और अदम बुज़ुर्ग शायरों में बहुत पापुलर थे. हम भी मुशायरों में शरीक होते थे. उन्हीं के साथ पढ़ते थे और ज़्यादा पसंद किये जाते थे. आज भी फ़िराक़ कहते हैं, 'मुशायरों के टिकट तो साहिर साहिब के नाम पर ही बिकते हैं.'

'लेकिन साहिर साहिब, मुशायरे की ख़ामोशी या तालियां तो अच्छी-बुरी शायरी की कसौटी नहीं बनायी जा सकतीं. ग़ालिब पसंद न किये जाने वाले शायर रहे हैं. फ़ानी, हसरत, यगाना के मुक़ाबले में नूह नारवी छतें फाड़ देते थे. हिंदी के अच्छे शायर अज्ञेय से लेकर धर्मवीर भारती और सर्वेश्वर दयाल तक नीरज के सामने घुटने टेक देते हैं. टी.एस. एलियट, मलार्मे और बोदलेयर वग़ैरा को उनके दौर में ही व्याख्याओं-टिप्पणियों के बिना कहां समझा गया! फ्रांस और यूरोप के दूसरे इलाक़ों में तो मुशायरा नाम की चिड़िया ही नहीं है, तो क्या वहां अच्छी शायरी पैदा होने की संभावना नहीं? पिछले दिनों बंबई के एक मुशायरे में शायरे-इंक़लाब जोश मलीहाबादी से ज़्यादा श्रोताओं ने एक सस्ते शायर को सुनना पसंद किया. कबीर, नानक और तुकाराम के श्रोतागण और मुशायरा सुनने वालों में फ़र्क़ है. सूफ़ी शायरों और मज़हबी पेशवाओं के इर्दगिर्द बैठने वाले लोग अपनी विशिष्ट आस्थाओं की सतह पर एक दूसरे से क़रीब होते हैं. साझे मूल्यों का वजूद संप्रेषण के लिए बहुत ज़रूरी है और फिर उनके कलाम की लोकप्रियता श्रद्धा से जुड़ी है. उनके श्रद्धालुओं में उनके कलाम को समझने वाले कितने हैं, यह अब भी एक समस्या है. कबीर की उलट बानियां आज भी अच्छे-अच्छे स्कालर्स के लिए मुअम्मा बनी हुई हैं. नानक और तुकाराम के कलाम को बिना वेदांती सूझ-बूझ और इसकी प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति के समझना मुहाल है. आज के दौर में जबकि हर फ़र्द अपने वजूद की सतह पर सांस ले रहा है, माहौल में अपने ढंग से अपनी तलाश कर रहा है, शे'र सुनते ही श्रोता/पाठक उसे किसी गोली की तरह गटक ले, शायद अब मुमकिन नहीं. अच्छा शे'र धीमे-धीमे खुलने वाली कली की तरह होता है. वह पढ़ने वाले से मेयारी सूझबूझ का तक़ाज़ा करता है.'

'यह ठीक है कि मुशायरे में शे'र की लोकप्रियता कोई मेयार नहीं है, लेकिन अच्छे शे'र की परिभाषा यह भी नहीं कि वह अप्रिय हो. आर्ट फ़नकार के अनुभवों की अभिव्यक्ति है. हर अदीब अपनी नज़र से अपने माहौल को देखता है और उसमें दूसरों को शरीक करना चाहता है. उसे अभिव्यक्त करना चाहिए. ऐसा कहने की कोशिश भी करनी चाहिए. इसके लिए शौक़, मेहनत और लगन की ज़रूरत है. मुशायरे की कामयाबी में शे'र के अलावा कुछ और कारक भी काम करते हैं. किसी ख़ास वक़्त का मूड, उसके एतबार से मौज़ू का चयन आदि. कई बार ऐसा होता है कि कोई कम दर्जे की नज़्म सिर्फ़ इसलिए कामयाब हो जाती है कि उसमें किसी सुलगते मसले को सीधे-सादे तरीक़े से बयान कर दिया गया होता है. यह सच है कि मुशायरे को मेयार नहीं बनाया जा सकता लेकिन बक़ौल एहरनबुर्ग 'वक़्ती अदब की भी एक ख़ास युग में बहुत एहमियत होती है'.'

एहरनबुर्ग का यह क़ौल कई साल पहले *आख़िरे-शब* में कैफ़ी की प्रतिरोधी शायरी के डिफेंस में दर्ज किया गया था. एहरनबुर्ग ने इस एक जुमले के अलावा भी कुछ कहा है या नहीं, यह तो एहरनबुर्ग को पढ़ने से ही मालूम हो सकता है, लेकिन ज़रूरत से ज़्यादा भौतिक व्यस्तताओं में इतनी फ़ुर्सत कहां कि अपनी रचनाओं के अलावा किसी दूसरे की किताबों को पढ़ा जाये! लेकिन यह हक़ीक़त है, लक्ष्मी और सरस्वती की वर्षों पुरानी दुश्मनी को साहिर ने जिस ख़ूबसूरती से दोस्ती में बदला है, वह सिर्फ़ उर्दू ही नहीं, विश्व साहित्य में भी अपनी मिसाल आप है. ख़ुद साहिर के ही लफ़्ज़ों में, 'बर्नाड शॉ को तो एक लफ़्ज़ का सिर्फ़ एक पाउंड ही मिलता था, मैंने तो एक-एक गीत के पांच हज़ार से दस हज़ार लिये हैं.'

एक शहंशाह ने दौलत का सहारा लेकर
हम ग़रीबों की मुहब्बत का उड़ाया है मज़ाक़
मेरी महबूब कहीं और मिला कर मुझसे

अनुवाद: अर्जुमंद आरा

साभार : ***फ़न और शख़्सियत:*** **साहिर लुधियानवी नंबर, सं. साबिर दत्त, बंबई, अंक17-18 फ़रवरी 1985 पृ 58-64**

1 निरर्थक

दोस्त और शायर

महेंद्रनाथ

(उर्दू के कहानीकार, उपन्यासकार, फ़िल्म ऐक्टर, डायरेक्टर और प्रोडयूसर महेंद्रनाथ और साहिर लुधियानवी गहरे दोस्त थे. यह लेख उन्होंने 1980 में साहिर की ज़िंदगी में ही लिखा था और साहिर की मौत से पांच दिन पहले उन्हें दिया था. बरसों बाद साहिर की बहन सरवर शफ़ी ने काग़ज़ात में से तलाश करके साबिर दत्त के हवाले किया, जो *फ़न और शख़्सियत* के साहिर नंबर में 1985 में शाया हुआ.)

साहिर पर लिखना इतना आसान नहीं. साहिर विरोधाभासों का पुलंदा है. साहिर जिस बुलंदी पर पहुंचा, वहां तक पहुंचने के लिए साहिर ने बड़ा संघर्ष किया. जिस राह से वह गुज़रा है, वह राह साफ़ और सुथरी नहीं थी, रास्ता हरा भरा नहीं था, ज़मीन बड़ी बंजर थी. विशालकाय पहाड़ों से गुज़रते हुए, रेगिस्तानों को पार करते हुए, तपती हुई धूप में झुलसते हुए, अंधेरी रातों में सर्दी से अकड़ते हुए, खाइयों में गिरते हुए, कभी तेज़ी से चलते हुए, कभी थक हार कर सुस्ताते हुए, कभी रोते हुए, कभी हंसते हुए, कभी गिर कर, कभी उठकर, साहिर ने उर्दू अदब और फ़िल्मी दुनिया में अपना स्थान बड़ी मेहनत और बुद्धिमानी से बनाया है.

मैं साहिर को बरसों से जानता हूं. दिल्ली में प्रकाश पंडित के साथ घूमते देखा, फिर बंबई में मुलाक़ात हुई. बड़ी सरसरी और अनौपचारिक सी मुलाक़ातें थीं. जब साहिर बंबई आया तो उसके पास एक काव्य-संकलन था—*तल्ख़ियां*'. यही उसकी ज़िंदगी का सरमाया था. ताजमहल पर जो नज़्म साहिर ने लिखी थी, उसके छपते ही साहिर हिंदुस्तान का मशहूर और मक़बूल शायर हो गया था. शोहरत और एक संग्रह के होते हुए भी फ़िल्मी दुनिया में जगह बनाना आसान नहीं.

फ़िल्मी दुनिया का माहौल अजीबो-ग़रीब है—पढ़े लिखे लोगों को बिल्कुल महत्व नहीं दिया जाता. उन दिनों सरेआम कहा जाता था कि अदबी शायरों और अफ़साना-निगारों का फ़िल्मी दुनिया में क्या काम ! यह कला अलग है. अगर आप बिल्कुल अनपढ़ और जाहिल हैं तो कामयाबी जल्दी ही आपके क़दम चूमेगी. फ़िल्म का अदब से क्या ताल्लुक़! हालांकि एक मेयारी नॉवल से भी एक अच्छी फ़िल्म की रचना हो सकती है. लेकिन आजकल इस क़िस्म की बकवास बहुत कम लोग करते हैं. माहौल और हालात बदले हैं. अब इस फ़िल्म इंडस्ट्री में पढ़े लिखे लोगों की संख्या ज़्यादा है. मैं तो आज से पच्चीस तीस बरस पहले की बात कर रहा हूं जब कि इस इंडस्ट्री में जहालत की तूती बोलती थी और ख़ासकर लेखकों, डायरेक्टरों, एक्टरों के लिए यह गर्व की बात समझी जाती थी कि उनका संबंध साहित्य, संस्कृति, तहज़ीब और सियासत से शून्य के बराबर है.

मैं और कृष्ण जी (कृष्ण चंदर) वर्स्वा कूवर लॉज में रहते थे. कृष्ण जी पूना छोड़कर बंबई आ गये और मैं भी कृष्णजी के साथ रहने लगा. उन्हीं दिनों कृष्ण जी, *सराय के बाहर* फ़िल्म प्रोड्यूस और डायरेक्ट कर रहे थे. मैं इस फ़िल्म का हीरो था. *सराय के बाहर* एक तरक़्क़ी-पसंद फ़िल्म थी. जिस क़िस्म की फ़िल्में बनाने पर आजकल ज़ोर दिया जाता है—यानी न्यू-वेव फ़िल्म, बिल्कुल इसी क़िस्म की फ़िल्म कृष्ण जी ने आज से पच्चीस बरस पहले बनायी थी. नयी कास्ट लेकर अगर कृष्ण जी *सराय के बाहर* आज बनाते तो नयी फ़िल्मों की शुरुआत का सेहरा उनके सर बांधा जाता. उन्ही दिनों साहिर फ़िल्मी दुनिया में अपनी जगह बनाने के लिए हाथ पांव मार रहा था. और कौन हाथ पांव नहीं मार रहा था, ज़िंदा रहने के लिए कौन जद्दोजहद नहीं करता और करनी चाहिए भी. इस सरमायादारी व्यवस्था में जहां शराफ़त और बुद्धिमानी की कोई क़द्र नहीं करता, वहां अपनी जगह बनाना दूध की नहर निकालने जैसा है. साहिर उन दिनों बेकार था, कामकाज की तलाश में भटक रहा था. मुझे याद है उन्ही दिनों

साहिर ने कृष्णचंदर की एक स्क्रिप्ट कॉपी की थी और उसे कापी करने का मुआवज़ा 45 रुपये मिला था. *तल्खियां* और 'ताजमहल' के मुसन्निफ़ को पेट भरने के लिए नक़ल-नवीस भी बनना पड़ा, यह है हमारे देश की त्रासदी और अभी तक भी हमारे देश के लेखकों और बुद्धिजीवियों की ज़्यादा संख्या इसी ज़ुल्म का शिकार है.

कुछ अरसा गुज़रने के बाद साहिर और साहिर की मां जी कूवर लॉज में आकर रहने लगे. मैं बहुत कम बोलने वाला इंसान हूं, लेकिन आजकल बातें ज़्यादा करता हूं. उन दिनों तो 'हां' और 'न' से ही काम चलाता था. कभी साहिर से मुलाक़ात होती तो हम दोनों आदाब या नमस्ते कह कर एक दूसरे से अलग हो जाते. उन दिनों साहिर की सूरत से एक अजीब क़िस्म की उदासी टपकती थी. लंबा क़द, लंबोतरा पीला चेहरा, दुबला-पतला जिस्म, चेहरे पर चेचक के दाग़, लंबी नाक, ज़हीन आंखें, होंटों पर उदासी. सर से पांव तक घबराहट. बेचैनी का भाव नुमायां रहता.

यह तरक़्क़ी-पसंद तहरीक के उत्कर्ष का दौर था. मजाज़, सरदार, कैफ़ी, साहिर, फ़ैज़, मख़दूम, मजरूह, अख़्तरुल-ईमान और कितने शायर इंकलाबी घन-गरज से प्रभावित हुए. इंलाबी नज़्में और ग़ज़लें लिखते, जलसे और जलूसों में शरीक होते. हर शायर और रचनाकार सोशलिज़्म और मार्क्सिज़्म की बात करता. खेतवाड़ी के क़रीब कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ़ इंडिया का दफ़्तर था. यहीं पर बहुत से तरक़्क़ी-पसंदों से मुलाक़ात हो जाती. चेहरों पर रौनक़ थी, आंखों में चमक थी, इंक़लाब लाने के लिए हर आदमी अपनी ज़िंदगी क़ुर्बान करने के लिए तैयार था. इस क़िस्म का इंकलाबी माहौल मैंने कभी नहीं देखा. हिंदुस्तान के तरक़्क़ी-पसंद शायर या अफ़साना-निगार और बुद्धिजीवी या तो कम्युनिस्ट पार्टी के मेम्बर थे या किसी न किसी तरह से इस पार्टी से जुड़े थे.

यह एक सुनहरा दौर था. इस युग में तरक़्क़ी-पसंद शायरों और अफ़साना-निगारों ने कालजयी नज़्में, ग़ज़लें और अफ़साने लिखे. अवाम के साथ अपना रिश्ता जोड़ा. अपने आपको अवामी आंदोलनों से वाबस्ता किया और अवाम के दुखों को अपना दुख समझा. उनकी बदहाली को, पिछड़ेपन को, उनके ग़मों को, उनकी भूख को अपनी भूख समझा. उनके लिए जिये और मरे भी. शायद उन्हीं दिनों की वाबस्तगी सब तरक़्क़ी-पसंदों के दिलों में इंक़लाब की शमएं रोशन किये हुए है. वह ख़्वाब जो आज से तीस बरस पहले तरक़्क़ी-पसंद शायर या अफ़साना-निगार देखा करते थे, आज वज़ीरे-आज़म इंदिरा गांधी की क़यादत में परवान चढ़ते हुए नज़र आते हैं और शायद इन्ही ख़्वाबों की सज़ा हमारी नयी पौध तरक़्क़ी-पसंदों को दे रही है कि तुमने आज से तीस बरस पहले इंक़लाब का पर्चम क्यों बुलंद किया था, ऐसे हसीन ख़्वाब क्यों देखे थे, क्यों उद्देश्य प्रधान साहित्य का नारा लगाया था, इसकी सज़ा तुम्हें मिलनी चाहिए.

साहिर भी उन्हीं मशहूर-मारूफ़ शायरों में से एक ऐसा शायर है जिसने साम्यवादी व्यवस्था के हक़ में और पूंजीवाद और जागीरदारी व्यवस्था के ख़िलाफ़ नज़्में और ग़ज़लें लिखीं. शायद नयी नस्ल के अदीब इसीलिए साहिर के इस जुर्म को माफ़ नहीं कर सके. मुझे याद है एक बार साहिर से मुलाक़ात हुई तो साहिर ने मेरी एक मशहूर कहानी, 'हिनाई उंगलियां' के कुछ पैराग्राफ़ ज़बानी सुनाये और इस कहानी की बहुत तारीफ़ की. साहिर की ज़बानी अपनी कहानी के पैराग्राफ़ सुनकर मुझे बहुत ख़ुशी हुई. तक़सीम से पहले कूवर लॉज तरक़्क़ी पसंदों का ठिकाना बन चुका था. बाहर से जो अदीब आता, सीधा कूवर लॉज का रुख़ करता. कोठी बड़ी थी, और कृष्ण जी का दिल भी बड़ा था और उनकी माली हालत भी अच्छी थी. कृष्णचंदर की शोहरत, उनका बड़ा दिल और नर्म तबीयत सभी को कूवर लॉज खींच लायी. कूवर लॉज एक उम्दा क़िस्म का रूसी तीर्थ बन गया जहां तरक़्क़ी-पसंद अदीबों का जमघटा रहता.

जब इंसान का दिल बड़ा हो और खाने-पीने की बहुतायत हो तो सारी दुनिया उसमें समा जाती है. इसलिए अदीब आते रहे और जाते रहे. उस वक्त साहिर कूवर लॉज की ऊपरी मंज़िल में रहने लगा.

सराय के बाहर रिलीज़ हुई. फ़िल्म चली मगर हिट न हुई. कृष्ण जी ने दूसरी फ़िल्म, *दिल की आवाज़* बनायी. यह फ़िल्म फ़ेल हो गयी. बहुत घाटा हुआ. तीन कारें थीं, बिक गयीं. फ़िल्मी दुनिया में ऐसा भी होता है, कभी बुलंदी कभी पस्ती. काम करना चाहिए, नफ़ा या नुक़्सान तो बिज़नेस में होता है.

अब साहिर आहिस्ता-आहिस्ता तरक़्क़ी के ज़ीने चढ़ रहा था. फ़िल्म, *बाज़ी* में साहिर के गीत हिट हुए. बस

फिर क्या था. प्रोडयूसरों का तांता बंध गया. बंबई आकर और *बाज़ी* के हिट होने तक साहिर ने कई बाज़ियां हारी थीं, कई शिकस्तों का सामना किया था. कितने म्यूज़िक डायरेक्टरों के घरों के चक्कर लगाये थे, कितने ही अपने अनमोल गीत दूसरे गीतकारों को बेचे थे, और कितने ही डायरेक्टरों के घरों के दरवाज़े खटखटाये थे, और कितने लोगों ने अपने घरों के दरवाज़े उसको देखकर बंद किये थे—शायद इसका इल्म किसी को नहीं. वे तो इस वक़्त साहिर की कार और उसके शानदार फ़्लैट को देखकर कुढ़ते और जलते हैं कि इस शायर के पास इतनी दौलत और शोहरत कैसे और क्यों आ गयी. साहिर ने डाका नहीं डाला, चोरी नहीं की, शहज़ोरी नहीं की. हां, निरंतर संघर्ष करता रहा, विपरीत हालात से लड़ता रहा, सोशलिज़्म पर ईमान लाकर गीत लिखता रहा और उसने फ़िल्मी गीतों को नये विषय और नया मोड़ दिया. और जब उसके गीत हिट हुए तो साहिर को फ़िल्मी दुनिया में शोहरत और दौलत मिली.

मैं कूवर लॉज छोड़कर दादर चला आया. मुल्क के दो हिस्से हो गये. बहुत से रिश्ते-नाते टूट गये. जिन लोगों को इंक़लाब पर भरोसा था, उठ गया. कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ़ इंडिया की वह हैसियत न रही जो पहले थी. कांग्रेस सत्ता में थी. तरक़्क़ी-पसंद तहरीक के उत्कर्ष का ज़माना ख़त्म हो चुका था. बहुत से तरक़्क़ी-पसंद शायर और अफ़साना-निगार फ़िल्मी दुनिया में शोहरत हासिल कर चुके थे, उन्होंने शादियां कर ली थीं, परिवार वाले हो गये थे, ख़र्चे बढ़ चुके थे, इंक़लाब का दूर दूर तक साया नज़र न आता था. इन हालात में शायर और अफ़साना-निगार क्या करते? टाटा और बिड़ला की टहल करने से रहे. किताबें लिखने से क्या मिलता था. उर्दू का पत्ता कट चुका था. कोई पब्लिशर उर्दू की किताब छापने के लिए तैयार न था. बस एक फ़ील्ड थी क़िस्मत आज़माने के लिए या पेट भरने के लिए—और वह फ़ील्ड थी फ़िल्म की. सभी इसमें कूद पड़े, और क्या करते? कहां से खाते? मुहब्बत करने में क्या बुराई है, गीत लिखते हैं क्या हर्ज है. यह कोई डाका, राहज़नी या चोरी तो नहीं है, एक ऐसा आर्ट है जो सारी दुनिया पर छाया हुआ है. साहिर ने भी इसी फ़िल्मी दुनिया में ग़ोता लगाया. जब उभरा तो फ़िल्मी दुनिया के क्षितिज पर एक चमकीला सितारा बन कर चमका. लोग हैरत-ज़दा रह गये. चारों तरफ़ से साहिर! साहिर! साहिर! की आवाज़ें बुलंद होने लगीं. इसी तरह और शायर भी मक़बूल हुए—जैसे शैलेंद्र, शकील और मजरूह—मगर जो लोकप्रियता और शोहरत साहिर को फ़िल्मों में मिली ,वह शायद ही किसी दूसरे शायर को नसीब हुई हो. फ़िल्मों और ख़ासकर गीतों का असर सारे हिंदुस्तान में पड़ा और इस तरह साहिर की लोकप्रियता और शोहरत में इज़ाफ़ा होता गया.

इसी लोकप्रियता के दौर में मेरी और साहिर की दोस्ती का आग़ाज़ हुआ. हम दोनों एक दूसरे के क़रीब क्यों आये और इसके कारण क्या थे? शायद हम-आहंगी या दोस्ती का जज़्बा, या एक राह पर चलने का निश्चय—साम्यवाद पर पूरा भरोसा. बहरहाल कोई कुछ नहीं कह सकता. दो इंसान दोस्त क्यों बन जाते हैं, फिर दुश्मन भी और फिर दोस्त. इस रासायनिक क्रिया-प्रक्रिया का तजर्बा करना आसान नहीं. हम दोनों फ़िल्म राईटर्ज़ एसोसिएशन में काम करते थे. फिर एक दिन मैं इस राईटर्ज़ एसोसिएशन का जनरल सेक्रेट्री बना और साहिर उस एसोसिएशन का सदर. एक दूसरे के क़रीब आने के और मौक़े मिले. तक़रीबन हर दूसरे तीसरे रोज़ साहिर मेरे पास आता, या मैं साहिर के घर जाता. वहां जांनिसार अख्तर से मुलाक़ात हुई. हम तीनों शराब पीते, गप्पें हांकते. साहिर प्रोडयूसरों और शायरों के बारे में दिलचस्प क़िस्से सुनाता. इस दौरान मुझे इस बात का एहसास हुआ कि साहिर को व्यंग्यात्मक अंदाज़ में बात करने पर ख़ास महारत है. फ़िक़रे-बाज़ी में साहिर का जवाब नहीं. दूसरों का मज़ाक़ उड़ायेगा, ख़ुद भी मज़ाक़ बर्दाश्त करेगा. अपनी तारीफ़ ज़्यादा करता है, दूसरों की कम. अच्छी शराब पीता है और चिल्लाता है. लोग फ़ोन करते हैं तो जिनसे न मिलना हो उन्हें कहलवायेगा घर में नहीं हैं या बाथरूम में हैं. यह हल्की सी छेड़छाड़ साहिर का महबूब काम है. साहिर के इस रवैये से उसके बहुत से दोस्त बदज़न हो गये और कुछेक दुश्मन भी. एक बार राजिंदर सिंह बेदी ने मुझसे शिकायत की, 'भई महेंद्र, जब कभी साहिर को फ़ोन करो, जवाब मिलता है कि साहिर बाथरूम में है. साहिर बाथरूम में क्या करता है?' मैं भला क्या जवाब देता? साहिर को हल्की फुल्की छेड़छाड़ से ख़ुशी महसूस होती है.

इन्ही दिनों जनाब एजाज़ सिद्दीक़ी ने कृष्णचंदर नंबर (उर्दू मासिक पत्रिका, *शायर* का) निकालने का ऐलान किया. उर्दू में ख़ासकर साहित्यिक पत्रिकाओं की माली हालत से हर कोई वाक़िफ़ है. इतना बड़ा नंबर निकालने के लिए रुपये कहां से मिलेंगे. मालेगांव के चंद उर्दू-नवाज़ दोस्तों ने एजाज़ साहिब से कहा, हम मालेगांव में एक मुशायरा करते हैं और आपको पांच हज़ार रुपय दे देंगे, बशर्ते कि इस मुशायरे में साहिर लुधियानवी शिरकत करें. एजाज़ साहिब ने मुझसे कहा कि मैं साहिर को राज़ी कर लूं, मालेगांव के मुशायरे में शिरकत के लिए. मैंने साहिर से बात की और वह राज़ी हो गया. इससे पहले भी जब कभी मैंने किसी शख़्स की मदद के लिए साहिर से कुछ कहा, साहिर ने मेरी बात न टाली. मालेगांव के मुशायरे में चंद दिन बाक़ी रह गये. एजाज़ साहिब से फिर मुलाक़ात हुई. उन्होंने कहा कि साहिर के अलावा कैफ़ी आज़मी और ख़्वाजा अहमद अब्बास को शिरकत के लिए राज़ी कर लेना चाहिए. मैंने कहा वे भी चलेंगे. मैं कैफ़ी से मिलने गया. उन्होंने हां कर ली. फिर पूछने लगे और कौन जायेगा. मैंने कहा साहिर, ख़्वाजा अहमद अब्बास और कृष्णचंदर. 'ख़्वाजा अहमद अब्बास और कृष्णचंदर पर मुझे पूरा यक़ीन है कि वे चले चलेंगे, मगर साहिर कभी नहीं जायेगा. ऐन वक़्त पर तुम्हें धोखा देगा. मुझे कई बार धोखा दे चुका है,' कैफ़ी मुस्कुरा कर बोले. 'भैया, एक बार साहिर मेरे साथ वी.टी. से गाड़ी में बैठे और मुझे सेंट-परसेंट यक़ीन था कि साहिर इस बार मुझे धोखा नहीं देगा. दादर स्टेशन पर गाड़ी रुकी और मैं बाक़ी शायरों से गुफ़्तगू करता रहा. जब गाड़ी दादर स्टेशन से रवाना हुई तो मुझे साहिर की याद आयी. इधर-उधर देखा तो साहिर ग़ायब था. अब सोच लो तुम्हारा भी यही हश्र होने वाला है, महेंद्र. साहिर का कोई भरोसा नहीं, सोच समझ कर उसका नाम इश्तिहार में दो, वर्ना वह दुर्गत होगी कि याद करोगे.'

वापसी पर मैंने अब्बास साहिब को राज़ी कर लिया. मालेगांव जाने के लिए कृष्णजी को पहले ही इत्तिला दे चुका था, और साहिर का नाम इश्तिहारों में छप चुका था.

कैफ़ी के अलफ़ाज़ मेरे कानों में गूंजते रहे और रात-भर मुझे नींद न आयी. अगले दिन मैंने सोचा कि साहिर के घर जा कर बात पक्की कर लूं, मगर अब कुछ नहीं हो सकता था. शाम को साहिर आया और कहने लगा, 'महेंद्र, परसों चलना है इसलिए आज शराब ख़रीद ली जाये.' भला मैं क्या जवाब देता. हम दोनों शराब ख़रीदने चले गये. साहिर ने तीन सौ रुपये की शराब ख़रीदी और मुझसे कहा कि मैं तुम्हें, कृष्ण जी को और कैफ़ी को अपनी गाड़ी में ले चलूंगा. अब्बास साहिब के लिए किसी और गाड़ी का इंतिज़ाम कर दिया जायेगा क्योंकि अब्बास साहिब पीते-पिलाते नहीं, मुफ़्त में परेशान होंगे. चलने से पहले साहिर ने मुझसे कहा कि परसों सुबह सब लोग मेरे घर आ जाओ, वहीं से मालेगांव चलेंगे. अब मुझे पक्की उम्मीद हो गयी कि साहिर मुझे धोखा नहीं देगा. फिर भी कैफ़ी के अलफ़ाज़ मेरे कानों में गूंजते रहे. मैंने सोचा हो सकता है परसों साहिर घर में न हो, और जहां तक शराब का ताल्लुक़ है, वह तो घर में भी पी जा सकती है. बहरहाल अगला दिन बड़ा कष्टकारी था. वह तो गुज़र गया, उससे अगले दिन मैं सबसे पहले साहिर के घर पहुंचा. देखा तो साहिर घर में था. अब यक़ीन हो गया कि साहिर घर से भाग कर नहीं जायेगा. तक़रीबन एक घंटे के बाद कृष्ण जी और कैफ़ी भी आ गये, और फिर साहिर की गाड़ी में यह क़ाफ़िला मालेगांव रवाना हुआ. तब जा के मैंने इत्मीनान की सांस ली. मालेगांव में लोग साहिर और दीगर लोगों का इंतज़ार कर रहे थे. अच्छा ख़ासा मुशायरा हुआ. लोगों ने खुल कर दाद दी. रात के दो बजे हम सब लोग साहिर की गाड़ी में बंबई की तरफ़ रवाना हुए.

रात का वक़्त था. ड्राइवर दिनभर का थका मांदा था, गाड़ी चलाते चलाते ऊंघने लगा. सामने से बड़ी-बड़ी ट्रकें आ रही थीं. अगर ड्राइवर ने कार चलाते हुए ज़रा सी ग़लती की तो मोटर समेत हम सब में से किसी का पता नहीं चलने वाला था. साहिर ने ड्राइवर को ऊंघते हुए देख लिया. कार रुकवा कर ख़ुद गाड़ी चलाने लगा और साथ ही यह भी कहा कि इस कम्बख़्त को क्या मालूम कि हिंदुस्तान के चार मशहूरो-मारूफ़ अदीब इस कार में सफ़र कर रहे हैं. अगर ऐक्सिडेंट हो गया तो उर्दू ज़बान चार मशहूर अदीबों से महरूम हो जायेगी.

साहिर की ख़ूबी यह है कि जब किसी की मदद के लिए तैयार हो जाता है तो बड़े खुले दिल से मदद करता

है. इस घटना के बाद जनाब सज्जाद ज़हीर मेरे पास आये और कहने लगे, '*अवामी दौर* के लिए चंदा चाहिए, ज़रा साहिर से कह कर एक माक़ूल सी रक़म दिलवा दो.' मैंने बन्ने भाई से कहा कि साहिर आपका बहुत सम्मान करते हैं, आप ख़ुद चले जाइए, आपका काम हो जायेगा.' बन्ने भाई कहने लगे, नहीं भाई तुम्हारे बग़ैर यह काम नहीं होगा. मैं बन्ने भाई के साथ हो लिया. साहिर के घर गये और साहिर ने बन्ने भाई का काम कर दिया. यहां मैं सिर्फ़ इस बात पर ज़ोर देना चाहता हूं कि साहिर ने हमेशा दोस्तों की मदद की. मरहूम राम प्रकाश 'अश्क' कैंसर जैसे घातक रोग का शिकार हो गये थे. साहिर ने पहले उनका टाटा अस्पताल में इलाज कराया, जब वहां के डाक्टरों ने जवाब दे दिया तो साहिर ने राम प्रकाश 'अश्क ' को अमरीका भेज दिया और तक़रीबन चालीस हज़ार रुपये डाक्टर कपूर की हथेली पर रखे ताकि अमरीका में राम प्रकाश का अच्छी तरह इलाज करायें. मगर मौत और कैंसर का इलाज अभी तक नहीं मिला है. राम प्रकाश 'अश्क' मर गया. आजकल कितने दोस्त हैं जो अपने दोस्तों पर इतने रुपये ख़र्च कर सकते हैं. और फिर आज तक मैंने साहिर की ज़बान से ये शब्द नहीं सुने कि उसने राम प्रकाश 'अश्क' की बीमारी पर इतनी रक़म ख़र्च की. इसी तरह साहिर ने कितनों की मदद की, इसका यहां ज़िक्र करना अच्छा नहीं लगता. यह साहिर की दोस्त-नवाज़ी और फ़राख़-दिली का एक रुख़ है, जो बेहद क़ाबिले-तारीफ़ है.

साहिर बड़ी ख़ूबियों का मालिक है. दोस्तों और शायरों को बुलाकर बड़ी पुर-तकल्लुफ़ दावत देगा. बढ़िया शराब पिलायेगा, खाने खिलायेगा और किसी से झगड़ा हो जाये तो उसे हास्य और व्यंग्य का शिकार बना कर उसकी बेइज़्ज़ती भी करेगा. एक बार एक शायर ने साहिर से बड़ी बेबाक़ी से कहा, 'साहिर साहिब ,फ़िल्मी दुनिया में वाक़ई आपका मक़ाम क़ाबिले-रश्क है और फ़िल्मों में आपने अव्वल दर्जे के गीत लिखे हैं जो विषय के लिहाज़ से इंकलाबी और अनमिट हैं, मगर अदब के मैदान में आप दूसरे दर्जे के शायर हैं.' साहिर यह चोट कब सहने वाला था, फ़ौरन बोला, 'जनाब उन लोगों की तादाद बहुत ज़्यादा है जो अदब के मैदान में मुझे अव्वल दर्जे का शायर समझते हैं. अब आप ही बताइए, मैं आपकी बात मानूं या दूसरों की. आप मुझे अव्वल दर्जे का शायर नहीं समझते तो मैं क्या करूं. बराहे-करम आप इसी वक़्त मकान से तशरीफ़ ले जाइए वर्ना मुझे कोई और तरीक़ा इस्तेमाल करना पड़ेगा आपको यहां से निकालने के लिए.' वे साहिब चुपके से चले गये.

साहिर ने अभी तक शादी नहीं की, मालूम होता है अब करेगा भी नहीं. मगर साहिर इश्क़ करने में दिलचस्पी रखता है और कभी अफ़्वाहें भी उड़ा देता है कि साहिर फ़लां लड़की से इश्क़ फ़रमा रहा है और यूं तो मैंने लड़कियों को साहिर के पीछे भागते देखा है, और साहिर लड़कियों से दूर भागता है. किसी लड़की को देखकर शरमा जायेगा, नयी-नवेली दुल्हन की तरह गाल सुर्ख़ हो जायेंगे, आंखें नीची कर के कमरे से निकल जायेगा.

एक बार साहिर की मां ने मुझसे कहा, "बेटा, साहिर के लिए कोई लड़की ढूंढ़ो. अब तो उसे शादी कर लेनी चाहिए. घर में किस बात की कमी है. मेरा क्या है, कब सांस उखड़ जाये. कम से कम बहू का चेहरा तो देख लूं.' मैंने साहिर से कहा, 'भई अब शादी कर लो, लड़कियां तुम्हारे आगे-पीछे घूमती हैं. ऐसा मौक़ा फिर कभी नहीं आयेगा.'

साहिर ने तुरंत जवाब दिया, 'महेंद्र, मेरा शादी करने का मौक़ा निकल गया. अब अगर कोई लड़की मुझसे शादी करेगी तो वह मुझसे शादी नहीं करेगी बल्कि मेरे बैंक-बैलेंस से शादी करेगी, मेरे इस बड़े फ़्लैट से शादी करेगी, मेरी शोहरत को देखकर शादी करेगी. इस चेचक-ज़दा और लंबी नाक वाले साहिर से कौन शादी करेगा?' साहिर अपनी बदसूरती के बारे में बेहद संवेदनशील है, हालांकि वह इतना बदसूरत नहीं जितना कि समझता है. मैं साहिर के इस जवाब को कभी नहीं भूल सकता. जो शख़्स अपने लिए इतना बेरहम और क़ातिल हो सकता है, वह दूसरों के ओछेपन और बुरे व्यवहार को क्यों माफ़ करेगा.

साहिर ने फ़िल्मी दुनिया से काफ़ी रुपया कमाया. एक शानदार फ़्लैट भी बनवा लिया, दो कारें भी ले लीं. बैंक बैलंस भी हो गया. साहिर अवाम में बेहद लोकप्रिय है. इस लोकप्रियता का ज़िक्र एक बार कृष्ण जी ने मुझसे

किया. कृष्ण जी और साहिर बिहार के अकाल के सिलसिले में दौरे पर गये. जगह-जगह अफ़साना पढ़ने की महफ़िलें और मुशायरे आयोजित हुए. इन मुशायरों में साहिर भी शामिल हुए और दूसरे शायर भी, मगर कृष्ण जी के कहने के अनुसार जो दाद साहिर को मिलती थी वह किसी दूसरे शायर को नसीब न हुई. कृष्ण जी ने कहा कि साहिर की इस लोकप्रियता को देखकर मैं भी सोच में पड़ गया कि साहिर अवाम में इतना मक़बूल क्यों है.

अगर साहिर की लोकप्रियता के राज़ का विश्लेषण किया जाये तो मालूम होगा कि साहिर का अंदाज़े-बयान न तो उपदेशात्मक है और न ही जोशीला. उसकी शायरी के लहजे में एक मद्धम-मद्धम सी आंच है. हालांकि साहिर एक साम्यवादी शायर है और साहिर ने साम्यवादी दर्शन को कलात्मक ढंग से अपनी शायरी में समोया है, लेकिन साहिर साम्यवादी व्यवस्था का ढिंढोरची नहीं है बल्कि उसकी शायरी में एक लय है, निखार है, लफ़्ज़ों की तालमेल है, जिनके चयन में सौंदर्यबोध का काफ़ी दख़ल है. भारी भरकम और जोश दिलाने वाले शब्द प्रयोग करने से साहिर बचता है. निहायत ही रवां, निखरे हुए, आसान मगर ख़ूबसूरत लफ़्ज़ों का चयन करके अपनी शायरी का घरौंदा बनाता है. साम्यवादी फ़लसफ़े के अलावा उसकी शायरी में जिंसी महरूमियों का बड़ा आकर्षक बयान है. साहिर पारंपरिक प्रेम और मुहब्बत का गायक नहीं, ज़ुल्फ़ और रुख़सार का वर्णन ज़रूर करता है, मगर मुहब्बत का अंजाम ख़ुदकुशी नहीं समझता बल्कि उससे बचने के लिए हसीन मोड़ निकालता है. साहिर की शायरी में दर्द है, कसक है, हल्की सी टीस और चुभन है, जो नौजवान लड़के-लड़कियों को बेहद पसंद है. साहिर नौजवानों में बेहद मक़बूल है और वह इस लोकप्रियता से शर्मसार नहीं.

महान शायरी सिर्फ़ बौद्धिकता और गंभीरता की शायरी नहीं होती. दुख दर्द, पीड़ा, महरूमी, नाकामी की शायरी भी महान हो सकती है. एहसास की तीव्रता, कलात्मक अंदाज़े-बयान, साम्यवादी दृष्टिकोण के अलावा बात यूं कही जाये कि दिल में उतर जाये, तो समझिए कि आप अच्छे शायर हैं. लोकप्रियता महान शायरी को चिन्हित करती है. ग़ालिब के कितने ही अशआर हैं जिन्हें अवाम बार बार पढ़ते हैं. महफ़िलों में सुनते हैं और सर धुनते हैं. साहिर की शायरी भ्रामक नहीं है. जो बात साहिर कहता है, वह समझ में आती है. साहिर आधुनिकवाद से दूर भागता है. अगर शायरी सिर्फ़ गोरखधंधा और मुअम्मा बन कर रह जाये तो ऐसी शायरी को दूर से सलाम.

जब से साहिर ने एक शानदार फ़्लैट बनवाया है, लोग उससे बहुत नाख़ुश हैं. यूं तो अच्छी ज़िंदगी सिर्फ़ साहिर ही नहीं गुज़ार रहा है, और भी कितने साम्यवादी और ग़ैर-साम्यवादी शायर और अदीब हैं जिनके पास कारें हैं, अपने शानदार फ़्लैट हैं और वे ठाठ से रहते हैं. मगर तरक़्क़ी-पसंद शायर और अफ़साना-निगार नयी नस्ल की निगाहों में बुरी तरह खटकते हैं. नयी नस्ल कहती है कि ये तरक़्क़ी-पसंद शायर साम्यवादी मूल्यों का प्रचार करते हैं और ख़ुद शानदार फ़्लैटों में रहते हैं. क्यों? ये विरोधाभास उन्हें बुरी तरह खटकता है. अगर इस विरोधाभास का ग़ौर से अध्ययन किया जाये तो मालूम होगा कि तरक़्क़ीपसंदों को निशाना बनाना नयी नस्ल की फ़्रस्ट्रेशन को दर्शाता है. अगर सारे तरक़्क़ी-पसंद अदीब अपने फ़्लैटों से निकल कर झोंपड़ों में रहना शुरू कर दें तो क्या हिंदोस्तान में इंक़लाब आ जायेगा? अगर कोई शख़्स इस बात की गारंटी दे कि ऐसा करने से बाक़ी हिंदोस्तान में साम्यवाद आ जायेगा तो मैं इन तमाम तरक़्क़ी-पसंद शाइरों और अदीबों को कुछ अर्से के लिए झोंपड़ों में मुंतक़िल कर दूंगा. मगर इस तरह से सोचना बेवक़ूफ़ी है. इंक़लाब चंद नज़्मों, चंद ग़ज़लों, चंद अफ़सानों के कहने या सुनने से नहीं आता. इंक़लाब लाने के लिए एक व्यवस्थित पार्टी की ज़रूरत होती है. ऐसे लीडरों और कारकुनों की ज़रूरत पड़ती है जो सोशलिज़्म पर यक़ीन रखते हों, अपनी ज़िंदगियां वतन के लिए क़ुर्बान कर दें. अवाम को इस जद्दोजहद के लिए तैयार करना पड़ेगा. उसको साथ लेना होगा. अगर अवाम आपके साथ हैं, तभी जाकर भारत में इंक़लाब आ सकता है. यह ख़ामोश इंक़लाब जिसकी गूंज सुनायी दे रही है, जिसकी क़यादत श्रीमती इंदिरा गांधी के हाथ में है, इस बात का सबूत है कि जिसके दिल में वाक़ई ग़रीबों की बेहतरी के लिए शमा रोशन है, अवाम उसी को गद्दी पर बिठायेंगे.

कोई बुद्धिमान लेखक या शायर ज़्यादा दौलत हासिल कर के ख़ुश नहीं रह सकता. ज़्यादा दौलत भी एक

लानत है. ख़ुद ज़्यादा कमाना और ज़्यादा खाना पाप है. ज़ाहिरी नुमाइश से इंसान के अंदरूनी भावों का किसी को क्या इल्म हो सकता है? किसी को क्या मालूम कि दिल के अंदर कितनी शमाएं बुझ चुकी हैं? कितने अरमान पूरे न हुए, कितने ख़्वाब पूरे न हो सके? यह बात तो किसी से ढकी छिपी नहीं कि साहिर सिर्फ़ अपना संकलन, *तल्ख़ियां* लेकर बंबई आया था. ज़माने की मार, मुश्किलें, बेइज़्ज़ती, भूख, बेकारी और बेवक़्त की रागनी, कठिन हालात से मुक़ाबला करना, ओछापन बर्दाश्त करना, अपने फ़न का तिरस्कार कराना और इसी क़िस्म के दूसरे ज़ुल्म सहना ज़हर पीने जैसा है. साहिर ने इस ज़हर को पिया है. कभी बिलबिलाया होगा, कभी रोया होगा, कभी हंसा होगा. दरअसल इंसान की शख़्सियत सीधी सादी नहीं होती, बड़ी पेचीदा होती है. राह में बड़ी बड़ी खाइयां होती हैं, बड़े शिगाफ़ होते हैं, जिनको पार कर के शायर एक अच्छी नज़्म कहता है.

साहिर, जैसा कि मैंने कहा है, अंतर्विरोधों का पुलिंदा है. अच्छा भी है और बुरा भी. प्रसिद्ध भी है और बदनाम भी. अच्छाइयों का रचयिता है और बुराइयों का पुलिंदा भी. दरअसल, हर शख़्स नेक और बद का मजमूआ होता है. इंसान के अंदर रोशनी और अंधेरे का संगम होता है. अगर किसी शख़्स में सिर्फ़ अच्छाइयां ही अच्छाइयां हों तो वह इंसान नहीं फ़रिश्ता होगा. और फ़रिश्तों का इस ज़मीन पर क्या काम! उन्हें तो आकाश पर रहना चाहिए. साहिर एक साफ़दिल और नेक इंसान है. साम्यवादी व्यवस्था में यक़ीन रखता है. कभी पीड़ा और दर्द से बिलबिला उठता है और अपना ग़ुस्सा दूसरों पर निकालता है. उस वक़्त साहिर के सामने जो भी आता है उसके उपहास और व्यंग्य का निशाना बन जाता है. भला वह भी क्या करे! शायद इस उपहास के पीछे उसका इंकलाबी ज़हन इस बात की उम्मीद करता है कि तुम ख़ामोश क्यों हो, बोलते क्यों नहीं. इस ज़ुल्मो-सितम का विरोध क्यों नहीं करते?

जब मैं साहिर की अच्छाइयों और बुराइयों को तराज़ू में तोलने लगता हूं तो अच्छाइयों का पलड़ा भारी नज़र आता है और शायद यही अच्छाइयां और नेकियां उसकी शख़्सियत और शायरी के महान होने की निशानदेही करती हैं.

अनुवाद: अर्जुमंद आरा

साभार : *फ़न और शख़्सियत:* साहिर लुधियानवी नंबर, सं. साबिर दत्त, सरवर शफ़ी; बंबई, अंक 17-18 फ़रवरी 1985, पृ. 79-87

दिलीप कुमार, साहिर, कृष्ण चंदर, ख़्वाजा अहमद अब्बास और शशधर मुखर्जी

तेरे हाथों में मिरे हाथ हैं, ज़ंजीर नहीं!

एक विविध-रंग फ़नकार

अनवर ज़हीर अंसारी

साहिर की पूरी शायरी, *तल्खियां*, *आओ कि कोई ख़ाब बुनें* और फ़िल्मी नग़मों के संग्रह, *गाता जाये बंजारा* में समाहित है. *तल्खियां* के उर्दू में 25 संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं—पहला संस्करण 1944 में और पच्चीसवां 1980 में छपा. अवैध संस्करणों की संख्या अलग है. इस दरमियान 1955 में विश्वशांति के विषय पर एक लंबी ड्रामाई नज़्म 'परछाइयां' किताबी शक्ल में प्रकाशित हुई, लेकिन बाद में उसे *आओ कि कोई ख़ाब बुनें* में शामिल कर दिया गया. *गाता जाये बंजारा* का पहला एडीशन 1965 में और तीसरा 1967 में आया. *आओ कि कोई ख़ाब बुनें* के तीन एडीशन छपे—पहला 1971 में और तीसरा 1973 में.लेकिन अप्रकाशित रचनाओं की संख्या भी कम नहीं है, क्योंकि 'गाता जाये बंजारा' (1967) और 'आओ कि कोई ख़ाब बुनें' (1973) के बाद की समस्त रचनाएं अप्रकाशित रहीं.

इन रचनाओं के अलावा 'तरक़्क़ीपसंद सत्यार्थी', 'एस.डी. बर्मन', 'महेंद्रनाथ', 'जदीद रूस का अवामी शायर—मायाकोव्सकी' और 'हमारी आज़ादी—पसमंज़र और मुस्तक़बिल' जैसे आलोचनात्मक लेख भी साहिर की ज़ंबील में मौजूद हैं. इनके अलावा कुछ कहानियां भी, जिनका साहिर ने ख़ुद ज़िक्र किया है.

एक संवेदनशील और एक दर्दमंद दिल रखने वाले शायर की हैसियत से साहिर लुधियानवी ने भी न सिर्फ़ तरक़्क़ीपसंद विचारों को अपना लक्ष्य बनाया बल्कि तहरीक से जुड़े दूसरे रचनाकारों की तरह अपने अनुभवों को अपनी चेतना और संवेदना का हिस्सा बनाया और अपनी आवाज़ को अवाम की आवाज़ में मिला दिया:

दुनिया ने तजर्बातो-हवादिस की शक्ल में
जो कुछ मुझे दिया है वो लौटा रहा हूं मैं

साहिर की पैदाइश 8 मार्च 1921 को लुधियाना के एक जागीरदार घराने में हुई. तालीमी सिलसिला मालवा ख़ालसा कॉलेज लुधियाना से शुरू हुआ और गर्वनमेंट कॉलेज लुधियाना होता हुआ इस्लामिया कॉलेज लाहौर तक जा पहुंचा. अपनी इंक़लाबी सरगर्मियों के कारण गवर्नमेंट कॉलेज लुधियाना से निकाले गये और इस्लामिया कॉलेज लाहौर ख़ुद छोड़ा. यहीं तरक़्क़ीपसंद तहरीक से जुड़े. इन्हीं दिनों में उनकी कई नज़्में 'सोज़े-वतन' और 'अंगारे' की तरह ज़ब्त भी हुईं, जिन्हें *ज़ब्त-शुदा नज़्में* (संपादक ख़लीक़ अंजुम) में देखा जा सकता है. 1943 से 1949 तक पत्रकार के रूप में काम किया. इस दौरान लाहौर में *अदबे-लतीफ़, शाहकार*, *सवेरा* और दिल्ली में *शाहराह* और *प्रीतलड़ी* का संपादन किया और 'जान पहचान' कालम (*सवेरा*, लाहौर) और 'नये अदब के मेमार' सीरीज़ (*शाहराह*, दिल्ली) की बदौलत उर्दू ही नहीं दूसरी भाषाओं में भी लोकप्रिय हो गये.

इस दरमियान 1945 की अंजुमन तरक़्क़ीपसंद मुसन्निफ़ीन की हैदराबाद कांफ्रेंस में अपने लेख 'उर्दू की इंकलाबी शायरी' के ज़रिये तरक़्क़ी-पसंदों के दिलों में घर कर लिया.लिहाज़ा उनकी प्रेरणा से, बजाय लाहौर जाने के फ़िल्मों में क़िस्मत आज़माने बंबई आ गये.लेकिन उन्हीं दिनों बंटवारे ने मुल्क का शीराज़ा बिखेर दिया और साहिर अपनी वालिदा के पास लाहौर चले गये, लेकिन जल्द ही वापस आये और दिल्ली होते हुए बंबई पहुंचे,

जहां मोहन सहगल के माध्यम से एस.डी. बर्मन से मुलाक़ात हुई. मानो तरक़्क़ी आंखें बिछाये खड़ी थी. फ़िल्म, *नौजवान* के नग़मे 'ठंडी हवाएं/लहरा के आयें/ रुत है जवां/ तुमको यहां/ कैसे बुलायें' के बाद *बाज़ी* के नग़मे 'सुनो गजर क्या गाये/ समय गुज़रता जाये' और 'तदबीर से बिगड़ी हुई तक़दीर बना ले/ अपने पे भरोसा है तो ये दाव लगा ले' ने उनकी नग़मा निगारी के दरवाज़े खोल दिये. गोया यहां से साहिर का फ़िल्मी सफ़र शुरू हुआ जो *आज़ादी की राह पर* के बाद *नौजवान* से होता हुआ *इंसाफ़ का तराज़ू* और *उनकी वफ़ात* 25 अक्तूबर 1980 तक जारी रहा.

साहिर ने अपनी समझबूझ और स्वाभाविक रुझान के अनुसार शायरी की अनेक विधाओं को अभिव्यक्ति का वसीला बनाया. उन्होंने नज़्में भी कही हैं और ग़ज़लें भी, और मर्सिया, मसनवी और सहरे भी. जब कि फ़िल्मों में इन विधाओं के अलावा गीत, भजन, हम्द, रुख़्सती और क़सीदा जैसी विधाओं में भी अपने जौहर दिखाये हैं. साथ ही उनकी फ़िल्मी शायरी का भी अपना एक स्थान है, बल्कि यह कहना ज़्यादा ठीक होगा कि फ़िल्मी नग़मों को उच्च स्तर पर आसीन करने में साहिर के नग़मों को प्राथमिकता हासिल है. साहिर की शायरी जज़्बे के सच्चाई और भावनाओं की तीव्रता के साथ-साथ नयी विषय-वस्तु और उसमें विविधता, कल्पना-शक्ति का भरपूर प्रयोग, और सादगी और बहाव से सुसज्जित है और सिर्फ़ अपने लहजे में ही नहीं, अंदाज़े-बयान में भी पारंपरिक शायरी से अलग है.

फ़िल्मों के संदर्भ में साहिर की विशिष्टता यह रही कि उन्होंने अपनी अनेक नज़्मों और ग़ज़लों को या तो ज्यों का त्यों, या थोड़ी काट-छांटकर करके फ़िल्मों का हिस्सा बना दिया, मसलन ये नज़्में और ग़ज़लें:

सना ख़्वाने-तक़्दीसे-मशरिक़ कहां हैं' की जगह 'जिन्हें नाज़ है हिंद पर वो कहां हैं (*चकले*)
मैंने जो गीत तिरे प्यार की ख़ातिर लिखे (*फ़नकार*)
कभी कभी मेरे दिल में ख़याल आता है (*कभी कभी*)
चलो इक बार फिर से अजनबी बन जायें हम दोनों (*ख़ूबसूरत मोड़*)
इक शहंशाह ने दौलत का सहारा लेकर (*ताजमहल*)
चांद मद्धम है आसमां चुप है (*इंतज़ार*)
मैं पल दो पल का शायर हूं (*पल दो पल का शायर*)
ये किस का लहू है कौन मरा (*ये किस का लहू है*).

और ये ग़ज़लें भी:

मुहब्बत तर्क की मैंने, गिरेबां सी लिया मैंने (ग़ज़ल)
तंग आ चुके हैं कशमकशे-ज़िंदगी से हम (ग़ज़ल)
देखा है ज़िंदगी को कुछ इतने क़रीब से (ग़ज़ल)

इनके अलावा वे नग़मे भी जिनकी मिठास, नर्मी और साहित्यिकता का जादू लोगों के सर चढ़ कर बोलता रहा और ज़िंदगियों में रस घोलता रहा, मसलन:

तोरा मन दर्पन कहलाये/ भले बुरे सारे कर्मों को देखे और दिखाये (*काजल*)
अल्लाह तेरो नाम, ईश्वर तेरो नाम;
हर फ़िक्र को धुएं में उड़ाता चला गया;
अभी न जाओ छोड़कर कि दिल अभी भरा नहीं... (*हम दोनों*)
नीले गगन के तले धरती का प्यार पले (*हमराज़*)
ये रात ये चांदनी फिर कहां/ सुन जा दिल की दास्तां (*जाल*)
छू लेने दो नाज़ुक होंटों को/कुछ और नहीं है जाम हैं ये(*काजल*)
तू हिंदू बनेगा न मुसलमान बनेगा/ इंसान की औलाद है इंसान बनेगा (*धूल का फूल*)
इन काली सदियों के सर से, जब रात का आंचल ढलकेगा
जब दुख के बादल पिघलेंगे, जब सुख का साग़र छलकेगा
जब अंबर झूम के नाचेगा, जब धरती नग़मे गायेगी
वो सुबह कभी तो आयेगी (*फिर सुबह होगी*)

बच्चे मन के सच्चे, सारे जग की आंख के तारे
ये वो नन्हे फूल हैं जो भगवान को लगते प्यारे (*दो कलियां*)
सर जो तेरा चकराये/ या दिल डूबा जाये,
ये दुनिया अगर मिल भी जाये तो क्या है (*प्यासा*)
कौन आया कि निगाहों में चमक जाग उठी
दिल के सोये हुए तारों में खनक जाग उठी (*वक़्त*)

इसके अलावा वे पहलू भी हैं जो साहिर की शायरी में नरमी, मिठास, लय और प्रभावोत्पादकता का ऐसा एहसास रखते हैं जिसे हम उनका रूमानी रुझान कह सकते हैं. इस तरह की मिसालें 'तेरी आवाज़', 'एक मंज़र', 'ख़ूबसूरत मोड़' जैसी नज़्मों और 'नीले गगन के तले' (*हमराज़*), 'ये वादियां ये फ़ज़ाएं बुला रही हैं तुम्हें' (*आज और कल*) जैसे अनेक नग़मों में मिल जाती हैं. यही कारण है कि तीव्र भावनाओं को पेश करने में भी उनका अंदाज़ संतुलित रहता है. एक ख़याल है जो बहा चला जाता है, एक फ़िक्र है जो ज़हनो-दिल को अपनी गिरफ़्त में लिये बढ़ती रहती है.

साहिर अपने निजी जीवन में जिन हादसों से दोचार हुए, जितनी शिकस्तों और महरूमियों से उनका सामना हुआ, दरिद्रता और भूख के मारे इंसानों और किसानों पर ज़मीनदारों के अत्याचार और दमन के जो मंज़र उन्होंने देखे, वे उनकी नज़्मों 'जागीर', 'नूरजहां के मज़ार पर', 'ताजमहल', 'सुब्हे-नौरोज़' और 'किसी को उदास देखकर' में देखे जा सकते हैं.

साहिर की मां क्योंकि मध्यम वर्ग से थीं इसलिए जागीरदार ख़ानदान में उन्हें यथोचित सम्मान न मिल सका. साहिर के जन्म के बाद पराधीनता और तिरस्कार का यह एहसास और भी बढ़ा. साहिर की शायरी में औरतों से बारे में जो जज़्बाती रवैया नज़र आता है वह उनके निजी माहौल और सामाजिक परिस्थितियों, दोनों के दबाव से वजूद में आया है क्योंकि जिस समाज में औरतों का स्तर गिराने, शोषण और दासता के मौक़े और संभावनाएं मौजूद हों वहां लहजे में तल्ख़ी पैदा होना स्वाभाविक बात है.

सामाजिक दमन के कारण औरतों की दयनीय स्थिति की तस्वीरें 'सना ख़्वाने-तक़्दीसे-मशरिक़ कहां हैं (*चकले*), 'निकली इक बंगले के दर से/मुट्ठी में इक नोट दबाये' (*सुब्हे-नौरोज़*), 'लोग औरत को फ़क़त जिस्म समझ लेते हैं' (*इंसाफ़ का तराज़ू*), 'तेरे बचपन को जवानी की दुआ देती हूं/और दुआ दे के परेशान सी हो जाती हूं' (*मुझे जीने दो*), 'दामन में दाग़ लगा बैठे/ हम प्यार में धोका खा बैठे' (*धूल का फूल*) और 'औरत ने जनम दिया मर्दों को/ मर्दों ने उसे बाज़ार दिया/ जब जी चाहा मसला कुचला/ जब जी चाहा दुतकार दिया' (*प्यासा*) के अलावा दूसरी नज़्मों और अनेक फ़िल्मी नग़मों में नुमायां हुई हैं. उनका सृजन प्रतिरोध की शक्ल में नुमायां हुआ है, लेकिन यह प्रतिरोध भी किसी तरह की खोखली नारेबाज़ी के अधीन नहीं है, और न ही झुंझलाहट के रवैयों से बना है बल्कि इसमें एक दुखी दिल की पुकार है, फ़रियाद है. साथ ही एक मानवतावादी और स्वतंत्रताप्रेमी शख़्स का शोषण करने वाली शक्तियों पर व्यंग्य है. 'शहज़ादे' और 'मेरे गीत तुम्हारे हैं' की व्यंग शैली इसकी एक मिसाल है, और 'तू हिंदू बनेगा न मुसलमान बनेगा' (*धूल का फूल*), 'क्या मिलिए ऐसे लोगों से जिनकी फ़ितरत छुपी रहे' (*असली नक़ली*) ऐसे बेशुमार फ़िल्मी नग़मे दर्दमंद दिल की पुकार ही तो हैं.

इसी के साथ यह बात भी याद रखने की है कि साहिर चूंकि अवाम से मुख़ातिब हैं इसलिए उन्होंने हर ऐसे काम का खुल कर विरोध किया है जिससे मानव मूल्यों का हनन होता है. इस लिहाज़ से साहिर की शायरी न सिर्फ़ जीवन की समस्याओं की पेचीदगियों और सामूहिक जीवन के अभावों की तर्जुमान है बल्कि उन यथार्थों का इज़हार भी है जो पूंजी और श्रम के अंतर्विरोध, मध्यम वर्ग के मेहनतकश लोगों और ग़रीब अवाम की कठिनाइयों और नस्ल और वर्ग के आधार पर पैदा होने वाली बेबस तमन्नाओं और टूटी आरज़ुओं की शक्ल में नुमायां हैं. ये ज़िंदा हक़ीक़तें 'नूरजहां के मज़ार पर', 'ताजमहल', 'जागीर', 'किसी को उदास देखकर', 'क़हते-बंगाल' और इसी प्रकार की दूसरी नज़्मों में मौजूद हैं. और 'ये दिल तुम बिन कहीं लगता नहीं हम क्या करें', 'वो सुबह कभी तो आयेगी' (*फिर सुबह होगी*), 'ये दुनिया अगर मिल भी जाये तो क्या है' (*प्यासा*), 'जागेगा इंसान ज़माना देखेगा' (*आदमी और इंसान*), 'मांग के साथ तुम्हारा, मैंने मांग लिया संसार' और 'ये देस है वीर जवानों का, अलबेलों का मस्तानों का' (*नया दौर*), 'अब कोई गुलशन न उजड़े, अब वतन आज़ाद है/ रूह गंगा की, हिमालय

का बदन आज़ाद है', 'ये इश्क़ इश्क़ है, इश्क़ इश्क़... अल्लाह और रसूल का फ़रमान इश्क़ है' (*बरसात की रात*), 'बाबुल की दुआएं लेती जा/ जा तुझको सुखी संसार मिले' (*नील कमल*), 'लागा चुनरी में दाग़ छुपाऊं कैसे' (*दिल ही तो है*) को भला कौन भूल सकता है! ज़ाहिर है फ़िल्मों में इस तरह की पेशकश ग़ैरमामूली थी और यह साहस वही शायर कर सकता है जिसने फ़िल्मी नग़मों को भी गंभीर शायरी के तौर पर अपनाया हो. इस लिहाज़ से भी देखें तो फ़िल्मी नग़मों को मेयार और एतबार दिलाने में साहिर को प्राथमिकता हासिल है. उन्होंने न केवल पारंपरिक तुकबंदी और छिछलेपन से परहेज़ किया बल्कि बेहतरीन शायरी की ज़रूरतों का ख़याल रखते हुए आम डगर से हट कर नग़मे लिखे और आवश्यकतानुसार अपना दृष्टिकोण भी पेश किया. यही सबब है कि उर्दू-दां ही नहीं, ग़ैर-उर्दू-दां हलक़ों ने भी उनको बहुत सराहा.

बीसवीं सदी जिस तरह टूट-फूट और संघर्ष की सदी रही है इसी तरह साहिर की ज़िंदगी भी विभिन्न सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्यों के बीच कशमकश से दो-चार रही है. कम से कम बटवारे के बाद की मानवता को लज्जित करने वाली बर्बादी, विध्वंस और ख़ूरेज़ी के नज़ारों के तो साहिर ख़ुद भी गवाह थे. उन्होंने घृणा, सांप्रदायिकता, और जंगों के ख़िलाफ़ एहतिजाज भी किया और सामाजिक क्रांति का एहसास भी जगाया. 'लम्हा-ए-ग़नीमत', 'आज', 'मुफ़ाहमत', 'बड़ी ताक़तें', 'परछाइयां', 'आओ कि कोई ख़ाब बुनें', 'ऐ शरीफ़ इंसानो!', 'गांधी हो कि ग़ालिब हो' और 'अशआर'; जैसी नज़्में साहिर के शांति के पैग़ाम की शिनाख़्त तो हैं ही, उनका सवालिया लहजा सियासी और मज़हबी अवसरवाद और स्वार्थ की उस सोच पर व्यंग भी है जिसके प्रभाव में जीवन की रंगीनियां लहू के रंगों में मिल गयी थीं. आज़ादी के बाद जिस तरह सांप्रदायिक नफ़रतों का तूफ़ान उठा, उस पर यह नज़्म एक ताज़ियाना भी है और अमन का पैग़ाम भी :

साथियो मैंने बरसों तुम्हारे लिए
चांद तारों बहारों के सपने बुने
हुस्न और इश्क़ के गीत गाता रहा
साथियो मैंने बरसों तुम्हारे लिए
इंक़लाब और बग़ावत के नग़मे अलापे
और उस सुबह की राह देखी
जिसमें इस मुल्क की रूह आज़ाद हो
आज ज़ंजीरे-महकूमियत[1] कट चुकी है
खेत सोना उगलने को बेचैन हैं
मुल्क की वादियां, घाटियां, खेतियां
औरतें, बच्चियां
हाथ फैलाये ख़ैरात[2] की मुंतज़िर हैं
उनको अम्न और तहज़ीब की भीख दो
माओं को उनके होंटों की शादाबियां[3]
नन्हे बच्चों को उनकी ख़ुशी बख़्श दो
मुल्क की रूह को ज़िंदगी बख़्श दो
मैं तुम्हारा मुग़न्नी[4] तुम्हारे लिए
जब भी आया नये गीत लाता रहूंगा ('आज')

और यह सवाल भी:

ज़मीं ने ख़ून उगला, आसमां ने आग बरसायी
जब इंसानों के दिन बदले तो इंसानों पे क्या गुज़री?
चलो वो कुफ़्र[5] के घर से सलामत आ गये लेकिन
ख़ुदा की मम्लिकत[6] में सोख़्ता-जानों[7] पे क्या गुज़री? ('अशआर')

इसी तरह अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी सियासी मकड़जाल के ख़िलाफ़ साहिर का जो नश्तर चला है उसे लफ़्ज़ों की गहराई में जाकर तलाश किया जा सकता है, मसलन :

ज़ुल्म फिर ज़ुल्म है, बढ़ता है तो मिट जाता है

ख़ून फिर ख़ून है, टपकेगा तो जम जायेगा
ख़ून चलता है तो रुकता नहीं संगीनों से
सर उठाता है तो दबता नहीं आईनों से ('ख़ून फिर ख़ून है')

यह ऐसी नज़्म है जिसे किसी विशेष परिदृश्य की ज़रूरत नहीं है, क्योंकि सियासत के अंतर्राष्ट्रीय पटल पर यह आज का हक़ीक़तनामा है, या फिर ग़ज़ल के ये अशआर जिनमें साहिर का हौसला, दृढ़ता, ख़ुद्दारी का एहसास और ज़िंदगी को ख़ुशगुवार देखने की आरज़ू बुलंदी पर है :

झूट क्यों बोलें फ़रोगे-मस्लिहत[8] के नाम पर
ज़िंदगी प्यारी सही, लेकिन हमें मरना तो है

कुछ और बढ़ गये जो अंधेरे तो क्या हुआ
मायूस तो नहीं हैं तुलूए-सहर[9] से हम

माना कि इस ज़मीं को न गुलज़ार कर सके
कुछ ख़ार[10] कम तो कर गये, गुज़रे जिधर से हम

कौन जाने ये तिरा शायरे-आशुफ़्ता-मिज़ाज[11]
कितने मग़रूर[12] ख़ुदाओं का रक़ीब[13] आज भी है

तेरे लहू की आंच से गर्मी है जिस्म की
मय के हज़ार वस्फ़[14] सही, मय में कुछ नहीं

ऐ रूहे-अस्र[15] जाग, कहां सो रही है तू
आवाज़ दे रहे हैं पयंबर[16] सलीब[17] से

इनके अलावा 'छब्बीस जनवरी' में तात्कालिक भारतीय राजनीति की वह तस्वीर उभरी हुई है जिसमें लोक-कल्याण के बजाय सियासी मज़बूती की फ़िक्र ज़्यादा अहम बन गयी है. साहिर ने शोषणकारी और उपनिवेशी व्यवस्था से उम्र भर समझौता नहीं किया, सांप्रदायिक सौहार्द के लिए ज़िंदगी भर संघर्ष किया और अपनी शायरी के ज़रिये भाईचारे और मुहब्बत का जज़्बा भी लोगों में बेदार करने का काम किया. अपनी नज़्मों और ग़ज़लों में तो साहिर ने अपने नज़रिये समोये ही हैं, फ़िल्मी गीतों में भी ज़िंदगी और वक़्त के बारे में साहिर का नज़रिया स्पष्ट हो कर उभरा है, आप भी देखिए :

रंग और नस्ल, ज़ात और मज़हब जो भी है आदमी से कमतर है
नफ़रतों के जहान में हमको प्यार की बस्तियां बसानी हैं

वक़्त से दिन और रात वक़्त से कल और आज
वक़्त की हर शय ग़ुलाम, वक़्त का हर शय पे राज (*वक़्त*)
बस्ती-बस्ती, परबत-परबत, गाता जाये बंजारा (*रेलवे प्लेटफ़ॉर्म*)
पल दो पल का साथ हमारा, पल दो पल के याराने (*द बर्निंग ट्रेन*)
आज रुके तो कल करनी है चलने की तैयारी (*रेलवे प्लेटफ़ॉर्म*)
ज़िंदगी कभी यक़ीं, कभी गुमान है
हर क़दम पे तेरा मिरा इम्तिहान है (*आदमी और इंसान*)
तदबीर से बिगड़ी हुई तक़दीर बना ले
अपने पे भरोसा है तो ये दांव लगा ले (*बाज़ी*)
संसार की हर शय का इतना ही फ़साना है
इक धुंध से आना है इक धुंध में जाना है (*धुंध*)

अव्वल आख़िर हर कोई अंजान है
वक़्त लौटे इसका कब इमकान है
ज़िंदगी इक तेज़-रौ तूफ़ान है
इसका जो पीछा करे नादान है
गुमशुदा ख़ुशियों पे क्यों हैरान है
पूरा कर ले दिल में जो अरमान है (*द बर्निंग ट्रेन*)

आगे भी जाने न तू
पीछे भी जाने न तू
जो भी है, बस यही इक पल है (*वक़्त*)

क़ुदरत ने साहिर को इंसानियत का जो दर्द बख़्शा था वह दर्द उनकी शायरी में छलका है, अत: मेरा तर्क यह है कि साहिर की सभी रचनाओं का अधिकतर हिस्सा बेहतरीन अदब की श्रेणी में रखा जायेगा क्योंकि उन्होंने न सिर्फ़ ज़िंदगी के हुस्न के गीत ही गाये बल्कि भविष्य की संभावनाओं की ओर स्पष्ट इशारे भी किये हैं:

ज़िंदगी से उन्स[18] है/ हुस्न से लगाव है/ धड़कनों में आज भी/
इश्क़ का अलाव है/ दिल अभी भरा नहीं (*हम दोनों*)
न मुंह छिपा के जिये हम न सर झुका के जिये
सितमगरों की नज़र से नज़र मिला के जिये
अब एक रात अगर कम जिये तो कम ही सही
यही बहुत है कि हम मशअलें जला के जिये (*क़ता*)
न मुंह छिपा के जियो और न सर झुका के जियो
ग़मों का दौर भी आये तो मुस्कुरा के जियो
न जाने कौन सा पल मौत की अमानत हो
हर एक पल की ख़ुशी को गले लगा के जियो (*हमराज़*)

इनके अलावा 'मादाम', 'आख़िरी बुराई', 'मेरे अह्द के हसीनो!' ऐसी नज़्मों में सांस्कृतिक और नैतिक मूल्यों की टूट-फूट, राजनीतिक व सामाजिक पतन और आधुनिक वैज्ञानिक तरक्क़ी के प्रभाव में रूमानियत का वह हुस्न भी देखा जा सकता है जिसमें आशिक़, महबूब के लिए आसमान से चांद तारे तोड़ लाने का हौसला रखता है. साहिर की विशेषता यह भी है कि उन्होंने पेचीदा और जटिल शब्दों और रचना-शैली से हर मुमकिन दूरी बनायी और ऐसी ज़बान को चुना जो आम-फ़हम होने के साथ दिल के तारों में कंपन पैदा कर दे, क्योंकि अव्वल तो उनके यहां विशेषणों की सहायता से फ़ज़ा बनाने का रुझान मिलता है, दूसरे यह कि साहिर रूपकों के ज़रिये कैफ़ियत पैदा करने का हुनर जानते हैं, और तीसरी मंज़िल यह है कि उनके यहां आधुनिकतम रंग और आहंग का इज़ाफ़ा हुआ है. इस पर यह भी है कि साहिर की शायरी में नर्मी, मिठास, संगीत का एहसास बुनियादी तौर पर विद्यमान रहता है.

एक बात और यह है कि जिस तरह विश्व शांति की हिमायत में जंग के विषय पर लिखी गयी उर्दू की सबसे विश्वसनीय नज़्म साहिर की 'परछाइयां' क़रार दी जाती है, और जिसके एतराफ़ में अली सरदार जाफ़री ने भी लिखा है कि साहिर ने यह नज़्म लिख कर विश्वशांति के घोषणापत्र पर दस्तख़त किये हैं, उसी तरह हिंदो-पाक जंग की पृष्ठभूमि में लिखी गयी नज़्म 'ऐ शरीफ़ इंसानो!' अमन की बहाली की ओर एक मज़बूत क़दम है. दो हिस्सों पर आधारित इस नज़्म में काव्य शैली बहुत ही प्रभावी है. आम तौर से इस नज़्म का पहला हिस्सा ही चलन में है, और पाठयक्रमों में भी आम तौर से इसी हिस्से को शामिल किया जाता है, जब कि मेरा ख़याल है कि इस का दूसरा हिस्सा ज़्यादा जानदार और प्रभावी है.

इसके अलावा उर्दू ज़बान को मुसलमानों से जबरन जोड़ने वाले सियासी मदारियों की चालबाज़ियां भाषागत सांप्रदायिकता में ढलने लगीं तब भी साहिर ने ही नज़्म 'जश्ने-ग़ालिब' (1969) लिख कर प्रतिरोध का घोषणापत्र जारी किया. उर्दू ज़बान के साथ भेदभाव के इस रवैये के ख़िलाफ़ पूरी उर्दू शायरी में इतनी कड़वी प्रतिक्रिया साहिर के अलावा कहीं और नहीं मिलती:

इक्कीस बरस गुज़रे आज़ादी-ए-कामिल को
तब जाके कहीं हमको ग़ालिब का ख़याल आया
सौ साल से जो तुर्बत[19] चादर को तरसती थी
अब उसपे अक़ीदत के फूलों की नुमाइश है
उर्दू के ताल्लुक़ से कुछ भेद नहीं खुलता
ये जश्न, ये हंगामा, ख़िदमत है कि साज़िश है
जिस अहदे-सियासत ने ये ज़िंदा ज़बां कुचली
उस अहदे-सियासत को मरहूमों का ग़म क्यों है?
ग़ालिब जिसे कहते हैं उर्दू ही का शायर था
उर्दू पे सितम ढाकर ग़ालिब पे करम क्यों है?

इसी तरह 'गांधी हो कि ग़ालिब हो', 'मां', 'बड़ी ताक़तें', 'लश्करकशी', 'मगर ज़ुल्म के ख़िलाफ़' और 'विरसा' ऐसी नज़्में हैं जो जंग के फ़लसफ़े के ख़िलाफ़ हैं, और फ़लसफ़ा-ए-हयात का एहसास रखती हैं. साथ ही नफ़रत को मुहब्बत में, और निष्क्रियता के एहसास को सक्रियता की भावना में बदलती हैं. इन अशआर के व्यंग की काट दिल में प्रतिरोध का भाव पैदा करती ही है, समाज की बेहतरी और अवामी ख़ुशहाली बढ़ाने की राहें भी हमवार करती है, देखिए:

मिलें इसीलिए रेशम के ढेर बुनती हैं
कि दुख़तराने-वतन[20] तार-तार को तरसें!
चमन को इसलिए माली ने ख़ूं से सींचा था
कि उसकी अपनी निगाहें बहार को तरसें! ('क़हते-बंगाल')

ये वतन तेरी मिरी नस्ल की जागीर नहीं
सैकड़ों नस्लों की मेहनत ने संवारा है इसे
पटरियां रेल की, सड़कों की बसें, फ़ोन के तार
तेरी और मेरी ख़ताओं की सज़ा क्यों भुगतें
इन पे क्यों ज़ुल्म हो, जिनकी कोई तक़सीर[21] नहीं
ये वतन तेरी मिरी नस्ल की जागीर नहीं ('विरसा')

हमीं से रंगे-गुलिस्तां, हमीं से रंगे-बहार
हमीं को नज़्मे-गुलिस्तां[22] पे इख़्तियार नहीं
अभी न छेड़ मुहब्बत के गीत ऐ मुतरिब[23]!
अभी हयात का माहौल ख़ुशगुवार नहीं (ग़ज़ल)

साहिर की यह निडरता उम्र भर क़ायम भी रही, किसी भी तरह के हुकूमती दबाव से बेनियाज़, सच और न्याय की ख़ातिर प्रतिरोध करते रहे, क्योंकि वे ज़िंदगी को ख़ुशगवार और गतिशील देखने के इच्छुक थे और यह इच्छा जीवन के पेच-दर-पेच मसलों और दुखों को शायरी में समो लेने की उस प्रक्रिया की विवेचना करती है जिसमें जज़्बे की सच्चाई, फ़िक्र की गहराई और एहसास की शिद्दत मिलकर एक इकाई बन जाते हैं. यही समग्रता साहिर के बहु-रंग फ़नकार होने की दलील है.

मो. 9898089836
अनुवाद : अर्जुमंद आरा

---

1 पराधीनता की ज़ंजीर
2 दान
3 ताज़गियां
4 गायक, कवि
5 नास्तिकता
6 राज्य, शासन
7 कठिनाइयां झेलने वाले, अपनी जान को जलाने वाले
8 समझौते की नीति को बढ़ावा देना

9 आशा की सुबह/ सूरज का उगना
10 कांटे
11 दुखी स्वाभाव का शायर
12 दंभी
13 दुश्मन
14 गुण
15 ज़माने की चेतना
16 पैग़ंबर/देवदूत
17 सूली, जिस पर ईसा मसीह को लटकाया गया
18 प्रेम, लगाव
19 क़ब्र
20 वतन की बेटियां
21 दोष
22 बाग़ की सज्जा और व्यवस्था
23 संगीतकार, गायक

एक ग़लत समझा गया शायर

अली अहमद फ़ातमी

तरक़्क़ीपसंद शायरी और साहिर लुधियानवी दोनों अक्सर ग़लतफ़हमियों का शिकार रहे हैं. तरक़्क़ीपसंद शायरी के बारे में आमतौर पर और विरोधी सोच ख़ासतौर पर बारबार यह कहती आयी है कि तरक़्क़ीपसंद शायरी नारेबाज़ी की शायरी है, इसमें उपदेश और उद्देश्य हावी हैं, वह वक़्ती और लम्हाती है. इसी तरह के इलज़ाम और ऐतराज़ और भी हैं, जिनका कुछ तो जवाब गुज़रते हुए वक़्त ने दे दिया है और कुछ आने वाला वक़्त दे देगा. सच तो यह है कि तरक़्क़ीपसंद शायरी का केंद्र मुहब्बत है, इसलिए कि ज़िंदगी का केंद्र भी मुहब्बत है. यह अलग बात है कि मुहब्बत के अनेक रूप हुआ करते हैं. अहमद नदीम क़ासमी ने साहिर पर ही लेख लिखते हुए बहुत अच्छी बात कही थी :

दुनिया की हर ज़बान में साहित्य का विषय मुहब्बत रहा है. अगर ग़ौर से देखा जाये तो केवल साहित्य ही नहीं बल्कि हमारी ज़िंदगी का पूरा निज़ाम ही मुहब्बत पर टिका है. मुहब्बत की रोशनी हर सच्चे शायर के कलाम में मौजूद होती है.

जैसा कि कहा गया कि मुहब्बत के अनेक रूप होते हैं. मीर की मसनवी 'शोला-ए-इश्क़' से लेकर इक़बाल की नज़्म 'ज़ौक़ो-शौक़' का अध्ययन कीजिए, आपको रंगारंग इश्क़ के नमूने मिलेंगे. वली दकनी ने तो और भी पहले कहा था :

शग्ल बेहतर है इश्क़बाज़ी का
क्या हक़ीक़ी ओ क्या मजाज़ी का

तरक़्क़ीपसंद शायरों ने इसी मुहब्बत को, अपने ज़माने के हालात और ज़रूरतों को ज़ेहन में रखते हुए, अपने बुज़ुर्गों से थोड़ा अलग एक नयी कल्पना और रास्ता बनाने की कोशिश की. उन्होंने कभी यह नहीं कहा कि यह रास्ता केवल उनका अपना है. वे ऐसा कह भी नहीं सकते थे इसलिए कि अगर एक ओर उन पर सामाजिक और ऐतिहासिक दबाव था तो दूसरी ओर क्लासिकियत का रचाव और पश्चिमी साहित्य से लगाव भी था. अगर एक तरफ़ उन्होंने हाफ़िज़, साअदी, रूमी, कबीर, नज़ीर, ग़ालिब, इक़बाल, टैगोर आदि का अध्ययन किया था तो दूसरी तरफ़ अंग्रेज़ी की रोमानी शायरी और दूसरे बदलते हुए विषयों पर भी उनकी गहरी नज़र थी. उन्हें रोमान और इंक़लाब के भीतरी रिश्तों का भी ज्ञान था कि अंग्रेज़ी की अधिकतम रोमानी शायरी फ़्रांस की क्रांति के ख़ून-ख़राबे और इंसानों की तौहीन और इंसानियत की बेइज़्ज़ती ने ही रोमानी शायरों में नये इंसान और इंसानी समाज को देखने का ख़याल और ख़्वाब पैदा किया, जिसमें प्रकृति के साथ जीत और आज़ादी भी शामिल है.

इक़बाल ने इस्लामी-हिंदी और पश्चिमी फ़लसफ़े को मिलाकर जिस तरह दुनिया को इश्क़ व अक़्ल, आज़ादी

व इंसानियत का पैग़ाम दिया वह केवल मुसलमानों तक सीमित न था बल्कि पूरी इंसानियत के लिए था. इसके बाद अख़्तर शीरानी, हसरत मोहानी, जोश मलीहाबादी आदि ने मुहब्बत और औरत का जो जीता-जागता तसव्वुर पेश किया, वह भी तरक़्क़ीपसंद शायरों के सामने था. इस पूरी पृष्ठभूमि को, वह स्थानीय हो या वैश्विक, मुहब्बत से अलग करके नहीं देखा जा सकता. यह अलग बात है कि मुहब्बत का दायरा औरत से निकल कर इंसानियत, समाज और वतन को अपनी पनाह में ले लेता है और फिर एक समय ऐसा भी आया जब तरक़्क़ीपसंद शायरों को यह तक कहना पड़ा :

दुनिया ने तेरी याद से बेगाना कर दिया
तुझसे भी दिल-फ़रेब हैं ग़म रोज़गार के (फ़ैज़)

तेरे माथे पे ये आंचल बहुत ही ख़ूब है लेकिन
तू इस आंचल से इक परचम बना लेती तो अच्छा था (मजाज़)

अभी न छेड़ मुहब्बत के गीत ऐ मुतरिब
अभी हयात का माहौल ख़ुशगवार नहीं (साहिर)

देखिए सभी की तड़प और चिंता एक जैसी है, पर शायराना तरीक़े अलग-अलग हैं और उन्हें अलग होना भी चाहिए. इस अलगाव को लेकर अली सरदार जाफ़री ने पते की बात कही है :

> तरक़्क़ीपसंद शायरों का केंद्रबिंदु रोमान और प्रतिरोध है. फ़ैज़ के यहां महबूबा का वह तसव्वुर नहीं जो साहिर के यहां है. मख़दूम व मजाज़ की शायरी का केंद्र भी रोमान और प्रतिरोध रहा है मगर इन चारों समकालीन शायरों के मिज़ाज अलग-अलग हैं. मजाज़ के यहां सरफ़रोशाना सरशारी है. फ़ैज़ के यहां माशूक़-नवाज़ हुस्न-परस्ती और साहिर के यहां आशिक़ाना अनानियत.

इसी अनानियत (स्वाभिमान) की झलक ग़ालिब के यहां मिलती है :

वफ़ा कैसी, कहां का इश्क़, जब सर फोड़ना ठहरा
तो फिर ऐ संगदिल तेरा ही संगे-आस्तां क्यों हो!

अमीर मीनाई ने बहुत पहले कहा था :

ख़बर कहीं चले, प: तड़पते हैं हम अमीर
सारे जहां का दर्द हमारे जिगर में है

उर्दू शायरी में इंसान-दोस्ती की परंपरा बहुत पुरानी है, तसव्वुफ़ के हवाले से ज़्यादा. तरक़्क़ीपसंद शायरों ने सूफ़ीज़म से मार्क्सिज़म का सफ़र तय किया और अपने नये जलाल और जमाल के साथ—नये तेज और सौंदर्य के साथ—अपने आदर्शों को एक मोर्चे की तरह पेश किया. अब ऐतराज़ तो इस पर भी हो सकता है कि साहित्य में योजनाबंदी और मोर्चाबंदी का कोई दख़ल नहीं. हो सकता है यह सच हो, लेकिन ज़िंदगी का कोई काम व्यवस्था और योजना के बिना नहीं होता, जहां होता है वहां बिखराव होता है, इत्तेहाद नहीं.

साहिर के सामने एक मुश्किल यह थी कि वे ज़्यादातर तरक़्क़ीपसंद शायरों से छोटे और जूनियर थे. जब मजाज़ का काव्य संग्रह, *आहंग* प्रकाशित हुआ (1938) तब वे इंटरमीडीएट के विद्यार्थी थे. इक़बाल और जोश आसमान पर छाये हुए थे जिनसे हर तरक़्क़ीपसंद शायर प्रभावित हो रहा था. ग़ज़ल में हसरत मोहानी, फ़िराक़ गोरखपुरी, फ़ानी बदायूनी, असग़र गोंडवी, जिगर मुरादाबादी वग़ैरह का जादू चल रहा था. ऐसे में किसी नौजवान शायर और जूनियर का अपना रास्ता चुनना और पहचान बनाना किस क़दर मुश्किल काम था! साहिर बचपन का जो माहौल और ज़िंदगी गुज़ार कर आये थे उसने उनको रूखा-फीका बना दिया था लेकिन शायरी और फ़नकारी के मामले बड़े अजीबो-ग़रीब हुआ करते हैं. यह अक्सर ना-हमवार माहौल में जन्म लेती है. यह एक मनोवैज्ञानिक मुद्दा है. फ्रॉयड ने कहा था कि इंसान की मायूसियां और महरूमियां या ख़ुदकुशी की तरफ़ ले जाती हैं या फिर नयी

दुनिया का ख़्वाब देखती हैं और सृजन की ऐसी दुनिया आबाद करती हैं जो उसके लिए आदर्श हो. इसलिए ज़िंदगी और शायरी में ख़्वाब देखना बहुत ज़रूरी है. साहिर ने भी ख़्वाब देखे. उनके एक काव्य-संग्रह का नाम ही है—*आओ फिर इक ख़्वाब बुनें*, और वे ख़्वाब बुनने की राह पर चल पड़े. उन्होंने ठोकरें खायीं, लहूलुहान हुए, बेरोज़गार रहे, भूखे भी रहे लेकिन यही सब तकलीफ़ें, परेशानियां शायरी के लिए कारगर साबित हुईं. उन्होंने कहा :

दुनिया ने तजर्बातो-हवादिस की शक्ल में
जो कुछ मुझे दिया है वो लौटा रहा हूं मैं

साहिर ने तकलीफ़ों भरा सफ़र तय किया. कहीं समझौता नहीं किया. विद्यार्थी जीवन की प्रतिरोध की शायरी, नौजवानी के दौर की रोमानी शायरी, पुख़्ता उम्र की संजीदा शायरी और फ़िल्मों की शायरी के ज़रिये वे अदब और फ़िल्म में अत्यधिक लोकप्रिय हुए. मुशायरों का तो यह आलम था कि बक़ौल फ़िराक़ गोरखपुरी—'आज भी मुशायरे के टिकट साहिर के नाम पर बिकते हैं.' साहिर के काव्य-संग्रह, *तल्ख़ियां* के जितने एडीशन शाय हुए उसका अपना रिकार्ड है. ऐसी ग़ैरमामूली शोहरत और मक़बूलियत तो अपने आप में बहुत से सवाल खड़े कर देती है. कुछ इल्ज़ामात भी, जैसे 'साहिर महज़ नौजवानों के शायर हैं', 'साहिर नाकाम मुहब्बत के शायर हैं', 'साहिर फ़िल्मों के शायर हैं', अक्सर ऐसे विरोधी ख़ेमे से आये जो अवामी और रोमानी शायरी का धुंधला सा तसव्वुर भी न रखते थे. अपनी पुस्तक, *रोशनाई* में सज्जाद ज़हीर ने एक जगह लिखा है कि कलकत्ते में वामिक़ जौनपुरी के एक गीत 'भूखा है बंगाल...' के ज़रिये लाखों रुपये आये. यही हाल साहिर के गीतों का था. उनकी नज़्में 'चकले', 'ताजमहल', 'तल्ख़ियां' आदि को बेहद शोहरत मिली, लेकिन ज़िंदगी और अवाम से दूर किताबी क़िस्म के आलोचक इस शोहरत को मामूली और क्षणिक बताते रहे. उर्दू की मेयारपरस्त आलोचना के मुआमले भी अजीब हैं. कोई लंबी और ग़ैरज़रूरी बहस छेड़ना मक़सद नहीं, लेकिन इतना ज़रूर कहूंगा कि हिंदोस्तान में शायरी की परंपरा और कल्चर सिर्फ़ किताबों तक सीमित नहीं है. तुलसी, कबीर, नज़ीर आदि किताबों में कम, अवाम के दिलों में ज़्यादा धड़कते हैं. ग़ालिब सिर्फ़ इसलिए क्लासिक नहीं हुए कि वे मुश्किल शायर हैं, बल्कि उनके कुछ मिसरे मुहावरे बन कर आज भी अवाम के दिलों में धड़कते हैं. ख़ुसरो से लेकर साहिर तक उर्दू के लाखों करोड़ों शौक़ीन इस बात की गवाही देते हैं कि क्लासिकी और ऐतिहासिक हैसियत उसे ही मिलती है जो ख़ास और आम दोनों में एक जैसा लोकप्रिय हो.

साहिर की शोहरत की वजह न नौजवानी का रोमान है और न फ़िल्म की अवामी शोहरत, बल्कि वह सार्थक शायरी है जो शुरू होती है रोमान से लेकिन ख़त्म होती है इंसान पर. इंसान के एहसास और शऊर पर. प्रतिरोध या इंकलाब पर. सरदार जाफ़री ने एक दिलचस्प बात लिखी है :

इश्क़ में वह महबूब ज़्यादा रहा है और आशिक़ कम. उसकी अपनी ज़ात और अपनी शायरी उसका सब से महबूब मौज़ू-ए-सुख़न था. ये चीज़ें उसकी फ़ितरत बन चुकी थीं, जिसको फ़िल्मी कामयाबी ने और ज़्यादा चमकाया. यहीं से साहिर की शायरी में 'वासोख़्त' (एक विधा) के अंदाज़े-सुख़न का सुराग़ मिलता है जिसको उसने एक तरक़्क़ीपसंद रुख़ दे दिया.

साहिर ने उसमें एक तबक़ाती पहलू शामिल कर दिया और शायर की अमीर माशूक़ा को ग़रीब शायर के तंज़ का शिकार बनना पड़ा. साहिर की शाहकार नज़्म, 'ताजमहल' है. इस नज़्म का सारा निचोड़ आख़िरी शे'र में है :

एक शहंशाह ने दौलत का सहारा लेकर
हम-ग़रीबों की मुहब्बत का उड़ाया है मज़ाक़

साहिर ने तरक़्क़ीपसंदों को इश्तिराकीयत (साम्यवाद) से ज़्यादा रोमानियत के क़रीब किया. उसे नये अर्थ दिये और नया लहजा भी, जो साहिर की अपनी ग़ैरमामूली सृजनात्मकता की पहचान बनता है. यह सच है कि उन पर फ़ैज़ और मजाज़ के प्रभाव देखे जा सकते हैं, जिसके जवाब में साहिर ख़ुद कहते हैं कि 'सरक़ा (चोरी) और असर में फ़र्क़ होता है. सौ फ़ीसदी ओरिजिनल कोई नहीं होता.' लेकिन कुछ अर्थों में साहिर वाक़ई ओरिजिनल थे. उनका अपना लहजा, अपना दर्द, अपनी प्यास और महरूमी थी जो ख़ुशी में बदल गयी और इश्क़ का रूप लेकर कलियों की मुस्कुराहट में बस गयी. जिसकी ख़ुशबू, नज़ाकत व नर्मी को समझने की ज़रूरत है. अब मैं उनके कुछ शे'र पेश करता हूं—सादा से शे'र—लेकिन उनकी सादगी और गहराई में उतरने की ज़रूरत है :

ज़ीस्त एहसास भी है, शौक़ भी है, दर्द भी है
सिर्फ़ अलफ़ाज़ की तर्तीब का अफ़साना नहीं

सुर्मगीं आंखों में यूं हसरतें लौ देती हैं
जैसे वीरान मज़ारों पे दिये जलते हैं

एहसास बढ़ रहा है हुक़ूक़े-हयात का
पैदाइशे-हुक़ूक़े-सितम परवरी की ख़ैर

इक रास्ता है ज़िंदगी जो थम गये तो कुछ नहीं
ये क़दम किसी मुक़ाम पर जो जम गये तो कुछ नहीं

अब ऐ दिले-तबाह तिरा क्या ख़याल है
हम तो चले थे काकुले-गेती संवारने

मेरे साग़र में मय है और तेरे हाथों में बरबत है
वतन की सरज़मीं में भूक का कोहराम है साक़ी

इन अशआर में इश्क़ की मासूमियत, ज़िंदगी की हरारत, और इस हरारत में छुपी ज़िंदगी की पेचीदा हक़ीक़त ज़्यादा नज़र आती है. यही थी नयी रोमानियत जिसका संबंध ज़मीन से था, इंसान से था. इसी नयी रोमानियत में एक छुपी हक़ीक़त भी थी जो बड़े सलीक़े से रोमानी हक़ीक़त बनकर पूरी तरक़्क़ीपसंद शायरी में समा गयी थी. साहिर ने कुछ ऐसे चौंका देने वाले मिसरे कहे जो साहिर के अपने थे, जो ज़िंदगी की भट्टी से तप कर निकले थे:

चलो इक बार फिर से अजनबी बन जायें हम दोनों
मुहब्बत तर्क की मैंने, गिरेबां सी लिया मैंने
सिर्फ़ जज़्बात हैं, जज़्बात में क्या रक्खा है?
मेरे महबूब कहीं और मिला कर मुझ से !

ऐसी पंक्तियों में रवायती इश्क़िया शायरी का जो पुराना तसव्वुर है, बिलकुल नहीं मिलेगा इसलिए कि ये शे'र रवायती रोमान की कोख से नहीं निकले हैं बल्कि उस ज़माने की नयी रोमानियत (Neo-Romanticism) जिसमें हक़ीक़त, इंक़लाबियत और रोमानियत सभी कुछ था—उसने पूरी तरक़्क़ीपसंद शायरी को एक नये सौंदर्यशास्त्र और काव्यशास्त्र के रूबरू किया और जब तक इस नये सौंदर्यशास्त्र की ज़मीनी हक़ीक़त को समझा न जायेगा साहिर क्या, पूरी तरक़्क़ीपसंद शायरी को पूरे तौर पर समझा नहीं जा सकेगा. इसमें फ़ैज़ की पंक्ति, 'मुझसे पहली सी मुहब्बत मेरे महबूब न मांग' या 'तुझसे भी दिलफ़रेब हैं ग़म रोज़गार के' वाली कैफ़ियत तो है लेकिन साहिर के यहां सिर्फ़ रोज़गार नहीं बल्कि हालात की विडंबना है, इसमें एक तिलमिलाहट और झटपटाहट भी है, जो मजाज़ की इस पंक्ति से जुड़ती है—ऐ ग़मे-दिल क्या करूं, ऐ वहशते-दिल क्या करूं'. साहिर और आगे बढ़कर यह कहते हैं :

भूख और प्यास से पज़मुर्दा सियाह नामे-ज़मीं
तीरा-ओ-तार मकां, मुफ़लिसो-बीमार मकीं
नौए-इंसां में ये सरमाया-ओ-मेहनत का तज़ाद
अम्नो-तहज़ीब के पर्चम तले क़ौमों का फ़साद
हर तरफ़ आतिशो-आहन का ये सैलाबे-अज़ीम
नित नये तर्ज़ पे होती हुई दुनिया तक़सीम
लहलहाते हुए खेतों पे जवानी का समां
और दहक़ान के छप्पर में न बत्ती न धुआं

ये सभी क्यों है? ये क्या है? मुझे कुछ सोचने दो
कौन इंसां का ख़ुदा है? मुझे कुछ सोचने दे

देखिए सवाल यहां भी सवाल है, और मजाज़ के 'क्या करूं' के आगे का सवाल भी, जमाल (सौंदर्य) और जलाल (तेज) भी, जिसमें हल्के रोमान का दूर-दूर तक संबंध नहीं. क्या ये अश'आर महज़ नौजवानों के लिए हैं? या दुखी ज़ख़्म खाये हुए इंसानों के लिए हैं? 'ताजमहल' और 'चकले' में यही दुख ज़ाहिर हुआ है. अब मैं साहिर के कुछ और शे'र पेश कर रहा हूं जिनमें कई रंग मिलजुल गये हैं और उनमें कहीं कहीं तो ग़ैरमामूली संजीदगी, गहराई और फ़लसफ़ा-तराज़ी आ गयी है. कुछ शे'र देखिए :

इंसां उलट रहा है रुख़े-ज़ीस्त से नक़ाब
मज़हब के एहतिमामे-फ़ुसूं-परवरी की ख़ैर
हर एक हाथ में लेकर हज़ार आईने
हयात बंद दरीचों से भी गुज़र आयी
हर शय क़रीब आके कशिश अपनी खो गयी
वो भी इलाजे-शौक़े-गुरेज़ां न कर सके
अक़ाइद वहम हैं, मज़हब ख़याले-ख़ाम है साक़ी
अज़ल से ज़हने-इंसां बस्ता-ए-औहाम है साक़ी
हक़ीक़त-आश्नाई अस्ल में गुम-कर्दा-राही है
अरूसे-आगही परवरदा-ए-इबहाम है साक़ी

आप ग़ौर कीजिए कि जिस शख़्स और शायर में बचपन से ही अपने ख़ानदान, आराम और ज़मींदाराना हाव-भाव छोड़कर विद्यार्थी जीवन से ही दुख का सामना किया हो, उसी नौजवानी में वह महबूबा के बजाय आम इंसानों से कह रहा हो—'मेरे गीत तुम्हारे हैं!' आगे बढ़कर वह साफ़ तौर पर कह रहा हो:

वहां भेजा गया हूं चाक करने पर पर्दा-ए-शब को
जहां हर सुबह के दामन पे अक्से-शाम है साक़ी
मेरे साग़र में मय है और तिरे हाथों में बरबत है
वतन की सरज़मीं में भूक से कोहराम है साक़ी

और आगे बढ़कर वे 'चकले' और 'परछाइयां' जैसी लंबी नज़्म कहते हैं. जिसने पूरी ज़िंदगी संघर्ष किया हो, आम इंसानों, मज़दूरों के दर्द से अपने दिलो-दिमाग़ को जोड़े रखा हो, उसे किस तरह केवल नौजवानों का शायर कहा जा सकता है? दरअस्ल यह नयी रोमानियत का मुआमला था जहां 'तल्ख़ियां' और 'परछाइयां' एक दूसरे में डूब गयीं और परेशानियां निशात (ख़ुशी) की कलियां बन गयीं. तरक़्क़ीपसंद शायर यूं भी उम्मीद और ख़ुशी का शायर होता है और साहिर भी ऐसे ही हैं इसलिए इन तहदारियों और रोमानियत के नये पहलुओं को समझे बग़ैर एक साहिर क्या, पूरी तरक़्क़ीपसंद शायरी को समझना मुश्किल होगा. कैफ़ी आज़मी के इन जुमलों पर बात ख़त्म करता हूं :

> यह साहिर की फ़िक्र और फ़न का ख़ास अंदाज़ है. वे छोटे-छोटे तजुर्बों को इस ढंग से व्यवस्थित करते हैं कि ज़िंदगी के विभिन्न रूप, विभिन्न तक़ाज़े और विभिन्न प्रेरणा-स्रोत स्पष्ट हो जाते हैं. मुहब्बत उनके पास एक मेयार है जिस पर वे वर्तमान समाज, इसकी नैतिकता, शिष्टाचार, इसकी आचार-संहिता को परखते और उनका खोखलापन साबित करते रहते हैं.

और आगे लिखते हैं:

> साहिर ने अपनी शख़्सियत की सारी नर्मी, सारी पिघलाहट शायरी में भर दी है और शायरी का सारा जादू अपने ख़त्तो-ख़ाल में जज़्ब कर लिया है. आईने से आईना बनाने वाले का उभरना लतीफ़ा ही सही, लेकिन 'तल्ख़ियां' को पढ़िए तो उसके शायर की रूह बोलती दिखायी देगी, शायर से बातें कीजिए तो मालूम होगा कि आप उसकी नज़्में पढ़ रहे हैं.

मो. 9415306239
अनुवाद : अर्जुमंद आरा

जीवन और रचना-क्षितिज

ख़ालिद अशरफ़

अब्दुल-हई 'साहिर' लुधियानवी पंजाब के एक ज़मींदार की बारहवीं बीवी की पहली औलाद थे, फिर भी बाप की नफ़रत और उपहास का शिकार हुए. और ज़मींदार चौधरी फ़ज़ल मुहम्मद ने जब उनकी मां सरदार बेगम को भी दासी से अधिक अधिकार नहीं दिये तो उनके अंदर इस सामाजिक व्यवस्था से ही नफ़रत पैदा हो गयी जो एक तरफ़ बर्तानवी उपनिवेश को सियासी हिमायत दे रही थी तो दूसरी तरफ़ औरतों में किसी तरह के अधिकार की पात्रता नहीं देखती थी. चुनांचे सरदार बेगम अपने इकलौते बेटे को अपने नाममात्र के शौहर से दूर लेकर अपने भाई के ज़ेरे -साया चली गयीं. मियां-बीवी में साहिर पर अधिकार के सवाल पर मुक़द्दमाबाज़ी हुई और अदालत का फ़ैसला सरदार बेगम के हक़ में हुआ. ज़मींदार की कुछ जायदाद भी गुज़ारे के लिए हाथ आ गयी थी.

साहिर की पैदाइश 8 मार्च 1921 को हुई थी. 1936 में लुधियाना से हाई स्कूल पास करके गर्वनमेंट कॉलेज लुधियाना आ गये. यह साल कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ़ इंडिया के संगठन 'अंजुमन तरक़्क़ीपसंद मुसन्निफ़ीन' की नींव का साल था. पश्चिम में हिटलर और मुसोलिनी की अगुआई में फ़ासिज़्म फैल रहा था और हिंदुस्तान के अवाम बर्तानवी साम्राज्य की गुलामी, ग़रीबी, अंधविश्वास और जहालत से संघर्षरत थे. इस निरंतर क़यामत के मध्य में साहिर ने अपना रास्ता चुन लिया. यह रास्ता रोशन ख़याली, अम्न-पसंदी, सेक्युलरिज़्म और शोषण के विरोध का रास्ता था, जो तरक़्क़ी-पसंदी के बुनियादी उसूल थे.

साहिर शुरू में अल्लामा इक़बाल से प्रभावित थे और अपना तख़ल्लुस, यानी शायरी का नाम उन्होंने अल्लामा इक़बाल की पंक्ति—'सैकड़ों साहिर भी होंगे साहिबे-एजाज़ भी'—से लिया था. लेकिन इक़बाल की मज़हबी शायरी साहिर को ज़्यादा प्रभावित नहीं कर सकी, क्योंकि सारा हिंदुस्तान सोशलिज़्म और तरक़्क़ीपसंदी के प्रभाव में आ रहा था. भगत सिंह, सुखदेव, चंद्रशेखर आज़ाद, अशफ़ाक़ुल्लाह ख़ां, राजगुरु, अजय घोष, अविश पाल जैसे हीरो या तो फांसी पर लटक कर शहीद हो चुके थे, या जेलों में प्रताड़ना झेल रहे थे. हिंदुस्तान के गांवों, क़स्बों और शहरों में घर-घर में उनकी तस्वीरें सजी थीं और यह असंभव था कि साहिर लुधियानवी इन इंकलाबियों से प्रभावित न हों. चुनांचे उन्होंने एक आम सी सेक्युलर नज़्म कही :

कृष्ण की भेड़ें, राम की भेड़ें
बुद्ध मत और इस्लाम की भेड़ें
इनको अल्लाह वाली कह कर
वहदत[1] की मतवाली कह कर
जब जी चाहे मत पलटा दो
मत पलटा दो, भेंट चढ़ा दो

नज़्म अपने स्कूल टीचर को दिखायी तो उन्होंने मामूली कहकर रद्द कर दी. लेकिन साहिर को शायरी का ज़ायक़ा लग चुका था और यह शायरी पारंपरिक शायरी नहीं थी, विद्रोही और इंक़लाबी शायरी थी. साहिर के सामने जोश मलीहाबादी, मजाज़, फ़ैज़ की नज़्में और ग़ज़लें यक़ीनन मौजूद थीं. इसके अलावा पंजाब की उर्दू-दोस्त सरज़मीन पर हफ़ीज़ जालंधरी, नून मीम राशिद, अब्दुलमजीद भट्टी, क़य्यूम नज़र और अंजुम रूमानी भी शायरी कर रहे थे,

लेकिन अलग तरह की. और इन सब महारथियों के दरमियान साहिर को अपनी राह निकालनी थी. साहिर ने लुधियाना में 1937 में मैट्रिक पास कर लिया था और कॉलेज से निकाले जाने पर वे लाहौर चले गये थे. लाहौर जाकर यह नयी राह निकली कि लुधियाना के गर्वनमेंट कॉलेज में पहले यूनियन सेक्रेट्री चुने गये, फिर प्रेज़ीडेंट. यहां वे कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ़ इंडिया के छात्र संगठन स्टूडेंट्स फ़ेडरेशन से जुड़ गये और कॉलेज में ब्रिटिश विरोधी माहौल को और भड़का दिया. लाहौर सियासत, कल्चर, अदब, तहज़ीब, तालीम और रोशन ख़याली का गहवारा था, जिसका मुक़ाबला उत्तरी भारत में कहीं नहीं था. फ़ैज़ अहमद फ़ैज़, कृष्ण चंदर, राजिंदर सिंह बेदी, मुहम्मद दीन तासीर, नून मीम राशिद, मीराजी, गोपाल मित्तल और सूफ़ी ग़ुलाम मुस्तफ़ा नसीम लाहौर को चार चांद लगा रहे थे. ये अदीब और शायर अक्सर अरब होटल, नगीना बेकरी, इंडिया कॉफ़ी हाउस और मंज़िल होटल, या *अदबे-लतीफ़, सवेरा, पाकिस्तान टाइम्स, ज़मींदार, इंक़लाब और पैसा* अख़बार के दफ़्तरों में पाये जाते थे. साहिर भी स्थानीय ग्रुपों में शामिल हो गये. दाख़िला दयाल सिंह कॉलेज में था. लेकिन पढ़ाई की फ़ुर्सत कहां थी!

साहिर हर संवेदनशील नौजवान फ़नकार की तरह हुस्न और इश्क़ के नग़मे गाना चाहते थे. लेकिन विश्वयुद्ध, गुलामी, सांप्रदयिक दंगे, वैश्विक मंदी, और हिंदुस्तानी नौजवानों की बे-मक़्सद और भटकती ज़िंदगी हर तरक़्क़ीपसंद अदीब की तरह उनको भी रोज़मर्रा की कड़वी हक़ीक़तों को नज़्म में बयान करने पर मजबूर कर रही थी :

मुझे इंसानियत का दर्द भी बख़्शा है क़ुदरत ने
मिरा मक़सद फ़क़त शोला-नवाई[2] हो नहीं सकता

भूक और प्यास से पज़मुर्दा[3] सियह-फ़ाम[4] ज़मीं
तीरा-ओ-तार मकां[5], मुफ़लिसो-बीमार मकीं[6]

नौए-इंसां[7] में ये सरमाया-ओ-मेहनत का तज़ाद[8]
अम्नो-तहज़ीब के परचम तले क़ौमों का फ़साद

लहलहाते हुए खेतों पे जवानी का समां
और दहक़ान[9] के छप्पर में न बत्ती, न धुआं

ये फ़लक-बोस[10] मिलें दिलकशो-सीमीं[11] बाज़ार
ये ग़लाज़त[12] पे झपटते हुए भूखे नादार[13]

साहिर लाहौर में प्रतिरोधी लहजे के तरक़्क़ीपसंद शायर के तौर पर काफ़ी लोकप्रिय हो गये थे. फ़ैज़ भी तरक़्क़ीपसंद थे और उन दिनों दिल्ली में थे. वे साहिर से उम्र में दस बरस बड़े थे. उनका पहला काव्य संकलन *दस्ते-सबा* 1941 में शाय होकर दाद पा चुका था. लेकिन साहिर ने अपनी राह फ़ैज़ से हट कर निकाली थी. साहिर के यहां विचारधारा की धार और स्वर की बुलंदी और एक नौजवान आशिक़ की कटुता, उनको बेरोज़गारों और बाग़ी नौजवानों का हीरो बनाने के लिए काफ़ी थी. अहमद राही ने लिखा है कि अमृतसर एम.ए.ओ. कॉलेज के एक मुशायरे में साहिर ने नज़्म, 'ताजमहल' पढ़ी तो जैसे मुशायरा उनकी जेब में आ गया. दो तीन दिन तक कॉलेज के लड़के साहिर को दावतें देते रहे और उनकी शायरी को सराहते रहे.

फिर 1944 में *प्रीतलड़ी* वालों ने *तल्ख़ियां* का पहला एडीशन शाय किया तो मानो साहिर के लिए सारी राहें रोशन हो गयी थीं. साहिर को इतनी शोहरत मिल गयी कि वे लाहौर में तरक़्क़ी-पसंद पत्रिकाओं *अदबे-लतीफ़* और *सवेरा* के संपादक बनाये गये. गोपाल मित्तल ने काफ़ी द्वेषपूर्ण भाव के बावजूद स्वीकार किया है कि साहिर इन पत्रिकाओं से वेतन लेने के बजाय चौधरी नज़ीर और अपने शायर व अदीब दोस्तों को खिलाने-पिलाने पर ख़र्च

कर दिया करते और मैकलोड रोड पर स्थित कम्युनिस्ट पार्टी की बिल्डिंग में रहते थे.

साहिर और लाहौर के विषय में एक पत्रिका *प्रीतलड़ी* भी अहम थी जिसका ज़िक्र उर्दू में बमुश्किल मिलता है. *प्रीतलड़ी* अमरीका से शिक्षा ग्रहण करके आये पंजाबी लेखक, गुरबख्श सिंह (1895-1977) ने 1933 में जारी की थी. इसके चार सेक्शन उर्दू, पंजाबी, हिंदी और अंग्रेज़ी में होते थे. आजकल यह सिर्फ़ पंजाबी तक सीमित हो गयी है. गुरबख्श सिंह का बेटा शब्बी 1984 में ख़ालिस्तान तहरीक के दौरान जुनूनियों के हाथों क़त्ल हुआ था. *प्रीतलड़ी* विशेषत: पंजाब में रोशन ख़याली और आधुनिक पश्चिमी विचारों को फ़रोग़ देती थी. *प्रीतलड़ी* के अलावा गुरबख्श सिंह का एक और कारनामा लाहौर और अमृतसर के दरमियान 1938 में अदीबों और फ़नकारों के एक कम्यून 'प्रीत नगर' की स्थापना करना था जिससे बलराज साहनी, साहिर लुधियानवी, करतार सिंह दुग्गल, बलवंत गार्गी, नानक सिंह, चित्रकार शोभा सिंह, फ़ैज़ अहमद फ़ैज़, मोहन सिंह, प्रिंसिपल जोधा सिंह, प्रिंसिपल तेजा सिंह, मुल्कराज आनंद, उपेंद्रनाथ अश्क और अमृता प्रीतम इत्यादि किसी न किसी रूप में जुड़े रहे. गांधीजी और जवाहरलाल नहरू भी प्रीत नगर आते रहे थे. साहिर लुधियानवी कुछ समय के लिए *प्रीतलड़ी* के उर्दू सेक्शन के संपादक भी रहे. यह संस्था आज भी 'गुरबख्श सिंह नानक सिंह फ़ाउंडेशन' की निगरानी में साहित्य और कला के लिए काम कर रही है. अहमद राही के अनुसार उन दिनों मेयो गार्डन की एक कोठी में रहनेवाली अल्ट्रा माडर्न कहानीकार, अमृता प्रीतम से साहिर का फ़िफ्टी परसेंट इश्क़ चल रहा था.

1945 में सज्जाद ज़हीर वग़ैरह ने साहिर को तरक़्क़ीपसंद मुसन्निफ़ीन की हैदराबाद कांफ्रेंस में लेख पढ़ने के लिए बुलाया था, और वहां साहिर ने अपनी विचारधारा पर आधारित मज़मून पढ़ा. फिर वे बंबई फ़िल्म इंडस्ट्री में रोज़गार तलाश करने चले गये. साहिर की फ़िक्र के बारे में महत्वपूर्ण बात यह है कि उनकी ख़ालिस तरक़्क़ीपसंद नज़्में, जैसे 'ये किस का लहू है', 'ताजमहल', 'मादाम', 'अजनबी मुहाफ़िज़', 'नया सफ़र है पुराने चराग़ गुल कर दो' और 'बंगाल' इत्यादि वे रचनाएं हैं जिनमें प्रगतिशील विचारधारा अपनी पूरी ताक़त और गर्मी के साथ मौजूद है, जबकि अंजुमन तरक़्क़ीपसंद मुसन्निफ़ीन से उनकी बाक़ायदा वाबस्तगी इन नज़्मों के प्रकाशन के काफ़ी बाद 1945 में हुई थी. वह भी इस तरह कि साहिर को हैदराबाद कांफ्रेंस में इंकलाबी शायरी पर मक़ाला पढ़ने की दावत दी गयी थी.

साहिर की हैदराबाद कांफ्रेंस में शरीक होने का फ़ायदा यह हुआ कि वे बंबई के तरक़्क़ीपसंदों, सज्जाद ज़हीर, अली सरदार जाफ़री, जोश मलीहाबादी, साग़र निज़ामी, कैफ़ी आज़मी, नियाज़ हैदर, विश्वामित्र आदिल, कृष्ण चंदर, राजिंदर सिंह बेदी, ख़्वाजा अहमद अब्बास, उपेंद्रनाथ अश्क, क़ुदूस सहबाई, ख़दीजा मस्तूर, हाजरा मसरूर, महेंद्रनाथ, प्रेम धवन, इस्मत चुग़ताई, मजरूह सुलतानपुरी और बलराज साहनी वग़ैरह के संपर्क में आ गये. इन अदीबों की मौजूदगी की वजह यह थी कि फ़िल्म इंडस्ट्री में मुख्यत: उर्दू ही का वातावरण था, लेकिन दूसरी वजह यह थी कि कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ़ इंडिया और अंजुमन तरक़्क़ीपसंद मुसन्निफ़ीन ने अदीबों और शायरों को सरकारी संस्थाओं से दूर रहने की तलक़ीन की थी.

विभाजन के ज़माने में साहिर बंबई फ़िल्म इंडस्ट्री में बतौर नग़मा-निगार संघर्ष कर रहे थे, कृष्ण चंदर वग़ैरह उनकी मदद करते थे. तक़सीम से पहले ही पंजाब में भयानक सांप्रदायिक दंगे होने लगे और लुधियाना भी इस आग में जलने लगा. साहिर की वालिदा सरदार बेगम लुधियाना में थीं (साहिर के वालिद लायलपुर हिज्रत कर गये थे जहां 1964 में उनका निधन हुआ). साहिर की वालिदा किसी तरह मुहाजिर कैंप में पहुंचा दी गयीं जहां से अकेली लाहौर चली गयी थीं और वहां वे शोरिश कश्मीरी की पनाह में थीं. शोरिश तरक़्क़ीपसंदों से मारपीट करने वाला पत्रकार था, लेकिन अदीबों, शायरों की मदद भी किया करता था.

विभाजन तक साहिर तरक़्क़ीपसंद ऐक्टिविस्ट और शायर के तौर पर अपनी शनाख़्त बना चुके थे और तरक़्क़ीपसंद तहरीक के जलसे-जलूसों में हिस्सा भी लेने लगे थे. सितंबर 1947 से जून 1948 तक वे लाहौर में थे, वालिदा साथ थीं और ज़्यादातर समय अहमद राही और इब्ने-इंशा की सोहबतों में बसर होता था. अमृता प्रीतम के बंगले के चक्कर काटना और उनकी नज़्मों के उर्दू अनुवाद शाय करना साहिर का एक प्रिय काम था. अमृता प्रीतम

और साहिर का इश्क़ कुछ अफ़लातूनी क़िस्म का था और दोनों ही असुरक्षा की भावना से ग्रस्त थे.

साहिर अन्य तरक़्क़ीपसंदों की तरह आज़ादी को एक मरीचिका समझते थे. फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ ने भी आज़ादी को 'दाग़-दाग़ उजाला और शब-गज़ीदा सहर' क़रार दिया था. चुनांचे पुलिस साहिर की निगरानी करने लगी. उधर साहिर, मियां इफ़्तिख़ारुद्दीन की पत्रिका *इमरोज़* के संपादन की उम्मीद लगाये बैठे थे, क्योंकि मियां इफ़्तिख़ारुद्दीन ने अपने अख़बारी ग्रुप में विख्यात तरक़्क़ीपसंदों, फ़ैज़ अहमद फ़ैज़, मज़हर अली ख़ां और सिब्ते-हसन को मुलाज़मतें दी थीं. लेकिन जब उन्होंने *इमरोज़* के संपादन के लिए साहिर के बजाय चराग़ हसन हसरत को मुक़र्रर किया तो साहिर को नागवार गुज़रा. *सवेरा* के संपादक के तौर पर साहिर की तनख़्वाह मामूली थी. उधर मुंबई के तरक़्क़ीपसंद सहाफ़ी और अदीब ख़्वाजा अहमद अब्बास ने एक अख़बार में साहिर के नाम 'खुला ख़त' लिखा था, जिसमें उन्होंने साहिर को बंबई आने की दावत दी और कहा था कि पाकिस्तान में उनको उम्र भर हिंदुस्तानी ही समझा जायेगा, जब तक कि लुधियाना किसी तरह पाकिस्तान में शामिल न हो जाये.

लाहौर में *सवेरा* की सत्ता-विरोधी और तरक़्क़ीपसंद पालिसी के कारण साहिर और अहमद नदीम क़ासिमी के ख़िलाफ़ वारंट जारी हो गया था. चुनांचे साहिर रातों रात अपनी वालिदा को लेकर जून 1948 में दिल्ली आ गये और मछली के व्यापारी यूसुफ़ जामई की पत्रिका *शाहराह* का संपादन संभाल लिया. उनके दोस्त रामप्रकाश अश्क उनके नायब थे. डाक्टर मिर्ज़ा हामिद बेग के अनुसार साहिर कुछ समय के लिए लाहौर और पिशावर में रूपोश रहे थे.

दिल्ली में साहिर लगभग एक वर्ष रहे, लेकिन माक़ूल आमदनी का मसला बदस्तूर था. उन्होंने *शाहराह* में 'अदब के मेमार' शृंखला के तहत प्रसिद्ध तरक़्क़ीपसंद अदीबों पर लेख छापे जो ख़ूब लोकप्रिय हुए. लेकिन साहिर *शाहराह* के दो ही अंक निकाल सके.

दर असल बंबई के तरक़्क़ीपसंद अदीब और शायर साहिर को अपने हलक़े में शामिल करना चाहते थे. विशेषत: सज्जाद ज़हीर, सरदार जाफ़री, कैफ़ी आज़मी और कृष्ण चंदर उनकी शोहरत और विचारों की बिना पर साहिर को पसंद करने लगे थे. चुनांचे साहिर बंबई रवाना हो गये और चार-बंगला में कृष्ण चंदर के मकान में ठहरे. फ़िल्म इंडस्ट्री और मज़दूर बस्तियों में तरक़्क़ीपसंदी और साम्यवादी माहौल था ही. बंबई पहुंचते ही साहिर बायें बाज़ू के चुनाव प्रचार में शरीक हो गये. बंबई फ़िल्म इंडस्ट्री में साहिर को अपनी सलाहियतें दिखाने के मौक़े मिल गये, लेकिन काफ़ी संघर्ष के बाद. कृष्ण अदीब ने एक अप्रिय घटना का ज़िक्र किया है, जो इस कमज़ोर दौर में साहिर को बर्दाश्त करनी पड़ी थी:

> मशहूर फ़िल्म निर्माता शाहिद लतीफ़ ने साहिर के इस अंतरिम दौर में यहां तक कह दिया था कि 'साहिर साहिब, आपकी साहित्यिक योग्यताओं से हमें इनकार नहीं, लेकिन आपसे फ़िल्म के गाने लिखवाना एक बहुत बड़ा ख़तरा मोल लेने जैसा है. अगर आपके माली हालात ख़ुशगवार नहीं हैं तो आप बे-तकल्लुफ़ हमारे यहां दो वक़्त खाना खा सकते हैं. '
>
> आगे चल कर साहिर ने इन्ही शाहिद लतीफ़ की फ़िल्म *सोसाइटी* (1955) के गीत लिखे. चाहते तो वे भी इसी तरह का (अप्रिय) जवाब दे सकते थे. (डा. अनवर ज़हीर अंसारी, *साहिर लुधियानवी: हयात और कारनामे*, अलीगढ़, 2004, पृष्ठ 39)

लेकिन हर डायरेक्टर शाहिद लतीफ़ की तरह तुनक-मिज़ाज नहीं था. साहिर की लिखी हुई इब्तिदाई फ़िल्म बॉक्स ऑफ़िस पर नाकाम रही थी. उनके जिगरी दोस्त हमीद अख़्तर की यह फ़िल्म, *आज़ादी की राह पर* (1948) फ्लॉप हुई, हालांकि उसके नग़मे—'ये उजड़ी उजड़ी बस्तियां/ ये लूट की निशानियां/ वो अजनबी पे अजनबी के ज़ुल्म की कहानियां' और 'दिल फ़िदा करते हैं, क़ुर्बान जिगर करते हैं'—जो लता मंगेशकर और जे.एम. दुर्रानी की आवाज़ में थे, काफ़ी पसंद किये गये और साहिर की मार्किट बढ़ने लगी. उन पर एक वक़्त ऐसा भी गुज़रा था कि वे कृष्ण चंदर के मसौदे साफ़ करते थे, जो उन दिनों अपनी फ़िल्म, *सराय के बाहर* प्रोड्यूस और डाइरेक्ट कर रहे थे. इसके अतिरिक्त प्रेम धवन के लिए पांच रुपये प्रति गीत लिख कर घोस्ट राइटिंग भी किया करते थे. फ़िल्म *तराना* (1951)

का मशहूर नग़मा, 'सीने में सुलगते हैं अरमां' दर असल साहिर का लिखा हुआ था. फिर फ़िल्म *नौजवान* (1951) ने साहिर को फ़िल्म इंडस्ट्री में इस नग़मे से शोहरत दिलायी: 'ठंडी हवाएं लहरा के आयें' जो लता मंगेशकर ने गाया था. *नौजवान* के बाद साहिर को दूसरी बड़ी कामयाबी गुरुदत्त की फ़िल्म, *बाज़ी* के गीत 'तदबीर से बिगड़ी हुई तक़दीर बना ले' और 'आज की रात पिया मान जाओ' (गीतादत्त की आवाज़) मक़बूल हुए तो प्रोड्यूसर और डायरेक्टर साहिर को अपनी फ़िल्मों की कामयाबी की ज़मानत समझने लगे. अब साहिर, सचिन देव बर्मन और गीता दत्त का त्रिकोण बंबई की फ़िल्मों में सुप्रसिद्ध हो गया. यह टीम *जाल* (1952), *टैक्सी ड्राइवर* (1954), *मुनीम जी* (1954) और गुरु दत्त की फ़िल्म *प्यासा* (1957) तक फ़िल्म इंडस्ट्री पर छायी रही. *प्यासा* तो एक तरह से साहिर ही की फ़िल्म थी, जिसको अबरार अलवी ने लिखा था. ख़ुद फ़िल्म के डायरेक्टर और हीरो गुरु दत्त का हीरोइन वहीदा रहमान से प्रेम भी सबकी ज़बान पर था. फ़िल्म में साहिर के लिखे गये नग़मे सुपरहिट साबित हुए और साहिर की शोहरत, आमदनी और मिज़ाज भी आसमान को छूने लगे. लेकिन उन्होंने फ़िल्मों में हल्के फुल्के गीत बिल्कुल नहीं लिखे और अपने तरक़्क़ीपसंद नज़रिये को हमेशा प्राथमिकता दी. *प्यासा* में जानी वॉकर पर फ़िल्माया गया साहिर का एक नग़मा—'सर जो तिरा चकराये'—भी काफ़ी लोकप्रिय हुआ था, जिस पर साहिर का रंग नहीं था.

फ़िल्म *प्यासा* के नग़मों की मक़बूलियत के बाद साहिर भी अपने महत्त्व का प्रदर्शन करने लगे और प्रोडयूसरों से अपनी शर्तें मनवाने लगे थे. उनकी पहली शर्त यह थी कि वे नग़मे पहले लिखेंगे, धुन बाद में तैयार की जायेगी, जबकि फ़िल्म इंडस्ट्री में उलटा दस्तूर था कि धुन पहले तैयार होती थी जिस पर नग़मा-निगार को नग़मे लिखने की पाबंदी होती थी. साहिर ने इस दस्तूर को ठीक किया. इसके अलावा ऑल इंडिया रेडियो के विविध भारती स्टेशन पर बजाये जाने वाले फ़िल्मी गीतों के शायर का नाम अनाउंस नहीं किया जाता था. साहिर ने इस सिलसिले में तहरीक चलायी और इस कोताही को दुरुस्त कराया.

दर असल फ़िल्म इंडस्ट्री में संगीतकार को ज़्यादा अहमियत दी जाती थी और सचिन देव बर्मन को लेने के लिए प्रोड्यूसर सिफ़ारिशें कराते थे. साहिर एक लोकप्रिय फ़नकार होने के कारण संगीत की तुलना में अपनी शायरी को अहम समझते थे, और एक दिन इसी बुनियाद पर बर्मन दादा से उनका रिश्ता टूट गया. इब्राहीम जलीस ने एक घटना का ज़िक्र किया है :

> जब फ़िल्म *बाज़ी* के सारे गीत बक़ौल फ़िल्मवालों के 'हिट' हो गये तो एक दावत में साहिर और बर्मन में चोंचें लड़ गयीं. बर्मन ने साहिर से कहा, 'क्या हैं तुम्हारे गीत? दर असल मेरी तरज़ें हैं, जिनकी वजह से गाने लोकप्रिय हुए. साहिर ने उसी वक़्त प्रण लिया कि वे किसी मशहूर म्यूज़िक डायरेक्टर के लिए गीत नहीं लिखेंगे और फ़िल्मी दुनिया को यह बता देंगे कि शायर म्यूज़िक डायरेक्टर से कहीं बड़ा होता है.
>
> (मख़मूर सईदी, *साहिर लुधियानवी—एक मुताला*, दिल्ली, 1981, पृष्ठ 67)

इस घटना के बाद साहिर ने ख़ुद से सीनियर संगीतकारों, सचिन देव बर्मन, नौशाद, सी रामचंद्र और शंकर जयकिशन के साथ काम नहीं किया और जूनियर संगीतकारों ख़य्याम, जयदेव, रोशन और रवि वग़ैरह को काम दिलवाया. फिर भी उनकी शोहरत और लोकप्रियता में इज़ाफ़ा ही होता रहा. मसलन, पी.एल. संतोषी जैसे मामूली डायरेक्टर की फ़िल्म *बरसात की रात* (1960) सिर्फ़ साहिर के नग़मों और क़व्वाली 'ये इश्क़ इश्क़ है इश्क़ इश्क़' की बिना पर आज तक मशहूर है. इसके संगीतकार रोशन नये नये थे.

इस फ़िल्म में सुधा मल्होत्रा को भी साहिर की सिफ़ारिश पर लिया गया था जिनसे उनका इश्क़िया रिश्ता था. सुधा आजकल बंबई में रहती हैं. उस ज़माने की फ़िल्मी पत्रिकाओं में दोनों के बेनाम रिश्ते के बड़े चर्चे रहे और सुधा पर अक्सर इल्ज़ाम लगाया गया कि उसने साहिर के साथ बेवफ़ाई करके बिज़नेसमैन गिरधर मोतवानी से शादी कर ली. सुना यह भी गया कि एक महफ़िल में साहिर ने सुधा की मौजूदगी में अपनी यह नज़्म पढ़ कर सुनायी थी :

चलो इक बार फिर से अजनबी बन जायें हम दोनों

साहिर ने यह नज़्म, 'ख़ूबसूरत मोड़', बी.आर.चोपड़ा की फ़िल्म *गुमराह* (1963) में शामिल की थी. दर असल सुधा मल्होत्रा और साहिर की नज़दीकी लता मंगेशकर और साहिर के दरमियान टकराव के बाद पैदा हुई थी. लता

सचिन देव बर्मन और नौशाद की तरह साहिर से सीनियर थीं और उनके गाये हुए नग़मे भी फ़िल्म की कामयाबी की ज़मानत समझे जाते थे. लता ने साहिर के लिखे हुए कई नग़मे, जैसे 'ठंडी हवाएं लहरा के आयें' (फ़िल्म *नौजवान*), 'जायें तो जायें कहां' (*टैक्सी ड्राइवर*) 'सजन बिन नींद न आये' (*मुनीम जी*) वग़ैरह गाये थे, लेकिन साहिर गीतादत्त को तर्जीह देने लगे थे. एक ज़माने में साहिर और लता नज़दीक भी आ गये थे और साहिर ने एक नज़्म 'तेरी आवाज़' लता मंगेशकर के नाम की थी जो प्रकाश पंडित की पत्रिका *फ़नकार* (दिल्ली) में शाय हुई थी.

अब तिरा प्यार सतायेगा तो मेरी हस्ती
तेरी मस्ती भरी आवाज़ में ढल जायेगी
और ये रूह जो तेरे लिए बेचैन सी है
गीत बन कर तिरे होंटों पे मचल जायेगी

(*कुल्लियाते-साहिर*, दिल्ली, 2014, पृ. 149)

लेकिन एक दिन लता से भी साहिर का रोज़ बढ़ता अहंकार टकरा ही गया. साहिर के जिगरी दोस्त प्रकाश पंडित ने इस टकराव का वाक़िया इब्राहीम जलीस को बताया था :

> हर शायर की यह तमन्ना होती है कि उसका गीत लता मंगेशकर गाये. साहिर की भी इब्तिदा में यही ख़्वाहिश थी और लता ने साहिर के अनेक गाने बड़े शौक़ और अक़ीदत के साथ गाये. लेकिन एक दिन किसी फ़िल्म निर्माता ने साहिर और लता की मौजूदगी में साहिर से कहा, 'साहिर साहिब, अगर लता की आवाज़ न हो तो आपके गीत भी बेजान हैं.' साहिर एक ख़ुद्दार और अदबी शायर. उसे ताव आ गया और उसने लता मंगेशकर और इस फ़िल्म निर्माता के सामने यह हलफ़ उठाया कि 'जब तक मैं यह साबित न कर दिखाऊंगा कि अच्छी अदबी शायरी लता मंगेशकर की आवाज़ की मुहताज नहीं है, लता मंगेशकर मेरा एक गीत भी नहीं गायेगी. ' चुनांचे इसके बाद साहिर का जिस फ़िल्म कंपनी से क़रार होता तो वह पहली शर्त यह रखता— 'मेरा कोई भी गीत लता मंगेशकर नहीं गायेगी. '
>
> ज़ाहिर है कि कोई फ़िल्मसाज़ लता मंगेशकर को नज़रअंदाज करने का ख़तरा मोल नहीं ले सकता था, वह साहिर लुधियानवी को तो टका सा जवाब दे सकता था. मगर साहिर लुधियानवी ने हिम्मत न हारी और पूरे दो साल तक उसका कोई गीत लता मंगेशकर ने न गाया. इसके बावजूद साहिर के गीत सुधा मल्होत्रा जैसी गुमनाम गानेवाली की आवाज़ में उन्ही ऊंचाइयों में गूंजते रहे जहां तक सिर्फ़ लता मंगेशकर की आवाज़ पहुंच सकती थी.
>
> (मख़मूर सईदी, *साहिर लुधियानवी—एक मुताला*, दिल्ली, 1981, पृ. 70)

दर असल लता मंगेशकर (जन्म 1929) उम्र में साहिर से आठ साल छोटी हैं, लेकिन फ़िल्म इंडस्ट्री में बचपन से काम करने की बिना पर साहिर से सीनियर थीं. साहिर का मिज़ाज तल्ख़ और आक्रामक हो गया था, जबकि लता सदैव नर्म मिज़ाज रहीं. बहरहाल, लता मंगेशकर से उनका टकराव ज़्यादा अर्से तक नहीं रहा. वे अपनी ज़िद के तहत अपने नग़मों की रॉयल्टी लता से एक रुपया ज़्यादा लेने लगे और दो बरस बाद दोनों फिर एक साथ काम करने लगे. 1960 में साहिर फ़िल्म राइटर्स एसोसीएशन के अध्यक्ष चुने गये तो उनकी लोकप्रियता और रुत्बा और बढ़ गये. अब वे बहुत कमाते थे और दिल खोल कर ख़र्च करते थे. अपने लुधियाना के दोस्त रामप्रकाश अश्क का कैंसर का इलाज इन्होंने अमरीका में कराया, हालांकि सब जानते थे कि यह रोग लाइलाज है.

जब साहिर की आर्थिक दशा अच्छी हो गयी तो उन्होंने फ़िल्म इंडस्ट्री की बिरादराना परंपरा के तहत जांनिसार अख़्तर, प्रकाश पंडित, निदा फ़ाज़ली, साबिर दत्त और जावेद अख़्तर वग़ैरह की सरपरस्ती की. इससे पहले जब मजरूह सुलतानपुरी जेल में थे, साहिर ने उनके परिवार की भी मदद की थी. साहिर की शोहरत बढ़ी तो उनका कलाम भी बार बार शाय होने लगा. उनका पहला संग्रह *तल्ख़ियां* तो हिंदुस्तान और पाकिस्तान की विभिन्न भाषाओं में पचासों बार शाय हुआ और इसका ख़्वाजा अहमद अब्बास ने अंग्रेज़ी में तर्जुमा भी किया था. इसके अलावा फ़िल्म *प्यासा* को अंग्रेज़ी में डब किया गया था. साहिर फ़िल्मों में कामयाबी हासिल करते रहे लेकिन

उन्होंने अपनी नज़रियाती शायरी से कभी किनारा नहीं किया और हिंदी फ़िल्मों को बेहतरीन नग़मे दिये.

कुछ आलोचक साहिर को सिर्फ़ इस इल्ज़ाम की बिना पर नज़रअंदाज़ करते आये हैं कि उनकी शायरी में तरक़्क़ीपसंदी के राजनीतिक दृष्टिकोण के ऊंचे स्वर के अलावा कोई रचनात्मक नफ़ासत नहीं है. इस बारे में मुख्य बिंदु यह है कि साहिर और अन्य तरक़्क़ीपसंद शायरों और अदीबों का ज़माना तेज़ रफ़्तार बदलाव का ज़माना था. और एक संवेदनशील अदीब के तौर पर यह मुमकिन नहीं था कि साहिर इन परिवर्तनों से असंबद्ध रहते. उन्होंने फ़िल्मों में आशिक़ाना और दर्द-अंगेज़ नग़मे लिखे जो फ़िल्म के मीडियम और थीम की ज़रूरत और ख़ुद साहिर के जवां जज़्बात के पूरक थे (फ़िल्म इंडस्ट्री में साहिर के दाख़िले के वक़्त उनकी उम्र पच्चीस बरस से ज़्यादा नहीं थी). लेकिन साहिर के समय में अनेक चीज़ें घटित हो रही थीं, जिनकी तफ़सील निम्न है : ताशकंद में कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना, ख़िलाफ़त तहरीक, सांप्रदायिक दंगे, इंक़लाबी आंदोलन और भगत सिंह, वग़ैरह की फांसी, कांग्रेस की उदारवादी या मध्यमार्गी पॉलिसी, मुस्लिम लीग, आर्य समाज और हिंदू महासभा की सांप्रदायिकता, दूसरा विश्वयुद्ध, भारत छोड़ो आंदोलन, बंगाल का अकाल, पाकिस्तान की क़रारदाद, जहाज़ियों की बग़ावत, तक़सीम, हिज्रत और फ़सादात, तेलंगाना का किसान आंदोलन, चीन की क्रांति, सोशलिस्ट बलॉक और पश्चिमी देशों के दरमियान शीत युद्ध,

साहिर के दो संग्रह *तल्ख़ियां* (1944) और *आओ कि कोई ख़्वाब बुनें* (1971) के अलावा उनकी लंबी नज़्म परछाइयां' (1955) और फ़िल्मी नग़मों का संग्रह *गाता जाये बंजारा* 1958 में शाय हो चुका था. प्रो. अनवर ज़हीर अंसारी के अनुसार

> *आओ कि कोई ख़्वाब बुनें* के बाद के तक़रीबन दस साल का कलाम साबिर दत्त ने *फ़न-ओ-शख़्सियत: साहिर लुधियानवी* (सितंबर 1985) में शाय कर दिया था. ये नज़्में हैं: 'आज का प्यार थोड़ा सा बचा कर रखो', 'मसीह पाक रूह थे', 'कृष्ण फिर आयेंगे', 'प्यार का तोहफ़ा', 'इक दिया और बुझा', 'मरघट की सरज़मीन', 'आज़ाद वतन देख ज़रा', 'मैं हर इक पल का शायर हूं'. उनके अलावा साहिर की दो नज़्में 'शिकस्ते-ज़िंदां' (द्विमासिक *शाहराह* दिल्ली) और 'मां' (*फ़िक्र-ओ-फ़न* बंबई) भी प्रारंभिक दौर में शाय हुई थीं और किसी संग्रह में शामिल नहीं हैं. इन नज़्मों के अलावा साहिर ने चंद कहानियां भी लिखी थीं और बाद में कुछ आलोचनात्मक लेख भी. मसलन 'तरक़्क़ीपसंद सत्यार्थी', 'महेंद्रनाथ', 'मायाकोव्सकी: जदीद रूस का अवामी शायर' भी तहरीर किये थे, जिनकी तलाश और प्रकाशन की ज़रूरत है.
>
> (प्रो. अनवर ज़हीर अंसारी, *साहिर लुधियानवी: हयात और कारनामे*, अलीगढ़ 2004, पृ. 36)

बंबई फ़िल्म इंडस्ट्री में क़दम जमाने से पहले और बाद में भी, साहिर ने अपने सिद्धांतों और विचारधारा से कभी कोई समझौता नहीं किया. उन्होंने बचपन ही से अपने जागीरदार बाप के अत्याचारी रवैयों के हाथों कष्ट उठाया था और अपनी मां को उसकी ज़्यादतियों का शिकार होते देखा था. सरदार बेगम ने अपनी उम्र के कोई पचास बरस तन्हाई और पुरुष प्रधान समाज की दी हुई विवशता में गुज़ारे और अपने इकलौते बेटे की जान की हिफ़ाज़त का भी इंतज़ाम किया था. इसलिए साहिर के मिज़ाज में स्थायी तौर पर भय और कड़वाहट भर गयी थी. फ़िल्म *प्यासा* की कामयाबी के बाद वे नौशाद और लता मंगेशकर के मुक़ाबले में एक रुपया अधिक लेने लगे थे. जयदेव, लक्ष्मीकांत-प्यारे लाल और रवि जैसे नये संगीतकारों को शामिल करने के लिए प्रोड्यूसरों को मजबूर करने लगे थे, और सुधा मल्होत्रा जैसी औसत दर्जे की गायिका को लता मंगेशकर का विकल्प बनाने की कोशिश करते रहे थे. इन सब बातों की आशा किसी तरक़्क़ीपसंद अदीब से नहीं की जा सकती थी, लेकिन उनके बचपन की महरूमियां और उनकी ख़ौफ़ज़दा ज़िंदगी उनके आड़े आती रही.

साहिर का सबसे बड़ा और ऐतिहासिक कारनामा उनका इंसान-दोस्त और सामराज-दुश्मन नज़रिया है जिस पर वे आख़िरी सांस तक क़ायम रहे. अपने नग़मों और नज़्मों में दौलत और दौलतमंदों को नापसंदीदा क़रार देनेवाला यह इंक़लाबी शायर हक़ीक़ी ज़िंदगी में भी इसी दौलत विरोधी राह पर चलता रहा और निजी योग्यता से कमायी हुई दौलत को अज़ीज़ों, दोस्तों पर लुटाता रहा.

साहिर की ज़िंदगी और शायरी, दोनों में औरत को निहायत अहम जगह हासिल है. संयोग से उनकी पैदाइश महिला दिवस पर हुई थी और बचपन ही से साहिर ने घर में अपने मां बाप के दरमियान मुक़द्दमाबाज़ी और अंतत: दोनों का अलग होना देखा था. इन घटनाओं ने साहिर पर बहुत प्रभाव डाला और उनके सियासी और अदबी विचारों को भी मुतास्सिर किया जिससे उनकी ग़ज़लों और नज़्मों में एक महिला-समर्थक रंग वजूद में आया. यह नारीवादी लहजा उनकी शायरी और फ़िल्मी नग़मों में सदा क़ायम रहा. साहिर ने अपने घर में और अपने अतराफ़ में औरतों को सामान्यत: मर्दाना वर्चस्व और आर्थिक तंगी का शिकार देखा था. उन्होंने फ़िल्म इंडस्ट्री में भी अदाकाराओं का शोषण देखा होगा. इन सब घटनाओं और अवलोकन को साहिर ने बहुत प्रभावी और स्पष्ट तौर पर लिखा. कुछ नज़्में साहिर के कलाम और फ़िल्मी नग़मों से :

कहां तक कोई ज़िंदा हक़ीक़तों से बचे
कहां तक करे छुप-छुप के नग़मा-पैराई
वो देख सामने के पुर-शिकोह ऐवां[14] से
किसी किराये की लड़की की चीख़ टकरायी
...
ये कूचे ये नीलाम घर दिलकशी के
ये लुटते हुए कारवां ज़िंदगी के
कहां हैं कहां हैं मुहाफ़िज़ ख़ुदी के
सना-ख़्वाने-तक़्दीसे-मशरिक़[15] कहां हैं
...
जेब में नुक़रई[16] सिक्कों की खनक
भूखे दहक़ानों[17] के माथे का अरक़[18]
रात को जिसके इवज़ बिकता है
किसी अफ़्लास की मारी का तक़हुस[19], यानी
किसी दोशीज़ा-ए-मजबूर[20] की इस्मत[21] का गुरुर
...
उस शाम मुझे मालूम हुआ जब बाप की खेती छिन जाये
ममता के सुनहरे ख़्वाबों की अनमोल निशानी बिकती है
उस शाम मुझे मालूम हुआ जब भाई जंग में काम आयें
सरमाये के क़हबा-ख़ाने[22] में बहनों की जवानी बिकती है
...
लोग औरत को फ़क़त जिस्म समझ लेते हैं
रूह भी होती है उसमें ये कहां सोचते हैं
...
जवानी भटकती है बदकार बन कर
जवां जिस्म सजते हैं बाज़ार बन कर
यहां प्यार होता है व्यापार बन कर
ये दुनिया अगर मिल भी जाये तो क्या है
...
संसार की हर इक बेशर्मी ग़ुर्बत[23] की गोद में पलती है
चकलों ही में आकर रुकती है, फ़ाक़ों से जो राह निकलती है
मर्दों की हवस है जो अक्सर औरत के पाप में ढलती है
औरत ने जनम दिया मर्दों को, मर्दों ने उसे बाज़ार दिया

साहिर ने फ़िल्मी नग़मा-निगारी को अपना रोज़गार बनाया, लेकिन वे मजरूह सुलतानपुरी की तरह फ़िल्मी रोज़गार में ग़र्क़ नहीं हुए. अपने गिर्दो-पेश से पूरी तरह बाख़बर और रचनात्मक स्तर पर ज़िंदा और सशक्त रहे. वे अंतरराष्ट्रीय और राष्ट्रीय सियासी बदलावों की चेतना तो रखते ही थे, साथ ही हिंदुस्तान की धरती की मज़हबी संस्कृति और इंसानी रिश्तों की नज़ाकत से भी अपनी कला का संबंध बरक़रार रखते थे. चुनांचे उन्होंने हिंदी शब्दावली में भजन 'तोरा मन दर्पण कहलाये', 'ईश्वर अल्लाह तेरो नाम', 'भगवान के घर देर है अंधेर नहीं है' लिखे और बच्चों के गीत भी. जैसे, 'बच्चे मन के सच्चे', 'तू मेरे साथ रहेगा ऐ मेरे नन्हे गुलफ़ाम', 'तेरे बचपन को जवानी की दुआ देती हूं', और हबीब पेंटर की नसीहत से ज़्यादा लोकप्रिय रुख़्सती का नग़मा भी लिखा—'बाबुल की दुआएं लेती जा'.

जहां तक राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय सियासी घटनाओं का सवाल है, 1943 में जब बंगाल में अकाल पड़ा, जिसमें अंग्रेज़ हुकूमत की ज़ालिमाना पॉलिसी के कारण लाखों इंसान बाज़ारों और फ़ुटपाथों पर तड़प-तड़प कर मरे, जिस पर कृष्ण चंदर ने 'अन्नदाता' जैसा दिल दहलाने वाला अफ़साना लिखा और ख़्वाजा अहमद अब्बास ने *धरती के लाल* जैसी दर्दनाक फ़िल्म बनायी, तो साहिर ने भी एक नज़्म 'बंगाल' के शीर्षक से रची. 1969 में जब गांधी सदी के दौरान अहमदाबाद में भयानक सांप्रदायिक दंगे कराये गये और जब उसी वर्ष ग़ालिब शताब्दी के जश्न मनाये गये तो साहिर का ज़मीर ख़ामोश न रह सका :

जिस अहदे-सियासत ने ये ज़िंदा ज़बां कुचली
उस अहदे-सियासत को मरहूमों का ग़म क्यों है?
ग़ालिब जिसे कहते हैं उर्दू ही का शायर था
उर्दू पे सितम ढाके ग़ालिब पे करम क्यों है?

जनवरी 1961 में जब अमरीकी साज़िश से कांगो के सोशलिस्ट रहनुमा पैट्रिक लुमुम्बा को शहीद किया गया तो जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि एक शहीद लुमुम्बा एक ज़िंदा लुमुम्बा से कहीं ज़्यादा ताक़तवर होता है. साहिर ने लुमुम्बा के क़त्ल पर नज़्म '*ख़ून फिर ख़ून है*' कही थी :

ज़ुल्म फिर ज़ुल्म है, बढ़ता है तो मिट जाता है
ख़ून फिर ख़ून है, टपकेगा तो जम जायेगा
तुमने जिस ख़ून को मक़तल[24] में दबाना चाहा
आज वो कूचा-ओ-बाज़ार में आ निकला है
कहीं शोला, कहीं नारा, कहीं पत्थर बन कर
ख़ून चलता है तो रुकता नहीं संगीनों से
सर उठाता है तो दबता नहीं आईनों से

दूसरे विश्वयुद्ध के बाद पश्चिमी ब्लॉक और सोवियत यूनियन के दरमियान जो शीत युद्ध चल रहा था, हिंदुस्तान और हिंदुस्तान के पड़ोसी देश उससे बचे नहीं थे. इसी शीत युद्ध का हिस्सा अमरीका और सोवियत यूनियन रूस की अंतरिक्ष प्रोग्राम में लगी होड़ भी थी. प्रतियोगिता के माहौल में सोवियत रूस ने अक्तूबर 1957 में दुनिया का पहला अंतरिक्षयान स्पूतनिक प्रथम छोड़ा जिसने ज़मीन के चारों तरफ़ तीन हफ़्ते तक चक्कर लगाया था, उसके बाद अप्रैल 1961 में दुनिया के पहले रूसी अंतरिक्षयात्री यूरी गागरिन ने अपने यान में अंतरिक्ष में 108 मिनट गुज़ार कर दुनिया को हैरत में डाल दिया. अमरीकी अंतरिक्षयात्री इसके एक माह बाद ही अंतरिक्ष में जा सके, जिसे दोनों मुल्कों की अंतरिक्ष दौड़ में एक तरह की हार माना गया. साहिर ने सोवियत यूनियन के इस प्रथम स्थान को सोशलिस्ट व्यवस्था की जीत बताते हुए इस कामयाबी पर एक नज़्म 'मिरे अह्द के हसीनो!' कही थी.

साहिर ने 1946 की जहाज़ियों की बग़ावत पर भी नज़्म कही, छब्बीस जनवरी के जश्न पर भी, गांधी सदी पर भी, अपने स्कूल गर्वनमेंट कॉलेज लुधियाना की गोल्डन जुबली के मौक़े पर भी, और लता मंगेशकर की फ़नकारी

पर भी—क्योंकि वे एक सचेत और हस्सास फ़नकार थे. साहिर ने फ़िल्मों में और फ़िल्मों के अलावा जो भी नग़मे, नज़्में और ग़ज़लें कहीं, वे उनको अपने दौर के किसी भी तरक़्क़ीपसंद या ग़ैर-तरक़्क़ीपसंद शायर के बराबर रखने के लिए काफ़ी हैं और उनकी कई नज़्में ऐसी हैं जिनको न सिर्फ़ तरक़्क़ीपसंद शायरी के शाहकार, बल्कि उर्दू शायरी के शाहकारों की श्रेणी में शामिल किया जाना चाहिए. इन रचनाओं में सब से नुमायां स्थान साहिर की लंबी नज़्म 'परछाइयां' (1955) को हासिल है. इस नज़्म पर गुफ़्तगू ही साहिर की कला और सियासी नज़रियात को समझने के लिए काफ़ी है. दर असल सोवियत यूनियन और अमरीकी ब्लॉक के दरमियान जारी शीत युद्ध इस नज़्म की पृष्ठभूमि है. शीत युद्ध का नज़रियाती टकराव तो दूसरे विश्वयुद्ध के बाद ही शुरू हो गया था. पश्चिमी देशों में एटमी हथियारों की प्रोडक्शन ने इस रस्साकशी में इज़ाफ़ा किया और शीत युद्ध, साम्यवाद बनाम पूंजीवाद का नज़रियाती युद्ध बन गया, जो 1955 में सोवियत ब्लॉक के टूटने तक जारी रहा और कई दफ़ा तीसरे विश्वयुद्ध के ख़तरात पैदा हो गये थे. इसी परिप्रेक्ष्य में विश्व शांति परिषद बनायी गयी.

विश्व शांति आंदोलन के रिश्ते सोवियत रूस की सरपरस्ती में क़ायम संगठन कॉमिन्फ़ॉर्म (Cominform) से मिलते हैं, जिसकी पहल पर 1948 में फ़िनलैंड में विश्व शांति परिषद (WPC) क़ायम हुई थी, मार्च 1950 में कौंसिल ने एटमी हथियारों के ख़िलाफ़ करोड़ों लोगों के दस्तख़तों के साथ 'स्टाकहोम अपील' जारी की थी.

इस कौंसिल के उद्देश्यों के प्रचार-प्रसार के लिए 1951 में हिंदुस्तान में डाक्टर सैफ़ुद्दीन किचलू, पंडित सुंदरलाल, अजय घोष, डी डी कोशांबी, ए के गोपालन, पृथ्वीराज कपूर, ख़्वाजा अहमद अब्बास, बलराज साहनी, कृष्ण चंदर, राजिंदर सिंह बेदी और गुरबख़्श सिंह (*प्रीतलड़ी*) वग़ैरह ने AIPSO (आल इंडिया पीस एंड सोलिडेरीटी आर्गेनाइज़ेशन) की स्थापना की, जो अमरीकी अतिक्रमण और फ़िरकापरस्ती के ख़िलाफ़ काम करती रही. जवाब में इस संगठन के ख़िलाफ़ अमरीकी सरपरस्ती में The Congress for Cultural Freedom का दिखावा रचा गया.

फिर महान वैज्ञानिक अल्बर्ट आइंस्टाइन और दार्शनिक लेखक बर्ट्रेंड रसेल ने जुलाई 1955 में *Russell-Einstein Manifesto* के शीर्षक से एक दस्तावेज़ तैयार किया, जो सामूहिक विनाश के हथियारों द्वारा विश्व शांति के लिए पैदा ख़तरों पर केंद्रित था. इस मुहिम के तहत, बहुत सी अमन कांफ्रेंसें यूरोप में हुईं. जवाहरलाल नेहरू 1957 में पहली अमन कांफ्रेंस आयोजित करना चाहते थे, लेकिन किसी कारण से यह मुमकिन न हो सका.

ऑल इंडिया अमन कौंसिल (AIPSO) ने विश्व शांति का घोषणापत्र जारी किया था, जिस पर दस लाख से ज़्यादा अदीबों, फ़नकारों, वैज्ञानिकों, शायरों और आम अम्नपसंद हिंदुस्तानी शहरियों के दस्तख़त थे. इस घोषणापत्र पर साहिर ने भी दस्तख़त किये थे.

इसी सिलसिले में साहिर ने अपनी लंबी युद्ध विरोधी नज़्म 'परछाइयां' कही थी और इसको 1955 में पुस्तिका के रूप में शाय किया था. साहिर ने इसके आमुख में लिखा था : 'इस वक़्त सारी दुनिया में अमन और तहज़ीब की सुरक्षा के लिए जो तहरीक चल रही है, यह नज़्म उसका एक हिस्सा है. मैं समझता हूं कि हर नौजवान नस्ल को यह कोशिश करनी चाहिए कि उसे जो दुनिया अपने बुज़ुर्गों से विरसे में मिली है, वह आइंदा नस्लों को इससे बेहतर और ख़ूबसूरत दुनिया देकर जाये. ' (*कुल्लियाते-साहिर*, दिल्ली, 2014, पृ. 164)

'परछाइयां'184 मिसरों पर आधारित उर्दू की चंद लंबी नज़्मों में से एक है. इसमें कैफ़ियत या मूड के अनुसार दो छंद-योजनाओं का इस्तेमाल किया गया है और 'नज़्मे-मुअर्रा' (ब्लैंक वर्स) के साथ 'मुस्तज़ाद' (मिसरे में एक टुकड़ा और बढ़ाकर कही हुई नज़्म) का तजर्बा भी किया गया है.

साहिर की यह नज़्म एक दिली वारदात से शुरू होती है और सामूहिक ट्रेजडी बनकर ख़त्म होती है. यह हिंदुस्तान की गुलामी के पसमंज़र में लिखी गयी है, जब दूसरे विश्वयुद्ध में हिंदुस्तानी जवानों को अंग्रेज़ों ने ज़बरदस्ती ऐसे युद्ध में बतौर ईंधन इस्तेमाल किया था जिसका हिंदुस्तान से कोई संबंध नहीं था. इस पर यह कि दूसरे विश्वयुद्ध के ख़त्म होते ही कल के सहयोगी आज के दुश्मनों के रूप में शीत युद्ध में व्यस्त हो गये और एटमी और पारंपरिक हथियारों का कारोबार तेज़ी से उन्नति करने लगा. शीत युद्ध में सोशलिस्ट देशों और पश्चिमी ब्लॉक

के दरमियान कशीदगी इतनी बढ़ने लगी कि कई दफ़ा तीसरी जंग के ख़तरे इंसानियत के सर पर मंडलाने लगे. इन्हीं ख़तरों के आधार पर पश्चिमी दुनिया के बहुत से नोबेल इनाम पानेवाले वैज्ञानिकों और अदीबों ने विश्व शांति की स्थापना की और हथियारों के विरोध में मुहिम शुरू की थी और साहिर लुधियानवी वग़ैरह तरक़्क़ीपसंदों ने इस मुहिम में विचार-अभिव्यक्ति और कला के स्तर पर शिरकत की. नज़्म दो नौजवान दिलों की पहली मुलाक़ात से शुरू होती है:

यही फ़ज़ा थी, यही रुत, यही ज़माना था
यहीं से हमने मुहब्बत की इब्तिदा की थी
धड़कते दिल से लरज़ती हुई निगाहों से
हुज़ूरे-ग़ैब में नन्ही सी इल्तिजा की थी
कि आरज़ू के कंवल खिल के फूल हो जायें
दिलो-नज़र की दुआयें क़बूल हो जायें

आशिक़ और महबूब की मुहब्बत परवान चढ़ने लगती है लेकिन उनके दरमियान एक ऐसी जंग आ जाती है जो उनके खेतों और घरों से हज़ारों मील दूर कहीं लड़ी जा रही थी:

इंसान की क़ीमत गिरने लगी, अजनास के भाव चढ़ने लगे
बस्ती के सजीले शोख़ जवां, बन-बन के सिपाही जाने लगे
जिस राह से कम ही लौट सके, उस राह पे राही जाने लगे

यह उस जंग की शुरुआत है जो कहीं दूर लड़ी जा रही थी लेकिन जब गांवों के जवानों की जबरी भर्ती होने लगी तो यह बिल्कुल नज़दीक नज़र आने लगी थी. आहिस्ता-आहिस्ता हिंदुस्तान के गांव वीरान होने लगे, खेतियां उजड़ने लगीं और माओं से उनके बेटे और युवतियों से उनके आशिक़ छीन लिये गये. फिर जब सारी दौलत, हुकूमती और इंसानी संसाधन जंग की भेंट चढ़ने लगे तो बेरोज़गारी, जिस्मफ़रोशी और भिक्षावृत्ति का फ़रोग़ होने लगा.

धूल उड़ने लगी बाज़ारों में, भूक उगने लगी खलियानों में
हर चीज़ दुकानों से उठ कर रुपोश हुई तहख़ानों में
बदहाल घरों की बदहाली बढ़ते बढ़ते जंजाल बनी
महंगाई बढ़कर काल बनी, सारी बस्ती कंगाल बनी
चरवाहियां रस्ते भूल गयीं, पनहारियां पनघट छोड़ गयीं
कितनी ही कुंवारी अबलाएं मां बाप की चौखट छोड़ गयीं
कुछ भी न रहा जब बिकने को, जिस्मों की तिजारत होने लगी
ख़लवत[25] में भी जो ममनू[26] थी, जलवत[27] में जसारत[28] होने लगी

चुनांचे इस जंग में देश के गांवों और शहरों, खेतों और बाज़ारों में इंसानियत ज़ख़्मी होती है और मुहब्बत रोज़ अपमानित होती है. यह जंग सिर्फ़ जुनूनी ताक़तों के मध्य हथियारों की होड़ नहीं रहती बल्कि इंसानी रिश्तों और जज़्बों की नीलामगाह बन जाती है. साहिर यहां एक काव्य-बयान दर्ज करते हैं जो इंसानों के क़त्लो-ख़ून के ख़िलाफ़ है और फ़ौजी सरहदों के पार बसनेवाले इंसानों से नफ़रत के ख़िलाफ़ है :

चलो कि चल के सियासी मुक़ामिरों[29] से कहें
कि हमको जंगो-जदल के चलन से नफ़रत है
जिसे लहू के सिवा कोई रंग न रास आये
हमें हयात[30] के उस पैरहन[31] से नफ़रत है
उठो कि आज हर इक जंगजू से ये कह दें
कि हमको काम की ख़ातिर कलों की हाजत[32] है
हमें किसी की ज़मीं छीनने का शौक़ नहीं

हमें तो अपनी ज़मीं पर मिलों की हाजत है

इस तरह यह शाहकार नज़्म साहिर के दृष्टिकोण पर ख़त्म होती है. यह शीत युद्ध मानवतावादी है और रंग-भेद के बिना भाई-चारे के नज़रिये पर क़ायम है. इस लंबी नज़्म को दुनिया भर के अदीबों, वैज्ञानिकों और फ़नकारों के ज़रिये चलायी जाने वाली अमन तहरीक का हिस्सा क़रार देना ही मुनासिब होगा.

इसी नज़रियाती पसमंज़र में साहिर ने दूसरी युद्ध-विरोधी नज़्म हिंद-पाकिस्तान जंग 1965 के ज़माने में कही थी, जिसका शीर्षक 'ऐ शरीफ़ इंसानो!' था, और जो ताशकंद समझौते की सालगिरह पर ऑल इंडिया रेडियो से प्रसारित भी की गयी थी.

इन सब मिसालों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि साहिर ने जहां एक तरफ़ फ़िल्मों को ख़ूबसूरत एहसास से आरास्ता नग़मे दिये, वहीं अपनी नज़्मों, ग़ज़लों और गीतों में कभी तरक़्क़ीपसंदी के इज़हार पर समझौता नहीं किया और बहुत सी फ़िल्में तो सिर्फ़ उनके नग़मों की बिना पर कामयाब हुईं.

लेकिन उनकी निजी ज़िंदगी बहुत पीड़ा भरी और असुरक्षित थी. वे अपने बचपन के मानसिक अभावों के कारण किसी औरत के नज़दीक न आ सके और ज़िंदगी-भर अपनी मां के फ़रमांबर्दार बेटे बने रहे. उनके अंदर की हमेशा की तन्हाई इतनी शदीद थी कि वे अकेलेपन से भयभीत रहते थे और हर वक़्त किसी न किसी को साथ रखते थे. लुधियाना में चौधरी फ़ैज़ुल-हसन और इब्ने-इंशा, लाहौर में हमीद अख़्तर और शोरिश काश्मीरी, अमृतसर में जयदेव, लाहौर में चौधरी नज़ीर अहमद और अहमद राही, दिल्ली में प्रकाश पंडित, बंबई में हमीद अख़्तर और जांनिसार अख़्तर, फिर मामूं ज़ाद बहनों, जावेद अख़्तर, निदा फ़ाज़ली और साबिर दत्त वग़ैरह को साहिर साथ रखते थे. हवाई जहाज़ में सफ़र करने से डरते थे, एक कार में चलते और दूसरी कार पीछे पीछे रखते. साहिर ने अपनी इसी तन्हाई पर नज़्म कही थी :

महफ़िल से उठ जाने वालो, तुम लोगों पर क्या इल्ज़ाम
तुम आबाद घरों के बासी, मैं आवारा बदनाम
तुम दुनिया को बेहतर समझे, मैं पागल था ख़्वार हुआ
तुमको अपनाने निकला था, ख़ुद से भी बेज़ार हुआ
देख लिया घर फूंक तमाशा जान लिया मैंने अंजाम

(मेरे साथी ख़ाली जाम)

साहिर की यह हमेशा की तन्हाई और शबो-रोज़ का सूनापन, वालिदा सरदार बेगम की वफ़ात जुलाई 1976 के बाद असहनीय हो गये. अब वे अपने कमरे में सोते हुए भी डरने लगे थे. अपने ड्राइवर अस्लम को चौबीस घंटे नज़दीक रखने लगे. मामूं-ज़ाद बहनें सरवर शफ़ी और अनवर सुल्ताना मां का विकल्प न बन सकीं. आख़िरी बरसों में साहिर दिल के मरीज़ हो गये और इसी दौरान उन्होंने 'इंसाफ़ का तराज़ू', 'लक्ष्मी' और 'धनवान' वग़ैरह फ़िल्मों के लिए नग़मे भी लिखे. लेकिन अपनी ज़हनी और जिस्मानी बीमारियों से बच न सके और 25 अक्तूबर 1980 को ख़त्म हो गये.

साहिर तो 1980 में तहे-ख़ाक चले गये लेकिन आज भी उनके नग़मे, उनकी नज़्में और कहावतों जैसे बन चुके बहुत से अशआर शायरी और अदब में रोशन-ख़याली और इंसान-दोस्ती के मूल्यों को ज़िंदा और तवाना रखते हैं. साहिर को उर्दू भाषा और हिंदुस्तान के अहम शायरों में शुमार किया जाता है. साहिर के निजी जीवन को कुछ लोग नाकाम क़रार दे सकते हैं लेकिन उनको पल दो पल का शायर क़रार नहीं दिया जा सकता. साहिर ने शायरी और कला की अहमियत को दो मिसरों में स्पष्ट कर दिया था :

फ़न जो नादार[33] तक नहीं पहुंचा
अपने मेयार तक नहीं पहुंचा

और अपने गीतों और नज़्मों की बुलंद आहंगी और तल्ख़-नवाई का पसमंज़र इन मिसरों में बयान किया था :

मैं शायर हूं मुझे फ़ितरत के नज़ारों से उल्फ़त है

मिरा दिल दुश्मने-नग़मा-सराई हो नहीं सकता
मिरे सरकश तरानों की हक़ीक़त है तो इतनी है
कि जब मैं देखता हूं भूक के मारे किसानों को
हुकूमत के तशद्दुद को[34], अमारत के तकब्बुर को[35]
किसी के चीथड़ों को और शहंशाह ख़ज़ानों को
तो दिल ताबे-निशाते-इशरत[36] ला नहीं सकता
मैं जो चाहूं भी ख़्वाब-आवर[37] तराने गा नहीं सकता

मो. 8800489012

अनुवाद : अर्जुमंद आरा

---

1 एकेश्वरवाद 2 आग बरसाती हुई शायरी करना 3 मुरझायी हुई, शिथिल 4 काला रंग 5 काला और अंधकारमय मकान 6 निर्धन और बीमार निवासी. 7 मानव जाति 8 परस्पर विरोध 9 किसान 10 गगनचुंबी 11 आकर्षक और चांदी की तरह झिलमिलाते 12 गंदगी, कूड़ा-करकट 13 निर्धन, सर्वहारा. 14 भव्य महल 15 पूरब की पवित्रता के प्रशस्ति गीत गाने वाले 16 चांदी के 17 किसान 18 पसीना 19 पवित्रता 20 बेबस कुंवारी सुंदरी 21 इज़्ज़त. 22 वेश्यालय 23 दरिद्रता 24 क़त्ल -गाह 25 तन्हाई 26 वर्जित 27 महफ़िल 28 दुस्साहस 29 ज्वारियों 30 जीवन 31 लिबास 32 ज़रूरत. 33 वंचित, दरिद्र 34 राज्य की हिंसा को 35 दौलत और वैभव के घमंड को 36 सुख और आनंद की ताब 37 नींद लाने वाले

एक मुकम्मल शायर-गीतकार

शरद दत्त

मेरे बचपन के दौ शौक़ जो कॉलेज तक आते-आते जुनून की शक्ल ले चुके थे, वे थे विभिन्न भाषाओं का अच्छा साहित्य पढ़ना औऱ फ़िल्मी गाने, उनके संगीतकार, गीतकार, गायक, गायिकाओं के बारे में ताज़ा जानकारी लेना. गुरुदेव रवींद्रनाथ टैगोर, शरतचंद्र चट्टोपाध्याय, बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय, सआदत हसन मंटो, कृष्ण चंदर, राजेंद्र सिंह बेदी और उपेंद्रनाथ अश्क के साहित्य से तो मेरा परिचय स्कूल के दिनों में ही हो गया था. गुजराती, मराठी भाषाओं के अनुवाद भी स्कूल के पुस्तकालय में उपलब्ध थे. मेरी नज़र से वे भी नहीं बचे.

60 वाले दशक में मैंने दिल्ली विश्वविद्यालय के अजमेरी गेट स्थित दिल्ली कॉलेज में अर्थशास्त्र (ऑनर्स) में दाख़िला लिया. दिल्ली कॉलेज की लाइब्रेरी ऐतिहासिक थी, क्योंकि कॉलेज लगभग तीन सौ साल पुराना था. कॉलेज की लाइब्रेरी में इतिहास, उर्दू, फ़ारसी और अंग्रेज़ी साहित्य का ज़ख़ीरा था. लेकिन हिंदी का आधुनिक साहित्य लगभग नगण्य था. मेरे सहपाठियों में हिंदी, उर्दू व पंजाबी के तीन लेखकों की लोकप्रियता इतनी थी की छात्र-छात्राएं दीवानगी की हद तक उन्हें चाहते थे. वे लेखक थे हिंदी के कथाकार-कवि एवं उन दिनों की सर्वाधिक लोकप्रिय पत्रिका *धर्मयुग* के संपादक डॉ. धर्मवीर भारती जिनका उपन्यास *गुनाहों का देवता* प्रकाशित होते ही युवाओं में लोकप्रियता के सारे रिकॉर्ड तोड़ चुका था. लगभग यही हाल उर्दू के शायर साहिर लुधियानवी की लंबी नज़्म 'परछाइयां' का था. पंजाबी की सुप्रसिद्ध कवयित्री अमृता प्रीतम के हिंदी में अनूदित उपन्यासों के प्रति भी युवा पीढ़ी में क्रेज़ देखी जा सकती थी. तीनों लेखकों की लोकप्रियता का यह आलम था कि उनकी प्रिय रचनाओं के रचनाकारों से पाठकों के मिलने की ललक देखी जा सकती थी, जिनमें इन पंक्तियों का लेखक भी था. कुछ वर्षों बाद डॉ. धर्मवीर भारती से मिलने का सौभाग्य, डोगरी की कवयित्री और लेखिका पद्मा सचदेव और उनके पति मेरे अग्रज तुल्य गायक सुरिंदर सिंह (सिंह बंधु) के सौजन्य से उनके निवास पर हुआ. डॉ. भारती जब भी दिल्ली आते तो उन्हीं के निवास पर रहते थे.

कॉलेज के समाप्त होने के बाद मेरी नियुक्ति आकाशवाणी के समाचार विभाग में हो गयी. उन दिनों आकाशवाणी में हिंदी, उर्दू और पंजाबी के कई साहित्यकारों से परिचय हुआ. उनमें प्रमुख थे नाटककार विष्णु प्रभाकर, चिरंजीत और सत्येंद्र शरत, जिन्होंने कालांतर में मेरे बड़े भाई की भूमिका निभायीं. भाई साहब ने मेरी मुलाक़ातें कवि हरिवंश राय बच्चन (जो उन्हें अपना मानसपुत्र मानते थे), मेरे प्रिय कवि व कथाकार अज्ञेय, भगवती चरण वर्मा, उपेंद्रनाथ अश्क, मोहन राकेश, मनोहर श्याम जोशी और राजेंद्र यादव से करवायीं, जिसके लिए मैं सदैव शरत भाई साहब का आभारी रहूंगा. पंजाबी के लेखक देविंदर अमृता प्रीतम से परिचित थे—वे पंजाबी कार्यक्रमों में भाग लेने आती थीं—उन्होंने मेरी मुलाक़ात अमृता प्रीतम के घर ले जाकर करवायी थी. दूरदर्शन के कार्यकाल में मुझे अमृता प्रीतम पर वृतचित्र बनाने का अवसर मिला. जिसका प्रसारण उस रात हुआ जब अमृता प्रीतम को तत्कालीन राष्ट्रपति ज्ञानी ज़ैल सिंह द्वारा ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित किया गया था.

साहिर लुधियानवी से मिलने की मेरी आरज़ू 1972 जाकर पूरी हुई. साहिर साहब से मुझे मेरे मित्र स्वर्गीय रईस मिर्ज़ा ने मिलवाया, जो तत्कालीन सोवियत संघ सूचना केंद्र में कार्यरत थे, जहां प्रगतिशील लेखकों का आना-जाना लगा रहता था. जिन और प्रगतिशील लेखकों से मुझे रईस भाई ने मिलवाया था वे थे—ख़्वाजा अहमद अब्बास,

कृष्ण चंदर, अली सरदार जाफ़री, जनाब सज्जाद ज़हीर और उनकी पत्नी रज़िया सज्जाद ज़हीर.

साहिर साहब से मेरी वह मुलाक़ात आज भी मेरी यादों में रची बसी है. साहिर लुधियानवी दिल्ली, सोवियत लैंड पुरस्कार लेने आये थे. पुरस्कार ग्रहण करने के बाद रईस मिर्ज़ा ने साहिर साहब से मेरा परिचय कराते हुए यह आदेश दिया कि शाम को आपको 7 बजे होटल जनपथ आना है, जहां साहिर साहब ठहरे हुए थे. साहिर साहब ने तपाक से मुझसे हाथ मिलाया और कहा, 'घंटे बाद होटल में मिलते हैं' कहकर वे रईस मिर्ज़ा के साथ हॉल से बाहर चले गये.

मेरे लिए एक घंटे का वक़्त काटना दूभर हो रहा था. ठीक 7 बजे मैं होटल जनपथ के 212 नंबर कमरे के बाहर खड़ा था. मैंने घंटी बजायी तो अंदर से आवाज़ आयी कि आ जाइए. मैं कमरे में दाख़िल हुआ तो देखा कि रईस भाई और साहिर साहब सोफ़े पर बैठे हैं और कालीन पर प्रकाश पंडित और साबिर दत्त जमे हुए थे. तभी दूसरे कमरे से एक बुज़ुर्ग महिला कमरे में दाख़िल हुईं, मेरे अलावा वे सबसे वाक़िफ़ थीं. उन्होंने मुझे देखा तो साहिर साहब ने उनसे मुख़ातिब होकर पंजाबी में कहा, 'अम्मी जी, ये नौजवान अज ई मेरा दिल्ली विच नवां दोस्त बणेंया हैं. (अम्मी जी, ये नौजवान आज ही मेरा दिल्ली में नया दोस्त बना है.)' मैंने खड़े होकर अदब से उन्हें आदाब किया, उन्होंने मुझे बैठने का इशारा किया और दूसरे कमरे में वापस चली गयीं.

तभी कमरे की घंटी बजी तो साहिर साहब ने ऊंची आवाज़ में कहा, 'बादशाहों आ जाओ, तुहाडी ही उड़ीक हो रई है (बादशाहो आ जाओ आप ही का इंतज़ार हो रहा है)'. दरवाज़ा खोलकर एक सरदार साहब कमरे में आये, उनके पीछे एक शख़्स व्हिस्की का एक क्रेट लिये दाख़िल हुआ. सरदार जी के इशारे पर साथ रखे मेज़ पर क्रेट रखकर वह बाहर चला गया और उसके पीछे सरदार जी भी. बातों-बातों में पता चला कि वो तोहफ़ा साहिर साहब को मोहन मीकिंस के मालिक कर्नल मोहन ने भेजा था, जो साहिर साहब की शायरी के शैदाई थे. ज़ाहिर है उसके बाद व्हिस्की के दौर शुरू हो गये.

यह थी मेरी साहिर साहब से पहली मुलाक़ात. मुझे यह कहने में ज़रा भी गुरेज़ नहीं है, मुझे यह अहसास नहीं हुआ कि मैं अपने महबूब शायर से पहली बार मिला हूं. इसके बाद तो मुलाक़ातों का लंबा सिलसिला शुरू हो गया. जब भी वे दिल्ली आते तो मुझे फ़ोन करके होटल में बुला लेते या फिर मैं जब भी बंबई में होता उनसे मिलना तो लाज़िमी था. दर हक़ीक़त मैं दिल्ली दूरदर्शन के लिए फ़िल्मी प्रोग्राम इसलिए करने लगा की टूअर बनाकर बंबई जा सकूं.

साहिर मूलत: रोमांटिक शायर थे. उनकी शायरी एक तरफ़ तो आसमान से गिरी शबनम की तरह थी तो दूसरी ओर कड़कड़ाती बिजली सरीखी. उन्होंने अपने पिता चौधरी फ़ज़ल मोहम्मद का अपनी मां सरदार बेगम के प्रति ज़ुल्मो-सितम का रवैया बचपन से ही देखा था, वहीं से उनके ज़ेहन में बग़ावत की चिंगारी सुलगी. ज़मींदार शौहर के होते हुए उनकी मां ने उनसे अलग होकर तंगहाली में बेटे की परवरिश की थी. साहिर साहब की शख़्सियत पर अपनी मां का गहरा असर था. साहिर ख़ुद कहते थे, मैंने जिस शिद्दत से अपनी मां से मोहब्बत की है उतनी ही शिद्दत से अपने बाप से नफ़रत. यही वजह है कि उनकी शायरी में एक तरफ़ ज़ुल्म के ख़िलाफ़ बुलंद आवाज़ सुनायी देती है तो दूसरी ओर मोहब्बत के मीठे नग़मों की ताज़गी मिलती है. शायद उनकी इसी ख़ासियत ने उन्हें अपने दौर का सबसे मक़बूल शायर का दर्जा दिलवाया. साहिर को अपने बाप द्वारा दिये गये नाम तक से भी चिढ़ थी जिसके कारण उन्होंने एक दिन उसे भी त्याग दिया. साहिर के महबूब शायर अल्लामा इक़बाल ने अपनी एक ग़ज़ल मशहूर शायर दाग़ देहलवी की नज़्र की थी. उसके एक शेर—'इस चमन में होंगे पैदा बुलबुले-शीराज़ भी, सैकड़ों साहिर भी होंगे साहिबे-ऐजाज़ भी'—ने अब्दुल हई को इतना मुतास्सिर किया कि उन्होंने अपने बाप के दिये नाम से निजात पा ली और साहिर तख़ल्लुस रख लिया. कुछ अर्से बाद उन्होंने अपने शहर लुधियाना को भी उसमें शामिल कर लिया. अब अब्दुल हई साहिर लुधियानवी बन चुके थे.

साहिर ने कम उम्र में ही शायरी शुरू कर दी थी. 19 साल की उम्र में साहिर 'चकले' और 'ताजमहल' जैसी रचनाएं लिख चुके थे. साहिर ने 'ताजमहल' नज़्म पहली बार अमृतसर के मुशायरे में पढ़ी थी और रातोंरात लोकप्रियता की बुलंदियों पर पहुंच गये. फिर तो साहिर जिस मुशायरे में जाते 'ताजमहल' नज़्म की फ़रमाइश पहले होती.

ताज तेरे लिए एक मज़हरे- उल्फ़त ही सही
तुझको इस वादी-ए-रंगीं से अक़ीदत ही सही
मेरी महबूब कहीं और मिला कर मुझसे
बज़्मे-शाही में ग़रीबों का गुज़र क्या मानी?
सब्त जिस राह में हो सतवते-शाही के निशां
उस पे उल्फ़त- भरी रूहों का सफ़र क्या मानी?
ये चमनज़ार, ये जमना का किनारा, ये महल
ये मुनक़्क़श दरो-दीवार, ये मेहराब, ये ताक़
एक शहंशाह ने दौलत का सहारा लेकर
हम ग़रीबों की मुहब्बत का उड़ाया है मज़ाक़.
मेरी महबूब कहीं और मिला कर मुझसे

कॉलेज के दिनों के महिंदर चौधरी और ईशर कौर के नाकाम इश्क़ से साहिर का मन उचाट हो गया तो उन्होंने लुधियाना के गर्वनमेंट कॉलेज को अलविदा कहकर लाहौर का रुख़ किया. लाहौर में उन्होंने तालीम पूरी करने की पुरज़ोर कोशिशें कीं, लेकिन बात न बनी. गोया साहिर का शिक्षा प्रणाली से ही यक़ीन उठ गया.

साहिर के पास अपना पहला मजमूआ, *तल्ख़ियां* तैयार था और वो उसको छपवाने की कोशिश में लग गये. 1944 में *तल्ख़ियां* छपकर आया तो साहिर की उम्र मात्र 23 साल की थी. इसके पहले संस्करण ने ही उर्दू अदब में तहलका मचा दिया. साहिर का शोषित वर्ग के प्रति सरोकार, उनकी 'गुरेज़', 'आज' और 'ये किसका लहू है' की आलोचकों ने खुले दिल से तारीफ़ की.

साहिर प्रगतिशील लेखक थे इसी कारण उन्हें साहित्यिक पत्रिका *अदबे-लतीफ़*, जो वामपंथियों की पक्षधर थी, के संपादन विभाग में नौकरी मिल गयी. उन्हीं दिनों फ़िल्मों में क़िस्मत आज़माने के लिए साहिर बंबई भी गये. उन्हें *आज़ादी की राह पर* (1946) में गाने लिखने का अवसर मिला. फ़िल्म के कुल 6 में से 4 गीत साहिर ने लिखे थे. राजनीतिक उथल-पुथल के कारण फ़िल्म पूरी होने में देरी हो गयी. जैसे-तैसे पूरी हुई और रिलीज़ भी की गयी, लेकिन फ़िल्म को ख़ास तवज्जो नहीं मिली.

साहिर अपनी मां से मिलने के लिए बेचैन थे, लिहाज़ा वो लुधियाना के लिए निकल पड़े. लेकिन जब वो दिल्ली पहुंचे तो दंगों की वजह से दोस्तों ने उन्हें लुधियाना न जाने की सलाह दी. दिल्ली में ही साहिर को ख़बर मिली कि उनकी मां को मिलिट्री की मदद से लुधियाना से लाहौर भेज दिया गया है. आख़िरकार 1947 में साहिर अपनी मां से लाहौर में मिले.

साहिर ने इस बीच लाहौर में *सवेरा* पत्रिका के संपादन का भार संभाल लिया. साहिर के किसी भड़काऊ लेख के कारण पाकिस्तान सरकार ने उनकी गिरफ़्तारी के वारंट जारी कर दिये. जिसके बाद साहिर रातोंरात छिपते-छिपाते दिल्ली पहुंचे. दिल्ली प्रवास में साहिर ने *शहकार* और उर्दू *प्रीतलड़ी* का संपादन भी किया. दिल्ली साहिर की मंज़िल नहीं हो सकती थी. उनके लिए महज़ एक पड़ाव थी. अंतत: साहिर हैदराबाद होते हुए 1949 में अपने मंज़िले-मक़सूद बंबई पहुंचे. साहिर *तल्ख़ियां* की वजह से काफ़ी लोकप्रिय हो चुके थे और अदब का एक जाना-पहचाना नाम थे. लेकिन फ़िल्मों में गीत लिखने के लिए उन्हें भी काम की तलाश में स्टूडियो के चक्कर लगाने पड़े. साहिर अपने दोस्तों में अक्सर कहते थे, 'तुम लोग देखना, मैं एक दिन फ़िल्मी दुनिया का बड़ा गीतकार बनूंगा'. साहिर ने हिम्मत नहीं हारी और यह साबित करके भी दिखाया.

संघर्ष के दिनों में एक दिन उनकी मुलाक़ात अपने परिचित मोहन सहगल से हो गयी. मोहन सहगल की सलाह पर साहिर सचिन देव बर्मन से मिलने होटल में गये. बर्मन उन दिनों अब्दुल रशीद कारदार की फ़िल्म *नौजवान* (1951) में संगीत दे रहे थे. उन्हें नये गीतकार की तलाश थी. साहिर ने उन्हें अपना परिचय दिया. बर्मन दा ने उन्हें अपनी बनायी एक धुन सुनायी और साहिर ने गीत लिखा, 'ठंडी हवाएं, लहरा के आयें'**.** बर्मन दा को गीत पसंद आया और उसे लता मंगेशकर के स्वर में रिकॉर्ड किया गया. ये गीत सुपरहिट साबित हुआ.

उन्हीं दिनों सचिन देव बर्मन को देव आनंद के नवकेतन की फ़िल्म *बाज़ी* में संगीत देने का ऑफ़र मिला. फ़िल्म की मुख्य भूमिकाओं में थे देव आनंद और गीता बाली. देव आनंद ने प्रभात कंपनी के दिनों में बने अपने दोस्त गुरुदत्त को दिये वादे के मुताबिक़ *बाज़ी* का निर्देशन दिया था. बर्मन दा ने ही देव साहब को साहिर का नाम सुझाया. बाज़ी एक क्राइम थ्रिलर थी. फ़िल्म ने सिल्वर जुबली मनायी. फ़िल्म के हिट होने में गुरुदत्त के निर्देशन और गानों के छायांकन का बड़ा हाथ था. फ़िल्म के कुछ हिट गीत -- 'तदबीर से बिगड़ी हुई तक़दीर बना ले' और 'सुनो गजर क्या गाये' और 'आज की रात पिया' -- आज भी संगीतप्रेमियों में लोकप्रिय हैं.

उन दिनों फ़िल्म इंडस्ट्री में एक चलन था कि हर संगीतकार के अपने गीतकार होते थे. नौशाद साहब के लिए शकील बदायूनी, हुस्नलाल भगतराम के लिए क़मर जलालाबादी, सी रामचंद्र के लिए राजेंद्र किशन, शंकर जयकिशन के लिए शैलेंद्र और हसरत जयपुरी और मदन मोहन के लिए राजा मेंहदी अली ख़ां गीत लिखा करते थे. *बाज़ी* की सफलता के बाद सचिन दा को लगा कि साहिर के साथ उनकी जमेगी. सचिन देव बर्मन और साहिर की जोड़ी ने 18 फ़िल्मों में हिट गीत दिये :

सज़ा : 'तुम न जाने किस जहां में खो गये' (लता),
जाल : 'ये रात ये चांदनी फिर कहां' (हेमंत कुमार),
लाल कंवर: 'प्रीत सताये तेरी' (सुरैया),
अरमान: 'भरम तेरी वफ़ाओं का हटा देते तो क्या होता' (तलत महमूद),
जीवन ज्योति: 'छायी कारी बदरिया' (लता),
बाबला: 'रात के राही थक मत जाना' (मन्ना डे),
शहंशाह: 'ख़ाक हुआ दिल जलते-जलते' (लता),
अंगारे: 'डूब गये आकाश के तारे' (तलत महमूद),
टैक्सी ड्राइवर: 'जायें तो जायें कहां' (तलत महमूद), 'दिल जले तो जले' (लता),
राधा कृष्ण: 'तुम बंसी हो मैं तान, हम तुम दो नहीं' (लता),
हाउस नंबर 44: 'तेरी दुनिया में जीने से'; 'चुप है धरती, चुप हैं चांद-सितारे' (हेमंत), 'फैली हुई है सपनों की बांहें' (लता),
देवदास: 'किसको ख़बर थी ऐसे भी दिन आयेंगे' (तलत), 'जिसे तू क़बूल कर ले' (लता),
मुनीम जी: 'जीवन के सफ़र में राही' (किशोर), 'जीवन के सफ़र में राही' (लता),
सोसाइटी: 'कहां हो तुम मेरी तन्हाइयां आवाज़ देती हैं' (लता),
फ़ंटूश: 'दुखी मन मेरे सुन मेरा कहना' (किशोर कुमार).

फ़िल्म *फंटूश* के एक साल बाद 22 फरवरी 1957 को गुरुदत्त की कालजयी फ़िल्म *प्यासा* रिलीज़ हुई. गुरुदत्त ने 1947-48 के आसपास 'कशमकश' नाम से एक कहानी लिखी थी जिस पर वे फ़िल्म बनाना चाहते थे. *बाज़ी* की अपार सफलता के बाद गुरुदत्त निर्देशक के रूप में स्थापित हो चुके थे. *जाल* और *बाज़ी* के निर्देशन के बाद गुरुदत्त ने अपने बैनर *गुरुदत्त फ़िल्म्स* (1954) की घोषणा कर दी. इस बैनर तले गुरुदत्त ने एक के-बाद-एक तीन हिट फ़िल्मों *आर-पार* (1954), *मिस्टर एंड मिसेज़ 55* (1955) और *सी आइ डी*(1956) का निर्माण किया. *सी*

आइ डी का निर्देशन उन्होंने अपने चीफ़ असिस्टेंट राज खोसला को सौंपा था. गुरुदत्त की अब तक की फ़िल्में या तो हॉलीवुड से प्रेरित थीं या फिर हल्की क्राइम थ्रिलर थीं. लेकिन गुरुदत्त कुछ बड़ा करना चाहते थे.

लिहाज़ा अपनी कहानी 'कशमकश' को लेकर *प्यासा* फ़िल्म बनाने का फ़ैसला लिया, और उन्होंने अपने संवाद लेकर अबरार अल्वी और राज खोसला के साथ बैठकर कहानी पर काम शुरू किया. *प्यासा* का नायक पहले चित्रकार था, बाद में उसे जर्नलिस्ट बनाने का विचार किया गया. एक सिटिंग में अबरार ने गुरुदत्त को साहिर की *तल्ख़ियां* के कुछ अंश सुनाये और गुलाबो (वहीदा रहमान) जैसे पात्र के बारे में बताया. बतौर अबरार वे ऐसे किरदार से मिल चुके थे. थीम पर काम हो रहा था तो एक दिन राज खोसला ने, जो फ़िल्मों में गायक बनने आये थे, गुरुदत्त को साहिर की रचना 'चकले' को तरन्नुम में सुनाया, तो गुरुदत्त ने एकदम कहा कि राज, 'दिस इज़ इट, हमारी फ़िल्म का नायक विजय शायर होगा.'

गुरुदत्त फ़िल्म में दिलीप कुमार को लेना चाहते थे, लेकिन अंतत: उन्होंने यह रोल ख़ुद किया. अन्य भूमिकाओं में थे—माला सिन्हा, रहमान और जॉनी वॉकर. गुरुदत्त ने *प्यासा* के लिए एक बार फिर सचिन देव बर्मन को संगीत के लिए आमंत्रित किया. दरअसल, बर्मन दा ने गुरुदत्त की फ़िल्म *बाज़ी* में संगीत देने से इनकार कर दिया था. इसलिए गुरुदत्त की फ़िल्मों में ओ.पी. नैयर संगीतकार बनकर आये. गुरुदत्त को लगा कि ऐसी संवेदनशील फ़िल्म के साथ बर्मन और साहिर न्याय कर पायेंगे. *प्यासा* की अपार सफलता के बाद क्या हुआ कि साहिर ने ऐलान कर दिया कि वो बर्मन के साथ भविष्य में काम नहीं करेंगे. इसकी कहानी का ज़िक्र साहिर साहब की ज़ुबानी आगे चलकर होगा.

फ़िल्मी गीतों की विशेषता है कि वे पूरे भारत को जोड़ते हैं. कश्मीर से कन्याकुमारी और गुजरात से गुवाहाटी तक फ़िल्मी गीत गुनगुनाये जाते हैं. अनिल विश्वास की जीवनी पर काम करते समय मैंने अनिल विश्वास से पूछा था कि फ़िल्म के गीत को बनाने में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका किसकी होती है: संगीतकार, गीतकार या गाने वाले की? अनिल दा ने यह कहकर कि यह एक लंबी बहस का विषय है, बात टाल दी थी.

फ़िल्मी गीतों को लेकर एक लंबे अरसे से यह बहस चलती रही है. शीर्ष संगीतकारों का मानना है कि गीत में धुन ही महत्वपूर्ण होती है, जबकि गीतकार मानते हैं कि संगीतकार उनके लिखे बोलों पर धुन बनाते हैं. फ़िल्म संगीत के बारे में यह सर्वविदित है कि 99 प्रतिशत बोल संगीतकार द्वारा बनायी धुनों पर लिखे जाते हैं. इस बहस में गायक, गायिका भी पीछे नहीं रहते और गीत और धुन की लोकप्रियता का श्रेय लेने का दावा करते हैं. साहिर लुधियानवी फ़िल्म इंडस्ट्री के एक मात्र गीतकार थे जिन्होंने सिचुएशन पर गीत लिखे. उनके लिए अल्फ़ाज़ अव्वल थे. उन्होने एकमात्र गीत 'ठंडी हवाएं, लहरा के आयें' बर्मन दा की धुन पर लिखा था.

साहिर साहब की एक हिट फ़िल्म थी बी.आर चोपड़ा की *नया दौर*, जिसका संगीत ओ.पी. नय्यर ने दिया था. जिसके लिए नय्यर साहब को एकमात्र *फ़िल्मफ़ेयर* पुरस्कार मिला था. फ़िल्म के सभी गीत सुपरहिट साबित हुए. फ़िल्म में साहिर साहब के गीतों की विविधता देखी जा सकती है. एक ओर पंजाबी लोकसंगीत पर आधारित 'उड़ें जब-जब ज़ुल्फ़ें तेरी' और 'रेशमी सलवार कुर्ता जाली का' रूमानियत से ओतप्रोत युगल गीत 'मांग के साथ तुम्हारा, मैंने मांग लिया संसार' फ़िल्म का सदाबहार भजन 'आना है आ राह में' देशभक्ति से भरपूर 'ये देश है वीर जवानों का' और जॉनी वॉकर पर फ़िल्माया गया 'मैं बंबई का बाबू, नाम मेरा अंजाना' -- ये गीत भी कम लोकप्रिय नहीं थे. *नया दौर* की अपार सफलता के बाद साहिर साहब ने फिर ऐलान कर दिया कि वे आगे से ओ.पी. नय्यर के लिए भी गीत नहीं लिखेंगे. इस बात ने सबको चौंका दिया.

इस बारे में इन पंक्तियों के लेखक ने अपनी अनेक मुलाक़ातों में साहिर साहब से विस्तृत चर्चा की थी. साहिर साहब का फ़िल्मी सफ़र आसान न था. बतौर साहिर साहब, 'शरद, मैं तुम्हें बता चुका हूं कि मैं लफ़्ज़ों को कितनी अहमियत देता हूं. मैं सिचुएशन पर गाना लिखता हूं और डायरेक्टर से सुनी कहानी की सिचुएशन पर गीत लिखकर उनके हवाले करता हूं और फिर संगीतकार उस पर धुन बनाते हैं, उसके बाद डायरेक्टर और संगीतकार

के कहने पर मैं नुक़्ता भी चेंज नहीं करता हूं. हां ये दीगर बात है कि *तल्ख़ियां* में छपी *चकले* के अल्फ़ाज़ मैंने बदल दिये थे :

ये कूचे, ये नीलाम घर दिलकशी के
ये लुटते हुए कारवां ज़िंदगी के
कहां है कहां है मुहाफ़िज़ ख़ुदी के
सना-ख़्वाने-तक़्दीसे-मशरिक़ कहां हैं?

को बदलकर *प्यासा* के लिए *जिन्हें नाज़ है हिंद पर वो कहां हैं,* कर दिया. बात *प्यासा* की हो रही थी तो मैं एक बात वाज़ेह कर दूं कि फ़िल्म *प्यासा* में हर शख़्स ने बड़ी मेहनत की थी. गुरुदत्त की ऐक्टिंग और डायरेक्शन, अबरार के डायलॉग्स और वीके मूर्ति का कैमरा-वर्क और कलाकारों की ऐक्टिंग ने इस फ़िल्म को क्लासिक बना दिया. जब मुझे लोगों से यह बात सुनने को मिली कि बर्मन *प्यासा* का सारा क्रेडिट अपने म्यूज़िक को दे रहे हैं तो यह बात मुझे बहुत नागवार गुज़री. तो मैंने भी कहना शुरू कर दिया कि, बर्मन ने मेरे लफ़्ज़ों पर धुनें बनायीं. लेकिन एक बात का मलाल मुझे आज तक है, कि इस पूरे एपिसोड में गुरुदत्त ने ख़ामोशी अख़्तियार कर ली थी, मैंने मन ही मन फ़ैसला कर लिया था और पब्लिकली ऐलान कर दिया कि *प्यासा* मेरी बर्मन के साथ आख़िरी फ़िल्म है और मैं आज तक इस बात पर क़ायम हूं. जब गुरुदत्त ने अपनी अगली फ़िल्म *काग़ज़ के फूल* में बर्मन को लिया और गाने लिखवाये कैफ़ी आज़मी से. फ़िल्म का क्या हश्र हुआ, वो तुम्हें भी मालूम है और लोगों को भी. लोगों ने तो यहां तक कहा कि *काग़ज़ के फूल* के गानों में वो बात नहीं जो *प्यासा* में थी. कैफ़ी के दो गाने, 'देखी ज़माने की यारी', और 'वक़्त ने किया क्या हसीं सितम' के अलावा कोई भी गाना पॉप्युलर नहीं हुआ.'

मैंने साहिर साहब से कहा कि, 'आप बर्मन से *बाज़ी* के लिए लिखी गयी ग़ज़ल, 'तदबीर से बिगड़ी हुई' की धुन से नाख़ुश थे, तो आपने इस पर ऐतराज़ क्यों नहीं किया?' उनका जवाब था, 'भाई मैंने तो फ़िल्म छोड़ने का मन बना लिया था लेकिन गीता दत्त ने, जो तब तक गीता रॉय थी यह गाना गाने वाली थी, मुझे अलग ले जाकर कहा कि साहिर साहब ये गाना सुपरहिट होगा आप देख लीजिएगा.' गीता के इस बात के कहने पर मैंने ख़ामोशी अख़्तियार कर ली. हक़ीक़त में बर्मन को लोक धुनों की बड़ी समझ है, उसके गाने ज़्यादातर बंगाली लोक धुनों पर या रवींद्र संगीत पर आधारित होते थे. ग़ज़ल के मीटर और रदीफ़ काफ़िया को समझना बर्मन के बस की बात नहीं थी. यही बात *जाल* के गाने 'ये रात, ये चांदनी' में भी हुई. मैं उसकी धुन से नाख़ुश था. लेकिन फ़िल्मों में ये चलता है. धीरे-धीरे मेरी समझ में ये चीज़ें आने लगी थीं. *मुनीम जी* के गाने की धुन देखो, 'जीवन के सफ़र में राही, मिलते हैं बिछड़ जाने को' का बर्मन ने क्या हश्र किया. ज़िद करके मैंने उसका सैड वर्ज़न (उदास संस्करण) लता की आवाज़ में रिकॉर्ड करवाया.'

साहिर साहब और बर्मन का संगीत उन दिनों सबसे ज़्यादा हिट हुआ करता था, उसके बारे में भी कुछ बतायें. 'शरद, एक बात मैं ज़रूर कहूंगा कि बर्मन उन दिनों प्रोड्यूसर्स से एक बात ज़रूर कहते थे कि अगर मैं फ़िल्म में म्यूज़िक दूंगा तो गीत साहिर ही लिखेगा. इसी चक्कर में मैंने भी रोशन से, जिन्होंने मुझे एक फ़िल्म के गाने लिखने के लिए कहा था तो मैंने उनसे कहा कि मैं सिर्फ़ बर्मन के लिए लिखता हूं. रोशन शरीफ़ आदमी थे उन्होंने इस बात को दिल में नहीं रखा. बाद में मैंने और रोशन ने कई फ़िल्मों में साथ काम किया.'

एक शाम बातों-बातों में मैंने ओ.पी. नय्यर का ज़िक्र छेड़ा, तो साहिर साहब ने बताया कि फ़िल्मिस्तान की दो फ़िल्में *मुनीम जी* और *पेइंग गेस्ट* देव आनंद को लेकर हिट हुई थीं. जब फ़िल्मिस्तान के प्रोड्यूसर एस मुखर्जी ने *तुम सा नहीं देखा* के लिए देव को लेकर नासिर हुसैन को डायरेक्शन का चांस दिया तो देव की वजह से मैंने भी फ़िल्म साइन कर ली. म्यूज़िक नय्यर का था. मैंने टाइटल सॉन्ग लिखा जो रिकॉर्ड भी हुआ. बाद में देव ने नयी लड़की अमिता की वजह से फ़िल्म छोड़ दी. देव से मेरी दोस्ती थी, लिहाज़ा मैं भी फ़िल्म से हट गया. शायद नय्यर को इस बात की रंजिश रही होगी. *नया दौर* के बाद उन्होंने भी बर्मन की तरह कहना शुरू कर दिया कि मैंने साहिर का नाम

बी.आर. चोपड़ा को रिकमेंड किया था और फ़िल्म मेरी वजह से हिट हुई है. बाद में मजरूह सुल्तानपुरी और नय्यर की जोड़ी बन गयी. एस.डी. बर्मन और नय्यर को छोड़ने का सबसे ज़्यादा फ़ायदा मजरूह को हुआ.

एक शाम मैंने उनसे पूछा कि *सोने की चिड़िया* में आपका एक गीत 'प्यार पर बस तो नहीं मेरा' लिया गया था लेकिन आप तो नय्यर के साथ काम करने से मना कर चुके थे तो उन्होंने बताया कि, '*सोने की चिड़िया* शाहिद लतीफ़ और इस्मत चुग़ताई की फ़िल्म थी और वो इस गीत को फ़िल्म में लेना चाहते तो मैं उनके इसरार के आगे हां कर दी, लेकिन मैं रिकॉर्डिंग पर भी नहीं गया.'

साहिर साहब ने अपनी शर्तों पर काम किया. चोपड़ा बंधुओं के साथ उन्होंने लंबी पारी खेली. जब बी.आर.चोपड़ा ने फ़िल्म *साधना* के गीत लिखने के लिए साहिर साहब से कहानी डिस्कस की तो उनका पहला सवाल था कि फ़िल्म का म्यूज़िक कौन देगा. चोपड़ा साहब ने कहा कि 'तुम्हारी और बर्मन की तो अच्छी जोड़ी है' तो साहिर साहब का दो टूक जवाब था 'फिर गीत आप किसी और से लिखवाइए.' बी.आर. चोपड़ा ने हिम्मत नहीं हारी और म्यूज़िक डायरेक्टर की जिम्मेवारी साहिर साहब पर छोड़ दी. साहिर साहब ने एन.दत्ता का नाम सुझाया. उनके मुताबिक़ एन.दत्ता को उन्होंने *जाल* की रिकॉडिंग में बतौर असिस्टेंट देखा था और वो एन.दत्ता की कुछेक बी ग्रेड फ़िल्मों में गीत लिख चुके थे. एन.दत्ता का संगीत और साहिर के गीतों की *साधना* की कामयाबी में महत्वपूर्ण भूमिका थी.

बाद में बी.आर. चोपड़ा ने अपने छोटे भाई यश चोपड़ा को *धूल का फूल* फ़िल्म में डायरेक्शन का चांस दिया तो फिर साहिर और एन.दत्ता ने बी.आर. चोपड़ा की फ़िल्म *धूल का फूल* और *धर्मपुत्र* में साथ-साथ काम किया. बाद में संगीतकार रवि, बी.आर. चोपड़ा के कैंप में आ गये तो साहिर ने उनकी *वक़्त*, *आदमी और इंसान*, *हमराज़* और *धुंध* में भी साथ-साथ काम किया. *धुंध* में साहिर का लिखा, महेंद्र कपूर का गाया, गीत, 'संसार की हर शै का इतना ही फ़साना है, एक धुंध से आना है, एक धुंध में जाना है' काफ़ी लोकप्रिय हुआ.

जब यश चोपड़ा ने अपने बैनर यशराज फ़िल्म्स का आग़ाज़ किया तो उस बैनर की पहली फ़िल्म *दाग़* में भी साहिर ने गीत लिखे जिसका संगीत लक्ष्मीकांत प्यारेलाल ने दिया था. यश चोपड़ा की *काला पत्थर* (1980) तक साहिर ने गीत लिखे. जिन अन्य संगीतकारों के साथ साहिर ने फ़िल्मों में यादगार गीत लिखे उनमें रोशन, ख़य्याम और जयदेव का नाम लेना भी उचित होगा. रोशन की फ़िल्म *बाबर* (1960) में साहिर के दो गीत 'पयामे-उल्फ़त क़ुबूल कर लो' (सुधा मल्होत्रा) और 'तुम एक बार मोहब्बत का इम्तहान तो लो' (रफ़ी). *बरसात की रात* (1960) के लोकप्रिय गीत थे, 'ज़िंदगी भर नहीं भूलेगी वो बरसात की रात'; 'मैंने शायद तुम्हें पहले भी कहीं देखा है' और 'मायूस तो हूं वादे से तेरे' (रफ़ी). रोशन को 'क़व्वाली किंग' कहा जाता था. साहिर ने रोशन के लिए बेहतरीन क़व्वालियां लिखीं. *बरसात की रात* की क़व्वालियों को भला कौन भूल सकता है ख़ासकर 'ये इश्क़ इश्क़ है इश्क़ इश्क़' (रफ़ी, मन्ना डे, एस डी बातिश और सुधा मलहोत्रा).

1963 में साहिर को पहला *फ़िल्मफ़ेयर* पुरस्कार फ़िल्म *ताजमहल* के लिए मिला. इस फ़िल्म के यादगार गीत थे: *'जो बात तुझ में है तेरी तस्वीर में नहीं'*, 'पांव छू लेने दो फूलों को, इनायत होगी', (रफ़ी), 'जो वादा किया वो निभाना पड़ेगा' (लता, रफ़ी), लता द्वारा गायी गयी साहिर की ग़ज़ल 'जुर्मे-उल्फ़त पे हमें लोग सज़ा देते हैं' लता की यादगार ग़ज़लों में एक है. इसी फ़िल्म की क़व्वाली 'चांदी का बदन सोने की नज़र' (आशा, रफ़ी, मन्ना डे और मीना कपूर) पर साहिर औऱ रोशन के हस्ताक्षर मौजूद थे. इस जोड़ी की एक औऱ हिट फ़िल्म *चित्रलेखा* (1964) में साहिर ने शुद्ध हिंदी शब्दों का इस्तेमाल किया. फ़िल्म के निर्देशक थे केदार शर्मा जिन्होंने अपनी ही फ़िल्म *चित्रलेखा* (1940) में गीत स्वयं लिखे थे. लेकिन वो भी साहिर के गीतों के क़ायल थे. इस फ़िल्म का एक गीत 'संसार से भागे फिरते हो, भगवान को तुम क्या पाओगे' (लता) साहिर की भौतिकतावादी समझ की उत्कृष्ट मिसाल है. रफ़ी का गाया दिलकश भजन 'मन रे तू काहे ना धीर धरे' कुछ साल पहले फ़िल्मी पत्रिका *आउटलुक* (अंग्रेज़ी) द्वारा कराये गये फ़िल्मी गीतों के सर्वे में 20 वर्षों में लोकप्रियता के शिखर पर था.

साहिर और रोशन की एक और सफल फ़िल्म थी *दिल ही तो है* (1963). इस फ़िल्म के कई गीत लोकप्रिय थे, मसलन, 'तुम अगर मुझको न चाहो तो कोई बात नहीं' (मुकेश). शास्त्रीय संगीत पर आधारित मन्ना डे द्वारा गाये 'लागा चुनरी में दाग़ छुपाऊं कैसे' में रोशन ने अपने शास्त्रीय संगीत की विदग्धता को साबित किया था. इस फ़िल्म की महिला-क़व्वाली 'निगाहें मिलाने को जी चाहता है' (आशा और साथी) के अलावा एक और क़व्वाली 'पर्दा उठे सलाम हो जाये' (आशा, मन्ना डे और साथी) काफ़ी लोकप्रिय हुआ करती थीं.

साहिर और ख़य्याम की जोड़ी फ़िल्म *फिर सुबह होगी* (1958) से बनी थी. दरअसल, इस फ़िल्म के लिए साहिर साहब ने ही ख़य्याम साहब का नाम प्रोपोज़ किया था. इस फ़िल्म के लिए साहिर साहब ने अपनी मशहूर नज़्म 'वो सुबह कभी तो आएगी' के दो वर्ज़न तैयार किये थे. एक में मुकेश और आशा के स्वर थे और दूसरे में मुकेश का. इसी फ़िल्म में अन्य गीत थे 'चीनो-अरब हमारा, हिंदुस्तां हमारा' (मुकेश), युगल-गीत 'फिर न कीजे मेरी गुस्ताख़ निगाही का गिला' (मुकेश, आशा) और आशा का एकल गीत 'दो बूंदें सावन की'. फ़िल्म बॉक्स ऑफ़िस पर तो ज़्यादा कामयाब नहीं हुई लेकिन आज भी साहिर के गीतों और ख़य्याम के संगीत की वजह से याद की जाती है. इस जोड़ी की एक और फ़िल्म *कभी-कभी* (1976) भी निहायत कामयाब फ़िल्म थी. फ़िल्म का टाइटल सॉन्ग *तल्ख़ियां* से लिया गया था. इस फ़िल्म के भी ख़य्याम साहब ने दो वर्ज़न तैयार किये थे. एक लता और मुकेश के स्वर में तो दूसरा मुकेश के स्वर में. इसी गीत को अमिताभ बच्चन ने भी तरन्नुम से पढ़ा था. इस फ़िल्म के गीत 'मैं पल दो पल का शायर हूं' और पंजाबी रंग में 'तेरा फूलों जैसा रंग' भी ख़ूब लोकप्रिय हुए. फ़िल्म *कभी-कभी* में साहिर साहब को दूसरी बार *फ़िल्मफ़ेयर* पुरस्कार से नवाज़ा गया.

जयदेव के साथ साहिर साहब की फ़िल्में थी *हम दोनों* (1961) और *मुझे जीने दो* (1963). देव आनंद के लिए साहिर कई वर्षों बाद गीत लिख रहे थे और उन्होंने ही जयदेव का नाम देव को सुझाया था. इस फ़िल्म का गीत 'अभी ना जाओ छोड़कर कि दिल अभी भरा नहीं' (आशा, रफ़ी) उस साल का मक़बूल रोमांटिक गीत था. इस फ़िल्म के गीत 'मैं ज़िंदगी का साथ निभाता चला गया' (रफ़ी) को तो देव साहब ने अपने जीवन का मोटो बना लिया था. फ़िल्म की एक ग़ज़ल थी, 'कभी ख़ुद पे कभी हालात पे रोना आया' (रफ़ी), और साहिर के दो यादगार भजन 'अल्ला तेरो नाम' और 'प्रभु तेरो नाम जो ध्याये' (लता) बेहतरीन फ़िल्मी भजनों में शुमार होते हैं. दूसरी बार जयदेव के लिए साहिर ने *मुझे जीने दो* के लिए गीत लिखे. डाकुओं के विषय पर बनी इस फ़िल्म में गीतों की गुंजाइश तो कम थी लेकिन जयदेव की लोक धुनों पर आधारित 'नदी नारे ना जाओ' और 'मोके पीहर में मत छेड़' लोक-संगीत की असली छटा दिखाते हैं. साहिर को अपने गीत 'तेरे बचपन को जवानी की दुआ देती हूं' (लता) की मूल प्रेरणा अपनी मां से मिली थी और स्वयं जयदेव के शब्दों में इस फ़िल्म के लिए साहिर साहब का लिखा गीत 'रात भी है कुछ भीगी-भीगी, चांद भी है कुछ मद्धम-मद्धम' (लता) स्वयं जयदेव की पसंदीदा धुन थी.

साहिर साहब की शख़्सियत में एक अजीब-सा विरोधाभास था. जहां उनके चाहने वाले हज़ारों में थे तो वहीं उनके आलोचकों की गिनती भी कम नहीं थी. साहिर साहब और मेरे रिश्तों के बारे में दिल्ली के कई लोग जानते थे. वो जान-बूझकर मुझसे साहिर साहब के बारे में बेबुनियाद बातें करते थे. तब मुझे इतनी समझ न थी, और जब मैं उन बातों का ज़िक्र साहिर साहब के आगे करता था तो वो कहते थे, 'यार मैं भी ये बातें सुनता रहता हूं, बेहतर है कि तुम इन बातों पर तवज्जो मत दो.' साहिर साहब ने एक बार मुझे ख़ुद बताया था कि उनके समकालीन और प्रगतिशील शायर, ख़ास कर सरदार जाफ़री और कैफ़ी आज़मी, कोई ऐसा मौक़ा नहीं छोड़ते थे कि मुझे नीचा दिखा सकें. सरदार ने तो यहां तक कह दिया कि मेरी नज़्म 'ताजमहल' घटिया है तो मैंने सरदार से कहा, 'तुम ये साफ़-साफ़ क्यों नहीं कहते की मैं घटिया शायर हूं. या उनका यह कहना कि मेरी मौत पर कोई भी प्रोग्रेसिव राइटर मेरे जनाज़े में शिरकत नहीं करेगा तो मैं उसे हंसते हुए टाल देता और कहता कि भाई मैं तो हर प्रोग्रेसिव राइटर के जनाज़े में शिरकत करूंगा.'

'यह बात सच है कि जब कैफ़ी आज़मी ने *तल्ख़ियां* का पहला एडिशन देखा तो मेरी शायरी का दीवाना हो

गया. उसने मेरे बारे में एक ख़ूबसूरत मज़मून भी लिखा. फिर धीरे-धीरे वो मुझसे दूरियां बनाने लगे. लेकिन मैं उनकी इन बातों को अहमियत नहीं देता.'

साहिर साहब से मैंने यह सीख हासिल की कि लोग कामयाब शख़्स के बारे में कुछ न कुछ तो कहते रहते हैं. ये भी महज़ एक इत्तेफ़ाक़ है कि मेरी आख़िरी मुलाक़ात उनसे दिल्ली में जनपथ होटल में हुई. रईस मिर्ज़ा और हमारे दोस्त राजा (राजेंद्र सिंह) उनके कमरे में बैठे थे. साहिर साहब अपनी अम्मी के इंतक़ाल के बाद बेहद तन्हा हो गये थे और उन्हें दिल का दौरा भी पड़ चुका था. मुझे याद है कि उस रोज़ साहिर साहब ज़्यादा नहीं बोले. राजा ने साहिर साहब से इजाज़त लेकर उनकी कई नज़्मे और ग़ज़लें सुनायीं. उस दिन साहिर साहब कुछ थके-थके से लग रहे थे लिहाज़ा उनसे जल्द ही इजाज़त ली.

दिल्ली दूरदर्शन ने अक्टूबर 1980 में एक अखिल भारतीय मुशायरे का आयोजन किया. बतौर प्रोड्यूसर मैंने उस वक़्त के सभी मशहूर शायरों को इसमें शिरकत करने की दावत दी थी. मेरी हार्दिक इच्छा थी कि साहिर साहब इस मुशायरे में तशरीफ़ लायें. मगर उन्होंने तार मिलने पर फ़ोन करके मुझे ख़बर दी कि इन दिनों वे अस्वस्थ हैं, लिहाज़ा इस मुशायरे में वो नहीं आ पायेंगे. 19 अक्टूबर को इस मुशायरे की रिकॉर्डिंग की गयी थी, जो यादगार इसलिए थी कि उसमें सभी शायर मौजूद थे सिवाय मेरे महबूब शायर साहिर साहब के. इस रिकॉर्डिंग के 6 दिन बाद 25 अक्टूबर 1980 को दिल के शदीद दौरे से उनका बंबई में इंतक़ाल हो गया. यह ख़बर उनके चाहने वालों के लिए गहरे सदमे से कम न थी. उनकी एक मशहूर नज़्म है जो उन्होंने जवाहरलाल नेहरू के निधन पर लिखी थी.

जिस्म की मौत कोई मौत नहीं होती है
जिस्म के मिट जाने से इंसा नहीं मर जाते

साहिर साहब 1950 से 1980 तक फ़िल्मी गीतों के आकाश पर छाये रहे. उन्होंने लगभग 115 फ़िल्मों में 800 गाने लिखे. आज साहिर साहब भले ही हमारे बीच न हों लेकिन वो अपनी शायरी, *तल्ख़ियां, परछाइयां, आओ कि कोई ख़्वाब बुनें* और फ़िल्मी गीतों के कारण हमारी अपने चाहने वालों की यादों में ज़िंदा रहेंगे.

आज जब भी मैं फ़िल्मी संगीत सुनता हूं तो बार-बार उनकी भविष्यवाणी याद आती है कि जिस रोज़ फ़िल्मी गीतों से लफ़्ज़ की अहमियत, जिसे वो गीतों की रूह मानते थे, ख़त्म हो जायेगी, फ़िल्म संगीत महज़ शोर बनकर रह जायेगा. संगीत प्रेमी साहिर साहब की इस बात से सौ फ़ीसदी सहमत होंगे, ऐसी मेरी आशा है.

मो : 9811205442

एक इंक़लाबी शायर

गौहर रज़ा

अक्तूबर 1945 में हैदराबाद में प्रोग्रेसिव रायटर्स असोसिएशन (PWA) की कुल-हिंद कॉन्फ्रेंस होनी थी और यहां उस वक़्त के सारे नामवर लेखकों, कवियों, रंगकर्मियों को जमा होना था. इस कॉन्फ्रेंस में लाहौर के एक कवि को भी लेख पढ़ने के लिए शामिल होना था. सबको उसका इंतज़ार था. उसकी इंक़लाबी नज़्में लगातार पत्रिकाओं में छपती रही थीं, ख़ासकर गुप्त रूप से छपने वाले अख़बारों में. उस ज़माने में नौजवानों को यह इंतज़ार रहता था कि कब इस शायर की नयी नज़्म छपे और उन्हें पढ़ने को मिले. उसकी एक नज़्म ने तो तहलका ही मचा दिया था. नज़्म का उनवान था, 'ताजमहल'. ताजमहल जो अब तक सिर्फ़ साहित्य में ही नहीं बल्कि अवाम की नज़रों में भी इश्क़ और मुहब्बत का प्रतीक था, जिसकी शोहरत दुनिया भर में फैली हुई थी, जिसके बारे में कहा जाता था कि ज़िंदगी में एक बार तो इसके दीदार करना ही चाहिए—और ऐसे प्रतीक के बारे में यह नज़्म कह रही थी: ' तुझको इस वादी-ए-रंगीं से अक़ीदत ही सही, मेरी महबूब कहीं और मिला कर मुझसे'. पहली तीन पंक्तियां ही बेहद चौंका देने वाली थीं. और यह नज़्म कहीं और मिलने की वजह भी बता रही थी: 'एक शहंशाह ने दौलत का सहारा ले कर, हम ग़रीबों की मुहब्बत का उड़ाया है मज़ाक़'. ताजमहल को इस नज़र से देखने की हिम्मत पहले किसी शायर या लेखक ने नहीं की थी. इस नज़्म के छपने के बाद साहित्यिक आलोचना करनेवाले और इसे पढ़नेवाले दो हिस्सों में बंट गये. एक तरफ़ वे थे जो इस नज़्म को बेहतरीन नज़्मों में शुमार कर रहे थे और दूसरी तरफ़ वे थे जो ताजमहल और शाहजहां के इश्क़ में गिरफ़्तार होकर इस नज़्म पर लानत भेज रहे थे. नज़्म लिखनेवाला शायर दोनों से ही ख़ुश था कि उसकी नज़्म चर्चा में तो है. आलोचना करनेवालों को इस बात पर एतराज़ था कि ताजमहल को इस नज़र से नहीं देखना चाहिए, बाद में तो शमसी मीनाई ने साहिर को बुरा भला कहते हुए एक जवाबी नज़्म भी लिख डाली. इस नज़्म को साहित्य की तराज़ू पर तोल कर ख़राब कहना नामुमकिन था. यह पूरी तरह उर्दू शायरी की परंपरा में रची बसी थी, जज़्बात की शिद्दत को शब्दों में जिस तरह पिरोया गया था उसमें बला की रवानी थी और हर मिसरा बावज़न था. कहीं कोई सक्ता (लय का टूटना) या ठहराव नहीं था. पढ़ कर लगता था, किसी उम्र-रसीदा और तजुर्बेकार शायर की कलाकृति है. और जब 1945 में इस शायर की कविताओं की किताब छप कर सामने आयी तब भी उसे हाथों हाथ लिया गया.

हां, तो बात हो रही थी 1945 की. नामवर शायर और अदीब इस शायर से मिलने के लिए उत्सुक थे क्योंकि एक बड़े फ़नकार की हैसियत से उसकी शोहरत पूरे साहित्यिक जगत में फैल चुकी थी. इस शायर का नाम था 'साहिर लुधियानवी'. नाम तो अब्दुल-हई था, मगर यह नाम कोई नहीं जानता था. सब तख़ल्लुस ही से आशना थे. शुरुआती नज़्में ए.एच. साहिर के नाम से छपीं, फिर ए.एच. ग़ायब हो गया. नाज़ सिद्दीक़ी अपनी किताब *साहिर—शख़्स और शायर* में लिखती हैं कि 'साहिर कॉन्फ्रेंस में शिरकत के लिए पहुंचे तो 23-24 बरस के नौजवान को देखकर सब हैरतज़दा रह गये क्योंकि उनकी तहरीरों से यह तसव्वुर पैदा होता था कि वो पुख़्ता उम्र के अदीब होंगे.'

साहिर की इस शोहरत की तीन ख़ास वजहें थीं. पहली थी, उनके क़लम की ताक़त और रवानी. अगर क़लम में ताक़त और रवानी न हो तो कोई शायर तो हो सकता है मगर शोहरत कभी हासिल नहीं कर सकता. दूसरी वजह थी, मुल्क ही क्या सारी दुनिया में समाजवादी और कम्युनिस्ट विचारों का फैलाव, जिसने संस्कृति के हर पहलू को प्रभवित किया था. ये विचार इंसानों की बराबरी का डंका बजा रहे थे, इंसान पर इंसान के ज़ुल्म के ख़िलाफ़ खड़े

थे और ऐसे समाज का ख़ाब दिखा रहे थे जहां दमन की सदियों पुरानी चक्कियों के लिए कोई जगह नहीं होगी. ये विचार कह रहे थे कि मज़दूरों और किसानों की अगुआई में ऐसी दुनिया तामीर की जा सकती है जिसमें हर शोषित वर्ग शोषण से पूरी तरह आज़ाद हो.

साहिर की शायरी उन विचारों की अक्कासी कर रही थी जिनकी वजह से देश की आज़ादी और इंसानी आज़ादी के बीच की सीमा धुंधली पड़ गयी थी. देश के उफ़क़ पर आज़ादी का सवेरा उभरता हुआ दिखायी दे रहा था. नौजवानों, मज़दूरों और किसानों के एक बड़े हिस्से को उम्मीद थी कि इसका रंग लाल होगा. साहिर का क़लम भी इसी सुबह के इंतज़ार में अनथक चल रहा था. तीसरी वजह थी, उनका कॉलेज के ज़माने में लाहौर पहुंचने पर उर्दू की अदबी पत्रिकाओं का एडिटर हो जाना. *अदबे-लतीफ़, सवेरा* और *शाहकार* पत्रिकाओं के संपादक की हैसियत से उनकी पहचान लाहौर के सांस्कृतिक दायरों से बढ़कर मुल्क के हर कोने तक पहुंच गयी जहां इन पत्रिकाओं को बेहद इज़्ज़त की नज़र से देखा जाता था. कॉलेज में छात्र नेता, AISF के सदस्य, फिर अध्यक्ष और फिर PWA के एक मज़बूत स्तंभ तक का सफ़र भी साहिर ने काफ़ी कम उम्र में तय कर लिया.

साहिर लुधियानवी ने नरेश कुमार शाद को दिये एक इंटरव्यू में कहा कि 'मैं कभी किसी राजनीतिक पार्टी का सदस्य नहीं रहा मगर ग़ुलाम हिंदुस्तान में आज़ादी के पहलू ढूंढ़ना और उनका प्रसार-प्रचार करना मेरा लक्ष्य रहा है और अब मैं (इंसानी) आर्थिक आज़ादी का पक्षधर हूं, जिसकी सबसे साफ़ शक्ल मेरे नज़दीक कम्युनिज़्म है. ' उन्होंने मार्क्सवाद पढ़ा, समझा और इस फ़लसफ़े को अपने सोच का हिस्सा बना कर इन ख़यालात को ग़ज़लों, नज़्मों और गीतों के ज़रिये अवाम तक पहुंचाने में उम्र गुज़ार दी. यह अजीब बात ही लगती है कि एक अय्याश ज़मींदार का बेटा मार्क्सवादी हो जाये और ज़िंदगी भर कम्युनिस्ट रहे. मगर वह दौर ही ऐसा था. टूटते हुए सामंती निज़ाम की बख़िया उधड़ रही थी, दुनिया के बाज़ार के बंटवारे के लिए यूरोप में लड़ी जाने वाली जंग की हौलनाकियों ने साम्राज्यवाद के सारे नक़ाब उठा दिये थे. मुनाफ़े की बढ़ती हुई भूख इंसानों और इंसानियत पर क्या कुछ तबाही ला सकती है, उसे किस तरह आग और ख़ून के दलदल में धकेल सकती है, यह अब किसी से छुपा नहीं था. यूरोपी साम्राज्यवाद का यह दावा कि 'हम सारी दुनिया को सभ्य बनाने निकले हैं,' पूरी तरह नंगा हो चुका था.

साहिर की ज़िंदगी का पहला मोड़ था वह मुक़दमा जो उनकी मां जी (कई क़रीबी दोस्तों के मुताबिक़ साहिर अपनी मां को मां जी कह कर ही पुकारते थे) ने अपने पति से लड़ा. इस मुक़दमे के दौरान उनके बाप का यह रवैया था कि 'अपने बेटे को वह पढ़ाये जिसे नौकरी करनी हो, मेरे बेटे को क्या कमी है. ' और मां जी साहिर को पढ़ा लिखा कर सरकारी अफ़सर बनाना चाहती थीं. यह सिर्फ़ ख़ानदानी झगड़ा नहीं था—ये दो विपरीत दृष्टिकोण थे जिनके बीच घर-घर में भीषण टकराव था. मां जी प्रगतिशील विचारों के साथ थीं, आधुनिक शिक्षा के साथ थीं, और ज़मींदार साहब सामंती क़द्रों और जहालत के पाले में थे. इस सामंती रवैये की जड़ें इतनी मज़बूत थीं कि जब साहिर ने स्कूल जाना शुरू किया तो उनके बाप का कहना था, 'इतने बड़े जागीरदार के बेटे को स्कूल जाते शर्म नहीं आती!' और साहिर को अग़वा करवाने से लेकर मरवाने तक की धमकियां देते रहे. साहिर की ख़ुशक़िस्मती थी कि इस टकराव में मां जी की जीत हुई. अगर यह जीत न होती तो शायद हम एक बड़े इंक़लाबी शायर को खो देते.

साहिर की ज़िंदगी में दूसरा बड़ा मोड़ था स्कूल और कॉलेज के दिनों में उन छात्रों, अध्यापकों और बुद्धिजीवियों के संपर्क में आना जो आज़ादी की जंग लड़ रहे थे और मार्क्सवादी विचारों से रूबरू हो रहे थे. इस माहौल में मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन उनके पसंदीदा लेखकों में शामिल हो गये. नज़्में और ग़ज़लें कहना शुरू कीं और उनमें तबक़ाती जद्दोजहद, जंग, साम्राज्यवाद और सामंतवाद से नफ़रत, समाज में मज़दूरों-किसानों की बदहाली और औरतों की दशा जैसे मुद्दों ने उन्हें आकर्षित किया. मार्क्सवाद की समझ ने ही उनकी इश्क़िया शायरी को ऐसा मोड़ दिया जिसमें इश्क़ की नाकामी का ज़िम्मेदार सरमायदाराना निज़ाम था, महबूब की बेवफ़ाई नहीं.

कुछ लेखकों का यह मानना है कि उन्हें लाहौर कॉलेज से इसलिए निकाला गया कि वे किसी प्रभावशाली

बाप की लड़की, जो उनके कॉलेज में पढ़ती थी, के इश्क़ में गिरफ़्तार थे; और कुछ का मानना है कि इसकी ज़िम्मेदार उनकी इंक़लाबी हरकतें थीं. इस सिलसिले में कृष्ण अदीब लिखते हैं, 'कॉलेज के दिनों में उसके अंदर का शायर साहिर लुधियानवी बन कर बेदार हुआ जिसने ब्रिटिश साम्राज्य और उस वक़्त के सामंती सिस्टम के ख़िलाफ़ बग़ावत का परचम बुलंद करते हुए इंक़लाबी नज़्में लिखना शुरू कर दीं. इन नज़्मों में शिद्दत की अवामी अपील होती थी, लिहाज़ा वो जल्द ही सारे कॉलेज का हीरो बन गया—और इसी शायरी के तुफ़ैल उसे कॉलेज से निकाला भी गया क्योंकि उसने पब्लिक स्टेज पर चढ़ कर 'ऐंटी वार फंड' नज़्म पढ़ी. ' यही इंक़लाबी समझ नौजवान साहिर को करतार सिंह सराभा के गांव ले गयी जहां एक बड़ा आयोजन था जिसकी शुरुआत ही उनकी नज़्मों से हुई.

बहरहाल, कॉलेज से निकाले गये तो लुधियाना भी छोड़ना पड़ा और साहिर लाहौर आ गये. यहां कॉलेज की पढ़ाई में दिल न लगने की वजह से पढ़ाई छूटी, वरना शायद उस ख़्वाहिश को पूरा करने में लग जाते जो उन्होंने कॉलेज का फ़ॉर्म भरते हुए ज़ाहिर की थी, 'वो पढ़ लिख कर वकील बना चाहते थे'. यही ख़्वाहिश थी मां जी की भी. यह ज़िंदगी का दूसरा अहम मोड़ था. अगर यह ख़्वाहिश पूरी हो जाती तो भी शायद हम एक बेहतरीन शायर को खो देते.

साहिर की ज़िंदगी का तीसरा बड़ा मोड़ था हैदराबाद की 'अंजुमन तरक़्क़ीपसंद मुसन्निफ़ीन की कुल हिंद कॉन्फ्रेंस' में जाना, जिसका ज़िक्र मैं ऊपर कर चुका हूं. हैदराबाद से साहिर वापस लाहौर लौटने के बजाय बंबई आ गये, जो फ़िल्मों और तरक़्क़ीपसंद तहरीक दोनों का केंद्र बन चुका था. फ़िल्मों ने साहिर को बचपन से ही बहुत आकर्षित किया था. यहां फ़िल्मों में गाने लिखने की जद्दोजहद शुरू हुई.

अभी बंबई में पैर जमे भी नहीं थे कि देश का बंटवारा हो गया और सांप्रदायिक दंगे भड़क उठे. इन दंगों ने साहिर को ज़िंदगी को एक और मोड़ पर लाकर खड़ा कर दिया. दंगे भड़क रहे थे, आग लगी हुई थी, क़त्लेआम मचा हुआ था और लुधियाना से मां जी की कोई ख़बर नहीं आयी थी. साहिर सब कुछ छोड़ कर दिल्ली आये. यहां उन्हें छुपकर एक सिख दोस्त के घर भी रहना पड़ा. इन हालात में भी इस हस्सास शायर ने एक बेहतरीन नज़्म लिखी जो ऑल इंडिया रेडियो से नश्र भी हुई: 'साथियो मैंने बरसों तुम्हारे लिए, चांद तारों बहारों के नग़मे बुने'. मां जी की तलाश में लुधियाना पहुंचे. वहां पता चला कि उनके दोस्तों ने अपनी जान पर खेल कर मां जी को लाहौर भेज दिया है. और एक दोस्त तो इस इल्ज़ाम में शहीद भी हुए कि वे मुसलमानों को बचा रहे हैं.

साहिर ट्रेन से लाहौर चल दिये, लेकिन न जाने उनके दिल में क्या आयी कि जिस ट्रेन पर बैठे थे, कुछ स्टेशन बाद उतर पड़े और अगली ट्रेन से जाने का फ़ैसला किया. बाद में मालूम हुआ कि उस ट्रेन के सारे मुसाफ़िर क़त्ल कर दिये गये (महमूद अय्यूबी, 'अनवर बीबी के भाईजान', *फ़न और शख़्सियत:* साहिर लुधियानवी अंक, पृष्ठ 37). साहिर अगर उस ट्रेन से न उतरते, दूसरी ट्रेन में न बैठते तो इस महाद्वीप के सबसे मशहूर शायर को भी दंगों की आग निगल लेती, नफ़रत करनेवाले उसे भी सांप्रदायिकता की सूली पर चढ़ा देते और उसकी दिल्ली में बंटवारे पर लिखी नज़्म आख़िरी नज़्म होती.

बहरहाल, साहिर को लाहौर में मां जी मिली गयीं जहां वे एक दोस्त के घर रह रही थीं, और नये मुल्क पाकिस्तान में एक बार फिर साहिर ने ज़िंदगी के तानेबाने बुनने की कोशिशें शुरू कीं. उस वक़्त पाकिस्तानी हुकूमत पूंजीपति देशों को यक़ीन दिला रही थी कि वह मुल्क में समाजवादी विचारों को नहीं पनपने देगी और साहिर लिख रहे थे, 'दबेगी कब तलक आवाज़े-आदम हम भी देखेंगे'. पाकिस्तान की सीआईडी पीछे पड़ गयी, कम्युनिस्ट गिरफ़्तार किये जाने लगे. ख़बर यह थी कि साहिर के ख़िलाफ़ भी वारंट है. साहिर को पाकिस्तान छोड़ना मंज़ूर था मगर अपने क़लम को नीलाम करना मंज़ूर नहीं था. और उन्होंने लाहौर छोड़ दिया, वरना उन्हें भी फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ और हबीब जालिब की तरह ज़िंदगी का एक बड़ा हिस्सा जेल में ही गुज़ारना पड़ता.

साहिर मां जी को लेकर दिल्ली लौटे. यहां बदर साहब, मुहम्मद यूसुफ़ जामई और प्रकाश पंडित के साथ

मिलकर *शाहराह* पत्रिका की शुरुआत भी की और उसके एडिटर भी रहे और फिर कुछ अरसे बाद बंबई चले गये. बंबई धक्के खाते रहे और ऐसा दौर झेला जिसमें अपने लिखे गाने पांच रुपये में बेचे, मां की चूड़ियां बेचनी पड़ीं, कृष्णचंदर की कहानियों को ख़ुशख़त लिखकर ज़िंदगी चलायी, मगर हिम्मत नहीं हारी. बेइज़्ज़ती भी सही. शाहिद लतीफ़ ने, जो बड़े प्रोड्यूसर-डायरेक्टर थे और साहिर का उनके घर आना जाना भी था, यहां तक कहा कि 'आपसे फ़िल्म के गाने लिखवाना एक बहुत बड़ा ख़तरा मोल लेने के मुतरादिफ़ है. अगर आपके माली हालात ख़ुशगवार नहीं हैं तो आप बिला-तकल्लुफ़ हमारे यहां दो वक़्त खाना खा सकते हैं.' ये अल्फ़ाज़ किसी भी हस्सास शख़्स के दिलो-दिमाग़ पर अंगारों की तरह ही गिरेंगे. साहिर ने उनसे मिलना छोड़ दिया (कृष्ण अदीब, *साहिर यादों के आईने में*, मॉडर्न पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1985, पृष्ठ 36).

कृष्ण अदीब, जो उनके क़रीबी दोस्त भी थे, लिखते हैं, साहिर को यक़ीन था कि 'हिंदुस्तान में बस एक ही शहर बंबई है जहां फ़नकार ज़िंदा रह सकता है, वरना उर्दू बाज़ार, दिल्ली में तो बब्बन मियां के होटल की अफ़ीम जैसी चाय पीकर आर्टिस्ट, आर्टिस्ट नहीं रह सकता.' फ़ाक़ामस्ती के दिनों में अक्सर यह भी कहा करते थे कि 'यह बंबई शहर है, शुरू के कई साल हर आनेवाले से मेहनत कराता है और फिर उसे बांहें खोल कर अपना लेता है.'और हुआ भी यही, इस शहर ने उन्हें ऐसा अपनाया कि उन पर बेपनाह दौलत और शोहरत निछावर कर दी. उनके नाम को भारतीय उपमहाद्वीप के हर घर तक पहुंचा दिया.

साहिर के लिए बंबई शहर और फ़िल्म इंडस्ट्री की बांहें खुलने का क़िस्सा भी कृष्ण अदीब ने काफ़ी दिलचस्प तरीक़े से लिखा है. एक दिन उस वक़्त के मशहूर डायरेक्टर-प्रोड्यूसर मोहन सहगल ने साहिर को राय दी, 'साहिर तुम एक काम करो, इन दिनों फ़िल्म में एस. डी. बर्मन म्यूज़िक डायरेक्टर की बहुत मांग है लेकिन उसे कोई अपनी पसंद का गीत लिखनेवाला नहीं मिलता, तुम कल सुबह उससे मिलो. वो नयी सलाहियतों की क़द्र करता है. 'एस. डी. बर्मन ने बंगाली होने की वजह से साहिर का नाम भी नहीं सुना था, जबकि उर्दू दुनिया में साहिर की कम-उम्री में भी एक शायर की हैसियत से बड़ी शोहरत और इज़्ज़त थी. साहिर अगले दिन उनके घर पहुंचे. एस. डी. बर्मन ने बिठाया और एक धुन सुना कर गीत लिखने को कहा. साहिर ने उनसे कहा कि वे धुन फिर से सुनायें. 'बर्मन हारमोनियम पर धुन सुना रहे थे और साहिर साथ-साथ गाना लिखे जा रहा था: 'ठंडी हवाएं, लहरा के आयें...' एस. डी. बर्मन साहिर को लेकर स्टूडियो पहुंचे ताकि सबसे साहिर का परिचय करायें और अपनी इस नयी खोज का सिक्का सब पर जमा सकें, मगर यहां तो सभी उन्हें जानते थे. साहिर दाख़िल हुए तो स्वागत में सब खड़े हो गये. फिर क्या था, *नौजवान* फ़िल्म के लिए सारे ही गाने साहिर ने लिखे. मगर यह गीत जिसे लता मंगेशकर ने गाया था, ऐसी चाबी साबित हुआ कि जिससे फ़िल्म इंडस्ट्री के सब दरवाज़े साहिर के ख़ैरमक़दम में खुल गये. लोग आज भी इस गीत को गुनगुनाते हैं.

फ़िल्म इंडस्ट्री में साहिर से पहले, उनके ज़माने में और उनके बाद ज़्यादातर क़िस्मत आज़मानेवाले शायरों और गीतकारों ने फ़िल्मी दुनिया के घटिया माहौल से समझौता किया था. जिन्होंने समझौता नहीं किया, वे या तो ख़ुद ही अलग हो गये, नहीं तो फ़िल्मी दुनिया ने उन्हें अलग कर दिया. साहिर अकेले शायर हैं जिन्होंने समझौता करने से इनकार ही नहीं किया बल्कि फ़िल्मी दुनिया को उनसे समझौता करने पर मजबूर होना पड़ा. साहिर की अज़मत के सामने फ़िल्म इंडस्ट्री ने कुछ ऐसे सर झुकाया कि पोस्टर और बैनर पर उनका नाम गीतकार की हैसियत से लिखा जाने लगा. साहिर से पहले किसी गीतकार का नाम फ़िल्म की कामयाबी के लिए नहीं इस्तेमाल किया गया था.

क़लम की ताक़त, अल्फ़ाज़ की रवानी और मौसीक़ी की समझ—साहिर की इन तीनों सलाहियतों ने फ़िल्मी दुनिया में उन्हें अपनी ख़ास जगह बनाने में मदद तो की, मगर उनकी मार्क्सवादी समझ और सोच ने उन्हें इसलिए शिखर पर पहुंचा दिया कि वे समाजी रिश्तों के असर को आपसी रिश्तों के बनने और बिगड़ने का ज़िम्मेदार ठहरा

कर उसे बड़ी आसानी से, बेहद जज़्बाती अंदाज़ में, अल्फ़ाज़ में पिरोने का फ़न जानते थे. इसी महारत की वजह से सुनने या पढ़नेवाले को यह पता ही नहीं चलता था कि कब उनकी इश्क़िया शायरी इंक़लाबी शायरी में दाख़िल हो गयी. दूसरी चीज़ जो साहिर को अन्य गीतकारों से अलग करती है, वह फ़िल्मी दुनिया में उनका मक़सदे-ज़िंदगी है. इसकी तरफ़ उन्होंने 'गाता जाये बंजारा' की भूमिका में इशारा भी किया है. साहिर ने औरों की तरह इस दुनिया को सिर्फ़ दौलत और शोहरत कमाने का माध्यम नहीं माना, उनका मानना था कि फ़िल्म विचारों के प्रचार प्रसार का एक बेहद कारगर माध्यम है. और साहिर ने फ़िल्मी गीतों के ज़रिये 'सरमायादाराना निज़ाम का दमन','इंसान की बराबरी','औरतों की दुर्दशा','औरतों के हुक़ूक़','जंग','मज़दूरों और किसानों के संघर्ष','समाजवाद और इंक़लाब', 'सांप्रदायिकता', 'धर्म का ओछापन' और 'हकूमतों की तानाशाही' जैसे मुद्दों पर अपने विचारों को समाज के सामने बड़ी बेबाक़ी से रखा. साहिर से पहले कोई गीतकार इन विचारों को फ़िल्मी गीतों में पिरोने की हिम्मत नहीं जुटा पाया था.

उन्होंने यह बात भी खुल कर कही है कि फ़िल्मी गीतों को लिखते वक़्त वह आज़ादी नहीं होती जो अदबी शायरी लिखने में हमेशा हासिल होती है. फ़िल्म के किसी पात्र को दर्शाते हुए कहानी और उसके चरित्र को ध्यान में रखते हुए ही गीत लिखना होता है. इसके बावजूद साहिर ने 'बूट पॉलिश' करने वाला हो या 'डाकू' या 'तन बेचनेवाली महिला'—इनके मुंह से कभी अश्लील गाने नहीं गवाये. शायद इसकी वजह भी उनका मार्क्सवाद में यक़ीन ही थी. वे 'अवाम के लिए घटिया साहित्य' और 'ख़ास लोगों के लिए ऊंचे दर्जे के लेखन' में यक़ीन नहीं रखते थे. साहिर ने इसी यक़ीन की वजह से फ़िल्म के लिए रचना और अदबी तख़लीक़ की खाई को पाटने की भरपूर कोशिश की, और इसमें वे कामयाब भी रहे. उनसे पहले यह कोशिश प्रेमचंद से लेकर जोश मलीहाबादी जैसे बड़े फ़नकार कर चुके थे मगर कोई कामयाब नहीं हुआ था.

साहिर ने अच्छे शे'र की परिभाषा कुछ इस तरह दी है : 'ख़ूबसूरत हो, सच्चा हो और मुफ़ीद हो'. ख़ूबसूरत शायरी करनेवालों की कम से कम उर्दू अदब में कभी कमी नहीं रही. मगर शे'र सच्चे भी हों, इस कसौटी पर कम ही शायर पूरे उतरते हैं और शायरी के मुफ़ीद होने पर तो साहित्य जगत हमेशा ही बंटा हुआ दिखायी देता है.

'साहित्य सिर्फ़ साहित्य के लिए या साहित्य मक़सद के लिए' की बहस देश में उस वक़्त अपने उरूज पर थी जब साहिर ने इस मैदान में क़दम रखा था. साहिर का यह कहना कि जो शायरी मुफ़ीद नहीं वह अच्छी हो ही नहीं सकती, उन लोगों को जवाब था जो प्रलेस पर लगातार हमले कर रहे थे. पर यह प्रलेस से जुड़े कुछ लोगों को चेतावनी भी थी कि उनके साहित्य को ख़ूबसूरत और सच्चा भी होना ज़रूरी है. साहिर की अपनी ग़ज़लें, नज़्में और गीत इस परिभाषा की कसौटी पर पूरे उतरते हैं. वे समाज के लिए भी मुफ़ीद हैं और किसी भी शख़्स की ज़िंदगी के लिए भी. और यही ख़ासियत साहिर को हिंदुस्तान का सबसे मशहूर क्रांतिकारी शायर बनाती है.

मो. 9810358179

साहिर के सरोकार

अर्जुमंद आरा

प्रगतिशील आंदोलन ने कम से कम चार शायर ऐसे दिये हैं जिनका निजी जीवन और कविकर्म दोनों ही लोगों की रुचि का केंद्र बने और जिसके कारण उनकी शायरी पर उनके जीवन वृतांत का अक्स, और जीवन के घटनाक्रम में उनकी शायरी की झलकियां तलाश करना स्वयं में एक दिलचस्प मशग़ला बन गया. ये चारों यूं तो बड़े लोकप्रिय शायर थे लेकिन उनके जीवन की कुछ घटनाओं ने उनकी लोकप्रियता में इज़ाफ़ा किया, और इनमें से फ़ैज़ और मख़्दूम को इंक़लाबी और रूमानी हीरो, तो मजाज़ और साहिर को ट्रैजिक हीरो जैसी छवि दी. फ़ैज़ का रावलपिंडी साज़िश केस में मौत की सज़ा से बाल-बाल बचना, मौत और ज़िंदगी के बीच लटकते हुए चार-पांच साल जेल में गुज़ारना, कालकोठरी में महीनों तक तन्हा रहना, जीवन का एक हिस्सा जलावतन होने पर मजबूर होना—और ये सब कठिनाइयां निजी कारणों से नहीं बल्कि उन आदर्शों के लिए झेलना जो उस समय प्रगतिशील आंदोलन से जुड़े बहुत से लेखकों और कवियों के आदर्श थे. लेकिन फ़ैज़ के लिए ये आदर्श फ़ैशन नहीं बल्कि जीवन मूल्य का दर्जा रखते थे. इसी तरह मख़्दूम मुहीयुद्दीन की ग़रीबी की कठिन ज़िंदगी ने उन्हें जीवन के यथार्थ के रूबरू होने का सीधा मौक़ा दिया तो सियासी आदर्श ने उस तजुर्बे को सार्वजनिक तजुर्बे के रूप में समझने में मदद दी. उन्होंने ग़रीब, भूमिहीन किसानों की कठिनाइयों को महसूस किया और तेलंगाना तहरीक का हिस्सा बनकर उनके हक़ के लिए जागीरदारों और निज़ाम के विरुद्ध हथियार उठा लिये. रूपोश रहकर छापामारी करते वे कई बार जेल गये. उनकी इंक़लाबी नज़्में हैदराबाद और पूरे तेलंगाना क्षेत्र में गली कूचों में गायी जाने लगीं. जब-जब जेल से बाहर आते, हज़ारों की संख्या में अवाम उन्हीं की नज़्मों से उनका स्वागत करते. शायरी को इंक़लाब का हथियार बनाने की इस परंपरा ने फ़ैज़ और मख़्दूम, दोनों की लोकप्रियता को बढ़ाया, लेकिन केवल सियासी और इंक़लाबी शायर के तौर पर नहीं बल्कि उससे अधिक वे अपनी मानवीय संवेदनाओं और इश्क़िया शायरी के लिए जाने गये. फ़ैज़ और मख़्दूम के नज़दीक इश्क़ और इंक़लाब जीवन के दो अलग-अलग पहलू नहीं, बल्कि ऐसे यथार्थ हैं जिनमें कोई परस्पर विरोध नहीं है.

मजाज़ और साहिर ने भी इश्क़ और इंक़लाब दोनों के गीत गाये लेकिन उन्होंने राजनीतिक कर्मभूमि में अमली तौर पर क़दम नहीं रखा. केवल सैद्धांतिक और वैचारिक स्तर पर वामपंथ और स्वतंत्रता संग्राम के साथ रहे. इन दोनों का संबंध ज़मींदार और जागीरदार घरानों से था, लेकिन आर्थिक स्तर पर दोनों ने कठिनाइयों का सामना किया. वे प्रेम में नाकाम रहे और इस नाकामी के दर्द को कविता में ढालते रहे. इश्क़ की नाकामियों में भी, मजाज़ ने शायरी में आमतौर से मायूसी को हावी नहीं होने दिया, अपने महबूब के विरुद्ध कोई द्वेष नहीं रखा और उच्चतम मानव मूल्यों पर अपने एतमाद को मज़बूत रखा. यह मजाज़ के चरित्र की शक्ति थी कि उन्होंने निजी जीवन की विफलताओं को इस सीमा तक झेलने के बावजूद कि उन पर तीन बार मानसिक आघात के कारण जुनून के दौरे पड़े, वे अपनी शायरी में उम्मीद और जीवन के गीत गाते रहे.

इश्क़ में साहिर की नाकामियों ने उनकी शायरी को अलग ही रंग दिया. इन नाकामियों का उन्होंने जश्न मनाया, उनसे शक्ति लेकर काव्य रचना की. ऐसे भी मौक़े आये जब लगा कि उनका इश्क़ कामयाबी की मंज़िल पर पहुंचने को हुआ, तब साहिर के क़दम पीछे हट गये. शायद यह नाकामी ही उनके लिए प्रेरणा-स्रोत थी, इसलिए सीने पर इश्क़ का दाग़ लिये वे उसका जश्न मनाते रहे, विद्रोही आशिक़ के लिए नज़्में लिखते रहे, गीतों के माध्यम से अपनी प्रेरणा लोगों में बांटते रहे और जनमानस पर इस तरह छा गये कि उनके सामने सबके चिराग़ गुल

हो गये.

ये चार शायर ही क्या, बीसवीं सदी के तीसरे-चौथे दशक में एक पूरा क़ाफ़िला था जो प्रगतिशीलता के साथ स्वतंत्रता संग्राम में, अमन की स्थापना में और परिवर्तन के लिए संघर्षरत था. साहिर ने स्कूल के ज़माने में ही शायरी शुरू कर दी थी और कालिज तक पहुंचते-पहुंचते शहर में अच्छी ख़ासी शोहरत भी हासिल कर ली. नये लेखक और छात्र उन दिनों सियासी जलसों-जुलूसों में शरीक होते और मुशायरों में सियासी नज़्में पढ़ते थे. साहिर ने भी इसी पुरजोश माहौल में आंखें खोलीं. दिल्ली, लाहौर, लखनऊ और इलाहाबाद जैसे बड़े शहरों की बात तो जाने दें, छोटे-छोटे देहात, क़स्बे और बस्तियां भी ब्रिटिश-राज के विरुद्ध संघर्ष की कर्मभूमि बन रही थीं. 8 मार्च 1921 को जन्मे अब्दुल हई, यानी साहिर यूं तो एक जागीरदार बाप के इकलौते बेटे थे लेकिन पति के साथ निर्वाह न होने के कारण साहिर की मां अपने भाइयों के पास आ गयी थीं. इस तरह साहिर ने ननिहाल में परवरिश पायी. मालवा ख़ालसा हाई स्कूल से प्राथमिक शिक्षा और गवर्नमेंट कालिज लुधियाना तथा इस्लामिया कालिज लाहौर से उच्चतर शिक्षा पायी. लेकिन डिग्री मिलने से पहले ही कालिज छोड़ दिया. लाहौर में उन दिनों चोटी के शायर और अदीब जमा थे. आबिद अली आबिद, सूफ़ी तबस्सुम, हफ़ीज़ जालंधरी, अहसान दानिश, एम.डी. तासीर, पितरस बुख़ारी, कृष्णचंदर, देवेंद्र सत्यार्थी, फ़िक्र तौंसवी, गोपाल मित्तल, हरिचंद अख़्तर, अब्दुल हमीद अदम, अहमद नदीम क़ासमी, अमृता प्रीतम जैसे लिखने वालों की कहकशां से लाहौर का आसमाने-अदब झिलमिला रहा था. जगह-जगह अदबी जलसे, साप्ताहिक गोष्ठियां होतीं.उनमें शायरी, अफ़साने और आलोचनात्मक लेख पढ़े जाते. ऐसी ही महफिलें होस्टलों में भी बरपा होतीं जहां छात्रों के अलावा बाहर से भी श्रोता, प्रकाशक और लेखक आकर जमा होते.*अदबे-लतीफ़* के मालिक चौधरी नज़ीर अहमद भी आते थे. वे साहिर से प्रभावित हुए और उन्होंने साहिर को *अदबे-लतीफ़* का एडीटर बना दिया. इससे साहिर का प्रभाव क्षेत्र बढ़ गया, क्योंकि *अदबे-लतीफ़* का शुमार सबसे अच्छी पत्रिकाओं में होता था.

लाहौर आने से पहले लुधियाना में साहिर की सरगर्मियों और निजी जीवन की ख़ूबसूरत झलकियां उनके दोस्त हाफ़िज़ लुधियानवी ने अपने लेख 'साहिर : कुछ यादें भूली बिसरी सी'(*फ़न और शख़्सियत:* साहिर लुधियानवी नंबर, बंबई,अंक 17-18 ,फ़रवरी 1985, पृ. 127-137) में प्रस्तुत की हैं. साहिर की मामूंज़ाद बहनों, सरवर शफ़ी और अनवर सुलताना ने उनके मिज़ाज, घर से जज्बाती लगाव और ज़िम्मेदारी के अहसास का बयान इस तरह किया है कि साहिर के बचपन के जीवन के और उनके व्यक्तित्व के विभिन्न पहलू सामने आ जाते हैं (*फ़न और शख़्सियत* : 1985). मिसाल के तौर पर यह कि वे बचपन में ज़िद्दी थे और अपनी बात मनवा कर ही छोड़ते थे. दूध पीते वक्त एक बार ज़िद कर बैठे कि पानी मिलाओ तब दूध पीऊंगा. ऐसे मौक़ों पर उनकी मां परेशान हो जातीं और रो पड़ती थीं. तब मामू उन्हें मनाने की कोई तरकीब ढूंढ़ निकालते. साहिर सिगरेट और माचिस की डिबियों से छोटी सी दीवार खड़ी करते, उस पर सफ़ेद रूमाल तान देते और टार्च की रोशनी उस पर नचाते और दोस्तों से कहते कि देखो मंडवा (सिनेमा घर) बनाया है. इससे अंदाज़ा होता है कि फ़िल्मों से उन्हें बचपन से ही लगाव था, कला और साहित्य प्रेम ने उन्हें शायरी की तरफ़ माइल कर दिया था. कालिज में वे छात्रों की यूनियन के सदर थे, बज़्मे-अदब के जलसों में भी बढ़-चढ़कर हिस्सा लेते थे. कालिज ही में उनके दो इश्क़ों का विस्तृत वर्णन उनके दोस्त हाफ़िज़ लुधियानवी ने किया है. ये दोनों ही इश्क़ नाकाम रहे. प्रेम चौधरी का बीमारी के कारण देहांत हो गया और दूसरी प्रेमिका ईशर का कालिज से नाम काट दिया गया. साहिर को भी कालिज से निकाल दिया गया. इश्क़ की नाकामियां साहिर की शायरी की प्रेरणा और शक्ति बन गयीं. उनकी कई अच्छी नज़्में इसी दौर की यादगार हैं. लाहौर के क़याम के दौरान उन्होंने अमृता प्रीतम से इश्क़ किया.बल्कि अमृता ने इश्क़ किया, जिसकी तफ़सील ख़ुद अमृता प्रीतम ने साहिर पर लिखे अपने लेख में दी है, अमृता ही के लिए साहिर ने अपनी व्यंग्यात्मक नज़्म 'मादाम' लिखी जब अमृता ने एक दिन साहिर से उनके ग़रीब दोस्तों के बारे में कहा कि यह मुफ़लिस दोस्त तुम्हारी दोस्ती के लायक़ नहीं. (हाफ़िज़ लुधियानवी, पृष्ठ 138).

आप बेवजह परेशान सी क्यों हैं मादाम
लोग कहते हैं तो फिर ठीक ही कहते होंगे
मेरे अहबाब ने तहज़ीब न सीखी होगी
मेरे माहौल में इंसान न रहते होंगे.

दोस्ती निभाना और रिश्तों को सच्चे दिल से महसूस करना साहिर की फ़ितरत में था. एक दोस्त अहमद राही ने एक बेतकल्लुफ़ और प्यारभरे झगड़े का ज़िक्र किया है जिसे पढ़कर बेसाख़्ता हंसी आ जाती है. आज़ादी के बाद सितंबर 1947 से जून 1948 तक अहमद राही और साहिर लाहौर में एक ही कमरे में रहते थे, रात दिन का साथ था. सोने से पहले हर रात दोनों में झगड़ा होता क्योंकि चारपाई एक ही थी. साहिर कहते, अपने लिए चारपाई लो, लेकिन अहमद राही के पास पैसे नहीं थे.उनके झगड़ों पर इब्ने इंशा ख़ूब हंसते जो अलग चारपाई पर उसी कमरे में सोते थे. एक और झगड़ा ओवरकोट को लेकर होता था जो बंटवारे के बाद अमृतसर से लाहौर आने पर अलाट होने वाले मकान में अहमद राही को मिला था. लाहौर की कड़कड़ाती सर्दी में अहमद राही उसे सुबह शाम पहनते थे, और दिन भर एक पुराना स्वेटर लटकाये घूमते. साहिर ने उस पर क़ब्ज़ा कर लिया और एक दिन ओवरकोट लटकाये अपनी किसी फ़िफ़्टी परसेंट वाली महबूबा की गली के चक्कर लगाने लगे. राही साथ साथ दांत पीसते और ठिठुरते हुए चल रहे थे. वापसी में गढ़ी शाह के क़ब्रिस्तान से गुज़रते वक़्त राही ने साहिर को एक टूटी क़ब्र के पास पकड़ लिया और कहा, 'अगर तुम्हें इश्क़ करना है तो ओवरकोट मुझे दो. तुम्हारे अंदर तो इश्क़ की गर्मी है. मैं इस सर्दी में निमोनिये से नहीं मरना चाहता. ओवरकोट दे दो वर्ना मैं तुम्हें इस क़ब्र के अंदर लिटा दूंगा.' साहिर ने वा'दा तो कर लिया लेकिन ओवरकोट लौटाया नहीं.बल्कि हिंदुस्तान आते हुए जून की चिलचिलाती धूप में वही ओवरकोट पहने, सर पर हैट और आंखों पर चश्मा चढ़ाये लाहौर से रुख़सत हुए. अपने ख़याल में सी.आई.डी. से छुपने के लिए उन्होंने यह हुलिया बदला था. (अहमद राही, 'एक दिया और बुझा, और बढ़ी तारीकी', त्रैमासिक *अदबसाज़*, दिल्ली,सं. नुसरत ज़हीर, 2009-10, अंक 12-14, पृष्ठ 51-54)

लाहौर छोड़कर भारत आने का कारण बेरोज़गारी और आर्थिक तंगी से ज़्यादा शायद वहां कम्युनिस्ट पार्टी का रवैया रहा. अहमद राही लिखते हैं कि पार्टी ने उम्मीद दिलायी थी कि *इमरोज़* जारी होते ही उन्हें संपादक मंडल में रख लिया जायेगा लेकिन ऐसा नहीं हुआ. अहमद राही ने लिखा है: 'मौलाना चराग़ हसन हसरत [*इमरोज़* के] संपादक थे, उनकी एक मशहूर ग़ज़ल थी, 'आओ हुस्ने-यार की बातें करें', बाद में 'तल्ख़ियां' में छपी थी. मौलाना हसरत ने बड़ा बुरा महसूस किया. साहिर का *इमरोज़* के एडिटर स्टाफ़ में दाख़िला कैसे होता!'(पृष्ठ 53). मेरे सामने *अदबसाज़* में प्रकाशित 'तल्ख़ियां' में यह ग़ज़ल शामिल नहीं, लेकिन 'आओ कि कोई ख़ाब बुनें' में एक ग़ज़ल ज़रूर है जो किसी भी आस्तिक की भावनाओं को ठेस पहुंचा सकती है.' इस ग़ज़ल के कुछ शेर यूं हैं:

सज़ा का हाल सुनायें,जज़ा की बात करें
ख़ुदा मिला हो जिन्हें, वो ख़ुदा की बात करें
हमारे अहद[1] की तहज़ीब में क़बा[2] ही नहीं
अगर क़बा हो तो बंदे-क़बा की बात करें
हरेक दौर का मज़हब नया ख़ुदा लाया
करें तो हम भी मगर किस ख़ुदा की बात करें

साहिर को कम्युनिस्टों के अख़बार में काम नहीं मिला. 'इस अख़बार ने रजअतपरस्त (प्रतिक्रियावादी) अदीबों के लिए तो दरवाज़े खोल रखे थे मगर तरक़्क़ीपसंद साहिर को अंदर नहीं घुसने दिया. साहिर इस रवैये से मायूस हो गया.' इस बात को साहिर के हिंदुस्तान चले जाने का कारण बताते हुए अहमद राही आगे लिखते हैं कि इस तरह 'भारत की वह दौलत जो मुल्क की तक़सीम में पाकिस्तान के हाथ लगी थी, जून 1948 में फिर भारत की तिजोरी में चली गयी.' (पृष्ठ 53).

लेकिन साहिर एक मशहूर शायर थे.'ताजमहल'और 'ये किसका लहू है, कौन मरा' जैसी नज़्मों ने मुल्क भर

में साहिर का नाम पहुंचा दिया था. चुनांचे बक़ौल इब्राहीम जलीस,'साहिर' अपने नाम और अपनी शोहरत के पीछे -पीछे बंबई पहुंच गया. बंबई में कृष्णचंदर, इस्मत चुग़ताई, मुल्कराज आनंद, ख़्वाजा अहमद अब्बास, सज्जाद ज़हीर और सिब्ते-हसन ने 'इल्म'के लिए और फ़िल्मसाज़ कुलवंत राय ने 'फ़िल्म' के लिए साहिर लुधियानवी को रोक लिया.'(*फ़न और शख़्सियत*.'पृ.(494 बंबई में साहिर ने शुरुआती दौर काफ़ी तंगी और परेशानियों में गुज़ारा लेकिन उन्हें एक ही धुन थी, फ़िल्मों में वे तुकबंदी और घटिया शायरी के ख़िलाफ़ 'जिहाद' करना चाहते थे और यह कि उसकी जगह अदबी शायरी की दुनिया को कामयाब करना चाहते थे. उनका ख़ाब सच हुआ. सचिनदेव बर्मन की फ़िल्म, *बाज़ी* में साहिर ने गीत लिखे जो हिट हुए और फिर साहिर ने पलट कर नहीं देखा. कामयाबी उनके क़दम चूमती रही. न पैसे की कमी रही, न शोहरत की; और न उस संतोष की जो उन्होंने फ़िल्मी गीतों में अपने आदर्शों को ढाल कर प्राप्त किया. अब लोग म्यूज़िक डायरेक्टर की वजह से नहीं, बल्कि गीतकार के नाम से फ़िल्म की कामयाबी का अंदाज़ा करने लगे. साहिर, मजरूह और शकील बदायूनी ने फ़िल्मों पर गीतकारों का वर्चस्व स्थापित कर दिया. साहिर की इस बड़ी कामयाबी से प्रभावित होकर गुरुदत्त ने एक कामयाब फ़िल्म, *प्यासा* बनायी जिसमें शामिल साहिर के गीत आज भी उतने ही लोकप्रिय हैं जितने अपने समय में थे.

साहिर के घर दोस्तों का जमावड़ा रहता, फ़िल्म और साहित्य की दुनिया के सारे सितारे उनके घर जगमगाते. रात गये तक महफ़िलें जमतीं. ऐसी कई महफ़िलों की रूदाद वाजिदा तबस्सुम, अनवर सुल्ताना, इब्राहीम जलीस आदि ने लिखी हैं. इतनी मसरूफ़ियत और प्रसिद्धि के दिनों में भी उन्होंने अपनी ज़िम्मेदारियों की तरफ़ से ग़फ़लत नहीं बरती. बड़ी मुमानी (मामी) और उनकी बेटी सरवर शफ़ी इलाहाबाद में रहती थीं जबकि छोटी बेटी अनवर सुल्ताना साहिर और उनकी मां सरदार बेगम के साथ बंबई में थी. साहिर पाबंदी से इलाहाबाद जाते—तक़रीबन हर महीने; और उनकी ज़रूरतों का हर तरह से ख़याल रखते. कभी मकान बनवाने के लिए अच्छी ज़मीन तलाश कर रहे हैं, कभी कहते, इलाहाबाद छोड़ दो और सब लोग बंबई आ जाओ, आख़िर तुम्हीं लोगों के लिए तो कमा रहा हूं. सरवर शफ़ी ने मुलाज़मत कर ली तो साहिर को बिल्कुल अच्छा नहीं लगा. वे चाहते थे कि अपनी बहनों और मुमानी को हर तरह का आराम ख़ुद मुहय्या करें. फ़िल्म के सेट पर अक्सर अपनी मां और अनवर सुल्ताना को ले जाते जो उनकी कामयाबियां और धाक देखकर बहुत ख़ुश होतीं.

एक कामयाब ज़िंदगी हासिल करने के बाद साहिर कोई साठ बरस की उम्र में 25 अक्टूबर 1980 को दिल के मरज़ में इस दुनिया से रुख़सत हुए. अहमद राही ने लिखा:'उसकी मौत उस दिल के डूबने से हुई जो आज से चालीस साल पहले गवर्नमेंट कॉलेज लुधियाना में पहली बार डूबा था और उसकी मौत तक मुसलसल डूबता चला गया था. चालीस साल वह इस पैहम डूबते हुए दिल पर अपने और मुल्क के अवाम के ग़मों के चरके सहता रहा और ज़िंदा रहा.' (पृष्ठ 54).

चालीस साल पहले इश्क़ की नाकामी ने साहिर का साथ कभी नहीं छोड़ा. एक इंटरव्यू में नरेश कुमार शाद ने उनसे पूछा कि 'साहिर साहब! आपने शादी क्यों नहीं की', तो उन्होंने हंसकर जवाब दिया था, 'क्योंकि कुछ लड़कियां मुझ तक देर से पहुंचीं और कुछ लड़कियों तक मैं देर से पहुंचा.'(*फ़न और शख़्सियत:* पृ..(57यह जवाब सच भी हो सकता है—या फिर साहिर की नर्गिसियत (स्वयं से प्रेम) ने उनके किसी इश्क़ को कामयाब नहीं होने दिया, कौन जाने!

साहिर की शायरी के तीन संकलन, *तल्ख़ियां*(1944), लंबी नज़्म 'परछाइयां' (1955) और *आओ कि कोई ख़ाब बुनें* (1971) प्रकाशित हुए. शोहरत *तल्ख़ियां* के साथ ही मिल गयी थी. गीतों का संकलन, *गाता जाये बंजारा* के शीर्षक से प्रकाशित हुआ. साहिर को आम तौर पर नौउम्र लड़के-लड़कियों का शायर कहा जाता है, क्योंकि उनकी शायरी नौजवानों के जज़्बात की बेहतरीन तर्जुमानी करती है. लेकिन उनकी ज़्यादा लोकप्रिय फ़िक्र-अंगेज़ और प्रभावित करने वाली नज़्में वे हैं जो उन्होंने अमन व आज़ादी के हक़ में, जंग और जब्र के ख़िलाफ़ कहीं. उन्होंने शायरी के ज़रिये भी और बातचीत में भी खुले तौर पर अपने नज़रिये का ऐलान किया. नरेश कुमार

शाद को बताते हैं कि 'मैं कभी किसी सियासी पार्टी का मेंबर नहीं रहा. ग़ुलाम हिंदोस्तान में आज़ादी के सकारात्मक पहलू ढूंढ़ना और उनका प्रचार करना मेरा आदर्श ज़रूर रहा है. और अब ज़हनी तौर पर इक़तसादी (आर्थिक) आज़ादी का हामी हूं जिसकी शक्ल मेरे नज़दीक सोशलिज़्म है.' (*फ़न और शख़्सियत:* पृ..(55

अमन के बिना आज़ादी का तसव्वुर बेमायनी होता है.'ऐ शरीफ़ इंसानो', 'आवाज़े-आदम','ये किसका लहू है', 'ख़ून फिर ख़ून है', जैसी उच्च कोटि की साहित्यिक नज़्में उन सार्वभौमिक मूल्यों और जनतांत्रिक आदर्शों की हिमायत करती हैं जिनसे इंसान की इंसानियत क़ायम है. अपनी लंबी नज़्म, 'परछाइयां' में दो मुहब्बत करने वालों की कुछ तस्वीरें दिखाने के बाद वे एक नया मंज़र पेश करते हैं जिसमें ज़िंदगी जंग, अकाल, भुखमरी, ग़रीबी की ऐसी बाढ़ में डूब जाती है जिसमें सब कुछ, सारे दिलकश नज़ारे ख़त्म हो जाते हैं. इस आपाधापी में औरतें जिस्म बेचने पर मजबूर हो जाती हैं. दोनों मुहब्बत करने वाले अपने अपने हालात से बेबस चंद सिक्कों के लिए अपनी कला और शरीर बेचते हैं. न प्यार बचता है न भावनाएं. दुनिया की यह भयावह तस्वीर आख़िर क्यों बनी? इसका जवाब वे हुक्मरानों की पॉलिसियों में देखते हैं :

बहुत दिनों से है ये मशग़ला सियासत का
कि जब जवान हों बच्चे तो क़त्ल हो जायें
बहुत दिनों से है ये ख़ब्त हुक्मरानों को
कि दूर-दूर के मुल्कों में क़हत बो जायें

इस सियासत को समझने और इसके ख़िलाफ़ एकजुट होने में ही साहिर इंसान के अस्तित्व, विकास और जीवन की निरंतरता मानते हैं :

चलो कि आज सभी पायमाल रूहों से कहें
कि अपने हर इक ज़ख़्म को ज़बां कर लें
हमारा राज़ हमारा नहीं, सभी का है
चलो कि सारे ज़माने को राज़दां कर लें
...
कहो कि अब कोई क़ातिल अगर इधर आया
तो हर क़दम पे ज़मीं तंग होती जायेगी
हर एक मौजे-हवा रुख़ बदल के झपटेगी
हर एक शाख़ रगे-संग होती जायेगी
...
कहो कि आज भी हम सब अगर ख़मोश रहे
तो इस दमकते हुए ख़ाकदां की ख़ैर नहीं
जुनूं की ढाली हुई एटमी बलाओं से
ज़मीं की ख़ैर नहीं, आसमां की ख़ैर नहीं

स्पष्ट तौर पर साम्राज्यवादी और पूंजीवादी व्यवस्था के कारण पैदा होने वाली समस्याओं, संकट और जंगों के ख़िलाफ़ संघर्ष और इसके फलस्वरूप अमन की स्थापना ही इस नज़्म का विषय है और इस चेतावनी पर साहिर नज़्म को ख़त्म करते हैं कि अगर यह सब नहीं रोका गया, अगर ज़मीनें और फ़सलें और रोज़गार उनको नहीं मिला जिनका इन पर हक़ है, तो फिर आने वाली जंग में इंसान तो इंसान उसकी परछाइयां भी जल जायेंगी. जंग की तबाहकारी के विरुद्ध चेतावनी साहिर ने कई नज़्मों में दी है जो आज भी अपना गहरा प्रभाव हमारे ज़हनों पर डालती है.

आज़ादी, अम्न और समाजवाद के साथ-साथ सामाजिक न्याय के लिए आवाज़ उठाना साहिर का एक ऐसा सरोकार रहा है जिसकी गूंज उनकी हर दौर की शायरी में सुनायी देती है. समाजिक न्याय की उनकी अपनी

कल्पना है जिसमें हर कमज़ोर व्यक्ति और समूह को न्याय मिलना उनका आदर्श है. सरमायादारी और सामंती व्यवस्था द्वारा रौंदी हुई महिलाओं की बदहाली और उत्पीड़न पर अनेक नज़्में और नग़मे उनकी गहरी चिंता और संवेदना को व्यक्त करते हैं. 'चकले' में औरत के शोषण का मार्मिक चित्रण करने के बाद वे गुहार लगाते हैं :

मदद चाहती है ये हव्वा[3] की बेटी
यशोदा की हम-जिंस[4],राधा की बेटी
पयम्बर की उम्मत[5], ज़ुलैख़ा[6] की बेटी
सना-ख़्वाने-तक़्दीसे-मशरिक़[7]कहां हैं?

यानी पूर्व (भारत) के पावन धरती होने का हरदम गुणगान करने वाले लोग कहां हैं? वे आयें और देखें कि औरत यहां कितने अत्याचारों का शिकार है. और फिर बिलबिला कर उन मज़हब या दीन के ठेकेदारों पर तंज़ करते हैं जो धर्म को ही समाज सुधार का सब से प्रभावी औज़ार मानते हैं:

बुलाओ ख़ुदायाने-दीं को बुलाओ
ये कूचे, ये गलियां, ये मंज़र दिखाओ
सना-ख़्वाने-तक़्दीसे-मशरिक़ को लाओ
सना-ख़्वाने-तक़्दीसे-मशरिक़ कहां हैं?

साहिर बख़ूबी जानते हैं कि उत्पीड़न और शोषण केवल निर्धन औरत का नहीं होता, उनके साथ नाबराबरी और अन्याय लिंग पर आधारित है. इसीलिए मुग़ल शहंशाह जहांगीर की पत्नी नूरजहां का आधिकारिक रूप, जिसके प्रभाव के अनगिनत क़िस्से इतिहास में दर्ज हैं, साहिर को मुतास्सिर नहीं करता; बल्कि उन दोनों के रिश्ते में छिपी इस हक़ीक़त को वे परत-दर-परत उजागर करते हैं कि जहांगीर ने शेर अफ़गान ख़ान को क़त्ल कराके उसकी पत्नी महरुन्निसा से शादी की और उसे नूरजहां का लक़ब देकर अपनी मलिका बनाया था. नूरजहां से जहांगीर की मुहब्बत का ज़िक्र तो सब करते हैं लेकिन इस रिश्ते में छिपे अत्याचार को साहिर की पैनी और खरी नज़र ने जिस गहराई में उतर कर देखा वह अद्वितीय है :

कैसे हर शाख़ से मुंह-बंद महकती कलियां
नोच ली जाती थीं तज़ईने-हरम[8] की ख़ातिर
और मुरझा के भी आज़ाद न हो सकती थीं
ज़िल्ले-सुबहान[9] की उल्फ़त के भरम की ख़ातिर

कैसे इक फ़र्द के होंठों की ज़रा सी जुम्बिश
सर्द कर सकती थी बे-लौस[10] वफ़ाओं के चराग़
लूट सकती थी दमकते हुए हाथों का सुहाग
तोड़ सकती थी मये-इश्क़[11] से लबरेज़ अयाग़[12]

कविता को अचानक एक ड्रामाई मोड़ देते हुए साहिर वर्तमान में लौटते हैं और नयी चेतना से ओतप्रोत नये दौर के उस पुरुष की तर्जुमानी करते हैं जो औरत के साथ बराबरी का रिश्ता रखता है :

तू मिरी जान मुझे हैरतो-हसरत से न देख
हममें कोई भी जहां-नूर ओ जहां-गीर नहीं
तू मुझे छोड़ के, ठुकरा के भी जा सकती है
तेरे हाथों में मिरे हाथ हैं, ज़ंजीर नहीं!

लेकिन यही औरत जो हर तबक़े में शोषितों की नुमाइंदा है, जब ख़ुद वर्ग चेतना से वंचित रहती है और सभ्यता और संस्कृति के नाम पर मेहनतकशों को असभ्य कहती है तो साहिर की नज़र में अब वह पीड़ित महिला की नहीं बल्कि शोषक वर्ग की नुमाइंदा हो जाती है. यहां सभ्यता के स्वरूप पर सवाल खड़े करते हुए साहिर का कटाक्ष अब वर्गचेतना से मुखर हो उठता है :

नूरे-सरमाया[13] से है रू-ए-तमद्दुन[14] की जिला[15]
हम जहां हैं वहां तहज़ीब नहीं पल सकती
मुफ़लिसी हिस्से-लताफ़त[16] को मिटा देती है
भूख आदाब[17] के सांचे में नहीं ढल सकती

अर्थात, पूंजी के प्रकाश से ही सभ्यता का चेहरा दमकता है; लेकिन हम जिन लोगों में से हैं वहां इस तहज़ीब या सभ्यता का क्या काम? ग़रीबी इंसान का लालित्य-बोध छीन लेती है, अत: भूख ऐसी चीज़ है जिसे आप शिष्टाचार और सभ्यता के सांचे में नहीं ढाल सकते. तहज़ीब के उथले तसव्वुर को तोड़ने की बात करते वक़्त साहिर 'मादाम' को संबोधित करते हुए नर्मी को अपने हाथ से नहीं जाने देते, क्योंकि वे बुनियादी तौर पर उन सीमाओं को जानते हैं जिनके कारण 'मादाम' ज़मीनी हक़ीक़तों से अनभिज्ञ हैं :

नेक मादाम! बहुत जल्द वो दौर आयेगा
जब हमें ज़ीस्त[18] के अदवार[19] परखने होंगे
अपनी ज़िल्लत की क़सम, आपकी अज़मत की क़सम
हमको ताज़ीम[20] के मे'यार परखने होंगे

और फिर इस सभ्यता और संस्कृति के विकास में वे मेहनतकशों के आधारभूत रोल को फ़ख़्र के साथ उजागर करते हैं कि यद्यपि हमें हर दौर में ज़लील किया गया फिर भी हर दौर को रौशनी हम ही ने दी है; हर दौर में हमने परिश्रम की कठिनाइयाँ झेलीं फिर भी हर दौर को सजाने-सँवारने में हमारा ही हाथ है:

हम ने हर दौर में तज़लील[21] सही है लेकिन
हम ने हर दौर के चेहरे को ज़िया[22] बख़्शी है
हम ने हर दौर में मेहनत के सितम झेले हैं
हम ने हर दौर के हाथों को हिना[23] बख़्शी है

महिलाओं के प्रति साहिर के रवैये को जानकार ख़याल आता है कि औरतों के एक मज़बूत अंतर्राष्ट्रीय आंदोलन की ज़रूरत को उजागर करते हुए 1920 में लेनिन ने एक मुलाक़ात के दौरान क्लारा ज़ेत्किन से कहा था कि 'औरतों के सवाल पर हम कम्युनिस्टों के ज़हन नज़रियाती तौर पर सब से ज़्यादा साफ़ रहने चाहिए... और यह कि सर्वहारा को पूरी आज़ादी उस वक़्त तक नहीं मिल सकती जब तक कि वह औरतों के लिए भी पूरी आज़ादी हासिल न कर ले'.[24] साहिर की शायरी में औरत के जो रूप देखने को मिलते हैं उनसे अंदाज़ा होता है कि लेनिन की बात उनके यहां चरितार्थ हुई है, और साहिर ने वास्तव में औरत की आज़ादी और बराबरी की इस परिकल्पना को स्पष्ट विचारों के साथ क़ुबूल किया है.

जिस तरह औरत के सवाल पर साहिर के विचार कोरे जज़्बात पर नहीं टिके बल्कि वे एक ठोस वैचारिक आधार रखते हैं उसी तरह वतन से मुहब्बत या देशप्रेम की उनकी परिकल्पना भी वर्गचेतना और ज़मीनी हक़ीक़तों का एक ठोस साम्यवादी आधार रखती है. देश की आज़ादी में में वे सामंती वर्ग का कोई रोल नहीं मानते :

मैं उन अज्दाद का बेटा हूं जिन्होंने पैहम[25]
अजनबी क़ौम के साये की हिमायत की है
ग़द्र की साअते-नापाक[26] से लेकर अब तक
हर कड़े वक़्त में सरकार की ख़िदमत की है

ख़ुदग़रज़ और स्वार्थी होना किसी एक वर्ग विशेष तक सीमित नहीं है. हमारे देश में लोग जिस तरह से धर्म, जाति भाषा, क्षेत्रीयता के आत्मघाती झगड़ों में मुल्क को कमज़ोर कर रहे हैं उसका स्पष्ट और प्रभावी चित्रण साहिर ने अध्यापक और बच्चों के बीच एक संवाद (फ़िल्म, *दीदी*) में किया है. इस संवाद में बच्चे सवाल करके अस्ल में उस आदर्श की तरफ़ इशारा कर रहे हैं जो वे भविष्य के भारत में देखना चाहते हैं. स्थिति का अवलोकन वे कुछ

इस प्रकार करते हैं:

हमने सुना था एक है भारत, सब मुल्कों से नेक है भारत
लेकिन जब नज़दीक से देखा, सोच-समझ कर ठीक से देखा
हमने नक़्शे और ही पाये, बदले हुए सब तौर ही पाये
एक से एक की बात जुदा है, धर्म जुदा है ज़ात जुदा है
आप ने जो कुछ हम को पढ़ाया, वह तो कहीं भी नज़र न आया

जाति और वर्ग के आधार पर व्याप्त उंच-नीच और अन्याय पर बच्चों के माध्यम से साहिर सीधे सवाल करते हैं:

कुछ इंसान ब्रह्मन क्यों हैं, कुछ इंसान हरिजन क्यों हैं?
एक की इतनी इज़्ज़त क्यों है, एक की इतनी ज़िल्लत क्यों है?
ऊंचे महल बनाने वाले फुटपाथों पर क्यों रहते हैं?
दिन भर मेहनत करने वाले फ़ाक़ों का दुख क्यों सहते है?
खेतों और मिलों पर अब तक धन वालों का इजारा है
हमको अपना देश है प्यारा, उन्हें मुनाफ़ा प्यारा है!

ज़ाहिर है इन समस्याओं का कोई तुरंत समाधान नहीं हो सकता, इसलिए साहिर आने वाली नयी पीढ़ी में उम्मीद के दिये जलते हुए देखते हैं:

सदियों की भूख और बेकारी क्या इक दिन में जायेगी
इस उजड़े गुलशन पर रंगत आते-आते आयेगी
ये जो नये मनसूबे हैं, ये जो नयी तामीरे हैं
आने वाली दौर की कुछ धुंधली-धुंधली तस्वीरें हैं
तुम ही रंग भरोगे इनमें तुम ही इन्हें चमकाओगे
नवयुग आप नहीं आयेगा, नवयुग को तुम लाओगे!

आने वाले कल पर भरोसा और घोर निराशा में भी उम्मीद के दिये रोशन रखना सच्चे मानवतावादी शायर की पहचान है. यह आशावाद ही तरक़्क़ीपसंदी का एक महत्वपूर्ण स्तंभ रहा है.

साहिर ने अनेक तरह की सामाजिक और राजनीतिक विडंबनाओं और विषमताओं पर गहरे तंज़ किये हैं. सांप्रदायिकता, जंग, अन्याय और दंगों पर गहरा व्यंग्य 'जश्ने ग़ालिब', 'बड़ी ताक़तें'और 'गांधी हो या ग़ालिब हो' जैसी नज़्मों में महसूस किया जा सकता है.

आज़ाद हिंदुस्तान में उर्दू के साथ जो सौतेला सुलूक हुआ, उसको सांप्रदायिकता का शिकार बनाया गया, साहिर को उसका भी बहुत दुख था.'जश्ने ग़ालिब' में उन्होंने इसी विडंबना को उजागर किया है कि उर्दू को ख़त्म करके उर्दू के शायर का जश्न मनाना क्या मायने रखता है! लेकिन इससे भी ज़्यादा स्पष्ट तौर पर अपने विचार उन्होंने इस सवाल के जवाब में रखे कि भारत में उर्दू का क्या भविष्य है. साहिर का जवाब था :

> उर्दू ज़बान के मुस्तक़बिल को हिंदुस्तान के मुस्तक़बिल से अलग नहीं किया जा सकता. हिंदुस्तान का उर्दू का वही मुस्तक़बिल है जो ख़ुद हिंदुस्तान का है. यानी जिस रफ़्तार से तअस्सुब (विद्वेष, साप्रदायिकता) और तंगनज़री में कमी पैदा होगी उसी रफ़्तार से मुल्क और उर्दू दोनों आगे बढ़ेंगे.' (*फ़न और शख़्सियत* : पृ. 56)

साहिर की ख़ूबी यह है कि पाठक को जज़्बाती तौर पर अपनी गिरफ़्त में लेते हैं लेकिन उनकी वही नज़्में सबसे अधिक प्रभावित करती हैं जिनमें विचार और भावना का एक संतुलित मिश्रण हुआ है. सिर्फ़ भावना के बल पर अच्छी शायरी नहीं हो सकती और न केवल विचार ही कविता बन सकता है. इनके कलापूर्ण इज़हार की अच्छी मिसालें साहिर की शायरी से दी जा सकती हैं. प्रभावोत्पादकता लिए साहिर चलती-फिरती तस्वीरें बनाते हैं. उनके द्वारा रचे गये काव्य-बिंब, उनके फ़न को चित्रकला और संगतराशी के क़रीब कर देते हैं. मुहम्मद हसन उनकी

शायरी की इस ख़ूबी को फ़िल्मों में उनकी कामयाबी का एक कारण मानते हैं. (देखें *फ़न और शख़्सियत* में शामिल मुहम्मद हसन का लेख, पृ. 233-237).

अपनी रवां-दवां बहती हुई भाषा, जज़्बात के प्रवाह और विचारों की गहनता से मानव-मूल्यों, आज़ादी और न्याय के आदर्शों में यक़ीन के कारण साहिर ने साहित्य की दुनिया में अपना एक स्थान बनाया. विचार और भावना, कला और संवेदना के उत्कृष्ट संगम से साहिर ने कालजयी नज़्में और नग़मे हमारे लिए सौग़ात के रूप में छोड़े हैं. उनकी मृत्यु पर हबीब जालिब ने एक नज़्म कही थी—'ताजमहल की मौत पर'. इसमें साहिर को 'ताजमहल' कहना एक तरह से साहिर की कला और विचारों की उत्कृष्टता का प्रतीक है. चूंकि यह साहिर के आदर्शों और कला की ख़ूबियों को उजागर करती है इसलिए उपसंहार के तौर पर यहां दर्ज करती हूं :

यूं वो ज़ुल्मत से रहा दस्तो-गिरेबां यारो
उससे ख़ाइफ़[27] थे बहुत शब के निगहबां यारो
उम्र-भर उसने किया इश्क़ ग़मे-दुनिया से
उस सा होगा न कोई आशिक़े-इंसान यारो
उसकी हर नज़्म में दुख-दर्द है इंसानों का
उसका हर शे'र है इंसान पे एहसां यारो
उसने हर गाम हमें हौसला-ए-ताज़ा दिया
वो न एक पल भी रहा हमसे गुरेज़ां[28] यारो

उसको हर हाल में जीने की अदा आती थी
वो न हालात से होता था परेशां यारो
उसको थी कश्मकशे-दैरो-हरम से नफ़रत
उससा हिंदू न कोई उससा मुसलमां यारो
अपने अशआर की शम्मों से उजाला कर के
कर गया शब का सफ़र कितना वो आसां यारो
उसने बातिल[29] से न ता-ज़ीस्त[30] किया समझौता
दहर[31] में उस सा कहां साहिबे-ईमां यारो
उसके गीतों से ज़माने को संवारें आओ
रूहे-साहिर को अगर करना है शादां[32] यारो!

ara.arjumand@gmail.com

---

1 दौर, काल; 2 सामने से खुला हुआ चोगे जैसा लम्बा लिबास जो अरब संस्कृति का हिस्सा है, और उसे इस्लामी लिबास के तौर पर स्वीकृति हासिल है. कमर पर यह जिस बेल्ट से बांधा जाता है उसे 'बंदे-क़बा' कहते हैं. उर्दू की क्लासिकी शायरी में क़बा और बंदे-क़बा का ख़ूब ज़िक्र हुआ है जो स्पष्ट रूपे फ़ारसी शायरी का प्रभाव है. साहिर इसी पर व्यंग कर रहे हैं.
3 पहले इंसान आदम की पत्नी, 4 समलिंग, 5 पैग़ंबर की क़ौम से, 6 पैग़ंबर यूसुफ़ की पत्नी, 7 पूर्व की पवित्रता का बखान करने वाले, 8 महल के अंत:कोष्ठ की सजावट, 9 ईश्वर की छाया, यानी सम्राट; 10 निस्वार्थ, 11 इश्क़ रूपी शराब, 12 छलकते जाम, 13 पूंजी का प्रकाश, 14 सभ्यता का चेहरा, 15 प्रकाश, कांति; 16 नर्मी, मृदुलता की भावना; 17 शिष्टाचार, 18 जीवन, 19 दौर (युग) का बहुवचन, 20 सत्कार, सम्मान; 21 अपमान, ज़िल्लत; 22 कांति, 23 मेहँदी. 24 https://www.marxists.org/archive/zetkin/1920/lenin/zetkin1.htm 25 निरंतर, 26 ग़दर की नापाक घड़ी (1857 की ओर संकेत); 27 भयभीत, 28 विमुख, 29 मिथ्या, अधर्म; 30 उम्र-भर, 31 दुनिया, 32 ख़ुश

जहां-जहां तेरी नज़रों की ओस टपकी थी, वहां-वहां से अब भी ग़ुबार उठता है

प्रियदर्शन

साहिर लुधियानवी को फ़िल्मी दुनिया ने बेशुमार शोहरत दी, लेकिन शायद इसी वजह से उन्हें उर्दू शायरी की संजीदा परंपरा से कुछ दूर मान लिया गया. उर्दू शायरी की बात करते हुए हमें जितनी आसानी से ग़ालिब-मीर-इक़बाल, फ़ैज़-फ़िराक़-दाग़-ज़ौक़ या ज़फ़र याद आते हैं, उतनी आसानी से साहिर याद नहीं आते. फ़िल्मी गीतकार होने का एक और ख़मियाज़ा साहिर को भुगतना पड़ा है. उनके फ़िल्मी गीत—जो निस्संदेह बहुत उत्कृष्ट हैं—ज़्यादा चर्चा में रहे और उनकी महत्वपूर्ण नज़्में और ग़ज़लें, जो उनके ग़ैर-फ़िल्मी अदब का हिस्सा हैं, कुछ अनदेखी-सी रह गयीं. लेकिन यह साहिर का नहीं, हमारा नुक़सान है. क्योंकि साहिर की समग्र कविता को देखें तो समझ में आता है कि हक़ीक़त और तसव्वुर पर — यथार्थ और कल्पनाशीलता पर — अपनी अप्रतिम पकड़ की वजह से साहिर अपनी फ़िल्मी व ग़ैर-फ़िल्मी दोनों तरह की शायरी में अपने पाठकों और श्रोताओं को इतना कुछ सुनने-गुनने के लिए दे जाते हैं कि उनको अपनी परंपरा में शामिल करना ही नहीं, शीर्षस्थानीय पंक्ति में रखना ज़रूरी मालूम पड़ता है.

साहिर बड़े कवि क्यों हैं, इस सवाल पर आने से पहले यह देखना चाहिए कि हम क्यों किसी को बड़ा कवि मानते हैं. दरअसल, हम जो कहना चाहते हैं, वह ठीक ठीक कोई और कह देता है तो वह हमें बहुत अपना-सा या बड़ा कवि लगता है. कई बार वह कवि हमारी सोची हुई बात को कुछ और ख़ूबसूरत अभिव्यक्ति दे देता है, तब वह और बड़ा कवि लगता है. लेकिन सबसे बड़ा कवि वह होता है जो हमारे सोचने का ढंग बदल देता है — जिसको पढ़ते हुए यह एहसास होता है कि बात के इस पहलू पर तो हमारी नज़र ही नहीं पड़ी. दूसरी बात यह कि बड़ा कवि कल्पनाशील होते हुए भी यथार्थ पर एक लम्हा भी अपनी पकड़ नहीं छोड़ता. वह आसमान में होते हुए भी अंततः ज़मीन का होता है. तीसरी बात यह कि वह अपने समय की चेतना से बहुत गहरे आबद्ध होता है, अपनी दुनिया, अपने ज़माने को ठीक से पहचानता है — उसमें से आ रही सड़ांध को भी और उसके आगे बढ़ने की संभावना को भी.

साहिर जैसे इन सारी कसौटियों पर खरे उतरते हैं. वे कई बार हमें बहुत अपने-जैसे लगते हैं, कई बार लगता है कि यह बात इतने ख़ूबसूरत ढंग से कोई और कह नहीं सकता था और कई बार एहसास होता है कि साहिर न होते तो इस तरह सोचना भी संभव न होता. मिसाल के तौर पर पहले उनके दो फ़िल्मी गीत लें. साल 1963 में बनी फिल्म, *गुमराह* के लिए उन्होंने गीत लिखा- 'चलो इक बार फिर से अजनबी बन जायें हम दोनों.' प्रेम और रिश्तों को लेकर दुनिया भर की महान कविताओं को खंगाल जाइए, उनमें रिश्तों की टूटन मिलेगी, शिकायत मिलेगी, बेवफ़ाई का दर्द मिलेगा, अधूरेपन की टीस मिलेगी, लेकिन यह ख़याल नहीं मिलेगा कि फिर से अजनबी भी हुआ जा सकता है — और बिना किसी कड़वाहट के हुआ जा सकता है. जबकि यह ज़िंदगी का बहुत आम अनुभव है. साहिर ने प्रेम और रिश्तों के समीकरण में हमेशा-हमेशा के लिए जैसे एक पहलू जोड़ दिया जो उनकी कशमकश को और सुंदर बनाता है. लेकिन साहिर का कमाल यह नहीं है कि वह रिश्तों में आयी अजनबियत को पकड़ते हैं, कमाल यह है कि वे इसकी तकलीफ़ भी समझते हैं और इसके बावजूद यह कहते हैं कि 'तआरुफ़ रोग हो जाये तो उसको भूलना बेहतर / तआल्लुक़ बोझ बन जाये तो उसको तोड़ना अच्छा / वो अफ़साना जिसे अंजाम तक लाना न हो मुमकिन / उसे एक ख़ूबसूरत मोड़ देकर छोड़ना अच्छा.' यहां आकर हम पाते हैं कि

साहिर ने ज़िंदगी, क़िस्सागोई और रिश्तों को समझने का एक नया आयाम सुलभ करा दिया है. सारे क़िस्से अंत तक पहुंचाये जाने के लिए नहीं होते, कुछ बीच में ही छोड़ देने चाहिए और कोशिश करनी चाहिए कि इस टूटन में कुरूपता न हो, इसे भी ज़िंदगी के ख़ूबसूरत मोड़ की तरह लिया जा सके. यह ख़याल अचानक इस पूरे गीत को एक अद्भुत ऊंचाई दे देता है. बरसों बाद अपना उपन्यास, *कुरु कुरु स्वाहा* लिखते हुए मनोहर श्याम जोशी इस 'ख़ूबसूरत मोड़' वाले मिसरे का बार-बार इस्तेमाल करते दिखायी पड़ते हैं. दरअसल, यह यथार्थ और संभावना पर साझा पकड़ का ही कमाल है कि साहिर इस उलझे हुए मोड़ पर एक ऐसा धागा छोड़ जाते हैं जिसे आज तक दुनिया थामने की कोशिश कर रही है. ऐसा ही कमाल उनके एक दूसरे गीत में भी दिखता है.

सन 1976 में बनी फ़िल्म, *कभी-कभी* में उनका एक गीत है - 'मैं पल दो पल का शायर हूं, पल दो पल मेरी कहानी है, पल दो पल मेरी हस्ती है, पल दो पल मेरी जवानी है.' पहली नज़र में यह बहुत मामूली गीत जान पड़ता है. लेकिन ध्यान से देखें तो फिर इसमें हक़ीक़त और रोमानियत दोनों चरम पर हैं. अमूमन दुनिया का हर शायर अपने-आप को सबसे बड़ा शायर मानता है, हर आशिक़ अपनी महबूबा को दुनिया की सबसे हसीन लड़की मानता है, लेकिन यहां एक शायर है जो बेहद साफ़ शब्दों में कहता है- 'कल और आयेंगे नग़मों की / खिलती कलियां चुनने वाले / मुझसे बेहतर कहने वाले / तुमसे बेहतर सुनने वाले.' शायर को मालूम है कि यह सब एक पल का क़िस्सा है जिसे भुला दिया जाना है. लेकिन इस बहुत साफ़ हक़ीक़त के बावजूद शायर लिख रहा है, इश्क़ कर रहा है और अपनी महबूबा को सारी मोहब्बत के बावजूद किसी भ्रम में नहीं डाल रहा है.

कह सकते हैं कि ये फ़िल्मी गीत हैं जो 'सिचुएशन' के हिसाब से लिखे गये. लेकिन साहिर के संदर्भ में यह सच नहीं है. उनके कई गीत लिखे पहले गये, फिल्मों में बाद में आये — बल्कि कई बार वे पूरे नहीं आये, कुछ हिस्सों में आये, कुछ पंक्तियां बदल कर आये. इस गीत का सच भी यही है. इसमें और भी अंतरे हैं.

बहरहाल, साहिर की उन नज़्मों या ग़ज़लों की बात करते हैं जो उनके फ़िल्मी संसार से अलग हैं. इन रचनाओं में साहिर का एक अलग किरदार उभरता है. वे सत्ता के अहंकार और पूंजी के लोभ को पहचानते हैं, उसे बार बार ठोकर मारते हैं. वे ग़रीबों, स्त्रियों और मज़लूमों के हक़ में तब लिखते दिखायी पड़ते हैं जब इसका कोई 'फ़ैशन' नहीं था. अपने समय से मुठभेड़ करते हुए वे बंगाल के अकाल पर लिखते हैं, गांधी पर लिखते हैं, नेहरू पर लिखते हैं, लेनिन पर दो-दो कविताएं लिखते हैं, रूसी क्रांति का स्वागत करते हैं और अपने ढंग से परंपरा को चुनौती भी देते हैं.

ताजमहल को लेकर उनकी मशहूर नज़्म उनकी इस पक्षधरता का अनुपम उदाहरण है. ताजमहल को दुनिया में प्रेम की अपूर्व निशानी माना जाता है. गुरुदेव रवींद्रनाथ टैगोर ने इसे 'काल के कपोल पर आंसू की एक बूंद' बताया था. लेकिन साहिर ताजमहल को लेकर चल रही समूची प्रेम कहानी पलट देते हैं. वे कहते हैं- 'मेरी महबूब, पसे-पर्दा-ए- तशहीरे-वफ़ा (वफ़ा के प्रचार के परदे के पीछे) तूने सतवत के निशानों को तो देखा होता / मुर्दा शाहों के मक़ाबिर (मक़बरों) से बहलने वाली / अपने तारीक मकानों को तो देखा होता' और अंत में आते आते कह जाते हैं : ' ये चमनज़ार ये जमना का किनारा ये महल / ये मुनक़्क़श दरो-दीवार, ये मेहराब ये ताक़ / एक शहंशाह ने दौलत का सहारा लेकर / हम ग़रीबों की मोहब्बत का उड़ाया है मज़ाक़'. यह कविता इतनी तल्ख़ है कि हमें सन्नाटे में छोड़ जाती है. शक होता है कि कहीं साहिर बस सनसनी पैदा करने के मक़सद से तो नहीं लिख रहे. आख़िर एक बड़े प्रतीक पर चोट करने की भी अपनी गूंज होती है.

लेकिन साहिर, दरअसल, अपनी सोच में ही ऐसे मूर्तिभंजक या मक़बराभंजक हैं. यह अकेली कविता नहीं है जो प्रेम के ऐसे प्रतीकों पर चोट करती है. इसको टक्कर देने वाली लेकिन इससे कुछ कम चर्चित कविता, 'नूरजहां के मज़ार पर' है. जहांगीर और नूरजहां के प्रेम के क़िस्से भी कम नहीं हैं. लेकिन साहिर शुरू ही यहां से करते हैं :

पहलूए-शाह में ये दुख़्तरे-जुम्हूर की क़ब्र
कितने गुमगश्ता फ़सानों का पता देती है
कितने ख़ूंरेज़ हक़ाइक़ से उठाती है नक़ाब

कितनी कुचली हुई जानों का पता देती है
कैसे मग़रूर शहंशाहों की तस्कीं के लिए
सालहा-साल हसीनाओं के बाज़ार लगे
कैसे बहकी हुई नज़रों के तअय्युश के लिए
सुर्ख़ महलों में जवां जिस्मों के अंबार लगे.

यानी साहिर याद रखते हैं कि शाह की क़ब्र के बग़ल में जो सोयी है वह आमजन की बेटी है और कल्पना करते हैं कि यह मोहब्बत से ज़्यादा शाह के दिल आ जाने का नतीजा रहा होगा जिसमें नूरजहां के सहमे से इक़रार के सिवा कुछ और न रहा होगा. लेकिन यह कविता इस कल्पना के लिए ही नहीं, इससे आगे की बात के लिए याद रखे जाने योग्य है. साहिर इसे औरत-मर्द की बराबरी के बुनियादी ख़याल से जोड़ देते हैं और कहते हैं :

तू मेरी जान! मुझे हैरतो-हसरत से न देख
हममें से कोई भी जहांनूरो-जहांगीर नहीं
तू मुझे छोड़ के ठुकरा के भी जा सकती है
तेरे हाथों में मेरे हाथ हैं, ज़ंजीर नहीं

तो कहां मिलते हैं ऐसे शायर और आशिक़ जो अपनी महबूबा से कह सकें कि वह चाहे तो उन्हें छोड़ कर भी जा सकती है. दरअसल, औरत की बराबरी का ख़याल साहिर में बहुत गहरा है और उसके साथ हो रहे ज़ुल्म की ख़लिश भी बहुत तीखी है. उनकी ढेर सारी नज़्में और ग़ज़लें हैं जिनमें कभी वे अपनी महबूबा को संबोधित करते हुए उससे बराबरी का इज़हार करते हैं और कभी जिंस की तरह औरत की ख़रीद-फ़रोख़्त पर सवाल उठाते हैं. 'चकले' नाम की नज़्म से उनको एक दौर में बेशुमार चर्चा मिली. इस नज़्म को बाद में गुरुदत्त ने अपनी फिल्म, *प्यासा* में भी इस्तेमाल किया.

साहिर, दरअसल, अपनी दुनिया, अपने ज़माने से बात करने वाले शायर हैं. कम शायर और कवि हैं जिन्होंने अपने समय पर उस शिद्दत से लिखा जो साहिर में दिखती है. फिर यथार्थ पर अपनी नज़र वे एक लम्हे को ओझल होने नहीं देते. ग़ालिब के इंतक़ाल के सौ साल पूरे होने के उपलक्ष्य में चल रहे जश्न को वे अपने सवालों से तार-तार कर देते हैं:

सौ साल से जो तुर्बत (क़ब्र) चादर को तरसती थी
अब उस पे अक़ीदत के फूलों की नुमाइश है
उर्दू के तअ ल्लुक़ से कुछ भेद नहीं खुलता
ये जश्न ये हंगामा ख़िदमत है कि साज़िश है.

…जिस अहदे-सियासत ने ये ज़िंदा ज़बां कुचली
उस अहदे-सियासत को मरहूमों का ग़म क्यूं है?
ग़ालिब जिसे कहते हैं, उर्दू का ही शायर था
उर्दू पे सितम ढाकर ग़ालिब पे करम क्यूं है?

इत्तिफ़ाक़ से यह वही साल है जब गांधी की पैदाइश के सौ बरस पूरे हो रहे हैं. दोनों का जश्न जारी है. साहिर लिखते हैं :ये जश्न मुबारक हो, पर ये भी सदाक़त है

हम लोग हक़ीक़त के एहसास से आरी (वंचित) हैं
गांधी हो या ग़ालिब हो, इंसाफ़ की नज़रों में
हम दोनों के क़ातिल हैं, दोनों के पुजारी हैं.

गांधी और नेहरू को लेकर भी साहिर ने शायरी की है- बेशक, जज़्बात से भरी, लेकिन कहीं भी बौद्धिकता में कम नहीं. यह बहुत साफ़ है कि उनके भीतर हर तरह की बराबरी का जज़्बा जितना गहरा था, उतना ही अमन और अहिंसा के प्रति सम्मान भी था. भारत और पाकिस्तान को लेकर चल रही जंग में वे राष्ट्रवाद की सान पर

बाक़ी कवियों की तरह नहीं चढ़ जाते. ऐसा नहीं कि पाकिस्तान से उन्हें कोई हमदर्दी थी. वे विभाजन से पहले लाहौर में ही थे. वहां ए.आइ.एस.एफ़. से भी जुड़े थे और प्रगतिशील लेखक संघ से भी. एक पत्रिका भी निकालते थे. लेकिन उनके बयानों से नाराज़ पाकिस्तान सरकार ने उनके नाम वारंट निकाल दिया था. तब वे 1949 में किसी तरह वहां से निकल कर हिंदुस्तान पहुंचे थे. लेकिन उन्हें मुल्कों की सरकारों और उनके अवामों के बीच का फ़र्क़ मालूम था. इसलिए वे लिख पाए- 'ख़ून अपना हो या पराया हो / नस्ले-आदम का ख़ून है आख़िर / जंग मशरिक़ में हो या मग़रिब में / अम्ने-आलम का ख़ून है आख़िर. बम घरों पर गिरें या सरहद पर / रूहे तामीर ज़ख़्म खाती है / खेत अपने जलें कि औरों के / ज़ीस्त फ़ाक़ों से तिलमिलाती है. '

साहिर के क़रीब ये सिर्फ़ अमन का मामला नहीं है. उनके लिए ज़्यादा बड़ी बात 'तामीर' की है- निर्माण की. उन्हें एहसास है कि तामीर आसानी से नहीं होती. बल्कि वह सदियों का सिलसिला है और उस पर किसी एक का हक़ नहीं. उनकी एक कुछ लंबी कविता 'विर्सा' इस सिलसिले में देखे जाने योग्य है. वे शुरुआत करते हैं:

ये वतन तेरी-मेरी नस्ल की जागीर नहीं
सैकड़ों नस्लों की मेहनत ने संवारा है इसे
कितने ज़हनों का लहू, कितनी निगाहों का अरक़
कितने चेहरों की हया, कितनी जबीनों की शफ़क़
ख़ाक की नज़्र हुई, तब ये नज़ारे बिखरे.

यहां आकर वे अपनी परंपरा से भी टकराने से नहीं कतराते. इस नज़्म में इक़बाल के एक महत्वपूर्ण शेर का जवाब भी है. इक़बाल का लिखा यह शेर बार-बार दुहराया जाता है- 'जिस खेत से दहक़ां को मयस्सर न हो रोज़ी / उस खेत के हर ख़ोशा-ए-गंदुम को जला दो.'

लेकिन साहिर इससे सहमत नहीं होते. उनके मुताबिक़ विध्वंस में किसी बात का हल नहीं है. वे लिखते हैं, 'जिससे दहक़ां को रोज़ी नहीं मिलने वाली / मैं न दूंगा तुझे वो खेत जलाने का सबक़ / फ़स्ल बाक़ी है तो तक़सीम बदल सकती है / फ़स्ल की ख़ाक से क्या मांगेगा जम्हूर का हक़?' आगे वे लिखते हैं, 'सोच ले जब कोई तामीर गिराने जाना / तेरी तामीर से है जंग, कि तख़रीब से जंग?'

ये असली साहिर हैं. निर्माण का मोल समझने वाले, अमन को अदब से देखने वाले, युद्धों की व्यर्थता जानने वाले और मुल्कों के खेल को भी पहचानने वाले. उनकी एक बड़ी छोटी सी कविता है- 'बड़ी ताक़तें'. इसमें वे लिखते हैं- 'तुम ही तज्वीज़े-सुलह लाते हो / तुम ही सामाने-जंग बांटते हो / तुम ही करते हो क़त्ल का मातम / तुम ही तीरो-तुफ़ंग बांटते हो.' रूसी क्रांति के बारे में वे लिखते हैं- 'उफ़ुक़े-रूस से फूटी है नयी सुबह की ज़ौ (रोशनी) / शब का तारीक जिगर चाक हुआ जाता है / तीरगी जितना संभलने के लिए रुकती है / सुर्ख़ सैल (सैलाब) उतना ही बेबाक हुआ जाता है.'

जाहिर है, वे तहे-दिल से प्रगतिशील शायर रहे- इंसाफ़, बराबरी, अमन और निर्माण की बात करने वाले शायर. वे इतिहास के अन्यायों से बेख़ौफ़ आंख मिलाते थे, तानाशाहों को ठोकर मारते थे और अंततः लोकशाही पर भरोसा करते थे. फ़िल्मों में भी उन्होंने जो गीत लिखे, उनमें यह धारा बनाये रखी. गुरुदत्त की *प्यासा* को अगर साहिर के गीत न मिलते तो फ़िल्म अधूरी रह जाती. बल्कि *लैला-मजनूं* जैसी रोमांटिक फ़िल्म में भी 'सिचुएशन' पर लिखते हुए उन्होंने अपनी 'क्लास' बनाये रखी. जब पत्थर खाते मजनूं के ऊपर लैला लेट जाती है और गीत गाती है- 'कोई पत्थर से ना मारे मेरे दीवाने को' तो अचानक इसे साहिर अलग ऊंचाई दे देते हैं. लैला गाती है- 'लो अब पत्थर उठाओ, ज़माने के ख़ुदाओ, तुम्हें मैं आज़माऊं, मुझे तुम आज़माओ.' कहने की ज़रूरत नहीं कि इस मोड़ पर साहिर प्रेम और विद्रोह को एक अलग रंगत दे देते हैं.

भारत में उर्दू शायरी की जड़ें बहुत गहरी और शाखाएं बहुत फैली हैं. ख़ास बात यह है कि यह शायरी अपने ढंग से बाग़ी और तरक़्क़ीपसंद है. वली दक्कनी, मीर, ग़ालिब, ज़ौक़, दाग़, सौदा, जिगर, इक़बाल, फ़ैज़, फ़िराक़, मजाज़- जैसे यह सिलसिला टूटता ही नहीं. एक भाषा के तौर पर उर्दू और हिंदी का जो भी हाल हो, लेकिन उर्दू

शायरी ने उसे बचाये रखा है. साहिर इस परंपरा की एक बहुत अहम कड़ी हैं — वे एक ऐसी रोशनी हैं जो लगातार जल रही है और दूसरों को रास्ता दिखा रही है. उनके फैलाव को समेटने की कोशिश में काफ़ी-कुछ अधूरे और बिखरे रह गये इस लेख को उन्हीं की पंक्तियों के साथ ख़त्म करने की इच्छा हो रही है— *'जहां-जहां तेरी नज़रों की ओस टपकी थी/ वहां-वहां से अब भी ग़ुबार उठता है'.*

मो. 9811901398

==========

साहिर की साहित्यिक पत्रकारिता

लईक़ रिज़वी

साहिर लुधियानवी की मुख्य पहचान शायर के तौर पर है लेकिन कम लोग जानते हैं कि उन्होंने अदबी सहाफ़त (साहित्यिक पत्रकारिता) भी ख़ूब की है. तरक़्क़ीपसंद अदबी सहाफ़त की अपनी पहचान बनाने में साहिर की सेवाएं बेपनाह है. *सवेरा* (लाहौर) और *शाहराह* (दिल्ली) की विशिष्ट रूपरेखा को साहिर के रुझान देने वाले क़लम से ही पहचान मिली है. पहली बात तो यह है कि साहिर लुधियानवी पर अभी वैसा काम हुआ ही नहीं जिसके वे वास्तव में हक़दार थे, दूसरी यह कि पत्रकारिता में उनकी सेवाओं पर तो उचटती हुई नज़र भी नहीं डाली गयी.

वह 20वीं सदी के पूर्वार्ध का आख़िरी ज़माना था. आज़ादी की लड़ाई निर्णायक मरहलों में दाख़िल हो चुकी थी. 'अंग्रेज़ो भारत छोड़ो' का नारा पूरी आबो-ताब के साथ फ़ज़ाओं में गूंज रहा था. ऐसे में साहिर लुधियानवी शायरी के साथ साथ सहाफ़त में भी सक्रिय हो गये. शुरुआत भी अपने दौर की नुमाइंदा साहित्यिक पत्रिका *अदबे-लतीफ़* (मासिक) से की. जल्द ही उन्हें संपादक मंडल में शामिल कर लिया गया. जनवरी 1945 के अंक में अहमद नदीम क़ासमी के साथ साहिर का नाम भी बतौर एडीटर दर्ज है. ध्यान रहे कि भाषा और साहित्य के लिए भी यह इंतिहाई नाज़ुक दौर था. तरक़्क़ीपसंद तहरीक के ज़ेरे-असर साहित्य में विचार और कला के स्तर पर तरह तरह के प्रयोग हो रहे थे लेकिन इंक़लाब के बहाने बहुत से लोग जाने अनजाने सियासी प्रोपेगंडा पर उतर आये थे. सियासी निष्ठा की बातें हो रही थी. यह सब नागवार तो बहुतों को था, लेकिन विरोध की हिम्मत कम ने ही की. साहिर के संपादन के दौर में माहनामा *अदबे-लतीफ़* (लाहौर) उनमें पेश पेश था.

> यह सही है कि यह उर्दू का इंक़लाबी और सियासी दौर है और यह भी सही है कि हर शायर, पुख़्ता शायर और हर अफ़सानानिगार पुख़्ता अफ़सानानिगार नहीं कहलाया जा सकता, लेकिन हमें यह कहने की इजाज़त दीजिए कि उर्दू के अक्सर नये अदीबों ने जदीदियत (आधुनिकता) को इस शिद्दत से दिमाग़ पर सवार कर लिया है कि उनकी तख़लीक़ात (रचनाएं) ज़हनी क़लाबाज़ियों के सिवा और कुछ हैसियत नहीं रखतीं. कम से कम अल्फ़ाज़ में एक ख़याल को नज़्म करने का यह मतलब नहीं होना चाहिए कि शायर के सिवा और कोई शख़्स उसकी नज़्म को समझ ही न सके और ज़िंदगी के यथार्थ की तर्जुमानी के घमंड में अफ़साना-निगारों को यह नहीं चाहिए कि वे खुले आम प्रोपेगंडा पर उतर आयें. हम निहायत अदब से अपने ज़हीन दोस्तों की ख़िदमत में यह मश्विरा पेश करना चाहते हैं कि बेशक शायरी में नयी नयी राहें निकालिए, नयी नयी सूरतें ईजाद कीजिए, नये नये सांचे ढालिए, अफ़्सानों में हिंदोस्तानियों की उजड़ी और लुटी हुई ज़िंदगियों का वर्णन कीजिए, यौन संबंधी समस्याओं पर बे-ख़ौफ़ी से क़लम घिसिए लेकिन ख़ुदा के लिए

> अदब को मज़ाक़ न बनाइए. उसे प्रोपेगंडा से दूर रखिए. अपनी ज़हनी गुत्थियों को नज़्म कीजिए लेकिन हुस्न और सफ़ाई के साथ, समाजी और सियासी उलझनों पर राय-ज़नी फ़रमाइए मगर फ़नकाराना अंदाज़ में. शायरी और रियाज़ी (गणित) में बहुत फ़र्क़ है, और प्रोपेगंडा के लिए सियासी जलसों के स्टेज ज़्यादा मुनासिब हैं. बहर और क़ाफ़िये की पाबंदियों से आज़ाद होने का यह मतलब नहीं कि ख़यालात को व्यवस्थित करने से ही आज़ादी मिल जाये. और नयी नयी सूरतें ईजाद करने का यह मक़सद नहीं होना चाहिए कि पढ़ने वाला मिसरों की तरतीब ही पर ग़ौर करता रह जाये.

माहनामा *अदबे-लतीफ़* (लाहौर) के इस शुमारे (जनवरी 1945) में साहिर लुधियानवी की नज़्म 'कल और आज' भी शाया हुई है :

> बस्ती पर बादल छाये हैं, पर यह बस्ती किस की है?
> धरती पर अमृत बरसेगा, लेकिन धरती किस की है?
> हल जोतेगी खेतों में अल्हड़ टोली दहक़ानों की
> धरती से फूटेगी मेहनत, फ़ाक़ाकश इंसानों की
> फ़सलें काट के मेहनतकश गेहूं के ढेर लगायेंगे
> जागीरों के मालिक आकर सब पूंजी ले जायेंगे
> बूढ़े दहक़ानों के घर बनिये की क़ुरक़ी आयेगी
> और क़र्ज़े के सूद में कोई गोरी बेची जायेगी
> आज भी जनता भूखी है और कल भी जनता तरसी थी
> आज भी रिमझिम बरखा होगी, कल भी बारिश बरसी थी

द्विमासिक *सवेरा* (लाहौर) साहिर लुधियानवी के पत्रकार जीवन का दूसरा पड़ाव है. *सवेरा* जनवरी 1947 से ही निकल रहा था. हालांकि चौधरी नज़ीर ने अपनी इस साहित्यिक पत्रिका को तटस्थ रखने की कोशिश की थी लेकिन लिखने वालों में तरक़्क़ीपसंदों की संख्या अधिक होने के कारण जल्द ही इसका झुकाव अंजुमन की तरफ़ हो गया. फिर *अदबे-लतीफ़* छोड़कर साहिर लुधियानवी भी *सवेरा* (लाहौर) से जुड़ गये. लेकिन आज़ादी के बहाने मुल्क के बंटवारे की सियासी ही नहीं, बल्कि मानसिक और सामाजिक उथलपुथल, जबरी हिजरत या पलायन, और भयावह दंगों के चक्करों में *सवेरा* भी अटक गया. ज़ाहिर है कि यह सब संवेदनशील साहिर लुधियानवी के लिए भी बड़ी यातना की बात थी. कुछ पाकर भी बहुत कुछ छिन जाने का एहसास उन्हें भी परेशान किये हुए था. चुनांचे अक्तूबर 1947 में मंज़रे-आम पर आये *सवेरा* का तीसरा अंक इस एहसास और दर्द को भी समोये हुए था. संपादकीय के ये जुमले देखें:

> पांच माह के लंबे विलंब के बाद *सवेरा* फिर प्रकाशित हो रहा है. यह विलंब सिर्फ़ *सवेरा* के प्रकाशन तक सीमित नहीं, यह पूरी तहज़ीबी ज़िंदगी का निलंबन है. सामाजिक जीवन का कोई क्षेत्र ऐसा नहीं जो इस रक्तरंजित प्रलंबन की मार से सुरक्षित रह सका हो, नैतिकता और सभ्यता का कोई मूल्य ऐसा नहीं जिसके माथे से ख़ून न रिसा हो. आज जब हम पीछे मुड़कर नज़र डालते हैं तो महसूस होता है कि इन पांच महीनों में हम अपने अतीत से सदियों दूर चले आये हैं.
>
> *सवेरा* का पिछला अंक उन अरमानों के हुजूम में शाया हुआ था जो आज़ादी रूपी दुल्हन के आने का ऐलान सुनकर करोड़ों दिलों में फूलों की तरह महक रहे थे, ताज़ा अंक उन खंडहरों से छप रहा है जिनसे इंसानियत के ज़ख़्मों की सड़ांध आ रही है. यह एक तल्ख़ हक़ीक़त है... जब आज़ादी का लहूलुहान सवेरा तुलू हुआ तो सारा पंजाब शोलों की लपेट में था. धुएं के बादल इतने गहरे थे कि ज़ख़्मी इंसानियत को ग़ैरमुल्की झंडों की जगह क़ौमी झंडा लहराये जाने का मंज़र देखना भी नसीब न हुआ. आज भी जबकि क़ौमी हुकूमतें क़ायम हुए तीन माह से ज़्यादा मुद्दत गुज़र चुकी है, किसी चेहरे पर आज़ादी की चमक नहीं है. फ़िरकावाराना फ़सादात ने इंसानियत को धरती की कोख से नोच कर रास्तों पर फेंक दिया है और सामाजिक जीवन को इतना बिखरा डाला है कि क़ौमी तामीर की सारी कल्पनाएं उलझ कर रह गयी हैं. (बातचीत, *सवेरा*, लाहौर, अंक 3)

दो माही *सवेरा*(लाहौर) के इस अंक में शामिल रचनाओं में तक़सीम की बुनियाद पर मिली आज़ादी पर बेबाकी से सैद्धांतिक सवाल उठाये गये हैं. अपने लक्ष्य में नाकाम रहने पर दोनों तरफ़ के नेतृत्व को निशाना बनाया गया है. फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की नज़्म 'ये दाग़-दाग़ उजाला, ये शब-गज़ीदा सहर' को इसका द्योतक कहा जा सकता है. जोश मलीहाबादी की नज़्म 'उट्ठो कि नौ-बहार है' में जश्न का आहवान तो है लेकिन इस बहाने सामने आयी घृणित स्थितियों पर उंगली भी उठायी गयी है:

> ग़ज़ब का ख़लफ़िशार[1] है बला की गीरो-दार[2] है
> ख़िज़ां कहेंगे फिर किसे, अगर यही बहार है

इस विषय पर ख़ुद साहिर सहित कई दूसरे शायरों की नज़्में भी इस अंक में शामिल है. कृष्णचंद्र का नेहरू और जिन्ना के नाम एक तवाइफ़ का ख़त भी *सवेरा*(लाहौर) के इस अंक में ख़ास चीज़ है. *सवेरा* के इस शुमारे में साहिर लुधियानवी का एक विश्लेषणात्मक लेख भी शामिल है, जिसमें उन्होंने आज़ादी के विभिन्न रूपों को आईना दिखाया है. साहिर ने आज़ादी के बजाय बार बार उसे 'माउंटबेटन प्लान' कहा है. इस मज़मून में कांग्रेस और लीग की नीयत पर भी सवाल उठाये हैं :

> हमारी साठ साल की जद्दोजहद का परिणाम माउंटबेटन प्लान की शक्ल में हमारे सामने है. इस प्लान को जहां पंडित जवाहरलाल नेहरू जैसे इंक़लाबी और मुहम्मद अली जिन्ना जैसे संविधानवादी ने पसंद किया है, वहां चर्चिल जैसे प्रतिगामी ने भी सराहा है. बज़ाहिर यह हक़ीक़त बड़ी अजीब है लेकिन अगर हम दूसरे विश्वयुद्ध और बाद की घटनाओं पर नज़र डालें तो इसकी वजह आसानी से समझ में आ सकती है... पूंजीवादी नेतृत्व अवामी इंक़लाब से भयभीत था क्योंकि अवामी इंक़लाब जहां बर्तानिया के वर्चस्व का अंत करता, वहां कांग्रेस और लीग के पुश्तपनाह सरमायादारों और जागीरदारों के निहितार्थों को भी ख़तरे में डाल देता, इस वजह से कांग्रेस और लीग हाई-कमांड ने क़दम-क़दम पर अवामी जद्दोजहद, फ़ौजी बग़ावतों और रियासती आंदोलनों का विरोध किया और उनसे असंबद्धता जतायी.
>
> अवाम के बढ़ते हुए जोशो-ख़रोश की बिना पर बर्तानवी हुकूमत यह महसूस कर रही थी कि हिंदोस्तान उसके अधिपत्य से निकल रहा है. लिहाज़ा बर्तानिया ने कोशिश की कि हिंदोस्तान के पूंजीवादी नेतृत्व से समझौता करके उसे अवामी तहरीकों के ख़िलाफ़ इस्तेमाल करे. चुनांचे वह इसमें कामयाब रहा. माउंटबेटन प्लान इसी समझौते का ठोस रूप है. इस प्लान से न हमें मुकम्मल आज़ादी मिलती है और न हिंदू मुस्लिम सवाल तय होता है. यह एक वर्ग आधारित समझौता है जो वर्ग संघर्ष का मुक़ाबला करने के लिए देशी-विदेशी सरमायादारों के बीच में तय पाया है.

बाद में अहमद नदीम क़ासमी अलग हो गये और *सवेरा* का चौथा अंक साहिर लुधियानवी के संपादन में निकला. इस अंक के संपादकीय के ये तेवर देखिए :

> अभी तक दोनों हुकूमतों में ऐसे लोगों की अधिकता है जो यह नहीं चाहते कि अवाम का ज़हन ग़लत क़िस्म के फ़िरक़ावाराना जुनून से हटकर ज़िंदगी की वास्तविक और बुनियादी समस्याओं की तरफ़ आकर्षित हो और वे अपनी रोज़मर्रा की ज़रूरतें पूरी करने के लिए देशी सरमायादारों और जागीरदारों के ख़िलाफ़ पंक्तिबद्ध होकर खड़े हो जायें. इसीलिए वे अवाम को विभिन्न नारों में उलझाये रखना चाहते हैं. और इसमें शक नहीं कि वे एक लंबे समय तक अपने इस मक़सद में कामयाब भी रहे, लेकिन अवाम की चेतना जाग रही है, और सामूहिक सहयोग का एहसास परवान चढ़ रहा है. यह सही है कि अभी इस धरती की रगों से फ़िरक़ापरस्ती का ज़हर पूरी तरह से बाहर नहीं हुआ लेकिन फ़सादात का सैलाबी दौर गुज़र गया है, और अपने पीछे जली हुई बस्तियों, अकाल पीड़ित आबादियों और लुटी हुई इज़्ज़तों का एक अंतहीन कारवां छोड़ गया है. जैसे जैसे नये हुक्मरां अपने असली रूप में अवाम के सामने आते जा रहे हैं, पुराने तिलिस्म टूट रहे हैं, क़ौमियत के वे महल चकनाचूर

हो रहे हैं जिनकी बुनियाद मज़हब के ग़लत नज़रिये पर रखी गयी थी. अवाम अपने असली दुश्मनों को पहचान रहे हैं, और दोनों देशों में लोग अपने-अपने प्रतिगामी हुक्मरानों के ख़िलाफ़ एक बेहतर और सशक्त जीवन को पाने के जद्दोजहद शुरू कर रहे हैं. हमारे अदीबों और फ़नकारों का फ़र्ज़ है कि वे अवाम की मांगों का साथ दें और इस जद्दोजहद में उनकी रहनुमाई करें.

('बातचीत', *सवेरा*, लाहौर, अंक 4)

सवेरा के इस अंक में भी साहिर ने तात्कालिक सियासी और सामाजिक परिदृश्य से संबंधित नुमाइंदा रचनाओं को व्यवस्थित ढंग से पेश किया है. आज़ादी के विभिन्न पहलुओं पर बेबाक तहरीरें इस शुमारे में भी शामिल हैं. इनमें 'ख़ून की लकीर' (सरदार जाफ़री), 'आज़ादी के बाद' (अहमद नदीम क़ासमी), 'जब और अब' (अख़्तरुल-ईमान) और 'पनाह-गुज़ीं' (क़य्यूम नज़र) ख़ास अहमियत रखती हैं. साथ ही महात्मा गांधी पर कई वैयक्तिक शोकगीत या मरसिये भी शामिल किये गये हैं. लेखों और अफ़सानों के कालम भी ख़ासे महत्वपूर्ण हैं. साहिर लुधियानवी के संपादन में निकले *सवेरा* (लाहौर) के इस अंक में तरक़्क़ीपसंदी की यह लय इतनी तेज़ हो गयी कि यह हुकूमत की आंख में खटकने लगा. फिर अंक 7 और 8 की कुछ रचनाओं को काबिले-एतराज़ मानते हुए, *सवेरा* पर छह माह की पाबंदी लगाते हुए साहिर लुधियानवी वग़ैरह की गिरफ़्तारी के लिए ग़ैर-ज़मानती वारंट जारी कर दिया गया.

पाकिस्तान में, तरक़्क़ीपसंदों पर ज़मीन तंग हुई और ग़ैरज़मानती वारंट जारी हुआ तो साहिर लुधियानवी *सवेरा* और लाहौर, दोनों को छोड़कर दिल्ली आ गये. जनवरी 1949 में दिल्ली से साहिर लुधियानवी के संपादन में दो-माही *शाहराह* जारी हुआ. यह तरक़्क़ीपसंद अदबी सहाफ़त का नया सवेरा था. साहिर लुधियानवी ने अपने संपादकीय 'राहनुमा' में *शाहराह* का परिचय 'तरक़्क़ीपसंद अदबी तहरीक का तर्जुमान' कह कर कराया :

शाहराह का पहला नंबर आपके सामने है. इस रिसाले का इजरा, जैसा कि ज़ाहिर है, न तो कोई ग़ैरमामूली हादसा है और न कोई महान कारनामा. अगर इसमें आपको कोई ख़ूबी या महानता नज़र आये तो वह इस रिसाले की नहीं बल्कि उर्दू अदब की उस तहरीक की है जिसका यह रिसाला तर्जुमान है. जहां तक *शाहराह* की पालिसी का ताल्लुक़ है, हम कोई नया और अनोखा मक़सद सामने रखकर नहीं निकले. ध्येय और लक्ष्य वही हैं जिनकी आवृत्ति अंजुमन तरक़्क़ी-पसंद मुसन्निफ़ीन पिछले बारह बरस में अनेक बार कर चुकी है... *शाहराह* किसी अदबी रिसाले को हानि पहुंचाने या उस पर सबक़त ले जाने के लिए नहीं जारी किया गया बल्कि उन पत्रिकाओं की पंक्ति में एक नयी पत्रिका का इज़ाफ़ा करने के लिए निकाला गया है जो मौजूदा हालात में इंसानी बेहतरी और सामाजिक ख़ुशहाली के लिए जद्दो-जहद कर रही हैं. हम अपने उन सारे अदीब साथियों को सलाम करते हैं जिन्हें हमारी तहरीक की बारह-साला ज़िंदगी में ज़ुल्म और तशद्दुद का शिकार होना पड़ा और तरह तरह की पाबंदियां और मुश्किलें बर्दाश्त करना पड़ीं. *शाहराह* उनका नया तर्जुमान है और उन्हें यक़ीन दिलाता है कि वह हर हालत में अपने आपको उनसे वाबस्ता रखेगा.'

(*शाहराह*, दिल्ली, जनवरी-फ़रवरी 1949)

शाहराह (दिल्ली) के पहले अंक में सज्जाद ज़हीर, कृष्ण चंदर, मुमताज़ हुसैन और ख़ुद साहिर के अत्यंत महत्वपूर्ण लेख शामिल हैं. इसी तरह कृष्णचंदर, ख़्वाजा अहमद अब्बास, उपेंद्रनाथ अश्क, देवेंद्र सत्यार्थी, इस्मत चुग़ताई के अफ़साने, और जोश, फ़िराक़, सरदार जाफ़री, मजाज़, मजरूह, क़तील शिफ़ाई, मीराजी, नियाज़ हैदर, राही, विश्वामित्र आदिल, सलाम मछलीशहरी, मसऊद अख़तर जमाल वग़ैरह की नज़्में भी शामिल हैं. पहले शुमारे की इबतिदा अली सरदार जाफ़री की नज़्म 'शाहराहे-हयात' से होती है. कोई साक्ष्य तो नहीं, लेकिन लगता है कि *शाहराह* नाम यहीं से लिया गया है. पर्चे के कई कालम शाहराह की मुनासिबत से ही क़रार पाये. मसलन, फ़ेहरिस्त के लिए 'ज़ादे-राह' और संपादकीय के लिए 'राहनुमा'. एक और कालम है 'रफ़्तार', जिसके तहत दूसरी भाषाओं के कुछ अनुवाद प्रकाशित किये गये हैं. दो-माही *शाहराह* (दिल्ली) के पहले अंक के मस्तक पर संपादकों में साहिर लुधियानवी के साथ रामप्रकाश अश्क का नाम भी दर्ज था लेकिन दूसरे अंक में एडीटर के तौर पर सिर्फ़ साहिर का नाम ही नज़र आता है.

दो माही शाहराह दिल्ली के इस दूसरे अंक में जिन क़लमकारों की रचनाएं शामिल हैं उनमें सरदार जाफ़री, इबादत बरेलवी, जिगर, जोश, फ़िराक़, अहसान दानिश, अख़तर अंसारी, असर लखनवी और प्रकाशचंद्र गुप्त ख़ास हैं. शाहराह के प्रारंभिक अंकों में मस्तक पर 'तरक़्क़ीपसंदों का दो-माही तर्जुमान' दर्ज होता था. बाद में जब *शाहराह* दो-माही से माहनामा हो गया तो इस पर से यह प्रत्यय हटा लिया गया, लेकिन तरक़्क़ीपसंद विचारों और सिद्धांतों की तर्जुमानी बहरहाल जारी रही. अपनी विषय-सामग्री और तेवर के कारण *शाहराह* (दिल्ली) ने उर्दू दुनिया में जल्द ही अपनी ख़ास जगह बना ली. ज़ोय अंसारी लिखते हैं :

> दिल्ली आने से पहले वे थोड़े दिन *अदबे-लतीफ़* के एडीटर भी रह चुके थे. अदबी सहाफ़त में उन्होंने दो एक बरस के अंदर ही अपना मक़ाम बना लिया था... साहिर दिल्ली आये तो यह मशग़ला भी साथ लाये... ऐसा उम्दा तरक़्क़ीपसंद रिसाला निकाला कि उससे पहले के सारे माहनामे गर्द होकर रह गये. *अदबे-लतीफ़* लाहौर के बाद यही *शाहराह* था, जो कम-अज़-कम एक दहाई (1950-1960) तक नयी पौध के नारों, मानसिक तर्क-वितर्कों, तकरारों और तहरीरों का केंद्र बना रहा.

जनवरी 1949 में अली सरदार जाफ़री को फ़िरक़ापरस्ती फैलाने के इल्ज़ाम में गिरफ़्तार कर लिया गया. कैफ़ी आज़मी और नियाज़ हैदर के ख़िलाफ़ वारंट निकले. अहमदाबाद में मुशायरों और कान्फ्रेंसों पर पाबंदी और अदबी तहरीरों पर सेंसरशिप लगा दी गयी तो तरक़्क़ीपसंद पत्र-पत्रिकाओं ने नेहरू हुकूमत को आड़े हाथों लिया. साहिर लुधियानवी ने इस विषय में सख़्त प्रतिक्रिया ज़ाहिर की. *शाहराह* के संपादकीय का यह अंश देखिए :

> जब क़ौमी हुकूमतों की नैतिकता इतनी गिर जाये कि आर्टिस्टों और फ़नकारों को बग़ैर मुक़द्दमा चलाये जेल की काल-कोठरियों में ठूंसा जा रहा हो और जब सरमायादार और जागीरदार सियासतदां इतने बौखला जायें कि उन्हें तहज़ीबो-फ़न से ख़तरा नज़र आने लगे और जब पुलिस के अर्ध-सैन्य अमले को यह हक़ दे दिया जाये कि वे टैगोर, इक़बाल और शेक्सपियर के फ़नकारों को सेंसर करें तो तरक़्क़ीपसंद अवाम को समझ लेना चाहिए कि फ़ासीवाद का भूत अपनी गुफा में से सर निकाल रहा है...
>
> पंडित जवाहरलाल नेहरू अपनी तक़रीर में बार बार दोहराते हैं कि उन्होंने अपने मुल्क में हर तरह के, हर किस्म के ख़यालात और नज़रियात के पुर-अमन प्रचार और प्रसार का हक़ दे रखा है. अगर यह सही है तो हुकूमत उन अतिवादी इक़दामात को स्पष्ट क्यों नहीं करती जिनकी बिना पर उपरोक्त (सरदार जाफ़री, कैफ़ी आज़मी और नियाज़ हैदर वग़ैरह) अदीब और फ़नकार गिरफ़्तार किये गये हैं. अगर महात्मा गांधी के क़ातिलों को यह हक़ दिया जा सकता है कि वे खुली अदालत में मुक़द्दमा लड़ सकें तो शायरों और अदीबों को, जो मुल्को-क़ौम के ज़मीर का दर्जा रखते हैं, यह हक़ क्यों नहीं दिया जाता?
>
> ...यह बात कितनी हास्यास्पद है कि वे अदीब और शायर जिन्होंने ज़िंदगीभर फ़िरक़ापरस्ती के ख़िलाफ़ जिहाद किया है और जो इस ख़ूनख़राबे के ज़माने में भी इंसानियतपरस्ती के प्रचारक रहे हैं, जब बड़ेबड़े सियासी रहनुमाओं के क़दम डगमगाये हुए थे, उनकी अंजुमन के आर्गेनाइज़िंग सैक्रेटरी को फ़िरक़ापरस्त कह कर गिरफ़्तार किया जाये... अदीबों की गिरफ़्तारी से जनता को सुरक्षा नहीं मिलती. हुकूमत अगर वाक़ई आम लोगों की सुरक्षा चाहती है तो उसे अपने सियासी और आर्थिक ढांचे में बुनियादी तब्दीलियां करनी होंगी, पुलिस और फ़ौज की सख़्तियां इस मसले को हल नहीं कर सकतीं. ये सख़्तियां न अदब को ख़त्म कर सकती हैं और न प्रतिरोध को, क्योंकि एहतिजाज और अदब, दोनों का मुख्य स्रोत जनता है. और जनता ग़ैर-फ़ानी, अनमिट और अजय है.
>
> (*शाहराह*, दिल्ली, मार्च-अप्रैल 1949)

साहिर लुधियानवी की सहाफ़त बेबाक और संतुलित रवैयों की संरक्षक रही है. उन्होंने समकालीन रचनाकारों पर आलोचनाएं भी प्रकाशित कीं लेकिन दलीलों के साथ. *शाहराह* के दूसरे ही अंक में सरदार जाफ़री का मज़मून 'तरक़्क़ीपसंदी के बाज़ बुनियादी मसाइल' शाया हुआ, जिसमें फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ के फ़िक्रो-फ़न पर सवाल उठाये गये थे. लेकिन साहिर लुधियानवी के बंबई चले जाने के बाद *शाहराह* बड़ी हद तक शिद्दत-पसंदी का शिकार हो

गया था. ज़ोए अंसारी लिखते हैं :

> तरक़्क़ी-पसंद तहरीक में तंग-नज़रों के बादे-सुमूम (ज़हरीली हवा) ने उसे (*शाहराह* को) भी अपनी लपेट में ले लिया, लेकिन साहिर के उठ जाने के बाद.'

साहिर लुधियानवी की सहाफ़त का सफ़र बहुत लंबा तो नहीं लेकिन बड़ा ज़रूर है. तक़रीबन पांच बरस और तीन रिसाले और बस. लेकिन इस अल्पकाल में भी अपनी जुदागाना सलाहियतों से तत्कालीन अदबी सहाफ़त पर उन्होंने जो नक़्श बनाये वे आज भी प्रकाश बिखेर रहे हैं. तरक़्क़ी-पसंद अदबी सहाफ़त के तो वे प्रवर्तकों में शामिल हैं. ज़रूरत है साहिर लुधियानवी की सहाफ़ती तहरीरों को नये सिरे से जमा करने और पढ़ने समझने की. ये सिलसिले भी साहिर के फ़िक्रो-फ़न और बौद्धिकता का बड़ा संदर्भ हैं और उन्हें छोड़कर साहिर की पूरी शिनाख़्त मुमकिन नहीं.

आभार : त्रैमासिक उर्दू *अदब*, अंजुमन तरक़्क़ी-ए-उर्दू हिंद, दिल्ली, जनवरी-मार्च, 2021, पृ. 264-272

---

1 खलबली, गड़बड़

2 पकड़-धकड़, लड़ाई-भिड़ाई

साहिर और लखनऊ

प्रदीप कपूर

उर्दू अदब की तीन महान हस्तियां—अली सरदार जाफ़री, मजाज़ लखनवी और साहिर लुधियानवी-- बहुत अच्छे दोस्त हुआ करते थे. क्या मुंबई और क्या लखनऊ, जब भी मौक़ा मिलता था, तीनों साथ हो लिया करते थे. तालिबे-इल्मों की एक अदबी कॉन्फ़्रेन्स के लिए अली सरदार जाफ़री , साहिर लुधियानवी और इस्मत चुग़ताई 3 दिसंबर 1955 की सुबह मुंबई से लखनऊ पहुंचे. यह कॉन्फ़्रेन्स क़ैसरबाग़ बारादरी में हुई और रात में मुशायरा था जहां तीनों दोस्तों ने ख़ूब शायरी सुनायी.

मेरे वालिद के दोस्त इब्ने हसन ने, जो इस मुशायरे में मौजूद थे, बताया कि मजाज़ और साहिर लुधियानवी ने अपनी शायरी से मजमा लूटा था. अली सरदार जाफ़री ने यह वाक़या *लखनऊ की पांच रातें* में लिखा कि 'मजाज़ मुशायरे में देर रात तक सुनाता रहा और लोग सुनते रहे' :

> दूसरे दिन 4 दिसंबर को मजाज़ होटल में हमारे साथ रहा, साहिर ने उसके लिए नफ़ीस व्हिस्की की बोतल ख़रीद ली थी. मजाज़ से वायदा भी लिया था कि वह दिन में नहीं पियेगा और शाम को

लखनऊ के दोस्तों के साथ बाहर नहीं आयेगा, और उसके मशवरे से बोतल अलमारी में बंद कर दी गयी ताकि दिन में नीयत ख़राब न हो. तीसरे पहर हम लोग कॉन्फ्रेन्स के इजलास और चाय की एक दावत के लिए चले गये और मजाज़ कमरे में सोता रहा, शाम को वापसी में ज़रा देर हो गयी और इस अरसे में मजाज़ के लखनऊ के दोस्त उसे उड़ा ले गये, मैंने और साहिर ने बहुत तलाश किया लेकिन उसका पता नहीं चला.

देश के जाने-माने शायर और संपादक हसन कमाल का कहना है कि उनका रुझान शायरी की तरफ़ साहिर लुधियानवी की वजह से हुआ. जब वे लखनऊ यूनिवर्सिटी के छात्र थे तो साहिर लुधियानवी से मित्रों के साथ मिले. तब छात्रों ने साहिर लुधियानवी को बताया कि हसन कमाल को उनकी पूरी शायरी याद है और ख़ासतौर से 'परछाइयां'. यह सुनकर साहिर हैरत में आ गये. तब साहिर की फ़रमाइश पर हसन कमाल साहब ने पूरी 'परछाइयां' सुनाकर सबको हैरत में डाल दिया. साहिर हसन कमाल साहब से बहुत ख़ुश हुए थे और मुंबई में मिलने की दावत भी दी जो हसन कमाल साहब ने क़ुबूल की.

लखनऊ शहर में हिंदी-उर्दू अवॉर्ड कमेटी के सदर अतहर नबी ने 1970 में साहिर से पहली मुलाक़ात का ज़िक्र किया. उन्होंने बताया कि 1970 में साहिर से मुलाक़ात सुप्रसिद्ध कहानीकार कृष्ण चंदर के घर पर हुई और उस महफ़िल में उर्दू के मायानाज़ सितारे अली सरदार जाफ़री, कैफ़ी आज़मी, ज़ोए अंसारी, डॉ. राही मासूम रज़ा, प्रो. मुहम्मद हसन, जांनिसार अख़्तर आदि शरीक थे. कृष्ण चंदर अपनी बेगम सलमा सिद्दीक़ी की ख़ातिरदारी अपने ख़ूबसूरत अंदाज़ में कर रहे थे. इल्मी-अदबी गुफ़्तगू के बाद रुख़सत होते समय साहिर साहब ने मुझे अपने घर आने की दावत दी. इस प्रकार जब भी मुंबई जाना हुआ हर शाम साहिर साहब के बंगले 'परछाइयां' में गुज़रती थी. यह बताना भी मुनासिब होगा कि नादियादवाला ने प्रसन्न होकर यह बंगला जो जुहू में स्थित है, उनकी हिट फ़िल्म *ताजमहल* के साहिर द्वारा रचित गाने, 'जो वादा किया वो निभाना पड़ेगा' के लिए गिफ़्ट किया था. जहां तक लखनऊ कनेक्शन का प्रश्न है साहिर और मजाज़ दोनों दोस्त थे.

उर्दू के प्रसिद्ध लेखक रामलाल ने 20 नवंबर 1973 को रवींद्रालय, लखनऊ, में ग़ैर-मुस्लिम लेखकों का राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित किया था. इस अवसर पर एक मुशायरा भी आयोजित किया गया था, जिसका संयोजक अतहर नबी जी को बनाया गया. इस मुशायरे में साहिर को बुलाने अतहर नबी मुंबई गये और उसकी अहमियत बतायी. तब साहिर साहब राज़ी हो गये. अब रामलाल बेगम हमीदा हबीबुल्लाह के साथ मुख्यमंत्री हेमवती नंदन बहुगुणा से मिले और उनको सम्मेलन और मुशायरे के उद्घाटन के लिए आमंत्रित किया.

20 नवंबर को बहुगुणा ने सम्मेलन और मुशायरे का उद्घाटन किया जिसमें साहिर लुधियानवी, फ़िराक़ गोरखपुरी, जगन्नाथ आज़ाद, आनंद मोहन जुत्शी गुलज़ार देहलवी, कृष्ण चंदर, ख़ुमार बाराबंकी, कैफ़ी आज़मी सभी लोग शामिल हुए. अतहर नबी ने बताया कि उन्होंने 20 जनवरी 1974 को कमला टावर्स कानपुर में एक मुशायरे का आयोजन किया. इस मुशायरे में भी साहिर, मजरूह और कैफ़ी के अतिरिक्त शबाना भी शामिल हुए थे. तत्कालीन राज्यपाल अकबर अली ख़ान मुख्य अतिथि थे.

इसी प्रकार साहित्यकार और प्रगतिशील लेखक संघ के सदर और महामंत्री प्रो. क़मर रईस के कहने पर एक मुशायरा मऊनाथ भंजन में अतहर नबी ने आयोजित किया जिसमें साहिर लुधियानवी के साथ अभिनेत्री निम्मी और जॉनी वॉकर भी मौजूद रहे. इस कार्यक्रम के बाद साहिर साहब जब लखनऊ आये तो एक शाम का आयोजन अवध जिमख़ाना क्लब क़ैसरबाग़ में उनके साथ किया गया. 25 अक्टूबर 1980 को हार्ट अटैक में साहिर साहब अपने चाहने वालों से विदा हो गये.

मो. 9839303120

ज़िंदगी भर नहीं भूलेगी

जब साहिर ट्रोल हुए

रविकान्त

विकिपीडिया के मुताबिक़ अंग्रेजी का 'ट्रोल' शब्द संज्ञा और क्रिया दोनों है: 'ट्रोल होना' इंटरनेट पर रोज़मर्रा का हादसा है, जिसमें 'ट्रोल' करने वाला इंसान यानी 'ट्रोल' किसी व्यक्ति के किसी उद्गार या कार्य के चलते सोशल मीडिया की तमाम नागर सामाजिकताएं ताक़ पर रखकर अपने उग्र उद्गारों के साथ उसके पीछे ही पड़ जाता है. अगर ऐसी परिघटना ढेर-सारे व्यक्तियों या बेनाम बॉट-मशीनों की भीड़ के हाथों अमूमन एक साथ या लगातार अंजाम दी जाती है तो हम कहते हैं कि फ़लां को 'ट्रोल' कर दिया गया. हर-दिल-अज़ीज़ शायर साहिर लुधियानवी के साथ हिंदी की पत्रिकाओं के संपादकों और पाठकों ने एक बार कुछ ऐसा ही किया. उन्हें नफ़रत फैलाने वाला, अवसरवादी और जमाते-इस्लामी का कारकुन तक कहा गया. यह तब हुआ जब सन 1967 में एक तक़रीर करते हुए उन्होंने फ़रमाया कि हिंदी नाम से जानी जाने वाली फ़िल्में, दरअसल, 97 फ़ीसदी उर्दू की होती हैं. इस लेख में हम हिंदी की नवोदित फ़िल्म पत्रिका *माधुरी* में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध साक्ष्य के आधार पर देखेंगे कि साहिर के ख़िलाफ़ किस क़िस्म की तल्ख़ टिप्पणियां की गयीं और क्यों?[1] एक नयी, दिलचस्प तुलना करने की कोशिश भी करेंगे कि 'टाइम्स ऑफ़ इंडिया' समूह की ही समानधर्मा अंग्रेज़ी *फ़िल्मफ़ेयर* और हिंदी की सबसे पुरानी फ़िल्म पत्रिका *रंगभूमि* में भी भाषा-विवाद की अनुगूंज सुनायी देती है, और जैसा कि हम देखेंगे, वहां प्रकाशित पत्राचार में भी काफ़ी तर्क-कुतर्क और भावनात्मक वाग्जाल है, लेकिन आम तौर पर तेवर वैसा युयुत्सु या जंगी नहीं है. सिनेमा की भाषा को सुधारने और फ़िल्मी दुनिया में हिंदी के रुतबे को स्थापित करने की *माधुरी* की ख़ास ज़िद के अलावा दोनों भाषाओं के विमर्श में एक बड़ा फ़र्क़ राष्ट्रवाद की उपस्थिति या अनुपस्थिति का है. भाषा को जब राष्ट्रवाद का हथियार बना दिया जाता है, जैसा कि *माधुरी* के पन्नों में भी हुआ, तब उसकी मारक क्षमता अचानक कई गुणा बढ़ जाती है.

इतिहास में थोड़ा पीछे जायें तो उत्तर भारत में मरणांतक स्पर्धा में परस्पर उलझे हिंदी-उर्दू राष्ट्रवाद उन्नीसवीं सदी के आख़िर से लेकर बीसवीं के अमूमन अंतिम दशक तक की हक़ीक़त हैं. गुज़रते वक़्त के साथ उनके अखाड़े बदलते गये: दफ़्तर-कचहरी-नौकरी और छप-माध्यम से प्रारंभ करके धारावाहिक तौर पर रेडियो और सिनेमा तक, विश्वविद्यालयों से लेकर अकादमियों तक, अख़बारों से लेकर सेमिनारों तक और प्रादेशिक से लेकर संघीय राजनीति तक इस संघर्ष के नज़ारे दिखायी दिये. पता ही नहीं चला कि महज़ लिपि का विभाजन कब और किस तरह साहित्यिक, धार्मिक और राष्ट्रीय विभाजन में तब्दील हो गया. किसी भी बड़े राज्य की पारंपरिक भाषा न होते हुए भी हिंदी के क़ब्ज़े के इलाक़े बढ़ते गये, जबकि कम-से-कम हिंदुस्तान में तो उर्दू संवैधानिक भूभाग-विहीन आभासी भाषा बनकर रह गयी, जिसका जनाधार भी मुसलसल सिकुड़ता गया. आख़िर तक तो हालात ऐसे बने कि हिंदी इलाक़ो में द्वितीय राजभाषा के दर्जे की मांग करने पर भी उर्दू के हिमायतियों को 'बासी भात में ख़ुदा का साझा' मांगने के ताने, उलाहने दिये गये, वह भी ऐन प्रगतिशीलों की तरफ़ से[2]. गोया भाषा के मुद्दे पर जनवादी प्रगतिशीलता के मानदंड भी बदल जाते हैं.

फिर कहा अक्सर यह भी जाता है कि उत्तर भारत में मुख्य तौर पर छापे के जनपद की भाषाई राजनीति की सांप्रदायिक लड़ाई से सिनेमा की दुनिया आम तौर पर अछूती रही. लेकिन नीचे स्पष्ट हो जायेगा कि सतह के नीचे व्यापक समाज में मौजूद भाषाई तनाव की अंतर्धारा तो सिने-जगत में भी ज़रूर बह रही थी. दूसरी अहम बात एक

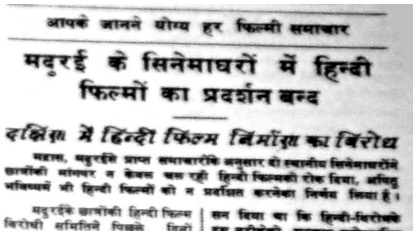

आपके जानने योग्य हर फिल्मी समाचार

मदुरई के सिनेमाघरों में हिन्दी फिल्मों का प्रदर्शन बन्द

दक्षिण में हिन्दी फिल्म निर्माण का विरोध

मद्रास, मदुरईसे प्राप्त समाचारोंके अनुसार दो स्थानीय सिनेमाघरोंने कानोंकी मांगपर न केवल चल रही हिन्दी फिल्मको रोक दिया, अपितु भविष्यमें भी हिन्दी फिल्मों को न प्रदर्शित करनेका निर्णय लिया है।

मदुरईके कानोंकी हिन्दी फिल्म विरोधी समितिने पिछले दिनों [illegible] कर दिया था कि हिन्दी-विरोधके

पुराना सवाल है — आख़िर नाम में क्या रखा है? — जिसे प्रिंट-केंद्रित हिंदी-उर्दू-हिंदुस्तानी विवाद के संदर्भ में आलोक राय सहित कई लोगों ने पूछा है, और कई अन्य विद्वानों ने सिनेमा और रेडियो के संदर्भ में भी इस पर अलग अलग समय पर ख़ूब विचार किया है. नतीजे दिलचस्प हैं कि श्रव्य-केंद्रित रेडियो में तो वही तीनों नाम अलग अलग दौर में चलते हैं, और दृश्य-श्रव्य सिनेमा में 'हिंदुस्तानी' पर फ़िल्म अध्ययन के विद्वानों के बीच आम सहमति रही है. 'हिंदी' तो सेंसर बोर्ड-प्रदत्त सरकारी नाम के रूप में लोकप्रिय तौर पर स्वीकृत है ही, और कमाल अमरोही जैसे कुछ फ़िल्मकारों ने बाक़ायदा उर्दू नाम लिया अपनी फ़िल्मों के लिए, और चंद ने 'हिंदुस्तानी' का विकल्प भी चुना. पर्यायों की प्रचलित फ़ेहरिस्त में अति-लोकप्रिय 'बंबइया सिनेमा' और नक़लची 'बॉलीवुड' नामक दो क्षेत्रवादी संज्ञाएं और जुड़ जाती हैं. लेकिन जैसा पाकिस्तानी विद्वान इफ़्तिख़ार दादी ने फ़रमाया है, कि आज़ादी के पहले या बाद के सिनेमा के लिए समीचीन नाम का यह सवाल विकट बना रहता है; उस पर कोई एक नाम कमबख़्त सही से और हमेशा के लिए चिपकता नहीं[3].

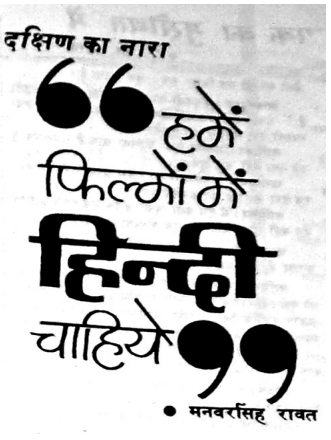

इपंले ने भी *नया पथ* के सिनेमा-सदी पर निकले विशेषांक के एक लेख में सिनेमा की भाषाई रियाज़त की तफ़सील से जांच-पड़ताल करके यह पाया था कि सिनेमा के पर्दे पर हिंदी-उर्दू के लेखक कहानी की मांग और मर्ज़ी के मुताबिक़ अक्सर भाषाई सरहदों के आरपार रचनात्मक आवाजाही करते रहे हैं, कभी-कभार तो यह सिद्ध करने के लिए कि प्रयोग के स्तर वे अपनी भाषा की सांप्रदायिक हदबंदी में क़ैद नहीं हैं. ज़ाहिर है कि वृहत्तर समाज के भाषाई वैमनस्य से सिनेमा बेअसर या असंपृक्त नहीं रह सकता था, लेकिन यह ग़ौरतलब है कि सिने-लेखकों और शायरों ने अपने संवाद और गीतों में शुद्धतावादी रवैया न अपनाकर आम तौर पर एक उदार, सहिष्णु और सर्वसमावेशी आदर्श सामने रखा. उसी तरह जैसे कि हिंदुस्तानी फ़िल्मों और उर्दू पत्रिकाओं का बाज़ार पाकिस्तान में था, और पाकिस्तानी ग़ज़लों-क़व्वालियों का यहां, और फिर पाकिस्तानी फ़िल्मों में भी कम-से-कम साठ के दशक के मध्य तक ब्रजभाषा, अवधी या पुरबिया ज़बानों में रचे गीत-संगीत मिल जाते थे[4]. कुछ व्यावहारिक तक़ाज़े भी थे कि बड़े बाज़ार की तलाश में पारसी थिएटर के नक़्शे-क़दम पर चलती फ़िल्मों की भाषा मिलीजुली रही. इसमें एक विलक्षण विडंबना भी है कि गांधी जी को सिनेमा पसंद नहीं था, लेकिन सच है कि सिनेमा ने उनकी 'दुपहरिया' या 'टोबा टेक सिंह' ज़बान को जो व्यापक प्रसार दिया, वह शायद किसी दूसरे तरीक़े से नामुमकिन था. इस मामले में शुद्धतावादियों का रवैया भी निहायत दिलचस्प रहा. *चित्रपट* के संपादक ऋषभचरण जैन जैसे लोगों के ज़िद-भरे आग्रह के बावजूद पहले तो वे सिनेमा को अछूत मानकर उससे खिंचे-खिंचे रहे, और जब अपनाया तो उसके बुनियादी व्याकरण और शब्द-संपदा को ही बदल डालने पर आमादा हो गये, जिसमें उन्हें आंशिक सफलता ही मिली. बहरहाल रिवायती तौर पर जो उर्दू के इलाक़े थे वहां हिंदी के लिए भी जगह तलाशने की कोशिशें हिंदी की तरफ़ से कई पीढ़ियां कम-से-कम सौ साल से

आपके जानने योग्य हर फिल्मी समाचार

द्वारा सम्पादक, 'माधुरी', टाइम्स आफ इण्डिया, बम्बई-1

साहिर द्वारा हिन्दी के विरुद्ध विष वमन

फिल्म उद्योग में आक्रोश

(माधुरी के विशेष प्रतिनिधि द्वारा)

तथाकथित प्रगतिशील शायर साहिर लुधियानवीकी उर्दू-हिन्दी का विवाद उठाकर साम्प्रदायिक तनाव पैदा करनेकी कोशिशों की फिल्म उद्योगमें सर्वत्र निन्दा की जा रही है।

'लोकतान्त्र' की प्रगति

लेखक निर्माता निर्देशक मधुकर बिहारीने हाल ही में अपने निर्माणाधीन चित्र 'लोकतान्त्र' के

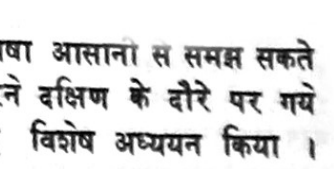

दक्षिण भारत के लोग हिन्दी फिल्मों में किस प्रकार की भाषा आसानी से समझ सकते हैं—प्रोफेसर मनवरसिंह रावत समस्या का अध्ययन करने दक्षिण के दौरे पर गये और उन्होंने वहां इस प्रश्न का 'माधुरी' के लिए विशेष अध्ययन किया ।

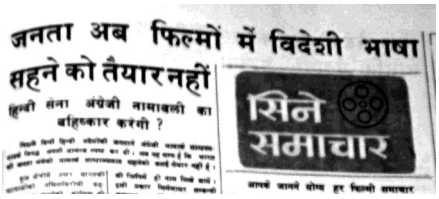

करती आ रही थीं : चाहे वह छापे की दुनिया के भारतेंदु और उनके बाद के दिग्गज रहे हों, जो कविता में हिंदी को ब्रजभाषा-अवधी वग़ैरह के बरअक्स 'खड़ी' करने में, या पारसी नाटक-लेखन के क्षेत्र में पं. राधेश्याम कथावाचक के सचेत प्रयास हों, या फिर रेडियो की दुनिया में पं. बलभद्र नारायण दीक्षित 'पढ़ीस' के परामर्श हों, या पं. रविशंकर शुक्ल की आक्रामक राजनीतिक मुहिम हो, इन सबका एक सामान्य सरोकार उन इलाक़ों में हिंदी की पैठ बनाना रहा जो उसके लिए नये थे[5]. ये इलाक़े हिंदी-वादियों को भाषाई नुक्ता-ए-नज़र से ख़ाली बर्तन की तरह नज़र आते थे, जिन्हें हिंदी की सामग्री से भरना परम राष्ट्रीय कर्तव्य लगता था. अगर ग़लती से किसी और ज़बान, और ख़ुदा न करे उर्दू का वहां पहले से क़ब्ज़ा हो, तब तो मामला और संगीन हो उठता था, युद्ध-जैसी स्थिति हो उठती थी, कि हमें इस 'विदेशी' ज़बान को अपदस्थ करना है, अपनी ज़मीन पर 'निज भाषा' का अख़्तियार क़ायम करना है. उल्लेख्य है कि फ़िल्मी पत्रिका के रूप में 1939 में शुरू हुई उर्दू पत्रिका *शमा* हिंदी की पत्रिकाओं से काफ़ी आगे है, लेकिन 1959 से देहलवी घराने को हिंदी संस्करण *सुषमा* का आग़ाज़ करना पड़ता है. सन 1964 में स्थापना के साथ ही *माधुरी* की पाठक-संख्या में इज़ाफ़ा[6] होता है, उसके भाषा-विषयक अभियानों को भी नये उभरते शहरों से हिंदी-भाषी मध्यवर्ग का मुखर पाठकीय समर्थन मिलता है, लेकिन सिनेमा की भाषाई रियाज़त को *माधुरी* मन-माफ़िक़ बदल नहीं पाती.

दूसरी तरफ़, इतिहास गवाह है कि आज़ादी के पहले से ही उर्दू वालों के लिए लिखने-छपने की दुनिया सिकुड़ती जाती है, वे सिनेमा और रेडियो-जैसे 'अप्रतिष्ठित' श्रव्य-दृश्य इदारों की शरण में जाने को मजबूर हैं, जहां तीस और चालीस के दशक के अंग्रेज़ी राज में उनका पर्याप्त उत्साहवर्द्धन किया जाता है. लेकिन जब समाज की नज़रों में इन माध्यमों की थोड़ी इज़्ज़त बनती है, तो पहले रेडियो और फिर सिनेमा में हिंदी वालों की तरफ़ से वहां पर जनता की भाषा और जनता के प्रामाणिक साहित्य के नाम पर मिल्कियत बनाने की शुद्धतावादी चेष्टाएं शुरू हो जाती हैं. आज़ादी के बाद, ख़ास तौर पर स्थिति तेज़ी से बदली, उर्दू को, विभाजन और मुसलमानों की भाषा बताकर, हिंदुस्तान में बदनाम और बेदख़ल कर दिया गया. लेकिन, जैसा कि हम नीचे देखेंगे, तल्ख़ियां अभी बाक़ी हैं, घाव अभी तक भरे नहीं हैं, क्योंकि सरकारी उदासीनता और भाषा के इर्द-गिर्द चलते आंदोलनों की राजनीति में पुराने घाव हरे होते रहते हैं. *माधुरी* 'हिंदी-हिंदू-हिंदुस्तान' के लिए चले इस लंबे संघर्ष में हिंदूवादी बनकर तो शायद नहीं, लेकिन कम-से-कम फ़िल्म क्षेत्र में हिंदी राष्ट्रवादी हितों की हामी बनकर ज़रूर उभरती है. दूसरी तरफ़, जो पहले से दाख़िल है अगर उसे बेदख़ल किया जायेगा तो वैसी ही प्रतिक्रिया होगी न जैसी साहिर की थी! ख़ास तौर पर तब जब दाख़िल इंसान की पीठ, पीछे जाते-जाते दीवार से जा लगी हो!

यह एक नज़रिया है. अगर हम साहिर द्वारा उठाये गये इस नितांत अल्पसंख्यक तूफ़ान को इस नज़रिये से देखेंगे तो शायद बात समझ में आयेगी. वैसे ही जैसे बहुसंख्यक हिंदी वालों की तरफ़ से इसको हम समझने की कोशिश कर सकते हैं: कि पचास और साठ के दशक की सुर्ख़ियां उत्तर बनाम दक्षिण, हिंदी बनाम अंग्रेज़ी, राजभाषा बनाम राजभाषा की हसरत पालती हुई भाषाओं के बीच संगीन जद्दोजहद से लबरेज़ थीं. कुछ के असंतोष का निपटारा तो राज्यों के भाषावार पुनर्गठन के ज़रिये कर दिया गया, लेकिन एक बार फिर हिंदीवालों को अगर शिकायत है कि उसके साथ वादा-ख़िलाफ़ी हुई तो ग़ैर-हिंदी भाषियों को भाषा के साझा मंचों या संसाधनों – यानी आकाशवाणी और जिस हद तक सरकार सिनेमा व्यवसाय की बांह मरोड़ सकती थी, उस हद तक सिनेमा – पर हिंदी के बढ़ते दबदबे में हिंदी साम्राज्यवाद की बू आती थी. अगर उत्तर में अंग्रेज़ी फ़िल्में दिखाने वाले

सिनेमाघरों पर प्रदर्शन हुए तो पूरब और दक्षिण में हिंदी फ़िल्मों और विविध भारती पर उसके गानों के प्रसारण पर भी. सिनेमा और रेडियो में भाषा के स्वरूप और सरोकार के इर्द गिर्द 'भाषा-भारती' और 'हिंदी सेना' जैसे कुछ संगठन भी अस्तित्व में आते हैं, और 'फ़िल्म लेखक संघ' के अंदर, जिसके अध्यक्ष ख़ुद साहिर लुधियानवी थे, कुछ घात-प्रतिघात के सुराग़ तो मिलते ही हैं, भले ही पत्रिकाओं में छिपी रपटों में तनाव साफ़ बयान नहीं किया जाता. इतना तय है कि नाम से लेकर इस्तेमाल तक भाषा का मामला सर्वसम्मति वाला नहीं रहा गया था. यह एक व्यापक संदर्भ है उस तल्ख़ माहौल का जो पत्र-पत्रिकाओं के पन्नों में अलग अलग ढंग से अभिव्यक्ति पाता है. *माधुरी* के अपने हस्तक्षेप में जाने से पहले ज़रा *सुषमा* के एक संपादकीय पर नज़र डालते हैं. *सुषमा* दुपहरिया पत्रिका है, जितनी अदब की उतनी ही सिनेमा की, मूलत: उर्दू की दुनिया की; लेकिन पिछले छ: सात सालों से हिंदी में भी कार्यरत :

> आज़ादी के पहले हमारी जनता को एक राष्ट्र बनाने में हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी भाषा की फ़िल्मों का बड़ा हाथ है. बंगाल हो या पंजाब, असम हो या मद्रास, हिंदुस्तानी भाषा की फ़िल्में सारे देश में दिखायी जाती हैं और उनके द्वारा न केवल एक राष्ट्रीय भाषा सारे राज्यों में फैली, बल्कि वह फ़िल्में देखने वाली जनता भी एक सभ्यता और संस्कृति के सूत्र में बंध गयी. पिछले दिनों भारत के राजनीतिक जीवन में जो संकट आये हैं उनसे प्रभावित होकर और स्थानीय राजनीतिक हथकंडेबाज़ों के उकसाने पर, *भाषा की समस्या देश के विभिन्न भागों को मानसिक, सामाजिक और राजनीतिक स्तरों पर एक दूसरे से अलग करने के लिए उपयोग की जा रही है. दुर्भाग्य से इस अभियान में फ़िल्म को भी इसका शिकार बनाया जा रहा है.*
>
> जहां तक हमें याद है, इसकी शुरुआत बंगाल से हुई जहां हिंदी के विरुद्ध प्रदर्शनों में हिंदी फ़िल्में दिखाने वाले सिनेमाओं को प्रदर्शनकारियों ने ज़बरदस्ती बंद करा दिया और रातों रात सिनेमाओं को अंग्रेज़ी, बंगला, या उर्दू फ़िल्में दिखाने का प्रबंध करना पड़ा.
>
> ताज़ी घटनाएं मदुराई और जयपुर की हैं. मदुराई में विद्यार्थियों ने हिंदी फ़िल्मों का प्रदर्शन रुकवा दिया और जयपुर के विद्यार्थियों ने अंग्रेज़ी की पढ़ाई बंद कराने की मांग स्वीकृत कराने की कोशिश में अंग्रेज़ी फ़िल्मों के प्रदर्शन में रुकावटें डालीं. *फ़िल्म एक व्यापार भी है, कला भी और संस्कृति भी. इसे राजनीति से दूर रखने में फ़िल्म उद्योग और देश का कल्याण है.*[7] (ज़ोर हमारा)

इस संपादकीय में और अन्यत्र *सुषमा* में-और मैं मानकर चलता हूं कि इसकी बड़ी उर्दू बहन *शमा* में - क्योंकि दोनों की सामग्री एक होती थी, भाषा और लिपि दो – रवैया समझौतापरक है.

इससे उलट मिज़ाज के निदर्शन हमें *माधुरी* में मिलेंगे. मिसाल के तौर पर एक संपादकीय, 'हमारी बात', लेते हैं, जिसका शीर्षक था 'हिंदी की फ़िल्में और हिंदी'. इसका उस विवाद से कोई लेना देना नहीं, जिसकी तफ़सील में हमें जाना है, लेकिन हिंग्लिश की मौजूदा दुनिया के हम बाशिंदे इस चिंता को अविलंब समझ सकते हैं, और इस तथ्य का भी अंदाज़ा पा सकते हैं कि माधुरी के लिए भाषा का मसला सिर्फ़ उर्दू का विरोध नहीं था, बल्कि परेशानी किसी भी मिलवां ज़बान से थी. यहां निशाने पर अंग्रेज़ी है:

> कुछ पुरानी और कुछ आनेवाली फ़िल्मों के नाम इस प्रकार हैं: 'फ़्लाइट टू बैंकाक', 'गर्ल फ्रॉम चाइना', हड्रेड एंड एट [डेज़] इन कश्मीर', 'पेनिक इन पाकिस्तान', 'द सोल्जर', द कश्मीर रेडर्स', 'अराउंड द वर्ल्ड', 'लव इन टोकियो', 'ईवनिंग इन पेरिस', 'जौहर एंड जौहर इन चाइना', 'लव इन शिमला', 'मदर इंडिया', सन ऑफ़ इंडिया', मिस्टर एंड मिसेज़ फ़िफ़्टी फ़ाइव', मिस्टर एक्स इन बाम्बे', 'लव मैरिज', 'होलीडे इन बाम्बे'...इन नामों को पढ़कर क्या आपको भ्रम नहीं होता कि भारत की राष्ट्रभाषा अंग्रेज़ी है और कुछ सिरफिरे लोग बिना मतलब 'हिंदी-हिंदी' की रट लगाये रहते हैं? यह छोड़िए. सिनेमाघर में जब आप फ़िल्म देखते हैं तो आपको इतना तो अवश्य ही लगता होगा कि यदि भारत की भाषा हिंदी, उर्दू, हिंदुस्तानी या इससे मिलती जुलती कोई और भाषा हो भी तो उसकी लिपि नागरी अरबी नहीं, रोमन है. इस संदेह की पुष्टि तब और मिलती है, जब सड़कों, मुहल्लों के रोमन लिपि में लिखे नामपटों पर कोलतार पोतने वाली राजनीतिक पार्टियां फ़िल्मों की रोमन

नामावली पर चुप्पी साध लेती हैं. इन पार्टियों के सदस्य फ़िल्में नहीं देखते होंगे - इस पर तो विश्वास नहीं होता.

आपने अकसर यह दावा सुना होगा : *हिंदी के प्रचार में सबसे बड़ा योगदान फ़िल्मों का है.* फ़िल्मकार इस आत्मछलपूर्ण दावे से अपने को हिंदी सेवकों में सबसे अगला स्थान देना चाहें तो आश्चर्य नहीं. आश्चर्य तब होता है जब आम लोग हिंदी फ़िल्मों की लोकप्रियता देखकर इस दावे को सत्य मान लेते हैं. यह ऐसा ही है कि पूर्व में सूर्योदय और पश्चिम में सूर्यास्त देख कर लोग समझते रहे कि सूर्य धरती की परिक्रमा करता है.[8]

Joint statement issued by 60 film writers including Krishen Chander, Khwaja Ahmad Abbas, Pradeep, Rajinder Krishen, Satyen Bose, Rajinder Singh Bedi, Kamal Amrohi, Ramanand Sagar, Kidar Sharma, Sahir Ludhianvi, Nyaya Sharma, Phani Mazumdar, Gulshan Nanda, Inder Raj Anand, Akhtar-ul-Iman and Mahendernath.

आपने ग़ौर किया होगा कि *सुषमा* में हिंदी, उर्दू, हिंदुस्तानी के प्रसार में सिनेमा की भूमिका का उदार स्वीकार है, लेकिन *माधुरी* द्वारा इस तरह की कोपरनिकसीय भाषावैज्ञानिक क्रांति को स्थापित करने के बाद हिंदी फ़िल्मकारों के 'हिंदी-प्रेम' की पोल यह कहकर खोली जाती है कि फ़िल्म कला का एक तरह का थोक व्यवसाय है, जिसे ज़्यादा से ज़्यादा लोगों तक पहुंचाकर ही लाभ कमाया जा सकता है, लिहाज़ा, इसकी ज़बान औसत अवाम की ज़बान रखी जाती है. लेकिन अफ़सोस कि नामावली और प्रचार-प्रसार में एक प्रतिशत अंग्रेज़ी-भाषी जनता की लिपि को प्रश्रय दिया जाता है, जबकि 35 प्रतिशत पढ़े-लिखे लोग टूटी-फूटी हिंदी और देवनागरी जानते हैं. 'ऐसा करके निर्माता वस्तुत: अपने पांव में आप कुल्हाड़ी मार रहे होते हैं. बेहतर प्रचार होता अगर वे कुछ और पैसे ख़र्च करके भारत की दीगर लिपियों में भी फ़िल्म का नाम दें: हाल ही में निर्माता-निर्देशक ताराचंद बड़जात्या ने अपनी फ़िल्म 'दोस्ती' के प्रचार में इस नीति को अपनाकर उचित लाभ उठाया था. बंगला फ़िल्मों के अधिकांश निर्माता नामावली में बंगला लिपि ही काम में लाते हैं. लेकिन हिंदी में हाल यह है कि भोजपुरी फ़िल्मों में भी रोमन नामावली होती है (जबकि ये फ़िल्में हिंदी क्षेत्र के बाहर कहीं नहीं देखी जातीं). यहां तक कि उन मारकाट वाली स्टंट फ़िल्मों में भी, जिन्हें अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोग नहीं देखते. कई बार यह देखकर निर्माताओं की व्यावसायिक बुद्धिहीनता पर हंसी ही आती है.'

इस संपादकीय से आरंभ करके *माधुरी* ने जैसे रोमन नामावली के ख़िलाफ़ बाक़ायदा जिहाद ही छेड़ दिया, जिसका कई पाठकों ने भी खुले दिल से समर्थन किया. मसलन जब वे पत्र लिखते तो शिकायती स्वर में यह बताना नहीं भूलते कि फ़लां-फ़लां फ़िल्म में नामावली रोमन में दी गयी है. लेकिन इस मुहिम की नित्य और सनातन रट तो फ़िल्म समीक्षा के स्तंभ 'परख' में सुनायी पड़ती है. चाहे समीक्षक की राय में पूरी फ़िल्म अच्छी ही क्यों न हो, अगर नामावली नागरी में नहीं है तो उस पर एक टेढ़ी टिप्पणी तो चिपका ही दी जाती थी. *माधुरी* के अंदरूनी पृष्ठों पर सिने-समाचार नामक एक अख़बार भी होता था, अख़बारी काग़ज़ पर अख़बारी साज-सज्जा लिये, जिसमें 'जानने योग्य हर फ़िल्मी ख़बर' छपती थी. उसका 15 दिसंबर, 1967 का अंक मज़ेदार है क्योंकि इसके मुख्य पृष्ठ पर सुर्ख़ी यह लगायी गयी थी: 'फ़िल्म उद्योग में हिंदी नामों की जोरदार लहर : हिंदी के विरुद्ध दलीलें देने वालों को चुनौती'. उपशीर्षक भी हमारे काम का है: '*उपकार, संघर्ष, अभिलाषा, विश्वास, समर्पण, जीवन मृत्यु, परिवार, धरती, वासना, भावना* आदि फ़िल्मों के कुछ ऐसे शीर्षक हैं जो इस मत का खंडन करते हैं कि केवल उर्दू या अंग्रेज़ी के नाम ही सुंदर होते हैं'. जैसा कि ऊपर उद्धृत संपादकीय से भी ज़ाहिर है, भाषा की *माधुरी* की अपनी आधिकारिक समझ वैसे तो आम तौर पर

Linguistic Hang-over

THE propaganda has been started by some Urdu writers that 97 per cent of films produced in Hindi are Urdu. This is misleading, malicious and harmful. The words we use in our dialogue and songs are from the Hindi dictionary and the grammar is also the same. Whereas Urdu is based on Arabic script.

Any national language can adopt suitable words from the regional languages. Hindi has adopted words even from English, Persian and many other foreign languages. There are many Urdu words in Marathi, Bengali, Sindhi, Gujarati, Gurumukhi and other regional languages, but it does not mean that these languages originated from Urdu. The common man's Hindi was influenced by the court language of the Muslim rulers, and the British gave it the status of an official language. It is an accepted fact that Devnagri is the most scientific of all the scripts since it is written phonetically.

Devnagri has been adopted of course, besides English, as the official script of the Film Writers' Association in spite of the fact that nearly 70 per cent of its members are supposed to know Urdu written in the Persian script. Yet they speak simple Hindi and use it in dialogue and songs for films.

If the language of Hindi films is Urdu, as claimed by some, isn't it inconsistent to use Hindu names for the characters and present Hindu culture and atmosphere in the films? None can stop anybody from making Urdu films with Muslim characters and names, and from giving the titles in the Arabic script. But then they would be read only by 3 per cent of the Indian population.

I am afraid this Hindi-Urdu controversy may lead to communal conflict and hatred in the film world. We must stop these poisonous thoughts from spreading in the film industry which is known for its unity and for its efforts to promote integration among the people.

Vrajendra Gaur, Bombay

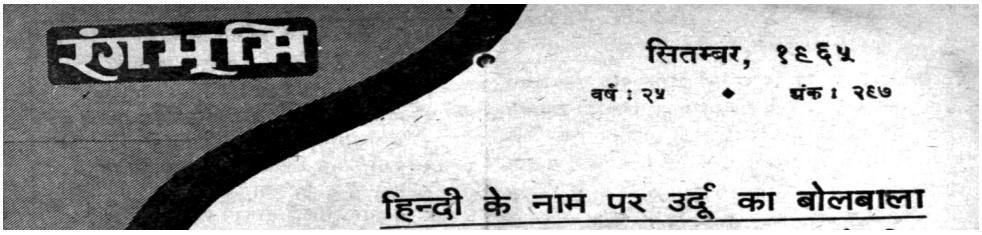

व्यापक है, पर कुछ और मिसालें लेने पर हमें उस आबोहवा का अंदाज़ा लग जायेगा, जिसमें हस्तक्षेप करने की चेष्टा वह कर रही थी. संपादकीय इस पंक्ति के साथ ख़त्म होता है: 'अहिंदी भाषी क्षेत्रों के लिए फ़िल्म का नाम व अन्य मुख्य नाम हिंदी के साथ दो-तीन अन्य प्रमुख भारतीय लिपियों (जैसे बंगला व तमिल) में भी दिये जा सकते हैं.' पूछना चाहिए कि अहिंदी भाषी क्षेत्रों में नाम नागरी में क्यों दिये जायें, केवल स्थानीय भाषा में ही क्यों नहीं? लेकिन ऐसा मानना हिंदी -हित के साथ समझौता करना होता, चूंकि इस भाषा की पहचान इसकी लिपि से नत्थम-गुत्था है, आख़िरकार लिपि की लड़ाई लड़कर ही तो भाषा अपनी स्वतंत्रता बना पायी थी. ठीक है हिंदी-विरोध की हवा है, ख़ासकर दक्षिण में, तो इतना मान लिया जाता है कि उनकी लिपि भी चलेगी: 'भी'; 'ही' - क़तई नहीं. इस सिलसिले में दिलचस्प है कि *माधुरी* ने किसी प्रोफ़ेसर मनहर सिंह रावत से दक्षिण का दौरा करवाके एक लेख लिखवाया जिसका मानीख़ेज़ शीर्षक था - 'दक्षिण का नारा: हमें फ़िल्मों में हिंदी चाहिए'. लब्बे-लुबाब यह था कि भारत की ज़्यादातर भाषाएं संस्कृत के नज़दीक हैं, दक्षिण की भी. इसलिए वहां के लोगों के लिए संस्कृत के तत्सम-तद्भव शब्द सहज ग्राह्य हैं. साथ ही संस्कार का सनातन सवाल भी है :

> एक सामान्य भारतीय के लिए गुरू-उस्ताद, रानी-बेगम, विद्यालय-मदरसा, कला-फ़न, ज्ञान-इल्म, धर्म-मज़हब, कवि-सम्मेलन-मुशायरा, हाथ-दस्त, पाठ-सबक़, आदि शब्द युग्मों में बिंब ग्रहण या संस्कार शीलता की दृष्टि से बहुत बड़ा अंतर आ जाता है जो कि अनुभूत सत्य है.
>
> पर इसके साथ ही हमें इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि जन-साधारण की भाषा में जो शब्द सदियों से *घुल-मिलकर उनके जीवन संस्कार के अंग बन चुके हैं, उन्हें ज़बरदस्ती हटाकर एक नयी बनावटी भाषा का निर्माण करना भी बहुत हानिकारक होगा. फिर वे प्रचलित शब्द या प्रयोग कहीं से क्यों न आये हों. मातृभाषा के प्रति अनावश्यक पूर्वाग्रह, ममत्व...द्वेषनात्मक दृष्टिकोण का ही सूचक है.* सरल भाषा की तो केवल एक ही कसौटी होनी चाहिए कि किसी शब्द प्रयोग या मुहावरे से सामान्य जनता कितनी परिचित या आसानी से भविष्य में परिचित हो सकती है. उदाहरण के लिए यदि हम कहें - 'यह बात मुझे मालूम है'. तो साधारण हिंदी से परिचित श्रोताओं को भी समझने में कोई कठिनाई नहीं होती. पर इसी बात को अगर हम अनावश्यक रूप से अल्प परिचित संस्कृतनिष्ठ भाषा में कहें कि - 'प्रस्तुत वार्ता मुझे विदित है.' तो यह भाषा का मज़ाक उड़ाने-जैसा हो जाता है.
>
> इसके साथ-साथ कुछ सुंदर सरल, उपयुक्त तथा अर्थ व्यंजक शब्द हमें जहां कहीं भी प्रादेशिक भाषाओं से मिलें, विशेषत: ऐसे शब्द जिनके समानार्थी या पर्यायवाची शब्द हिंदी में उतने निश्चित प्रभावोत्पादक एवं व्यापक अर्थों को देनेवाले नहीं होते तो उन्हें नि:संकोच स्वीकार कर लेना चाहिए. (30 जुलाई, 1965)

रावत साहब से पूछने लायक़ बात है कि यह सामान्य भारतीय कौन है, और क्या पूरे दक्षिण की भाषाओं-उपभाषाओं की संस्कृतमयता यकसां है? अगर हां, तो इतनी सदियों तक वे संस्कृत से अलग अपनी इयत्ता बनाकर क्यों रख पायीं? अगर हां, तो ये सभी भाषाएं संस्कृत ही क्यों नहीं कही जातीं. क्या तमिल भाषा के अंदर कई तरह की अंतर्विरोधी धाराएं नहीं बह रही थीं, एक पारंपरिक ब्राह्मणवादी किंचित संस्कृतनिष्ठ तमिल के साथ साथ दूसरी, दलित तमिल, भी तो उन्हीं दिनों अपने को राजनीतिक, साहित्यिक और फ़िल्मी गलियारों में स्थापित करने की कोशिश कर रहा था. तो दार्शनिक धरातल पर जहां रावत साहब उदारमना हैं, वहीं 'संस्कार' का सनातन सवाल उन्हें भाषाओं की

उचित व्यावहारिक स्थिति का आकलन करने से रोक-रोक देता है. सवाल अंतत: शुद्धता का है, जैसा कि पटना की कुमुदिनी सिन्हा के इस ख़त से ज़ाहिर हो जायेगा :

> *माधुरी* एक ऐसी जनप्रिय पत्रिका है, जिसने हम जैसे हजारों पाठकों का दिल जीत लिया है. 10 सितंबर के अंक में 'आपकी बात' स्तंभ में प्रकाशित मधुकर राजस्थानी के विचार पढ़े... वास्तव में आज अच्छे से अच्छे कलाकार, लेखक, कवियों का फ़िल्म जगत में प्रवेश आवश्यक है. फ़िल्म ही आज एक ऐसा माध्यम है, जो जन-जन तक पहुंचता है. इसी स्तंभ में कलकत्ता के भाई निर्मल कुमार दसानी का पत्र पढ़ा, उन्हें भी धन्यवाद देती हूं. *इस लोकतंत्र राष्ट्र में हिंदी के नाम पर खिचड़ी अधिक चल नहीं सकती. उसका एक अपना अलग रूप होना ही चाहिए और इसमें फ़िल्मों का सहयोग आवश्यक है. फ़िल्म के हरेक कलाकार, गीतकार को चाहिए कि फ़ारसी-उर्दू मिश्रित भाषा त्यागकर यथाशक्ति संशोधित, परिमार्जित और मधुर हिंदी व्यवहृत कर उसे फैलाने में अपना सहयोग दें.*
>
> अंत में पुन: *माधुरी* की लोकप्रियता और सफलता की कामना करती हूं. (ज़ोर हमारा)
>
> 22 अक्तूबर 1965

एक तरफ़ जहां दशकों पुरानी गुहार – कि हिंदी साहित्यकार सिनेमा की ओर मुड़ें - को बदस्तूर दुहराया गया है, वहीं लोकतंत्र की अद्भुत परिभाषा भी की गयी है कि यहां फ़ारसी-उर्दू मिश्रित खिचड़ी भाषा नहीं चलेगी. एक तरफ़ लोकप्रियता की अभिलाषा, दूसरी तरफ़ परिमार्जित, संशोधित और परिनिष्ठित हिंदी की वकालत - ज़ाहिर है कि लेखिका को इन दोनों चाहतों में कोई विरोधाभास नहीं दिखायी देता. लेकिन भाषाई ज़मीन पर क़ब्ज़े की युयुत्सा तब ख़ासी सक्रिय हो उठती है जब मुक़ाबले में हिंदी की पुरानी जानी दुश्मन उर्दू खड़ी हो जाये, और कुछ नहीं बस अपना खोया हुआ नाम ही मांग ले तो यूं लगता था गोया क़यामत बरपा हो गयी. साहिर ने *माधुरी* को यह मौक़ा दिया. सिने-समाचार में छपी इस ख़बर को देखें :

> **साहिर द्वारा हिंदी के विरुद्ध विष वमन : फ़िल्म उद्योग में आक्रोश**
>
> (*माधुरी* के विशेष प्रतिनिधि द्वारा : *तथाकथित प्रगतिशील* शायर साहिर लुधियानवी की उर्दू-हिंदी का विवाद उठाकर सांप्रदायिक तनाव पैदा करने की कोशिशों की फ़िल्म उद्योग में सर्वत्र निंदा की जा रही है.)
>
> हाल ही में एक मुशायरे में साहिर ने कहा कि भारत में 97 प्रतिशत फ़िल्में उर्दू में बनती हैं, इसलिए इन फ़िल्मों की नामावली उर्दू में होनी चाहिए. उन्होंने घोषणा की कि 'हिंदी साम्राज्यवाद' नहीं चलने दिया जायेगा.
>
> सारी दुनिया के शोषित वर्ग का रहनुमा बनने वाले इस शायर की सांप्रदायिक विद्वेष फैलाने की यह कोई पहली हरकत नहीं है. कुछ ही मास पूर्व बिहार के बाढ़ पीड़ितों की सहायता के लिए चंदा एकत्रित करने के उद्देश्य से साहिर, ख्वाजा अहमद अब्बास, सरदार जाफरी आदि ने बिहार, उत्तर प्रदेश राजस्थान, पंजाब आदि प्रदेशों का दौरा किया था. लेकिन बिहार के अकाल का सिर्फ एक बहाना बन रह गया. हर मुशायरे (उर्दू को) में संबंधित प्रदेश की द्वितीय राजभाषा बनायी जाने का प्रचार किया गया.
>
> आम चुनाव से पूर्व बंबई के कुछ उर्दू पत्रकारों को इन्हीं शायर महोदय ने सलाह दी थी कि उत्तर प्रदेश के साथ महाराष्ट्र में भी द्वितीय राजभाषा का स्थान उर्दू को देने के लिए आंदोलन शुरू किया जाना चाहिए. उनका तर्क था कि महाराष्ट्र में सम्मिलित मराठवाड़ा क्षेत्र के निज़ाम के आधीन था और वहां के वासी उर्दू बोलते हैं. इस आंदोलन में तन-मन-धन से सहायता देने का आश्वासन भी उन्होंने दिया था.
>
> साहिर द्वारा सांप्रदायिक आग भड़काने की इन कोशिशों से फ़िल्म उद्योग में आक्रोश फैल गया है. फ़िल्म लेखक संघ के अध्यक्ष व्रजेंद्र गौड़ ने साहिर की निंदा करते हुए कहा कि फ़िल्म उद्योग में सांप्रदायिकता फैलाने की यह कोशिश सफल नहीं हो सकेगी.
>
> सुप्रसिद्ध निर्माता-निर्देशक-अभिनेता मनोज कुमार, निर्माता शक्ति सामंत, गीतकार भरत व्यास, मजरूह सुल्तानपुरी, पं. गिरीश, संगीतकार एस. एन. त्रिपाठी आदि ने भी 'माधुरी' प्रतिनिधि से हुई भेंट में साहिर की इन हरकतों की निंदा की. (16 दिसंबर, 1967)

संवाद लेखक व्रजेंद्र गौड़ हाल ही में फ़िल्म लेखक संघ के अध्यक्ष बने थे. साहिर संघ के अध्यक्ष रह चुके थे, और इस वक़्त भी बाक़ायदा कार्यकारिणी के सदस्य थे. लेकिन ऐसा लगता है कि व्रजेन्द्र गौड़ ने अपने पद का लाभ उठाते हुए इस दौरान कई पत्र-पत्रिकाओं में साहिर की शिकायत करते हुए उर्दू लेखकों की मुहिम के ख़िलाफ़ ख़त लिखे. (मसलन साप्ताहिक हिन्दुस्तान, 10 मार्च 1963, पृ. 41. गौड़ ने *फ़िल्मफ़ेयर* में भी एक चिट्ठी लिखी, जिसका तर्जुमा यूं है :

भाषाई ख़ुमार

कुछ उर्दू लेखकों के द्वारा इधर एक दुष्प्रचार चलाया जा रहा है कि हिंदी की 97 प्रतिशत फ़िल्में उर्दू हैं. ये भ्रामक, दुर्भावनापूर्ण और हानिकारक है. संवादों और गीतों में जो शब्द हम इस्तेमाल करते हैं, वे सब हिंदी कोश में हैं, और उनका व्याकरण भी वही है, जबकि उर्दू अरबी लिपि पर आधारित है.

कोई भी राष्ट्रीय भाषा क्षेत्रीय भाषाओं से शब्द ले सकती है. हिंदी ने अंग्रेज़ी, फ़ारसी या अन्य विदेशी भाषाओं से भी शब्द लेकर अपनाये हैं. मराठी, बांग्ला, सिंधी, गुजराती, गुरमुखी और दीगर क्षेत्रीय भाषाओं में अनेक उर्दू शब्द हैं लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि ये भाषाएं उर्दू से निसृत हुई हैं. मुस्लिम शासकों की दरबारी ज़बान का असर आम लोगों की भाषा पर पड़ा, और अंग्रेज़ों ने इसे राजभाषा का दर्जा दे दिया. यह भी स्थापित तथ्य है कि ध्वनि-आधारित प्रणाली के चलते देवनागरी सबसे वैज्ञानिक लिपि है. *फ़िल्म लेखक संघ ने अंग्रेज़ी के साथ-साथ देवनागरी को लिपि के रूप में औपचारिक मान्यता दे रखी है, बावजूद इसके कि इसके 70 प्रतिशत सदस्य फ़ारसी लिपि में लिखी गयी उर्दू जानने का दम भरते हैं. वे बोलते और सिनेमा के लिए लिखते वक़्त सरल हिंदी इस्तेमाल करते हैं.*

अब अगर कुछ लोगों के दावे को मान लें कि हिंदी फ़िल्मों की ज़बान उर्दू है तो तो यह फ़िल्मों में पेश किये जाने वाले हिंदू नाम, हिंदू संस्कृति और हिंदू वातावरण से क्यूंकर मेल खाती है? जिन्हें मुस्लिम किरदारों के नाम लेकर उर्दू फ़िल्में बनाने और नामावली अरबी लिपि में देने का शौक़ है उनके हाथ कौन पकड़ेगा? लेकिन इसे 3 फ़ीसदी आबादी ही पढ़ पायेगी.

मुझे डर है कि हिंदी-उर्दू का यह विवाद फ़िल्मी दुनिया में सांप्रदायिक घृणा और झगड़े-फ़साद का रूप न ले ले. आपसी एकता के लिए मशहूर और लोगों के बीच अखंडता की भावना फैलाने के लिए हमेशा प्रयासरत फ़िल्मी दुनिया में हमें इस तरह के ज़हरीले विचार को फैलने से रोकना चाहिए.

- व्रजेंद्र गौड़, बंबई.[9]

फ़िल्मफ़ेयर के अगले ही अंक में कई प्रतिक्रियाएं आयीं. तीन प्रतिक्रियाएं मुसलमान पाठकों की और एक लंबा ख़त फ़िल्मी लेखकों का, जिसे मुकम्मल तफ़सील में देखा जा सकता है :

हिंदुस्तानी न कि हिंदी

संप्रेषण और व्यावसायिकता के मद्देनज़र भारत-मात्र के बाज़ार के लिए भाषा ऐसी होनी चाहिए जिसे हर क्षेत्र के लोग समझ सकें. *ये भाषा गांधी जी वाली सरल हिंदुस्तानी होगी*, जो अपने शब्द उर्दू-हिंदी नामक सहोदर भाषाओं और उनसे जुड़ी बोलियों से ग्रहण करती हो. कोई भी ज़बान उन तमाम भाषाओं से शब्द लेती है, जिनके सांस्कृतिक, व्यावसायिक और राजनीतिक संपर्क में वह आती है.

फ़िल्मों की ज़बान कभी यकसां या लकीर की फ़क़ीर नहीं रही. ज़्यादा से ज़्यादा लोगों को समझ में आये इसकी कोशिश करते हुए इसकी शब्द-संपदा कथानक की अवधि, माहौल, और जगह के हिसाब से बदलती रही है. 'राम राज्य,' 'भरत मिलाप,' 'विद्यापति,' 'चित्रलेखा' जैसी फ़िल्मों ने संस्कृतप्रधान मुहावरे का प्रयोग किया; जबकि 'पुकार,' 'मुग़ल-ए-आज़म,' 'चौदहवीं का चांद,' 'मेरे महबूब' और 'ताजमहल,' 'जहां आरा' और 'नूर जहां' ने फ़ारसीयुक्त अल्फ़ाज़ का.

चौदह राष्ट्रीय भाषाओं में से उर्दू और हिंदी एक-दूसरे के सबसे ज़्यादा क़रीब हैं - इतने कि कई लोग उन्हें एक ही बोलचाल की एक ही भाषा के दो साहित्यिक और लिखित रूप मानते हैं. *उर्दू या उर्दू लिपि हमारी संस्कृति के लिए अजनबी नहीं, न ही इसको बरतने या इसकी हिमायत करने वाले फ़िरक़ापरस्त या किसी से कम देशभक्त हैं.*

संविधान-द्वारा मान्यता प्राप्त होने के साथ साथ उर्दू भाषा और लिपि हमारी जनता की सांस्कृतिक विरासत है. फ़िल्म लेखकों के लिए इसकी ख़ास अहमियत है; चूंकि इसने हिंदुस्तानी फ़िल्मों को ताक़त, जीवंतता, विविधता और सुंदरता बख़्शी है, भले ही सुविधा के लिए इन्हें 'हिंदी' फ़िल्में कहा जाता रहा हो.

लेकिन हाल में उर्दू और हिंदी के बीच एक खाई खोदने की कोशिश की जा रही है; सूचना-प्रसारण मंत्रालय ने एक अधिसूचना जारी करके निर्माताओं को 'हिंदी' फ़िल्मों की नामावली को देवनागरी में लिखने की 'सलाह' दी है. मौजूदा समय में नामावली आम तौर पर अंग्रेज़ी में जाती है, और फ़िल्म का नाम रोमन, देवनागरी और उर्दू में. निर्माता ऐसा व्यावसायिक कारणों से करते हैं ताकि ज़्यादा से ज़्यादा लोग उसे पढ़ सकें. अगर नामावली से अंग्रेज़ी हटा दी जायेगी और उसकी जगह (शायद) फ़िल्म की भाषा में ही जाये (बांग्ला फ़िल्मों के लिए बांग्ला, तमिल फ़िल्मों के लिए तमिल, आदि) तो इससे 'हिंदी', या 'हिंदुस्तानी' या 'उर्दू' फ़िल्मों के लिए मसला खड़ा हो जायेगा. इसका *स्वाभाविक हल तो यही होगा साहित्यों को साथ लाने की होनी चाहिए न कि उन्हें नामावली की लिपि -जैसे थोथे और बाहरी मुद्दों में उलझाकर बांटने की; ऐसे निर्णय तो निर्माता व्यावहारिक-व्यावसायिक ज़रूरतों के मुताबिक़ ले सकते हैं, और इसमें किसी मंत्रालय को अपनी तरफ़ से हस्तक्षेप या बिन-मांगी सलाह देने की आवश्यकता नहीं है.* असल महत्त्व की बात यह है कि फ़िल्मों की नामावली में देवनागरी और उर्दू लिपियों का इस्तेमाल हो.

The Hindi-Urdu Controversy

Those Funny Words

IT is not Hindi but Urdu which has adopted words from other Indian languages because of its purely Indian origin.

Hindi is not a complete language even after 20 years of Independence. So many funny words are still being coined instead of adopting simpler words from other languages to make the Hindi dictionary complete e.g. "Loh-path-gaminee" for rail, "Shwait-dhumra-dandika" for cigarette, "Kantha-langote" for neck-tie.

There is a great difference between the script and the language itself. Everything which is written in the Devnagri script cannot be called Hindi.

It is not necessary that all Urdu films should use Muslim names for characters; Urdu literature is not limited to names and characters. Urdu is not the language of Muslims only. Are Firaq Gorakhpuri, Naresh Kumar "Shad," Rajinder Singh Bedi, Krishan Chander, "Premwarbatni," and Kunwar Mahinder Singh Bedi Muslims?

If the language of our films is Hindi, should we call the language of All India Radio Sanskrit?

Mohammed Afzal Shamsi and Sami S. Mohammed, Nainital

tle" character of Devnagri, Mr. Gaur should write words like "awaz," "haqeeqat" and "tota" true to their pronunciation according to the Hindi grammar with actual Hindi letters—if he can. Are there two ways of writing "phool" and "fool" in Hindi?

Mr. Gaur still considers Urdu to be the language of Muslims and thinks that utterance of Urdu words by a Hindu would be "inconsistent." Has he ever heard of famous Urdu writers and poets all of whom profess the same faith as Mr. Gaur? Does he know that the first man to compose Urdu *ghazals* was Chander Bhan?

One should not drag communalism into such arguments. Is it wise and fair on the part of Mr. Gaur first to set the house on fire and then apprehend disaster?

Film has done better than any Prachar Samiti in popularising Hindustani amongst the non-Hindi speaking people. It is in the interest of both the producers and the Government to stick to the present system of giving the titles in English.

Govind Raju, Calcutta

Hindustani — Not Hindi

FOR purposes of communication and commercial considerations, the lan-

सिनेमा की भूमिका यह है कि उसने लोगों, संस्कृतियों, भाषाओं और हिंदी, हिंदुस्तानी या उर्दू जो नाम दें -- भारतीयों को एक आम समझ की, भावनाओं की, हसरतों की एक आमफ़हम ज़बान दी है, जिसे और भी सींचने और मज़बूत बनाने की ज़रूरत है, ताकि अपने देश और अपनी जनता की एकता और भावनात्मक अखंडता क़ायम रह सके.

- कृष्ण चंदर, ख़्वाजा अहमद अब्बास, प्रदीप, राजेंद्र कृष्ण, सत्येन बोस, राजिंदर सिंह बेदी, कमाल अमरोही, रामानंद सागर, केदार शर्मा, साहिर लुधियानवी, न्याय शर्मा, फणि मज़ुमदार, गुलशन नंदा, इंदर राज आनंद, अख़्तरउल ईमान, महेंद्रनाथ तथा 44 अन्य फ़िल्मी लेखक.[10]

साफ़ है फ़िल्मी पत्रिकाओं में चले इस अभियान में संख्याबल जुटाया जा रहा है, वैमर्शिक ज़ोर-आज़माइश हो रही है, राष्ट्रीय एकता और संविधान की दुहाई दी जा रही है. लेकिन इस समूह ने बड़ी ख़ूबसूरती से अपनी आलोचना का रुख़ उस सरकारी सुझाव की ओर कर दिया जिसके तहत नामावली देवनागरी में देने की वकालत की गयी थी. *सुषमा* भी समझौते और व्यवहार की ज़बान में कुछ ऐसा ही सोच रही है, लेकिन उसने इन लेखकों की स्थिति का सार भी अपने एक संपादकीय में पेश कर दिया :

> भारतीय फिल्मोद्योग ने हिंदी की उन्नति के लिए बहुत कुछ किया है. लेकिन उसने होश का पल्ला हमेशा थामे रखा है. *भाषा के संबंध में जितना विवाद हो रहा है, फ़िल्म वाले चुपके-चुपके मध्यस्थ के रूप में उसे समाप्त करने की कोशिश कर रहे हैं. ...यह तूफ़ान आगे बढ़ता ही रहेगा केवल इसलिए कि किसी ने हिंदी से अधिक मोह और प्रेम दिखाने के लिये यह परामर्श दिया है कि टाइटल सिर्फ़ हिंदी भाषा में ही हों*[11]

लेकिन दूसरी तरफ़ जैसा कि हमने ऊपर देखा, *माधुरी* का हिंदी राष्ट्रवाद जागकर गोलबंदी शुरू कर चुका है. साहिर ने

अक्षम्य अपराध जो किया है, उर्दू की अपनी ज़मीन को अपना कहने का, इसके आगे उनके सारे प्रगतिशील पुण्य ख़ाक हो जाते हैं, अब तक के सारे भजन-कीर्तन बेकार, सारी लोकप्रियता परे सरका दी जाती है. आज का पाठक यह पूछ सकता है कि अगर हिंदी के लिए आंदोलन चलाना सांप्रदायिक नहीं था तो उर्दू में ऐसी क्या ख़ास बात थी जिसके स्पर्श-मात्र से आपकी तरक़्क़ी-पसंदगी मशकूक हो जाती थी? यह उसी 'शूच्याग्रे न दत्तव्यं' वाले युयुत्सु उत्साहातिरेक का लक्षण था जो हिंदी के हिमायतियों में पचास और साठ के दशक में ज़बर्दस्त तौर पर तारी था, जो कुछ राज्यों में उर्दू को दूसरी भाषा का दर्जा देने के नाम पर ही अलगाववाद सूंघने लगता था. पाठकों ने एक बार फिर *माधुरी* के मुहिम की ताईद करते हुए कई ख़त लिखे, सिर्फ़ एक लेते हैं: 'साहिर का असली चेहरा' शीर्षक-पत्र में कहा गया:

> साहिर की लोकप्रियता प्रगतिशील विचारों के कारण ही बढ़ी है. एक प्रगतिशील साहित्यजीवी अगर संकीर्णता और अलगाववादी लिजलिजी विचारधारा को प्रोत्साहन देता है तो ऐसी प्रगतिशिलता को 'फ्राड' ही कहा जायेगा. साहिर निश्चय ही उर्दू का पक्षपोषण कर सकते हैं, लेकिन राष्ट्रभाषा का अपमान करके या अपमान की भाषा बोलकर नहीं. साहिर साहब को यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि राष्ट्र और राष्ट्रभाषा की क्या अहमियत होती है. उर्दू को हथियार बनाकर हिंदी पर वार करना कौन देशभक्त हिंदुस्तानी पसंद करेगा?...फिरकापरस्तों की यह कमजोरी होती है कि वे वतन की मिट्टी के साथ, उसकी पाकीजा तहजीब के साथ, उसकी भावनात्मक एकता के साथ गद्दारी ही नहीं बलात्कार तक करने की कोशिश करते हैं...अच्छा हो साहिर साहब अपने रुख में परिवर्तन कर लें अन्यथा प्रगतिशीलता का जो नकाब उन्होंने चढ़ा रखा है, वह हमेशा के लिए उतार फेंके ताकि असली चेहरे का रंग-रोगन तो नजर आये.

इस धौंस-भरे विमर्श में राष्ट्रभाषा हिंदी तो सदा-सर्वदा लोकाभिमुख रही है, वह तो जनवाद के ऊंचे नैतिक सिंहासन से जनता से बोलती हुई जनता की अपनी भाषा है, उसको साम्राज्यवादी भला कहा कैसे जा सकता है! ऐसा पूर्वी बंगाल में बांग्ला के साथ पाकिस्तान भले कर सकता है, जबकि भारत की पूरी तवारीख़ में आक्रामकता के उदाहरण नहीं मिलते. दिलचस्प यह भी है कि इस विवाद के दौरान साहिर को कभी अपनी सफ़ाई देने का मौक़ा नहीं दिया जाता, हां चौतरफ़ा उन पर हल्ला अवश्य बोला गया.

माधुरी से ही एक आख़िरी ख़त – चूंकि यह इस मुद्दे पर सबसे उत्कृष्ट बयान है - देकर इस विवाद और लेख की पूर्णाहुति की जाये. फ़िल्मेश्वर ने अपने अनियत स्तंभ 'चले पवन की चाल' में 'हिंदी-उर्दू के नाम पर नफ़रत के शोले भड़काने वाले साहिर के नाम एक खुला पत्र' लिखा, जिसमें सिद्ध किया गया कि हिंदी-उर्दू दो अलहदा भाषाएं नहीं हैं, गोकि उनकी लिपियां एक नहीं हैं : ग़ालिब ने अपने को हिंदी का कवि कहा, और ख़ुद साहिर की नागरी में छपी किताबें उर्दू संस्करणों से ज़्यादा बिकी हैं, वो भी बग़ैर अनुवाद के, तो हिंदी साम्राज्यवादी कैसे हो गयी? और फ़िल्मों की भाषा अगर 97 प्रतिशत उर्दू है, तो वो हिंदी हुई न? फिर झगड़ा कैसा! इस ख़त में साहिर के पूर्व-जन्म के पुण्य को बेकार नहीं मानकर उनके 'अलगाववादी' उर्दू-प्रेम पर एक छद्म अविश्वास, एक मिथ्या आहत भाव का मुज़ाहिरा किया गया है, कि 'साहिर, आप तो ऐसे न थे' या 'आपसे ऐसी उम्मीद नहीं थी'. छद्म और मिथ्या विशेषणों का सहारा मैंने इसलिए लिया है क्यूंकि शीर्षक में ही निर्णय साफ़ है, बाक़ी पत्र तो एक ख़ास अंदाज़े-बयां है, कोसने का एक शालीन तरीक़ा, बस. बहरहाल, पत्र-लेखक बेहद हैरत में है :

> आख़िर बात क्या है? हिंदी और उर्दू की? या हिंदी और उर्दू के नाम पर संप्रदाय की? इस धर्मनिरपेक्ष राज्य में आजादी के बीस सालों में इतना करिश्मा तो किया ही है कि हमारे अंदर जो संकुचित भावनाओं की आग घुट रही है, हमने उसे उसके सही नाम से पुकारना बंद कर दिया है, और उसे हिंदी-उर्दू का नाम दे कर हम उसे छिपाने की कोशिश करते [रहते] हैं. आप अपनी भावुक शायरी में कितनी ही लफ्फाजी करते रहते हों, यह सही है कि आपके दिल में एक दिन इनसान के प्रति प्रेम भरा था. आप सब दुनिया के लोगों

को एकसाथ कंधे से कंधा मिलाकर खुशहाली की मंजिल की तरफ बढ़ते हुए देखना चाहते थे. लेकिन दोस्त, आज ये क्या हो गया? इनसान को इनसान के करीब लाने के बजाये, आप हिंदी-उर्दू की आड़ में किस नफरत के शोले से खेलने लगे? सच कहूं तो आपकी आवाज से आज जमाते-इस्लामी की घिनौनी बू आती है. आपने पिछले दिनों वह शानदार गीत लिखा था :

नीले गगन के तले,
धरती का प्यार पले

यह पत्र लिखते समय मुझे उस गीत की याद हो आयी, इसलिए आपको देशद्रोही कहने को मन नहीं होता. पर मुशायरे में आपकी तकरीर को पढ़कर आपको क्या कहूं यह समझ में नहीं आता. पूरे हिंदुस्तान की एक पीढ़ी, जिसमें पाकिस्तान की भी एक पीढ़ी शामिल की जा सकती है, आपकी कलम पर नाज करती थी, आपके खयालों से (खयालों उर्दू का नहीं हिंदी का शब्द है, उर्दू में इसे खयालात कहते हैं, हुजूरेवाला) प्रभावित थी. आपने उस पीढ़ी की तमाम भावनाओं को अपनी सांप्रदायिकता की एक झलक दिखा कर तोड़ दिया...आपने एक बार लिखा था :

तू हिंदू बनेगा ना मुसलमान बनेगा
इनसान की औलाद है इनसान बनेगा

लेकिन आपकी आजकल की गतिविधि देखते हुए तो ऐसा लगता है कि ये आपकी भावनाएं नहीं थीं, आप सिर्फ फ़िल्म के एक पात्र की भावनाएं लिख रहे थे...सारे हिंदुस्तान में फ़िल्म उद्योग एक ऐसी जगह थी जहां जाति, प्रदेश और धर्म का भेदभाव काम के रास्ते में नहीं आता था. और आप इंसानियत के हामी थे. पर आपने इस वातावरण में सांप्रदायिकता का जहर घोल दिया. लगता है इनसान की औलाद का भविष्य आपकी नजर में सिर्फ एक है :

तू हिंदू बनेगा ना मुसलमान बनेगा
शैतान की औलाद है शैतान बनेगा

मैं आख़िर में इतनी ही दुआ करना चाहता हूं: खुदा उर्दू को आप जैसे हिमायतियों से बचाये! (15 दिसंबर 1967).

एक झटके में साहिर लुधियानवी जैसा लोकप्रिय शायर 'फ्राड', 'फिरकापरस्त', 'सांप्रदायिक' और अमूमन 'देशद्रोही' क़रार दिया जाता है. इसमें इतिहास के विद्यार्थी को कोई हैरत नहीं होती क्योंकि फ़िल्मेश्वर की आलोचना चिरपरिचित ढर्रे पर चलती है, और इसको अपने मंत्रमुग्ध पाठक-समूह पर पूरा भरोसा है. कई दशकों से साल-दर-साल चलते आ रहे मुख्यधारा के राष्ट्रवादी विमर्श ने एक ख़ास तरह की परंपरा का सृजन किया था, और उसमें जो कुछ पावन, महान और उदात्त था, उसे अपनी झोली में डाल लिया था, और जो अल्पसंख्यक एक ख़ास तरह के सांस्कृतिक वर्चस्व को मानने से इन्कार करते थे, उन्हें अलगाववादी कह कर अलग-थलग कर दिया गया था. ये दोनों धाराएं परस्पर प्रतिद्वंद्वी मानी गयीं जबकि दोनों एक ही राष्ट्रवादी नदी के दो किनारे-भर थे. हिंदी राष्ट्रवाद इस प्रवृत्ति का एक अतिरेकी विस्तार-मात्र था, वैसे ही जैसे कि उर्दू राष्ट्रवाद. जब इन दो किनारों को मिलाने वाली फ़िल्मी दुनिया की बिचौलिया पुलिया ज़बान को उर्दू के शायर ने उर्दू नाम दिया तो इस हिमाक़त पर उन्हें वैसे ही संगसार होना ही था, जैसे एक-डेढ़ पीढ़ी पहले गांधी को उनकी हिंदुस्तानी की हिमायत[12] के लिए होना पड़ा. ये दीगर बात है कि औपचारिक-सरकारी इंदराज और महकमों से अलग पिछली सदी में सिनेमा की भाषा वही बिचौली ज़बान रही जिसके लोकप्रिय होने की भविष्यवाणी सिनेमा से दूर रहने वाले गांधी जी ने की थी. अब इसका क्या किया जाये कि मौजूदा सदी में ज़बान भी हिंग्लिश है और जगह भी बॉलीवुड — अब इसमें अलहदा 'उर्दू' और 'हिंदी' के झंडाबरदार उसमें ख़ुद को तलाश लें कि वे कहां हैं, उनकी ज़बान कहां है.

ravikant@sarai.net

---

1 देखें मेरा लेख, 'हिंदी फ़िल्म अध्ययन: *माधुरी* का राष्ट्रीय राजमार्ग', जो इंटरनेट पर मौजूद है और मेरी किताब *मीडिया की भाष-लीला* में संकलित है और *माधुरी* के यशस्वी संस्थापक-संपादक अरविंद कुमार की किताब *शब्द-वेध: शब्दों के संसार में सत्तर साल* में भी. दोनों ही जगहों पर अरविंद जी ने अपनी ओर से सफ़ाई दी है कि साहिर के साथ उन्होंने ऐसा क्यों किया. इसके एक अंश को यहां विस्तार दिया गया है, चूंकि इस विषय पर

बातचीत चलती रही है, और आम जन-जीवन सहित फ़िल्मी दुनिया में हिंग्लिश के विस्फोट ने भाषा के सवाल को नये सिरे से अहम बना दिया है. सिनेमा के सौ-साला जश्न के मौक़े पर छपे *हंस* के विशेषांक में चंदन श्रीवास्तव ने सिनेमा के भाषा-विवाद का सम्यक लेखा-जोखा पेश किया है: 'सिनेमा के भीतर की हिंदी: भाषा के भीतर की भाषाएं', फ़रवरी, 2013, पृ. सं. 60-63. यहां वह खुला ख़त भी मुकम्मल तौर पर मौजूद है जो अरविंद जी ने फ़िल्मेश्वर उपनाम से साहिर को लिखा था.

2 नामवर सिंह, 'उर्दू का सवाल: बासी भात में ख़ुदा का साझा' *हंस*, मार्च *1987*, पृ. सं. 12-14.

3 इफ़्तिख़ार दादी, 'लीनिएजेज़ ऑफ़ पाकिस्तान्'स 'उर्दू' सिनेमा : मोड, मूड ऐंड जॉनर इन *ज़हर-ए-इश्क़/प्वॉयज़न ऑफ़ लव* , स्क्रीन 57:4, विंटर 2016, पृ. सं. 480-87.

4 मिसाल के तौर पर यूट्यूब पर उपलब्ध *मौसीक़ार* या *कोयल* जैसी फ़िल्में. विस्तृत चर्चा के लिए रविकान्त, 'विभाजन के बावजूद: चंद गुमनाम ग़ैर-विभाजित फ़िल्में', *आलोचना*, अंक 59: विभाजन के 70 साल', जनवरी-मार्च 2019, पृ. 110-122.

5 देखें *मीडिया की भाषा-लीला* (वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली) का एक और अध्याय, 'सिनेमा, भाषा, रेडियो: एक त्रिकोणीय इतिहास'.

6 *चित्रपट* तो ज़्यादा नहीं चली, *रंगभूमि* बार बार बंद होकर काफ़ी समय तक चली, लेकिन उसे वह सम्मान हासिल नहीं हुआ, जो उर्दू की *शमा* या अंग्रेज़ी की *फ़िल्मइंडिया* या *फ़िल्मफ़ेयर* के हिस्से आया. दिलचस्प है कि हिंदी पढ़ने वालों की बढ़ती तादाद को भांपते हुए *शमा* निकालने वाले देहलवियों ने अपने रिसाले का *सुषमा* नामक हिंदी संस्करण 1959 में शुरू कर दिया, जो इस सदी तक यानी *माधुरी* के बंद होने के बाद भी लगातार छपती रही.

7 संपादकीय, *सुषमा* : वर्ष 9, अंक 11; नवंबर 1967.

8 *माधुरी*, 5 नवंबर 1965, पृ. 44.

9 पोस्टबॉक्स, *फ़िल्मफ़ेयर*, 19 जनवरी 1968.

10 'दोज़ फ़नी वर्ड्स', पोस्टबॉक्स, *फ़िल्मफ़ेयर*, 16 फ़रवरी 1968

11 संपादकीय, *सुषमा*, 1 जनवरी 1968.

12 यहां पुनर्प्रकाशित ख़्वाजा अहमद अब्बास का संस्मरणात्मक साक्ष्य बताता है कि साहिर जहां उम्दा फ़िल्मी शायर थे, वहीं असल जीवन में अपने वामपंथी उसूलों के उतने ही पक्के थे. उनके हस्तक्षेप हक़ के पक्ष में होते थे, चाहे वह गीतकारों को संगीतकारों या गायक-गायिकाओं के बरअक्स बराबरी के मेहनताने और इज़्ज़त दिलाने की बात हो या आकाशवाणी पर गीतकारों के नामों की घोषणा का सफल इसरार.

जब साहिर संसद की आवाज़ बने

सुनील भट्ट

बात 21 जुलाई 2014 की है. राज्यसभा में एक चर्चा (शॉर्ट ड्यूरेशन डिस्कशन) चल रही थी. विषय था - गाज़ा पट्टी व वेस्ट बैंक पर इज़राइल द्वारा बरपा की जा रही भयानक हिंसा. भारतीय संसद इस बात से चिंतित थी कि इज़राइल विश्व-जनमत को अस्वीकारते हुए गाज़ा पट्टी व वेस्ट बैंक पर बमबारी कर रहा है, नागरिक क्षेत्रों पर गोले बरसा रहा है और अस्पताल व स्कूलों को निशाना बना रहा है. भारतीय संसद के उच्च सदन को यह समझ में नहीं आ रहा था कि दुश्मन सरकार से बदला लेने का अर्थ मासूम नागरिकों का क़त्ल कैसे हो सकता है. सरकारों की ग़लतियों की सज़ा मासूम बच्चों को मिले, यह सदन की समझ से परे था. राज्यसभा के सदस्य रोष में थे। यह नाराज़गी उनके भाषणों में दिखी.

राज्यसभा ने इससे पहले भी कई शानदार चर्चाएं देखीं थीं, पर पिछले कुछ वर्षों में युद्ध के विषय पर आयोजित इस चर्चा का स्तर अलग ही था. जिन लोगों को सांसदों को मूर्ख मानने का शौक़ है, अगर वे इस चर्चा को राज्यसभा की वेबसाइट पर जाकर पढ़ें, तो वे अपने विचार बदलने पर मजबूर हो जायेंगे. तमाम राजनीतिक दलों ने इस विषय पर अपनी राजनीतिक समझ को खुलकर सामने रखा. अपनी बात का असर पैदा करने के लिए शेरो-शायरी का सहारा लेना भारतीय संसदीय बहस की एक अघोषित और सर्वमान्य परंपरा है. इसी परंपरा के अनुरूप सांसद मजीद मेमन ने साहिर लुधियानवी की नज़्म, *'ए शरीफ इंसानो'* का ज़िक्र किया :

जंग तो ख़ुद एक मस'ला है, जंग क्या मसअलों का हल देगी
आग और ख़ून आज बख़्शेगी, भूख और एहतियाज[1] कल देगी
इसलिए ऐ शरीफ इंसानो! जंग टलती रहे तो बेहतर है
आप और हम सभी के आंगन में शमअ जलती रहे तो बेहतर है

साहिर ने यह नज़्म 1965 की भारत-पाक जंग पर लिखी थी, जिसे उर्दू अदब की एक महत्त्वपूर्ण युद्धविरोधी नज़्म माना जाता है :

ख़ून अपना हो या पराया हो
नस्ले-आदम का ख़ून है आख़िर
जंग मशरिक़ में हो कि मग़रिब में
अम्ने-आलम का ख़ून है आख़िर

साहिर इस नज़्म में स्पष्ट करते हैं कि जंग नस्ले-आदम और अम्ने-आलम के ख़िलाफ़ है – जंग, जिसमें मरता आम आदमी ही है—वह आम आदमी, जो कभी सिपाही की शक्ल में सीने पर गोली खाकर ढेर हो रहा होता है, तो कभी साधारण किसान के रूप में अपने खेतों को बमबारी से बर्बाद होते देख रहा होता है.

बम घरों पर गिरें कि सरहद पर, रूहे-तामीर[2] ज़ख्म खाती है
खेत अपने जलें कि औरों के, ज़ीस्त[3] फ़ाक़ों से तिलमिलाती है
टैंक आगे बढ़े कि पीछे हटें, कोख धरती की बांझ होती है
फ़तह का जश्न हो कि हार का सोग, ज़िंदगी मय्यतों पे रोती है

साहिर की नज़्मों व गीतों से मालूम होता है कि वे युद्ध को मानवता के ख़िलाफ़ एक अपराध मानते थे. वे राजभक्ति या देशभक्ति के नाम पर फैलाये जाने वाले उन्माद के ख़िलाफ़ थे. अपनी रचनाओं में वे यह देखते और दिखाते हैं कि युद्ध का असर आम इंसानों पर कितना गहरा पड़ता है. 'अजनबी मुहाफ़िज़' नाम की नज़्म में वे एक होटल में ठहरे विदेशी फ़ौजी जवानों और बाहर खड़े भूखे लोगों की ज़िल्लत का दर्दनाक वर्णन करते हैं :

इसी होटल के क़रीब
भूखे मजबूर ग़ुलामों के गिरोह
टकटकी बांध के तकते हुए ऊपर की तरफ़
मुंतज़िर[4] बैठे हैं उस साअते-नायाब[5] के, जब
बूट की नोक से नीचे फेंके

अजनबी देश के बेफ़िक्र जवानों का गिरोह
कोई सिक्का, कोई सिगरेट, कोई केक
या डबल रोटी के झूटे टुकड़े
छीना-झपटी के मनाज़िर[6] का मज़ा लेने को
पालतू कुत्तों के एहसास पे हंस देने को
भूखे मजबूर ग़ुलामों का गिरोह
टकटकी बांधके तकता हुआ इस्तादा[7] है

युद्ध के विषय पर साहिर के विचारों को जानने के लिए *'परछाइयां'* से बेहतर कोई रचना नहीं हो सकती. इस नज़्म में वे युद्ध की भयावहता और इसके आम जीवन पर पड़ते असर को कुछ इस तरह सामने लाते हैं :

फ़ौजों के भयानक बैंड तले, चख़्र्रों की सदाएं डूब गयीं
जीपों की सुलगती धूल तले, फूलों की क़बाएं डूब गयीं
इंसान की क़ीमत गिरने लगी, अजनास के भाव चढ़ने लगे
चौपाल की रौनक घटने लगी, भर्ती के दफ़ातर बढ़ने लगे
बस्ती के सजीले शोख़ जवां, बन-बन के सिपाही जाने लगे
जिस राह से कम ही लौट सके, उस राह पे राही जाने लगे...
बस्ती पे उदासी छाने लगी, मेलों की बहारें ख़त्म हुईं
आमों की लचकती शाख़ों से, झूलों की क़तारें ख़त्म हुईं
धूल उड़ने लगी बाज़ारों में, भूख उगने लगी खलियानों में
हर चीज़ दुकानों से उठकर, रूपोश हुई तहख़ानों में
बदहाल घरों की बदहाली, बढ़ते-बढ़ते जंजाल बनी
महंगाई बढ़कर काल बनी, सारी बस्ती कंगाल बनी
चरवाहियां रस्ता भूल गयीं, पनहारियां पनघट छोड़ गयीं
कितनी ही कंवारी अबलाएं, मां-बाप की चौखट छोड़ गयीं
इफ़लास-ज़दा दहक़ानों के हल-बैल बिके, खलियान बिके
जीने की तमन्ना के हाथों, जीने ही के सब सामान बिके

साहिर की यह नज़्म 'परछाइयां' सन 1956 के अरब-इज़राइल युद्ध के बाद विश्वशांति पर छाये ख़तरों की पृष्ठभूमि में लिखी गयी थी. साहिर की यह नज़्म काफ़ी सराही गयी और 1958 में ख़्वाजा अहमद अब्बास ने इसका अंग्रेज़ी में अनुवाद 'शैडोज़ स्पीक' (Shadows Speak) नाम से किया. यह एक प्रेमी जोड़े की असफल प्रेम-व्यथा की दास्तान है, जिसमें एक नौजवान जोड़े को देखकर प्रेमी को अपनी कहानी याद आती है :

और आज इन पेड़ों के नीचे फिर दो साये लहराये हैं
फिर दो दिल मिलने आये हैं
फिर मौत की आंधी उट्ठी है, फिर जंग के बादल छाये है
मैं सोच रहा हूं इनका भी अपनी ही तरह अंजाम न हो
इनका भी जुनूं बदनाम न हो
इनके भी मुक़द्दर में लिक्खी इक ख़ून में लिथड़ी शाम न हो

इस नज़्म का ज़्यादातर हिस्सा फ़्लैशबैक में चलता है. किसी नज़्म में फ़्लैशबैक का यह अपने आप में एक अनोखा प्रयोग था, जिसे अली सरदार जाफ़री ने उनके फ़िल्मी अनुभव का असर कहा. वे लिखते हैं, साहिर की कामयाबी इसमें है कि उसने अपने सादा और आसान अल्फ़ाज़ से इस एहद की बाज़ आम हक़ीक़तों को अपने मिसरों में ढाल दिया है जो ज़बान पर चढ़ भी जाते हैं और दिल पर असर भी करते हैं. (साहिर लुधियानवी, *आओ कि कोई ख़्वाब बुनें,* नयी दिल्ली : हिंदी बुक सेंटर, 1990, पृष्ठ 40)

इस नज़्म में युद्ध एक ऐसा खलनायक है, जो हमारे इर्दगिर्द एक अमानवीय माहौल बना देता है - जहां न इंसान की कोई क़ीमत है, न उसकी भावनाओं की. इस नज़्म को पढ़ना एक बैचेनी-भरा अनुभव है. 'जीने की तमन्ना के हाथों, जीने ही के सब सामान बिके' और 'बहुत दिनों से है ये मश्ग़ला सियासत का/ कि जब जवान हों बच्चे तो क़त्ल हो जायें'

सरीखी पंक्तियां ज़हन में हमेशा के लिए बस जाती हैं. *'परछाइयां'* के अलावा साहिर ने अपनी कई अन्य नज़्मों व गीतों में भी युद्ध के मानवविरोधी चेहरे को बेनक़ाब किया. अपने एक गीत में हिक़ारत में भरकर वे कहते हैं :

हिरोशीमा की झुलसी ज़मीं की क़सम
नागासाकी की सुलगी फ़ज़ा की क़सम
जिन पे जंगल का क़ानून भी थूक दे
ऐटमी दौर के वो दरिंदे हैं हम
अपनी बढ़ती हुई नस्ल ख़ुद फूंक दें
ऐसी बदज़ात अपनी ही इक ज़ात है

साहिर ने चूंकि अपनी रचनात्मकता को व्यक्त करने के लिए फ़िल्मी गीतों का ख़ूब सहारा लिया, सो यह स्वाभाविक था कि उनके युद्धविरोधी विचार फ़िल्मी गीतों में भी दिखते. यहां साहिर के बारे में यह जानना उचित रहेगा कि उन्होंने अपने फ़िल्मी गीतों के सहारे भिन्न-भिन्न विषयों पर अपने विचारों को व्यक्त किया है. ग़रीबी से संबंधित विचार हों, या आज़ाद मुल्क की अवधारणा, महिलाओं की स्थिति, धार्मिक व सामाजिक ग़ैर-बराबरी, तकनीक का मानव समाज में योगदान आदि-आदि. साहिर के इस स्वभाव की झलक हमें *ताजमहल(1963)* फ़िल्म के गीत 'खुदा-ए-बरतर' में दिखती है, जिसमें वे पूछते हैं *:*

खुदा-ए-बरतर[8] तेरी ज़मीन पर, ज़मीं की ख़ातिर ये जंग क्यों है?
हर एक फ़तहो-ज़फ़र[9] के दामन पे ख़ूने-इंसां का रंग क्यों है?

गीत की सिचुएशन यह है कि ख़ुर्रम (शाहजहां) दक्खन की ओर एक जंग में शामिल होने गया है और अर्जुमंद बानो (मुमताज़ महल) उसकी सलामती के लिए दुआ मांग रही है. यहां पर साहिर ने अर्जुमंद बानो की दुआओं के सहारे एक बेहतरीन युद्धविरोधी गीत लिखा, जिसमें वे युद्ध के औचित्य पर सवाल खड़े करते हुए पूछते हैं :

ज़मीं भी तेरी है हम भी तेरे, ये मिल्कियत का सवाल क्या है?
ये क़त्लो-ख़ूं का रिवाज क्यों है, ये रस्मे-जंगो-जदाल[10] क्या है?
जिन्हें तलब है जहान भर की, उन्हीं का दिल इतना तंग क्यों है?

इस गीत को फ़िल्म-जगत का सबसे बेहतरीन युद्धविरोधी गीत कहा जा सकता है - 'जहां में जश्ने-वफ़ा के बदले ये जश्ने-तीरो-तफ़ंग क्यों है?' इसी से मिलता-जुलता सवाल साहिर अपने दूसरे संकलन, *आओ की कोई ख़्वाब बुनें* की नज़्म, 'ऐ शरीफ़ इंसानो' में भी करते हैं :

बरतरी[11] के सुबूत की ख़ातिर
ख़ूं बहाना ही क्या ज़रूरी है?
घर की तारीकियां[12] मिटाने को
घर जलना ही क्या ज़रूरी है?

ताजमहल (1963) के इस गीत में एक पंक्ति है - 'जिन्हें अता की है तूने ताक़त, उन्हें हिदायत की रोशनी दे'. साहिर की इस पंक्ति का अक्स हमें *हम दोनों* (1961) फ़िल्म के भजन 'अल्लाह तेरो नाम, ईश्वर तेरो नाम' में भी दिखता है, जब ईश्वर से प्रार्थना करते हुए कह रहे हैं : 'बलवानों को दे दे ज्ञान.'

जब हम साहिर की युद्धविरोधी नज़्मों को पढ़ते हैं तो पाते हैं कि साहिर सिर्फ़ अपने दौर के युद्धों की ही बात नहीं करते हैं. एक व्यापक ऐतिहासिक नज़र रखते हुए वे कहते हैं : 'अपनी दुनिया पे सदियों से छायी हुई / ज़ुल्म और लूट की संगदिल रात है / ये न समझो कि ये आज की बात है.' इस गीत में वे आगे कहते हैं :

हम अंधेरी गुफाओं से निकले मगर, रोशनी अपने सीनों से फूटी नहीं
हमने जंगल तो शहरों में बदले मगर, हमसे जंगल की तहज़ीब छूटी नहीं

दीदी (1959) फ़िल्म के गीत 'बच्चों तुम तकदीर हो' में वे कहते हैं :

बहुत दिनों से इस दुनिया में रीत रही है जंगों की
लड़ती हैं धनवानों की ख़ातिर, फ़ौजें भूखे-नंगों की
कोई लुटेरा ले न सके अब क़ुर्बानी इंसान की
बच्चों तुम तक़दीर हो कल के हिंदुस्तान की

दीदी (1959) के इस गीत में आगर साहिर युद्ध की ऐतिहासिकता पर बात करते हैं तो भविष्य के प्रति नाउम्मीद भी नहीं दिखते हैं. वे अपनी नज़्मों में अगर एक ओर युद्ध की मानसिकता के प्रति नफ़रत का इज़हार करते हैं तो दूसरी ओर उनका यह यक़ीन भी सामने आता है कि आने वाला कल आज से बेहतर होगा :

हम तबाही के रस्ते पे इतना बढ़े, अब तबाही का रस्ता ही बाक़ी नहीं
ख़ूने-इंसां जहां साग़रों में बंटे, इससे आगे वो महफ़िल, वो साक़ी नहीं
इस अंधेरे की इतनी ही औक़ात है
इससे आगे उजालों की बारात है

साहिर की यही ख़ूबी है. वे विकट-से-विकट परिस्थिति में भी उम्मीद का दामन नहीं छोड़ते हैं. वे कर्महीन होकर इंतज़ार करने की बजाय संघर्ष का रास्ता अपनाते हैं और अपनी इस उम्मीद को, अपने दम पर, ज़मीन पर उतारने की बात करते हैं. 'उस सुबह को हम ही लायेंगे, वो सुबह हमीं से आयेगी' वाली भावना साहिर की युद्धविरोधी रचनाओं की भी ख़ासियत है. *परछाइयां* में वे युद्ध के ख़िलाफ़ संकल्प लेते हुए कहते हैं :

कहो कि अब कोई क़ातिल अगर इधर आया, तो हर क़दम पे ज़मीं तंग होती जायेगी
हर एक मौजे हवा रुख़ बदल के झपटेगी, हर एक शाख़ रगे-संग होती जायेगी
उठो कि आज हर इक जंगजू से ये कह दें, कि हमको काम की ख़ातिर कलों की हाजत है
हमें किसी की ज़मीं छीनने का शौक़ नहीं, हमें तो अपनी ज़मीं पर हलों की हाजत है
ये सरज़मीन है गौतम की और नानक की
इस अर्ज़े-पाक पे वहशी न चल सकेंगे कभी
हमारा ख़ून अमानत है नस्ले-नौ के लिए
हमारे ख़ून पे लश्कर न पल सकेंगे कभी

राज्यभा की चर्चा, जिसका हमने शुरू में ज़िक्र किया था, उसके अंत में तत्कालीन विदेश मंत्री सुषमा स्वराज का भाषण हुआ. उन्होंने भी अपनी बात कहने के लिए साहिर की नज़्म 'परछाइयां' की इसी भावना का सहारा लिया.

चलो कि चल के सियासी मुक़ामिरों[13] से कहें
कि हमको जंगो-जदल के चलन से नफ़रत है
जिसे लहू के सिवा कोई रंग न रास आये
हमें हयात के उस पैरहन[14] से नफ़रत है

और इस प्रकार 21 जुलाई 2014 के उस रोज़ साहिर लुधियानवी के युद्धविरोधी विचार भारतीय संसद की आवाज बन गये – वह आवाज़ जो हमें आगह करती थी कि जिस ग़लत रास्ते पर हम आज चल रहे हैं, वह कल हमें किस नरक में लेकर जायेगा :

कहो कि आज भी हम सब अगर ख़मोश रहे
तो इस दमकते हुए ख़ाकदां की ख़ैर नहीं
जुनूं की ढाली हुई ऐटमी बलाओं से
ज़मीं की ख़ैर नहीं, आसमां की ख़ैर नहीं
गुज़श्ता[15] जंग में घर ही जले मगर इस बार, अजब नहीं कि ये तनहाइयां भी जल जायें
गुज़श्ता जंग में पैकर[16] जले मगर इस बार, अजब नहीं कि ये परछाइयां भी जल जायें

उस दिन भारतीय संसद खामोश नहीं रही. उसने एक आवाज़ में गाज़ा पट्टी व वेस्ट बैंक पर इज़राइल द्वारा बरपा की गयी भयानक हिंसा की कड़े शब्दों में निंदा की और दुनिया को स्पष्ट कर दिया कि हमारा देश युद्ध के नाम पर बरपा किये गये इस वहशीपन को ग़लत मानता है, नकारता है.

मो0 8826352653

---

1 अभाव, कंगाली 2 निर्माण 3 ज़िंदगी 4 प्रतीक्षारत 5 अनमोल घड़ी 6 दृश्यों 7 खड़ा हुआ 8 महान खुदा 9 जीत और विजयोल्लास 10 युद्ध 11 बड़प्पन 12 अंधेरे 13 जुआरियों 14 पहनावा 15 पिछली 16 आकृति, शरीर

साहिर की अवामी मक़बूलियत

अतहर फ़ारुक़ी

यह 1980 की बात है. मैं हाई स्कूल का विद्यार्थी था. मेरा न तो साहित्य से कोई वास्ता था और न ही उस रवैये से मेरा कोई परिचय था जिसे बाद में उर्दू-शनाख़्त के तौर पर मैंने समझने की कोशिश की. हिंदू मुस्लिम भी दूर तक कहीं ज़हन में न था. किसी वजह से स्कूल में पढ़ने की ग़रज़ से मुझे एक वर्ष के लिए एक छोटे से क़स्बे में भेजा गया था जहां किताबों की कोई दुकान न थी और न ही वहां कोई सिनेमाहाल था. वहां मेरा एक ही मशग़ला था—क्रिकेट खेलना. हम सारा दिन या तो क्रिकेट खेलते थे या फिर उसके बारे में बात करते थे. सब दोस्त तो नहीं, मगर जिनके पास ट्रांज़िस्टर थे, वे गाने ख़ूब सुनते थे मगर क्रिकेट की कमेंट्री अगर आ रही हो तो हम दोस्तों की दुनिया उसी तक सीमित रहती. दिनचर्या यह थी कि दिन भर खेलने के बाद शाम को गाने सुने जाते थे. जैसा कि मैंने अर्ज़ किया कि मेरा तालीमी बैकग्राउंड उस तरह का नहीं था जिसमें इस उम्र तक साहित्य की समझ पैदा हो जाती है, मगर उस एक अपवादिक वर्ष के अलावा जिसमें मैंने हाई स्कूल किया, मेरे आसपास के माहौल में उर्दू का चलन था.और मेरी उर्दू की इस्तेदाद इतनी ज़रूर थी कि में उर्दू लिपि में लिखी कोई तहरीर पढ़ सकता था और बग़ैर किसी की मदद के या बग़ैर ग़लती के दो तीन पृष्ठ लिखने की सलाहीयत रखता था.

एक दिन शाम को खेलने के बाद गाने सुन रहा था कि एक गाना बजा: 'चांद चुरा के लाया हूं, चल बैठें चर्च के पीछे'. और अचानक मुझे लगा कि यह तो निरी बकवास है. उस वक़्त तक फ़िल्मी गानों की आधुनिकता भी इस तरह के बेतुकेपन में पनाह नहीं लेती थी. बाद में जब उर्दू साहित्य के बारे में पढ़ा तो मालूम हुआ कि उर्दू अदब में हर तरह का बेतुकापन जदीदियत (आधुनिकवाद) में अच्छा समझा जाता था, और गुलज़ार से कहीं ज़्यादा बेतुके शायरों की जो एक फ़ौज शम्सुर्रहमान फ़ारुक़ी साहिब ने खड़ी की थी, उसमें से छांट कर शायद सबसे बेतुके शायर ज़फ़र इक़बाल को उन्होंने ग़ालिब से बड़ा शायर क़रार भी दे दिया था. गुलज़ार का गाना इतना बेतुका था कि यह बात अब तक मेरे ज़हन से नहीं निकली है. कुछ दिन बाद एक दोस्त, जिनकी आवाज़ बहुत अच्छी थी और फ़िल्मी गानों में जिनकी ख़ासी दिलचस्पी भी थी, फ़िल्म, *कभी कभी* की नज़्म, 'मैं पल दो पल का शायर हूं' गा रहे थे. यह साहिर की एक पुरानी नज़्म है. मैं उस वक़्त जाने किस मानसिक स्थिति में था कि मुझ पर जादू सा छा गया. मैंने शायर का नाम पूछा तो दोस्त ने बताया कि साहिर लुधियानवी का लिखा हुआ गाना है. कुछ दिन बाद मैं क्रिकेट का सामान ख़रीदने एक दोस्त के साथ एक बड़े शहर में गया. इस ज़माने में हम जैसे विद्यार्थियों के लिए शहर में जाने का मौक़ा मिलने का एक मतलब यह भी था कि किसी अच्छे होटल में खाना खाया जाये और फ़िल्म देखी जाये. जब खाना खाकर निकले तो सामने सिनेमाहाल पर फ़िल्म, *कभी कभी* चल रही थी, और हम फ़िल्म देखने चले गये.

और उस दिन जो साहिर का नशा छाया तो आज तक नहीं उतरा है.

कुछ दिन बाद साहिर के निधन की ख़बर आयी. अगले वर्ष मैं संयोग से पाठ्यक्रम से अलग किताबों के मुताले की तरफ़ मुड़ गया तो साहिर की शायरी को, उनकी ज़िंदगी को, उनकी ज़िंदगी से संबधित झूठे-सच्चे क़िस्सों को ख़ूब पढ़ा. साहिर के इंतिक़ाल के दो-तीन वर्ष बाद तक उर्दू की साहित्यिक और फ़िल्मी पत्र-पत्रिकाएं साहिर पर निरंतर लेख और अमृता प्रीतम की किताब, *रसीदी टिकट* के बयानात को फ़िल्मी गपशप की तरह शाय करती रहीं. चायख़ानों पर यह बहस और गर्म हो गयी कि साहिर बड़े शायर हैं या शकील बदायूनी. इस पर मगर सब सहमत होते कि शकील अगर साहिर से ज़्यादा लोकप्रिय फ़िल्मी शायर हैं तो भी उनका अदबी क़द साहिर से बहुत छोटा है.

ये सब बातें जो मैंने बयान की हैं, इनका ताल्लुक़ साहिर की अवामी मक़बूलियत से है, उस मानसिकता से नहीं जिस के तहत जब किसी की पकड़ में अवाम की नब्ज़ नहीं आती तो वह हर उस चीज़ को जो उसकी समझ में न आये, कमतर कहना शुरू कर देता है.उर्दू में मुशायरों को बुरा कहने वालों में ऐसा कोई शायर नहीं जिसे किसी बड़े मुशायरे में बुलाया गया हो और उसने इनकार कर दिया हो. ख़ास तरह के साहित्य को महान और फ़िल्मी शायरी को घटिया कहने वालों में भी ऐसा कोई नहीं कि उसे फ़िल्म में गाने लिखने का मौक़ा मिला होऔर वह उसका फ़ायदा उठाने में ज़रा भी हिचकिचाया हो. यह बात मगर अलग है कि उनमें से अक्सर लोग न तो साहिर जैसे कामयाब शायर बन सके और न ही फ़िल्म में उनकी 'बुक़राती' का धेला उठा.

साहित्य को समझने और उसके अवलोकन के विभिन्न पैमाने हो सकते हैं मगर उर्दू में तो प्राय: ही कोई ऐसा

लिखने वाला होगा जिसके पाठकों का दायरा नून मीम राशिद और मीराजी की तरह अत्यंत सीमित हो और वह सही अर्थों में क़ाबिले-ज़िक्र लिखने वाला भी हो. उर्दू की एक ख़ास दुनिया जो बुक़रातों से भरी पड़ी है, उनमें दस-बीस भी मुश्किल से होंगे जो राशिद या मीराजी की शायरी के किसी हिस्से का कोई विश्लेषण अपने लिए भी कर सकें, दूसरों के लिए व्याख्या और विश्लेषण करने की तो बात ही छोड़ दीजिए.

उर्दू शायरी के अवामी प्रसार में, यानी अवाम के साहित्यिक आस्वादन को बेहतरीन शायरी से परिचित कराने में साहिर लुधियानवी फ़ैज़ से भी आगे निकल जाते हैं. इंतिक़ाल के 40 बरस बाद भी अगर साहिर की बेपनाह मक़बूलियत बग़ैर किसी संस्था, और ख़ुद साहिर के ख़ानदान की कोशिशों के बिना भी, मंद नहीं पड़ी है तो इसमें साहिर की शायराना कल्पनाशक्ति और कलात्मक अभिव्यक्ति में महारत के अलावा और किसी बात का दख़ल नहीं है.

साभार : त्रैमासिक उर्दू *अदब*,अंजुमन तरक़्क़ी-ए-उर्दू हिंद, दिल्ली, जनवरी-मार्च, 2021, पृ. 7-9

कन्हैयालाल कपूर की नज़र में साहिर

(उर्दू के मशहूर हास्य-व्यंगकार)

साहिर लुधियानवी—नाम से मालूम नहीं हो सका कि तख़ल्लुस करते थे या सहर (जादू)—इस के विषय में अक्सर शोध-कर्ताओं को शक है. कलाम पढ़ते वक़्त जबान की बजाए नाक से ज़्यादा काम लेते थे. चेहरे पर चेचक के दागों के अलावा ख़स्ताहाली के अनेक निशान थे. कोट उतार देते तो यूं मालूम होता जैसे अभी हवा में विलीन हो जाएंगे.

तबीयत का रुझान साम्यवाद की तरफ़ था. ताजमहल को इसलिए पसंद न कर सके कि झोंपड़ा तक मयस्सर न था. अक्सर मेल लाइन पर सफ़र करते थे. लुधियाना से बम्बई और बम्बई से लाहौर, और लाहौर से दिल्ली पहुंचे. लेकिन मतलूबा किराया न होने की वजह से मास्को न जा सके.

उम्र भर मार्क्स का फ़लसफ़ा, जिस हद तक समझ सके, नज़्मों में लिखते रहे. बे-ज़रर इंसान थे, इसलिए हुकूमत ने कभी गिरफ़्तार करने की ज़रूरत न समझी.

(प्रकाश पंडित की पुस्तक *साहिर और उसकी शायरी*, पंजाबी पुस्तक भंडार, दरीबा कलां, दिल्ली, अगस्त 1962, पृ. 24. आभार: https://www.rekhta.org)

साहिर लुधियानवी की तहरीर भी तख़्लीक़ भी

एक नग़मा
हर वक़्त तेरे हुस्न का होता है समां और
हर वक़्त मुझे चाहिए अंदाज़े-बयां और

फूलों सा कभी नर्म तो शोलों सा कभी गर्म
मस्ताना अदा में कभी शोख़ी है, कभी शर्म
हर सुबह गुमां और है, हर रात गुमां और
हर वक़्त तेरे हुस्न का होता है समां और

भरने नहीं पातीं तेरे जलवों से निगाहें
थकने नहीं पातीं तुझे लिपटा के ये बाहें
छू लेने से होता है तेरा जिस्म जवां और
हर वक़्त तेरे हुस्न का होता है समां और

(साभार: उर्दू माहनामा, *बीसवीं सदी*, नयी दिल्ली, दिसंबर 1980)

साहिर पर संगीतकार रवि से बातचीत

चर्चा में संगीत निर्देशक रवि, शायर अहमद वसी, रज़िया रागिनी
और विविध भारती उद्घोषक कमल शर्मा ने हिस्सा लिया

रवि: 'तुम अगर साथ देने का वादा करो' गुनगुनाते हैं.

गीत: हमराज़ का वही गाना बजता है.

विविध भारती: आपकी साहिर साहब से पहली मुलाक़ात कब और कैसे हुई थी?

रवि: मैं उस समय सिंगर बनने के लिये मुंबई आया था. उन दिनों कोई भी म्यूज़िक डिरेक्टर या गीतकार से मिल सकता था, किसी अप्पॉइंटमेंट की ज़रूरत नहीं पड़ती थी. तो मैं साहिर साहब से जाकर मिला. उन दिनों फ़िल्म *नौजवान* बन रही थी जिसमें एक कोरस गीत था. तो साहिर साहब ने मुझसे कहा कि 'भई तुम गायक बनना चाहते हो तो संगीतकार से मिलो'. तब मैं जाकर उस फ़िल्म के संगीतकार एसडी बर्मन से मिला और उन्होंने उस कोरस गीत में मुझे शामिल कर लिया. फिर उसके बाद मैंने कई फ़िल्मों में हेमंत कुमार के असिस्टेंट के रूप में काम किया, जैसे कि *शर्त, चंपाकली*, आदि.

गाना: 'न ये चांद होगा न तारे रहेंगे' (*शर्त*)

वि.भा: रवि जी, अब आप साहिर साहब की शख़्सियत के बारे में कुछ बताइए.

रवि: साहिर साहब बड़े ही सिम्पल क़िस्म के थे. वो गंभीर से गंभीर बातें भी आसानी से कह डालते थे. एक क़िस्सा आपको सुनाता हूं. उन दिनों हम ज़्यादातर बीआर चोपड़ा की फ़िल्मों के लिए काम करते थे, तो शाम के वक़्त हम मिलते थे, बातें करते थे. तो एक दिन साहिर साहब ने अचानक कहा, इस देश में इतने झंडे क्यों हैं? और अगर हैं भी तो उनमें डंडे क्यों हैं?

(सब ज़ोर-ज़ोर से हंसने लगे)

वि.भा.: रवि साहब हमने सुना है कि साहिर साहब अपने लिखे गीतों में हेर-फेर पसंद नहीं करते थे. इस बारे में आपका क्या ख़याल है?

रवि: साहिर साहब के गाने ऐसे होते थे कि उनमें किसी तरह का हेर-फेर करना पॉसिबल ही नहीं होता था. अब फ़िल्म *वक़्त* के 'ऐ मेरी ज़ोहरा-जबीं' को ही ले लीजिए. जब उन्होंने यह गीत लिखा तो सभी ने कहा कि कॉमन लोग 'ज़ोहरा-जबीं' को नहीं समझ पायेंगे, पर साहिर साहब ने कहा कि क्यूं नहीं समझ पायेंगे, इससे अच्छा शब्द और क्या हो सकता है? और जब यह फ़िल्म रिलीज़ हुई, तो यही गीत सबसे पॉपुलर साबित हुआ.

गाना: 'ऐ मेरी ज़ोहरा जबीं' (*वक़्त*)

रवि: साहिर हर तरह के गाने लिखते थे और बहुत ही कामयाबी के साथ. चाहे भजन हो चाहे क़व्वाली हो, कुछ भी. फ़िल्म *नीलकमल* के गीत 'बाबुल की दुआएं लेती जा' की रिहर्सल पर रफ़ी साहब गीत को गाते-गाते रो पड़े. हम सब तो घबरा गये कि क्या बात हो गयी. फिर हमें पता लगा कि हाल में रफ़ी साहब ने अपनी बेटी की सगाई की रस्म पूरी की है और चंद रोज़ में उसकी शादी है. इस गीत ने उन्हें इतना छू लिया कि रिकॉर्डिंग के वक़्त भी पूरे दिल से गीत को गाया और आज भी जब किसी की शादी का फ़ंक्शन होता है, तो विदाई का यह गीत उसमें ज़रूर शामिल होता है.

रवि ने पूरा गीत सुनाया और साहिर साहब के अल्फ़ाज़ की ख़ूबसूरती को रेखांकित किया.

गाना: 'बाबुल की दुआएं लेती जा' (*नील कमल*)
साहिर द्वारा संजीदा ख़यालात को सरल अल्फ़ाज़ में ख़ूबसूरती से बयान करने की क़ाबिलियत के बारे में रवि बताते हैं. इसी संदर्भ में 'ख़ाली डब्बा ख़ाली बोतल ले ले मेरे यार'(*नील कमल*) की चर्चा होती है और गाना बजाया जाता है.

वि. भा.: रवि साहब, हमने ये भी सुना है कि साहिर साहब किसी रोमांटिक गाने को लिखने से पहले हीरोइन का नाम पूछ लेते थे?

रवि: मैं आपको एक मज़ेदार क़िस्सा सुनाता हूं. एक बार फ़िल्म, *काजल* के डायरेक्टर राम माहेश्वरी साहिर साहब को बताने लगे कि हीरोइन अपने कमरे में आईने में अपने-आपको देखती है, फिर वो कमरे से बाहर निकल कर सामने वाले बग़ीचे में चली जाती है. इतना सुनने के बाद साहिर साहब बोले, 'रामजी आप मुझे गाने की सिचुएशन बता रहे हैं या लोकेशन?'

(सब ठहाका मारकर हंसने लगे)

फ़िल्म, *धुंध* में एक मुजरा था जो देवेन वर्मा पर पिक्चराइज़ होने वाला था. तो मैने यूं ही एक मुखड़ा बता दिया 'जोबना से चुनरिया'. सबको ये पसंद आया. सबको ये पसंद आया और मैंने कहा साहिर साहब से कि वो इसे पूरा करें तो उन्होंने गीत को कंप्लीट किया. उस समय क्या होता था कि गीत रेकॉर्ड हो जाने के बाद उसे कॉमर्शियली लॉन्च करने से पहले म्यूज़िक कंपनी आकर गीतकार से साइन करवाते थे, या परमीशन ले लेते थे. तो एचएमवी कंपनी वाले जब साहिर साहब से इस फ़िल्म के गीतों के लिए सिग्नेचर मांगने आये, तो वे सारे गीतों पर साइन कर दिये सिर्फ़ इस गीत को छोड़कर. उन्होंने कहा कि इस गीत पर रवि का हक़ है. मैंने जब सुना तो मैंने कहा कि बस एक ही लाइन लिखी थी, गीत तो आपने पूरा किया तो वो फिर भी नहीं माने. मैंने इस शर्त पर साइन किया कि रिकॉर्ड के ऊपर सिर्फ़ साहिर साहब का ही नाम होगा. साहिर साहब बहुत ही आशावादी लेखक थे. उनका एक गीत मुझे याद आ रहा है 'जागेगा इंसान ज़माना देखेगा, नवयुग का वरदान ज़माना देखेगा'/भरे हुए खलिहान ज़माना देखेगा'.

गाना: 'जागेगा इंसान ज़माना देखेगा' (*पारस*)

फ़िल्म, *काजल* के प्रोड्यूसर-डिरेक्टर ने साहिर साहब को कहा कि फ़िल्म में राजकुमार मीना कुमारी को शराब पीने के लिए ज़िद कर रहे हैं, इस सिचुएशन पर दो शे'र लिख दें . तो अगले दिन साहिर साहब दो शे'र लिखकर ले आये : 'छू लेने दो नाज़ुक होंठों को, कुछ और नहीं है जाम है ये'. मैंने जब इस शे'र को सुना तो मैंने उनसे कहा कि इतना अच्छा

लिखा है आपने, इसका तो गाना बनना चाहिए . लेकिन प्रोड्यूसर साहब ने कहा कि राजकुमार सहब गाने-वाने नहीं गायेंगे, वो कहां गाने गाते हैं? लेकिन मैंने भी ज़िद नहीं छोड़ी और ये गीत बनकर रहा. रफ़ी सहब ने जब इसे गाया तो रेकॉर्डिंग पर मौजूद सभी लोग वाह-वाह कर उठे. और जब डिस्ट्रीब्यूटर ने ये गीत सुना तो कहने लगे कि इतने अच्छे गाने में बस दो ही शे'र? तब सब लोगों ने साहिर साहब को चारों ओर ढूंढ़ा पर पूरे शहर में कहीं उनका पता न चल सका और दो ही अंतरे इस गाने में रह गये.

गाना: 'छू लेने दो नाज़ुक होंठों को' (*काजल*)

साहिर साहब का यह स्वभाव था कि गाने का सिचुएशन लेकर ग़ायब हो जाते थे, रेकॉर्डिंग के चंद रोज़ पहले गाना लेकर वापस आते और गाना भी ऐसा कि एक शब्द इधर से उधर करने की कोइ गुंजाइश नहीं रहती थी. फ़िल्म, *दो कलियां* में 'बच्चे मन के सच्चे', इस गाने में उन्होंने ऐसे-ऐसे शब्दों के प्रयोग किये हैं कि इससे बेहतर और कुछ हो ही नहीं सकता.

गाना: 'बच्चे मन के सच्चे' (*दो कलियां*)

वि.भा.: रवि साहब, जो सहजता साहिर साहब की शायरी में थी, वही सहजता आपकी धुनों में भी नज़र आती है.

रवि: मैंने हमेशा साहिर साहब के सहज शब्दों को सिम्पल धुनों में बांधने की कोशिश की है. फ़िल्म, *गुमराह* का नग़मा है, 'चलो एक बार फिर से अजनबी बन जायें हम दोनों'. इस ख़ूबसूरत नग़मे के लिए मैंने 50 से ऊपर धुनें तैयार की थीं, और उनमें से सबसे जो मुझे और सबको पसंद आयी, वो आपके सामने गीत बनकर आया.
गाना: 'चलो एक बार फिर से' (*गुमराह*)

वि.भा.: रवि साहब, कुछ गाने ऐसे भी आये, जो पहले कलाम थे, फिर बाद में उनकी किताब से लेकर गाने बनाये गये. क्या ऐसे गानों के लिए साहिर साहब आपको हिदायत भी देते थे कि इसकी धुनें कैसी होना चाहिए ?

रवि: नहीं, हिदायत तो नहीं, पर situation को, और भाव को ज़रूर समझा देते थे ताकि धुनें उसके अनुरूप बनें.

वि.भा.: आपके स्वरबद्ध किये गानों में, साहिर साहब को कौन-सा गीत सबसे पसंद था ?

रवि: उनको सभी गाने पसंद आते थे और हर गीत को सुनकर 'बहुत अच्छा है' very good कहते थे.

गाना: 'मिलती है ज़िंदगी में मोहब्बत कभी कभी' (*आंखें*)

वि.भा.: हमने यह भी सुना है कि साहिर साहब ये बिल्कुल पसंद नहीं करते थे कि धुन पहले बना ली जाये और बोल बाद में लिखे जायें. क्या यह सच है? और क्या उन्होंने इस बात की वजह से कोई फ़िल्म भी छोड़ी है?

रवि: ये मुझे पता नहीं पर एक बार फ़िल्म, *हमराज़* में ऐसा गाना बना था जिसका सिचुएशन ऐसा था कि पहाड़ों में गीत गूंज रहा है. तो मैंने एक धुन उनको सुनायी और कहा कि यह पहाड़ी धुन जैसी लगेगी और इसको हम गाने के रूप में डाल सकते हैं. अगले दिन वे गीत लिखकर ले आये, 'नील गगन के तले, धरती का प्यार पले'.

गाना: 'नील गगन के तले धरती का प्यार पले' (*हमराज़*)

वि. भा.: रवि साहब, इस गीत में कोई अंतरा नहीं है, अंतरे भी मुखड़े जैसे ही हैं. इसका क्या कारण है?

रवि: कमाल का गीत लिखा है उन्होंने. वही लिखकर ऐसे ही ले आये थे .

वि.भा.: रवि साहब, आप साहिर साहब से अंतिम बार कब मिले थे?

रवि: हमारी आख़िरी फिल्म थी, *एक महल हो सपनों का*, उस समय. जब उनका इंतिक़ाल हुआ, तो मैं दिल्ली में था और मुझे बहुत देर तक उनकी डैथ की ख़बर ही नहीं मिली और मैं उनके अंतिम दर्शन के लिए भी नहीं पहुंच सका.

वि. भा.: बतौर शृद्धांजलि, साहिर साहब का कौन-सा गीत बजाना चाहेंगे?

रवि: उनका लिखा एक भजन, *काजल* फ़िल्म का: 'तोरा मन दर्पन कहलाये' (*काजल*)

कमल शर्मा : हम रवि, अहमद वसी और रज़िया रागिनी का शुक्रिया अदा करते हैं.

विविध भारती पर 23.10.2004 को प्रसारित 'संगीत के सितारे' कार्यक्रम, लिप्यंतर: रविकान्त.

मेरी यादों में साहिर लुधियानवी

हसन कमाल

साहिर लुधियानवी साहब से मेरी पहली मुलाक़ात लखनऊ में हुई थी, जब मैं लखनऊ युनिवर्सिटी का 'स्टूडेंट' था, और वो युनिवर्सिटी के एक मुशायरे में पहली बार लखनऊ आ रहे थे. ये वो ज़माना था कि जब साहिर लुधियानवी का वो क्रेज़ था कि लोग कहते थे कि 'अगर कोई साहिर लुधियानवी का नाम नहीं जानता तो या तो वो शायरी के बारे में कुछ नहीं जानता या फिर नौजवान नहीं. क्योंकि साहिर लुधियानवी उस ज़माने में नौजवानों के महबूबतरीन शायर थे. मुझे अच्छी तरह याद है कि मैं उन्हें रिसीव करने दूसरे स्टूडेंट के साथ चारबाग़ पहुंचा तो मेरी ख़ुशी का ये हाल था कि ना जाने ये मेरी ज़िंदगी का कौन-सा दिन है और किस हस्ती के दीदार होने वाली है कि जिसके दीदार के बग़ैर हमें ये लग रहा था कि ज़िंदगी अधूरी रहेगी. वो तशरीफ़ लाये, हम लोग उन्हें वहां से रिसीव करके लाये और उन्हें एक होटल में ठहराया गया और मेरा उनसे तआरुफ़ ये कहकर करवाया गया कि 'साहिर लुधियानवी साहब, ये हसन कमाल हैं, हमारे बहुत तेज़ और तर्रार क़िस्म के तालिब-इल्मों में, स्टूडेंट्स में हैं और इनकी सबसे बड़ी ख़ुसूसियत ये है कि इन्हें आपकी नज़्म 'परछाइयां' जो 19 पेज की लंबी नज़्म थी, ज़बानी याद है.' साहिर साहब बहुत ख़ुश हुए और शाम को जब हम उन्हें लेने गये तो वक़्त से कुछ पहले पहुंच गये थे तो उन्होंने बात करते-करते अचानक कहा कि 'भाई, किसी ने मुझे बताया कि तुम्हें 'परछाइयां' पूरी याद है? मैंने अर्ज़ किया कि 'जी हां'. कहने लगे कि 'अच्छा, तो सुनाओ!' और मैंने परछाइयां नज़्म एक ही नशिस्त में उनको सुना दी. और वो सुनते रहे. और जब नज़्म ख़त्म हुई तो उनका कमेंट यह था कि 'भई, ऐसा है कि मैं पंजाबी हूं, और शेर बहुत बुरा पढ़ता हूं, और आज जब तुमको अपनी नज़्म पढ़ते सुना तो ये महसूस हो रहा है कि आज के मुशायरे में मेरे बजाय मेरी शायरी तुम ही सुनाना'.

ये वह ज़माना था जब उनके गीत भी अपना रंग जमा चुके थे और *नौजवान* में उनका गाना 'ठंढी हवाएं लहरा के आयें', *टैक्सी ड्राइवर* का 'जायें तो जायें कहां', चारों तरफ़ मुल्क भर में गूंज रहे थे, और मैं समझता हूं उसी दौर में उनकी फ़िल्म *धूल का फूल* रिलीज़ हुई थी. तो मैंने उनसे शिकायत की कि *धूल का फूल* के गाने मैंने सुने हैं साहिर साहब, गाने बहुत अच्छे हैं लेकिन महेंद्र कपूर साहब ने दो एक तलफ़्फ़ुज़ में ग़लती की. कहने लगे, 'कहां?' मैंने कहा मिसाल के तौर पर, उसमें एक गाना है कि 'बेक़रारों की दुनिया', 'संभल जाये हम बेक़रारों की दुनिया', उसमें उन्होंने 'बेकरारों की दुनिया' कहा है, 'बेक़रारों की' नहीं कहा है. तो उन्होंने कहा कि 'तलफ़्फ़ुज़ की ग़लती उनसे हुई'. फिर कहने लगे कि 'तलफ़्फ़ुज़ की ग़लती तो मुझसे भी होती है, मैं भी पंजाबी हूं'. और वह मेरी ज़िंदगी का यादगार दिन था क्योंकि साहिर उस वक़्त महबूबतरीन शायर थे.

फिर मैं जब बंबई आया, तो फिर उनसे मुलाक़ातों का सिलसिला शुरू हुआ. और वे मुझे बहुत अज़ीज़ लगते थे, और अक्सर जब उनके यहां पार्टी वग़ैरह होती थी, मुझे बुलाते थे, और 'नौजवान' कहकर बुलाते थे. और कहते थे कि ये ख़िदमत तुम्हारे सुपुर्द है. और ये सिलसिला काफ़ी अरसे तक चलता रहा.

उनके इंतक़ाल की ख़बर मैंने कैनेडा में सुनी. हम लोग एक मुशायरे में वहां गये हुए थे जब ये मालूम हुआ कि साहिर साहब इस दुनिया में नहीं रहे, मुझे अच्छी तरह याद है कि मैं कमरा बंद करके बहुत देर तक रोया किया था.

साहिर साहब की नज़्मों ने 'मोटिवेट' किया नौजवानों को, साहिर की नज़्मों ने एक 'प्रोग्रेसिव' रूमानियत का तसव्वुर दिया, और साहिर की नज़्मों ने एक आग सी लगा दी थी उस वक़्त के माहौल में. आप यक़ीन करें कि मैंने इतना महबूब शायर नहीं देखा. उनके कलाम के बारे में लोगों की मुख़्तलिफ़ राय है, क्रिटिक्स की कुछ है, सुननेवालों की कुछ है, पढ़नेवालों की कुछ है, लेकिन मुझे ये अच्छी तरह से मालूम है कि उनके जो मज्मूये हैं, कलाम है *तल्ख़ियां*, आज तक जितने एडिशंस *तल्ख़ियां* के छपे हैं, उतने किसी दूसरी शायरी के मज्मूये के नहीं छपे. ये मैं आज के दौर की बात कर रहा हूं, ग़ालिब वग़ैरह की तो ख़ैर बात ही अलग है, लेकिन आज़ादी के बाद, जिन शायरों के नाम हमारे सामने आते हैं, उनमें साहिर लुधियानवी वाहिद नाम है जिसकी किताब के 21 एडिशंस उस वक़्त छप चुके थे, जिस वक़्त वो ज़िंदा थे. और आज तक ये सिलसिला जारी है. एक ख़ुसूसी बात जो मैंने उनमें नोट की थी वो यह कि अपनी मक़बूलियत को पहचानते हुए भी और जानते हुए भी कभी ये नहीं भूले कि उनकी अपनी जड़ें कहां हैं, यानी वो जब भी तन्हा होते थे तो एक बात यह कहते थे कि 'मैंने जो शायरी की है, उसकी जड़ें फ़ैज़ और मजाज़ के यहां हैं.' और उन्होंने मजाज़ को बहुत दिनों तक अपने यहां मेहमान भी रखा. मजाज़ के वो बेइंतहा क़ायल थे, मजाज़ से बेइंतहा मोहब्बत करते थे.

साहिर लुधियानवी की मौत के बाद मुशायरों की दुनिया में कोई ऐसा मक़बूल शायर नहीं नज़र आया कि जिसको हम आम ज़बान में 'क्राउड-पुलर' कह सकें. साहिर के नाम लेते ही जैसे लड़के और लड़कियों के थाक लग जाते थे. मुझे मालूम है कि जब वो लुधियाना बुलाये गये एक बार, यहां वो कभी स्टूडेंट रहा करते थे, तो उस वक़्त जब लुधियाना में ये मालूम हुआ कि साहिर लुधियानवी लुधियाना आ गये हैं, तो कोई भी नौजवान पढ़ा-लिखा, मर्द-औरत, लड़का और लड़की ऐसा नहीं जो उस कॉलेज में मौजूद नहीं था, जहां वो अपना कलाम सुना रहे थे, मुझसे उनका ज़िक्र हुआ तो मीर का शे'र याद आया, जो उन पर बहुत सादिक़ आता है कि

पैदा कहां है कि ऐसे परागंदा तब'अ लोग
अफ़सोस तुमको 'मीर' से सोहबत नहीं रही

मेरी ख़ुशक़िस्मती है कि मेरी साहिर साहब से सोहबत रही और ख़ूब रही, मोहब्बतें रहीं, लड़ाइयां रहीं, प्यार रहा, और ये सब मेरी ज़िंदगी की बहुत ख़ूबसूरत निशानियात हैं.

लिप्यांतरण : रविकान्त

साभार : विविध भारती अभिलेखागार (1999 पहली बार प्रसारित), और स्वर्ण स्मृति शृंखला में 1 मार्च 2008 को पुनर्प्रसारित)

मस्तराम बनके ज़िंदगी के दिन गुज़ार दे

यूनुस ख़ान

साहिर के कुछेक पहलू ऐसे हैं जिन पर आम तौर पर बात नहीं होती. उन्हें हम एक ऐसे शायर की तरह जानते हैं, जिनके भीतर बड़ी आग थी. जिन्होंने इस समाज की ऊपरी परतों को हटाकर उसके दोग़लेपन, बदमाशियों और चालाकियों को उजागर किया, उन पर कड़ी चोट की. हम साहिर के ऐसे अशआर को अपने ज़ेहन में सजाते हैं. हम बार-बार कहते हैं कि साहिर यानी 'ये महलों ये तख्तों ये ताजों की दुनिया' या 'औरत ने जनम दिया मर्दों को' या 'तुम मुझे भूल भी जाओ' या 'दुनिया ने 'तजुर्बात-ए-हवादिस...' पर साहिर का एक पहलू ऐसा भी है जो अमूमन पोशीदा रहा है. साहिर जब तंज़ करते हैं या मज़ाहिया शायरी करते हैं तो वहां हमें उनका एक अलग तेवर नज़र आता है और साहिर के मज़ाहिया गानों पर अमूमन कोई बात नहीं होती. चूंकि मेरा ता'ल्लुक़ रेडियो और उससे भी ज़्यादा फ़िल्म-संगीत के समंदर की अतल गहराइयों से है, इसलिए आइए, साहिर के कुछ दिलचस्प कोनों की तफ़्तीश की जाये.

सन 1957 में आयी फ़िल्म *प्यासा* गुरुदत्त का शाहकार थी. यहां बाक़ी तमाम गानों के बीच जॉनी वॉकर से कहलवायी गयीं कुछ ऐसी लाइनें जिनमें साहिर चुटकियां लेते हुए नज़र आते हैं. वे लिखते हैं, नौकर हो या मालिक, लीडर हो या पब्लिक अपने आगे सभी झुके हैं, क्या राजा क्या सैनिक. इसी गाने में वे लिखते हैं :

प्यार का होवे झगड़ा, या बिज़िनेस का हो रगड़ा
सब लफ़्ज़ों का बोझ हटे जब पड़े हाथ इक तगड़ा

ग़ौर फ़रमाइए कि चंपी करने वाला एक मामूली इंसान बड़े ग़ुरूर से दावा कर रहा है, 'अपने आगे सभी झुके हैं, क्या राजा क्या सैनिक'. इसकी समाजशास्त्रीय व्याख्या करने की ज़रूरत नहीं है. ये लाइनें अपने आप हाशिये पर खिसका दिये गये वर्ग की उपयोगिता और उसके योगदान पर कमेंट हैं. ख़ासकर कोरोना के इस ज़माने में याद कर लीजिए कि बाल कटवाने के लिए कितनी तरह के पापड़ बेले गये और कितने औज़ार मंगवाकर घर पर ही यह मशक़्क़त या कारीगरी या बाज़ीगरी किसी तरह निपटा ली गयी.

साहिर की संवेदनशीलता का एक परचम है सन 1968 में आयी फ़िल्म *नीलकमल* का गाना : 'बाबुल की दुआएं लेती जा'. एक बेटी के बाप की तकलीफ़ का आंसुओं से भीगा बयान. पर इसी फ़िल्म का एक ऐसा गाना है जो साहिर का दूसरा ही आयाम पेश करता है. और यह गाना फ़िल्म के दूसरे गानों के आबोताब के बीच थोड़ा ढंक गया है. मन्ना डे का गाया यह गाना है : 'ख़ाली डब्बा ख़ाली बोतल'. इस कमाल के गाने में साहिर लिखते हैं :

ख़ाली डब्बा ख़ाली बोतल ले ले मेरे यार/ ख़ाली से मत नफ़रत करना, ख़ाली सब संसार

देखिए कि साहिर ने जिस हल्के-फुल्के अंदाज़ में समाज पर तंज़ किया है, वह न सिर्फ़ फ़िल्म की कहानी के दायरे में सटीक बैठता है बल्कि फ़िल्म के समय और कहानी से परे आज (भयंकर सोशल मीडिया और बड़े बड़े दावों और वायदों के) इस समय में यह गाना कितना मौज़ूं है, इन पंक्तियों को पढ़िए और ख़ुद समझ जाइए :

बड़ा-बड़ा सर ख़ाली डब्बा, बड़ा बड़ा तन ख़ाली बोतल
वो भी आधे ख़ाली निकले जिन पे लगा था भरे का लेबल

चीज़ों में मिलावट के ब्योरे को साहिर ने किसी कुशल कारीगर की तरह इस गीत में ढाल दिया है :

शहद में गुड़ के मेल का डर है, घी के अंदर तेल का डर है
तंबाकू में खाद का ख़तरा, सेंट में झूठी बास का ख़तरा
मक्खन में चर्बी की मिलावट, केसर में काग़ज़ की खिलावट
मिर्ची में ईंटों की घिसाई, आटे में पत्थर की पिसाई
व्हिस्की अंदर टिंचर घुलता, रबड़ी बीच बलोटिन तुलता
क्या जाने किस चीज़ में क्या हो, गरम मसाला लीद भरा हो
ख़ाली की गारंटी दूंगा, भरे हुए की क्या गारंटी?

ज़ाहिर है कि तंज़िया या मज़ाहिया लेखनी की ज़मीन पर साहिर ने ग़ज़ब ढाया है. पर अफ़सोस यह है कि इन गानों तक ज़्यादातर निगाहें कम पहुंचती हैं. फ़िल्म *फ़ंटूश* सन 1956 में आयी थी और देव आनंद के जलवों से भरी थी. इस फ़िल्म में एक टोपी-गीत था. हीरो के खिलंदड़पन को दिखाने वाला एक फ़ंतासी गीत. इस शरारती गाने में भी साहिर ने टोपी को कैसे कुलीन वर्ग का प्रतीक बताकर अपनी बात कह डाली है :

बांध के सर पे सेहरे
चूमे गोरे चेहरे और मुझे तरसाये
कारों पे चढ़ जाये, होठों तक बढ़ जाये
मोटा पेट बजाये, गंजे सर को छिपाये
छेड़े और छिप जाये
मेरी टोपी.

यहां यह साफ़ कर दिया जाये कि साहिर ऐसे इकलौते गीतकार हैं जिन्होंने फ़िल्मी गानों में कहानी और किरदार के दायरों के भीतर भी अपनी प्रगतिशीलता को पिरो कर बार-बार चकित किया है. फ़िल्म *चार दिल चार राहें* इसका एक बहुत ही शानदार उदाहरण है. सन 1959 में आयी इस फ़िल्म के कई गानों में साहिर अपना परचम बुलंद करते नज़र आते हैं. इस फ़िल्म का एक गाना है, 'क़दम क़दम से दिल से दिल मिला रहे हैं हम'.. यहां साहिर ने एक मार्च-पास्ट शैली के गाने में ब-आवाज़-ए-बुलंद कहा है :

साथी रे भाई रे
उठा लिया है अब समाजवाद का निशां
अलग-थलग न होंगी हमारी खेतियां
चलेंगी सबके वास्ते मिलों की चरखियां
ज़मीं से आसमान तलक उठेंगी चिमनियां
कहा था जो वो करके अब दिखा रहे हैं हम
क़दम-क़दम से..

गीतकारी का यह सांचा साहिर का अपना ब्रांड है. वह दुनिया में अनूठा है. उसका कोई डुप्लीकेट नहीं, उसका कोई नक़्क़ाल नहीं, उसका कोई शागिर्द नहीं. यही साहिर नेहरू की मौत पर बड़े जज़्बाती हो जाते हैं और लिखते हैं :

वो जो हर दीन से मुंकिर था, हरेक धर्म से दूर
फिर भी हर दीन, हरेक धर्म का ग़म-ख़्वार रहा .
सारी क़ौमों के गुनाहों का कड़ा बोझ लिये
उम्र-भर सूरते-ईसा जो सरे-दार रहा .
जिसने इंसानों की तक़्सीम के सदमे झेले
फिर भी इंसां की उख़ुव्वत[1] का परस्तार रहा .
जिसकी नज़रों में था इक आलमी तहज़ीब का ख़्वाब
जिसका हर सांस नये अहद का मे'मार[2] रहा

यह जवाहरलाल नेहरू को साहिर का आख़िरी सलाम था. यहां यह भी बता दिया जाये कि जहां इससे पहले के गाने में साहिर समाजवाद का परचम लहराते नज़र आते हैं, वहीं एक फ़िल्मी-गाना ऐसा है जहां समाजवाद से उनका मोहभंग हो चुका है. यह गाना उन्होंने अल्लामा इक़बाल के 'तराना-ए-मिल्ली' की तर्ज़ पर लिखा. इक़बाल इसमें फ़रमाते हैं :

चीन-ओ-अरब हमारा हिंदोस्तां हमारा
मुस्लिम हैं हम वतन है सारा जहां हमारा
तौहीद की अमानत सीनों में है हमारे
आसां नहीं मिटाना नामो-निशां हमारा

इसकी तर्ज़ पर साहिर ने जो लिखा वह एक बहुत ही तीखा तंज़ है देश के उन दिनों, यानी साल 1958 के हालात पर :

चीन-ओ-अरब हमारा, हिंदोस्तां हमारा
रहने को घर नहीं है, सारा जहां हमारा

खोली भी छिन गयी है, बेंचें भी छिन गयी हैं
सड़कों पे घूमता है अब कारवां हमारा
जेबें हैं अपनी ख़ाली, क्यों देता वरना गाली
वो संतरी हमारा, वो पासबां हमारा
चीन-ओ-अरब हमारा ...

जितनी भी बिल्डिंगें थीं, सेठों ने बांट ली हैं
फ़ुटपाथ बंबई के, हैं आशियां हमारा
सोने को हम क़लंदर, आते हैं बोरीबंदर
हर एक क़ुली यहां का है राज़दां हमारा
चीन-ओ-अरब हमारा ...

तालीम है अधूरी, मिलती नहीं मज़ूरी
मालूम क्या किसी को, दर्दे-निहां हमारा
चीन-ओ-अरब हमारा ...

पतला है हाल अपना, लेकिन लहू है गाढ़ा
फ़ौलाद से बना है, हर नौजवां हमारा
मिलजुल के इस वतन को, ऐसा सजायेंगे हम
हैरत से मुंह तकेगा सारा जहां हमारा
चीन-ओ-अरब हमारा …

यह एक फ़िल्मी गाने की ऊंचाई है. *फिर सुबह होगी* दोस्तोयव्स्की के 1866 में आये क्लासिक नॉवेल *क्राइम ऐंड पनिशमेंट* पर बनी फ़िल्म है. यह फ़िल्म सन 1958 में आयी थी. इस फ़िल्म में साहिर ने गीतकारी के नगीने गढ़े हैं. 'वो सुबह कभी तो आयेगी' के अलावा इस फ़िल्म में साहिर एक और गाने में लिखते हैं :

किसको भेजे वो यहां हाथ थामने
इस तमाम भीड़ का हाल जानने
आदमी हैं अनगिनत देवता हैं कम
आसमां पे है खुदा और ज़मीं पे हम

बहरहाल...अदबी ऊंचाई से टक्कर लेने वाले एक और गीत की मिसाल. शकील बदायूंनी ने सन 1964 में फ़िल्म *लीडर* में लिखा :

इक शहंशाह ने बनवा के हसीं ताजमहल
सारी दुनिया को मुहब्बत की निशानी दी है

साहिर के लिए ताजमहल कभी मुहब्बत की निशानी नहीं रहा. उन्होंने अपनी नज़्म, 'ताजमहल' में लिखा :

ये चमन-ज़ार ये जमुना का किनारा ये महल
ये मुनक़्क़श दरो-दीवार, ये मेहराब, ये ताक़
इक शहंशाह ने दौलत का सहारा ले कर
हम ग़रीबों की मोहब्बत का उड़ाया है मज़ाक़
मेरी महबूब कहीं और मिला कर मुझ से.

यह नज़्म गाने के रूप में फ़िल्म *ग़ज़ल* में आयी और इसे साहिर ने गाया. यहां इन दोनों गानों से जुड़े एक वाक़ये का ज़िक्र करना ज़रूरी है. कहते हैं कि फ़िल्म *लीडर* के लिए साहिर को ताजमहल की शान में गाना लिखने को कहा गया था, पर साहिर ने जो लिखा वह फ़िल्म के दायरे और उसकी मांग से ठीक उलट था. इसलिए बाद में यह ज़िम्मेदारी संगीतकार नौशाद के पसंदीदा गीतकार शकील बदायूंनी को सौंपी गयी और उन्होंने ताज की तारीफ़ में ऐसा गाना

लिखा जिसकी फ़िल्म को दरकार थी. साहिर की नज़्म फ़िल्मी गाने और अपने आज़ाद रूप में जितनी सुनी-सुनायी गयी है वह किसी से छिपा नहीं है. पर यह ना समझा जाये कि एक गीतकार के रूप में साहिर फ़िल्म की सिचुएशन को निभाना नहीं जानते थे. सन 1965 में आयी फ़िल्म *बहू बेटी* में साहिर जो लिखते हैं उसे पढ़ सुनकर आपकी आंखें हैरत से चौड़ी हो जायेंगी :

आज है करवा चौथ सखी री मांग ले सुख का दान
अपने सपनों के स्वामी का धर कर मन में ध्यान
जन्म-जन्म तक मांग का तेरी रंग पड़े ना फीका
जब तक चमकें चांद-सितारे तब तक चमके टीका
बंधे रहें मनभाते प्रीतम के प्राणों से प्राण
आज है करवा चौथ

साहिर कितने शरारती थे इसकी मिसाल एक और कम चर्चित गाना है. आपको बता दें कि कवि प्रदीप ने सन 1954 में फ़िल्म *नास्तिक* के लिए लिखा, 'देख तेरे संसार की हालत क्या हो गयी भगवान, कितना बदल गया इंसान'. साहिर ने इसका जवाब दिया अगले ही बरस की फ़िल्म *रेलवे प्लेटफ़ॉर्म* के गाने में. यह पैरोडी गाना था :

देख तेरे भगवान की हालत क्या हो गयी इंसान
कितना बदल गया भगवान
भूखों के घर में फेरा न डाले
सेठों का हो मेहमान
उन्हीं की पूजा प्रभू को प्यारी
जिनके घर लक्ष्मी की सवारी
जिनका धंधा चोरबाज़ारी
हमको दें भूख और बेकारी, इनको दे वरदान
कितना बदल गया भगवान

केदार शर्मा ने फ़िल्म *चित्रलेखा* दो बार बनायी. दूसरी बार सन 1964 में जब बनायी तो साहिर को गाने की ज़िम्मेदारी सौंपना किसी आश्चर्य से कम नहीं था. पर साहिर ने *चित्रलेखा* के क्लासिक को निभाते हुए जो गाने लिखे हैं उनके मेयार को दिखाते हैं.

रूप की संगत और एकांत
आज भटकता मन है शान्त
कह दो समय से थम के चले
घुल गया कजरा साँझ ढले

या फिर यह गाना:

यह भोग भी एक तपस्या है
तुम त्याग के मारे क्या जानो
अपमान रचयिता का होगा
रचना को अगर ठुकराओगे
संसार से भागे फिरते हो
भगवान को तुम क्या पाओगे

अगर आप फ़िल्म का परिदृश्य जानते-समझते हैं तो महसूस कर सकते हैं कि इसी फ़िल्म में 'मारा गया ब्रह्मचारी' बड़ा ही मुश्किल गाना रहा होगा साहिर के लिए :

मोहे बावला बना गयीं वाकी बतियां
अब कटती नहीं हैं मोसे रतियां
पड़ी सर पे बिपत अति भारी
कि मारा गया ब्रह्मचारी

आख़िर में साहिर के मज़ाहिया गानों पर फिर से लौटते हैं. सन 1954 में *टैक्सी ड्राइवर* में तो उन्होंने जैसे ज़िंदगी का फ़लसफ़ा ही दे डाला है. उन्होंने इस छोटे-से गाने में भर-भरकर तीर चलाये हैं :

भाव अगर बढ़ा भी डाले सेठ, यार, ग़म न कर
खाये जा मज़े के साथ जब तलक उधार दे
बांट कर जो खाये उसपे अपनी जानो-दिल लुटा
और जो बचाये माल उसको जूतियों का हार दे
चाहे कोई ख़ुश रहे या गालियां हज़ार दे
मस्तराम बनके ज़िंदगी के दिन गुज़ार दे

ऐसे हैं हमारे साहिर !!

yunus.radiojockey@gmail.com

---

1 भाईचारा, परस्तार = समर्थक

2 निर्माता

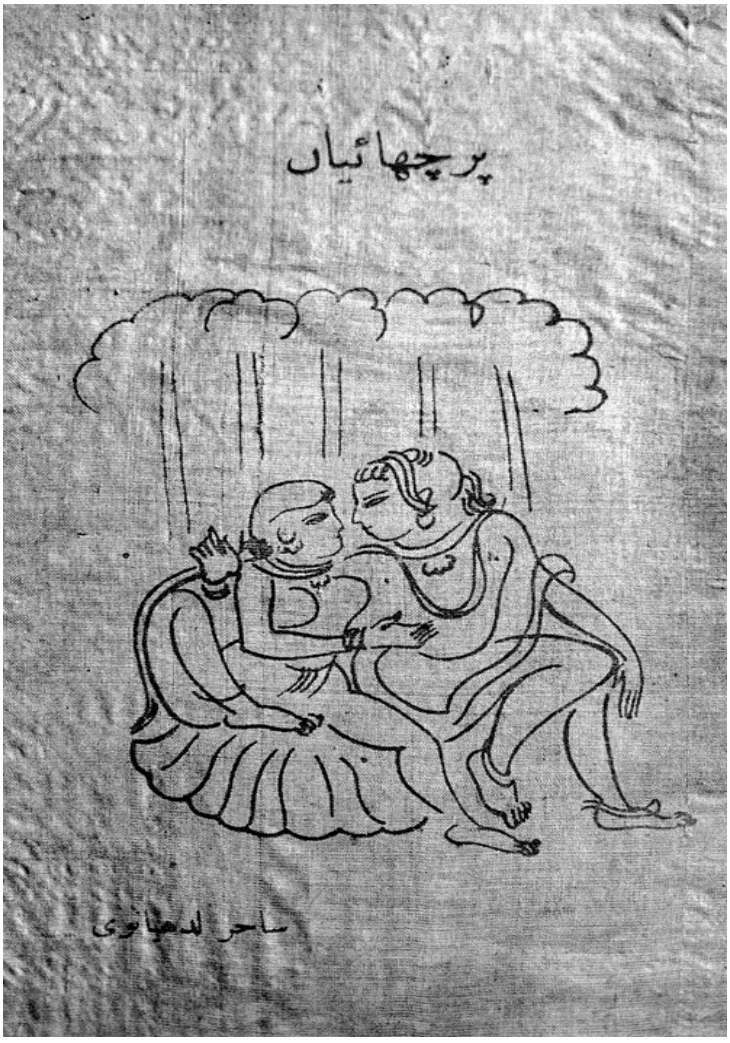

***परछाइयां* का आवरण**

बचन बिदा के:
शायराना ख़िराजे-अक़ीदत

1
ताजमहल की मौत
हबीब जालिब

यूं वो ज़ुल्मत से रहा दस्तो-गिरेबां[1] यारो
उससे ख़ाइफ़[2] थे बहुत शब के निगहबां यारो
उम्र-भर उसने किया इश्क़ ग़मे-दुनिया से
उस सा होगा न कोई आशिक़े-इंसां यारो
उसकी हर नज़्म में दुख-दर्द है इंसानों का
उसका हर शे'र है इंसान पे एहसां यारो
उसने हर गाम हमें हौसला-ए-ताज़ा दिया
वो न एक पल भी रहा हमसे गुरेज़ां[3] यारो

उसको हर हाल में जीने की अदा आती थी
वो न हालात से होता था परेशां यारो
उसको थी कश्मकशे-दैरो-हरम[4] से नफ़रत
उस सा हिंदू न कोई उस सा मुसलमां यारो
अपने अशआर की शम्मों से उजाला कर के
कर गया शब का सफ़र कितना वो आसां यारो
उसने बातिल[5] से न ता-ज़ीस्त[6] किया समझौता
दहर[7] में उस सा कहां साहिबे-ईमां यारो
उसके गीतों से ज़माने को संवारें आओ
रूहे-साहिर को अगर करना है शादां[8] यारो

---

1 संघर्षरत 2 भयभीत 3 विमुख 4 मंदिर और मस्जिद का झगड़ा 5 मिथ्या, अधर्म 6 उम्र भर 7 दुनिया 8 ख़ुश

2

ये उस बीमारे-ग़म के जागने की आख़िरी शब थी

क़तील शिफ़ाई

वो इक बीमारे-ग़म[1] जो ज़िंदगी-भर कम से कम सोया
न वो जी भर के ख़ुद सोया, न कोई उसका ग़म सोया
जो सोया भी तो गोया दो घड़ी लेने को दम सोया
मगर अब के वो अपने दर्द की खाकर क़सम सोया
कभी पहले नहीं थी बेक़रारी जो उसे अब थी
ये उस बीमारे-ग़म के जागने की आख़िरी शब[2] थी

उसे मालूम था उसका लहू है सर्द होने को
खिला था उसका चेहरा आज की शब ज़र्द होने को
दवा थी मुंतज़िर[3] उसकी सरापा[4] दर्द होने को
न वो ख़ातिर में लाया हसरतों के गर्द[5] होने को
भला हसरत कोई उस नातवां[6] पर मेहरबां कब थी
ये उस बीमारे-ग़म के जागने की आख़िरी शब थी

जो बाक़ी मय[7] थी उसकी ज़िंदगी के आबगीने[8] में
वो मय उसने मिला दी मौत के ठंडे पसीने में
फिर उसके बाद जा बैठा वो इक टूटे सफ़ीने[9] में
उतरना था उसे दरिया के नाहमवार[10] सीने में
वो दरिया चंद बरसों से रवानी जिसकी बेढब थी
ये उस बीमारे-ग़म के जागने की आख़िरी शब थी

ग़ज़ालां[11] ख़ूब वाक़िफ़ हैं कि मातम हो रहा होगा
दीवाना[12] मर गया, वीराना उस को रो रहा होगा
वो ख़ुद ही जानता था जो भी ग़म उसको रहा होगा
मगर अब चैन से अपनी लहद[13] में सो रहा होगा
सुना है जब वो सोया मुस्कुराहट ज़ीनते-लब[14] थी
ये उस बीमारे-ग़म के जागने की आख़िरी शब थी

---

1 दुखों से पीड़ित 2 रात 3 प्रतीक्षारत 4 सर से पांव तक 5 अधूरी इच्छाओं के धूल में मिलने तक 6 दुर्बल 7 शराब 8 कांच का प्याला 9 नाव 10 ऊबड़-खाबड़ 11 हिरन (गज़ाल का बहुवचन) 12 यहां मजनूं से उपमा दी है जिसने लैला के लिए सहरा में भटकते हुए जान दी. क़तील शिफ़ाई ने यहां राजा साहिब राम नरायन 'मौज़ूं' के एक मशहूर शे'र से लाभ उठाया है जो उन्होंने नवाब सिराजुद्दौला के शहीद होने पर कहा था:

ग़ज़ालां तुम तो वाक़िफ़ हो, कहो मजनूं के मरने की
दीवाना मर गया आख़िर को वीराने पे क्या गुज़री

13 क़ब्र 14 होठों की सज्जा

3

साहिर लुधियानवी के नाम

रा'ना सहरी

जब भी कोई ग़रीब की बेटी
ज़र-परस्तों[1] में बेची जायेगी
जब भी मुफ़लिस[2] किसान की खेती
क़र्ज़ के बदले छीनी जायेगी
जब भी दो प्यार करने वालों को
रस्मे-दुनिया न रास आयेगी
जब भी उलफ़त[3] के बेक़रारों को
शामे-तन्हाई बख़्शी जायेगी
जब भी उभरेगा इंकलाब कोई
जब भी जागेंगे ज़ुल्म के मारे
जब भी उट्ठेगा बे-कसों का हुजूम
और बदलेगा वक़्त के धारे

सुर्ख़ पर्चम उठाये हाथों में
तुमको अपने क़रीब पायेंगे
सब तुम्हारे ही गीत गायेंगे

---

1 पूंजी के लालची
2 निर्धन
3 प्रेम

4

नज़्रे-साहिर[1]

नसीम अफ़ज़ल

मेहनतकशों के दिल की धड़कनों का वो मर्कीं[2]
मज़दूर का वो साथी वफ़ादार चल बसा
उस जैसा दूसरा कोई आयेगा अब कहां
वो ख़ुश-ख़िसाल[3] साहिबे-किरदार[4] चल बसा
ज़ालिम पे और ज़ुल्म पे करता रहा जो वार
मज़लूम[5] का रफ़ीक़ो-मददगार[6] चल बसा
बोये मुहब्बतों के हमेशा ही जिसने बीज
वो बावफ़ा, ख़लीक़[7], मिलनसार चल बसा
'तंग आ चुके हैं कशमकशे-ज़िंदगी से हम'
कहता था ऐसे ऐसे जो अशआर, चल बसा
लो आज हमने तोड़ दिया रिश्ता-ए-उम्मीद
लिक्खा था गाहे[8] जिसने ये इक बार, चल बसा
वो जिसका 'साथी हाथ बढ़ाना' पयाम था
हमसे छुड़ा के हाथ वो ग़मख़ार[9] चल बसा
'बंगाल' और 'ताजमहल' और 'कभी-कभी'
जिसकी हैं और नज़्में भी शाहकार चल बसा
दामन में अपने भर के ज़माने की 'तल्ख़ियां'
'परछाइयां' का ख़ालिक़े-ख़ुद्दार[10] चल बसा
ता-हश्र[11] गाता जायेगा 'बंजारा' जिसके गीत
वो गीतकार, ऊंचा क़लमकार चल बसा
औरों का दुख भी जिसका था अपना ही दुख 'नसीम'
वो ज़िंदगी का सच्चा परस्तार[12] चल बसा

---

1 साहिर को भेंट 2 रहने वाला, बाशिंदा
3 अच्छी आदतों वाला 4 अच्छे चरित्र वाला
5 जिस पर ज़ुल्म हो, शोषित 6 दोस्त और सहायक
7 मिलनसार 8 कभी, किसी वक़्त 9 हमदर्द
10 स्वाभिमानी रचनाकार 11 क़यामत तक
12 उपासक

साभार : *फ़न और शख़्सियत:* साहिर लुधियानवी नंबर, सं. साबिर दत्त, सरवर शफ़ी;
बंबई, अंक17-18, फ़रवरी 1985, पृ. 538-544

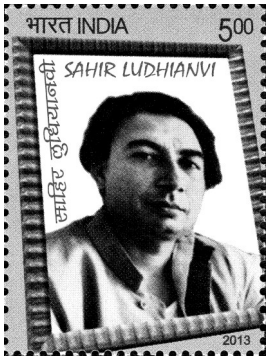

जीवन के संगे-मील

नाम – अब्दुल-हई 'साहिर' लुधियानवी

जन्म – 8 मार्च 1921, लुधियाना, पंजाब, हिंदुस्तान

माता-पिता - सरदार बेगम और चौधरी फ़ज़ल मुहम्मद

मामूं – अब्दुर्रशीद

मामूंज़ाद बहनें- सरवर शफ़ी, अनवर सुल्ताना

दोस्त – हाफ़िज़ लुधियानवी, हमीद अख़्तर, अहमद राही, इब्ने-इंशा, ए. हमीद, देवेंद्र सत्यार्थी, इब्राहीम जलीस, जांनिसार अख़्तर, मजाज़ लखनवी, कृष्ण चंदर, ईशर कौर, अमृता प्रीतम, सुधा मल्होत्रा, यश चोपड़ा, महेंद्रनाथ, रामप्रकाश अश्क, प्रकाश पंडित, साबिर दत्त,

1928 - ख़ालसा स्कूल, लुधियाना, में दाख़िला

1937 - ख़ालसा स्कूल, लुधियाना, से हाई स्कूल

1939 - इंटरमीडिएट, लुधियाना

1939 - नज़्म *शो 'ला नवाई* (साप्ताहिक अफ़गान, बंबई) ज़ब्त हुई.

1940 - गवर्नमेंट कॉलेज लुधियाना से निकाले गये.

1941 - दयाल सिंह कॉलेज, लाहौर में दाख़िला.

1942 - दयाल सिंह कॉलेज, लाहौर से निष्कासन

1942 - इस्लामिया कॉलेज, लाहौर में बी.ए. में दाख़िला. उसी साल यह कॉलेज भी छोड़ दिया.

1944 – प्रथम काव्य संग्रह *तल्ख़ियां* का प्रीत नगर, अमृतसर से प्रकाशन

1945 - अंजुमन तरक़्क़ीपसंद मुसन्निफ़ीन की हैदराबाद कॉन्फ्रेंस में शिरकत जिसमें *जंग और नज़्म* के विषय पर लेख पढ़ा.

जनवरी 1945 – *अदब-ए-लतीफ़,* लाहौर के संपादक मंडल में शामिल.

जनवरी 1947 – *सवेरा,* लाहौर के संपादक मंडल में शामिल.

सितंबर 1947 से जून 1948 तक - लाहौर में रिहाइश

जून 1948 – लाहौर से देहली आगमन

1948 – पहला फ़िल्मी गीत 'बदल रही है ज़िंदगी', फ़िल्म *: आज़ादी की राह पर*.

जनवरी 1949 – *शाहराह,* देहली के संपादक मंडल में शामिल.

जून 1949 - देहली से बंबई प्रस्थान

1949 – अंजुमन तरक़्क़ीपसंद मुसन्निफ़ीन, भीमड़ी कॉन्फ्रेंस में शिरकत.

1955 – जंग के विरुद्ध लंबी कविता *परछाइयां* (तवील नज़्म) *चट्टान*, लाहौर में प्रकाशित.

1955 – एशियन रायटर्स कॉन्फ्रेंस, देहली में बतौर शायर शिरकत

जून 1958 –*गाता जाये बंजारा* (फ़िल्मी गीतों का संग्रह) राइटर पब्लिशिंग हाउस, मलाड, बंबई से प्रकाशित.

1960 – फ़िल्म राइटर्स एसोसिएशन (फ़िल्म लेखक संघ), बंबई के अध्यक्ष

1961 – इंटरनेशनल पीस कॉन्फ्रेंस, देहली में बतौर शायर शिरकत

1964 – पहला फ़िल्मफ़ेयर पुरस्कार *ताजमहल* के गीत 'जो वादा किया' पर

जनवरी 1969 – ग़ालिब-सदी पर आयोजित जश्न, बंबई में बतौर शायर शिरकत, जिसमें उन्होंने अपनी बहुचर्चित नज़्म 'जश्ने-ग़ालिब' सुनायी.

1970 – गोल्ड मेडल, गवर्नमेंट कॉलेज लुधियाना के शताब्दी समारोह के अवसर पर.

1970 – गोल्ड रिकॉर्ड, एच.एम.वी. म्यूज़िक कंपनी

1971 - *आओ कि कोई ख़्वाब बुनें* (नज़्मों और ग़ज़लों का संग्रह) का प्रकाशन

1971 – पद्मश्री से सम्मानित

1972 – महाराष्ट्र उर्दू अकादमी पुरस्कार

1973 – सोवियत लैंड नेहरु अवार्ड

1973 – महाराष्ट्र स्टेट लिटररी अवार्ड

1976 - 31 जुलाई को बंबई में साहिर की मां सरदार बेगम का निधन

1977 - दूसरा फ़िल्मफ़ेयर पुरस्कार, 'कभी कभी मेरे दिल में (*कभी-कभी*)

1980 – 25 अक्टूबर को साहिर का बंबई में निधन. सांताक्रूज़ क़ब्रिस्तान, जुहू में दफ़नाया गया.

2013 – डाक विभाग, भारत सरकार द्वारा साहिर पर डाक-टिकट जारी

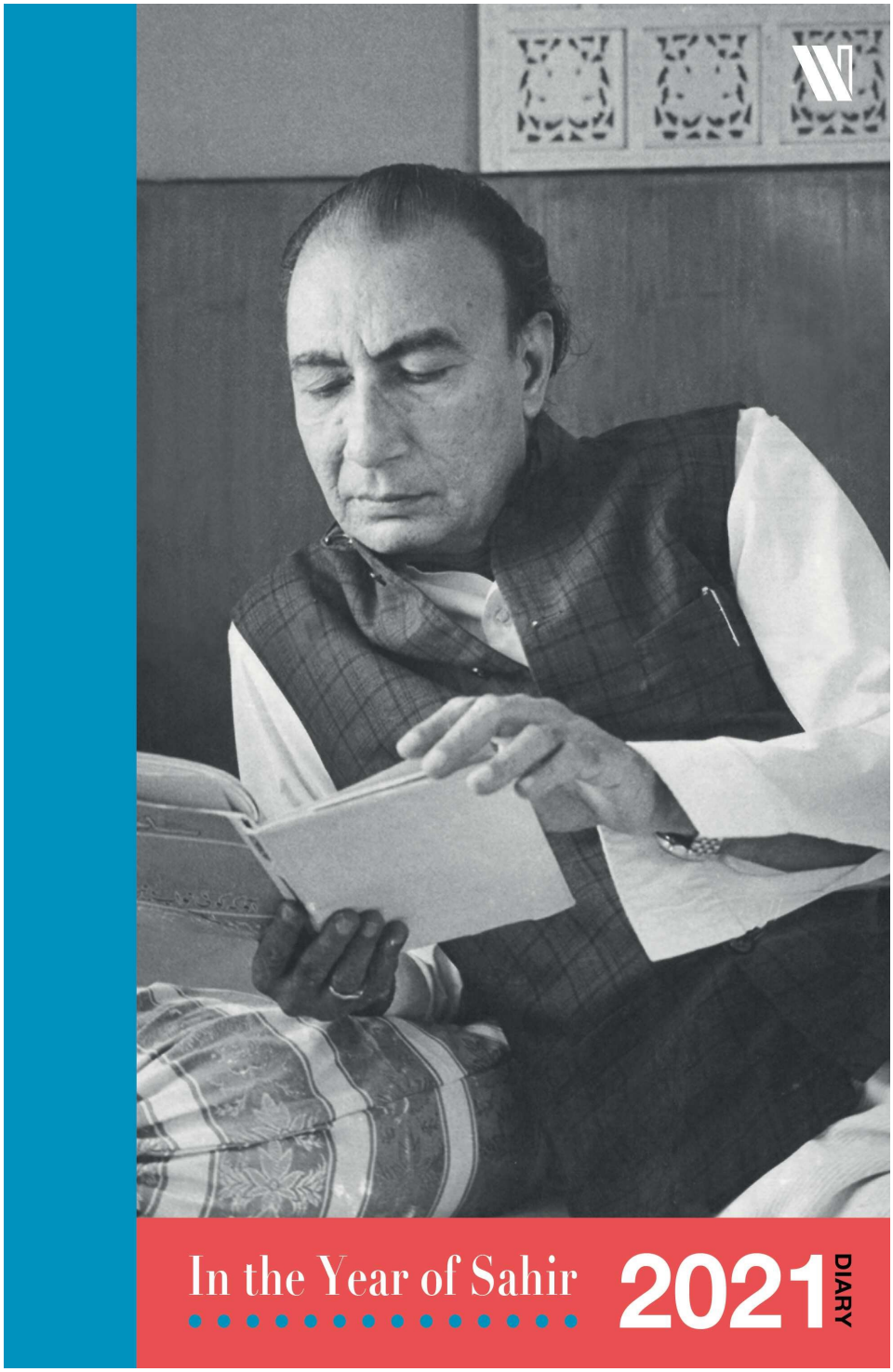

'
In The Year Of Sahir' cover. Courtesy: Westland